अध्यात्म-दर्शन

[आनन्दघन चौबीसी पर पद्मगनभाष्य]

स्तुतिकार
योगीश्वर सत श्री आनन्दघनजी

भाष्य-निर्देशक
श्रमणसघीय महामहिम राष्ट्रसत आचार्यप्रवर
श्रीआनन्दऋषिजी महाराज

भाष्यकार
विद्वद्रत्न पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म०

भाष्यप्रेरक
तपस्वीरत्न श्री मगनमुनिजी म०

सयोजक
प्रवचनप्रभाकर श्रीसुमेरमुनिजी म०, एवं सेवानिष्ठ श्रीविनोदमुनिजी

प्रकाशक
विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामण्डी, आगरा – २ (उ० प्र०)

★ ग्रन्थराज :
अध्यात्मदर्शन

★ विषय :
चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति के माध्यम मे अध्यात्म-ज्ञान

★ स्तुतिकार :
योगीश्वर सत श्रीआनन्दघनजी

★ भाष्यकार :
पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी

★ भाष्य-निर्देशक :
श्रमणसंघीय आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज

★ भाष्यप्रेरक :
तपस्वीरत्न श्रीमगनमुनिजी म०

★ भाष्य-उपप्रेरक :
सेवानिष्ठ श्रीकुन्दनऋषिजी म०

★ संयोजक
प्रवचन-प्रभाकर प० सुमेर-मुनिजी म०, कर्मठ सेवानिष्ठ श्रीविनोदमुनिजी

★ प्रस्तावना-लेखक
विद्वद्वर्य श्री चन्दनमुनिजी म०

★ आशीर्वचन :
राष्ट्रसत उपाध्याय कविरत्न श्री अमरमुनिजी म०

★ सस्करण :
प्रथम, सितम्बर १६७६

★ प्रकाशक :
विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामडी, आगरा-२ (उ०प्र०)

★ मुद्रक :
कल्याण प्रिंटिंग प्रेस
राजामण्डी, आगरा-२

★ मूल्य :
तेरह रुपये

प्राप्ति-स्थान

१. विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामंडी, आगरा-२ (उ०प्र०)

२ मगल किरण स्टोर्स
गुजरगल्ली, अ नगर (महाराष्ट्र)

तपस्वी श्रीमगनमुनिजी : एक परिचय

—मुनि हस्तीमल, मेवाड़ी

तपस्वीरत्न मुनि श्रीमगनलालजी महाराज का वीरभूमि राजस्थान के निम्बाहेडा के निकट 'राणीखेडा' गाँव मे वि० स० १९६३ फाल्गुन कृष्णा २ गुरुवार को जन्म हुआ। आप ओसवालकुल के अन्तर्गत चोपडागोत्रीय श्रीनथमलजी एव मातुश्री हगामबाई के आत्मज हैं। आपके ज्येष्ठ भ्राता का

नाम श्रीरतनलालजी चोपडा है। पिता का लाडला एव माता की आँखो का तारा, जन-मन का दुलारा बालक 'मगन' माता की ममतालु गोद मे खेलता-कूदता बढता रहा। दो वर्ष की उम्र मे ही आपके पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। दोनो भाईयो के जीवनविकास का पूरा दायित्व माता पर आ गया। माँ ने साहस के साथ अपने दायित्व को निभाया। दोनो पुत्रो को पढा-लिखा कर योग्य बना दिया और बड़ होने पर दोनो को व्यवसाय मे लगा दिया। समय पर अपने ज्येष्ठ पुत्र रतनलाल की योग्य कन्या के साथ शादी कर दी। आपको भी विवाह के बन्धन मे आबद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु आपने विवाह करने से ही स्पष्ट इन्कार कर दिया।

माता-पिता के धार्मिक सस्कारो से आपका जीवन सस्कारित था। बचपन से ही आप मे अद्भुत साहस, निर्भयता, सेवा, कष्टसहिष्णुता और साधु-साध्वियो के प्रति श्रद्धा-भक्ति थी। साधु-साध्वियों की सेवा मे रहने के कारण आपको शास्त्र-श्रवण, धर्म के स्वरूप तथा जीवन के स्वरूप को समझने का सहज ही अवसर मिल जाता था। आप सन्तो के मुख से वीतरागवाणी मात्र सुन कर

ही नही रह गए, उसे जीवन मे उतारने का भी प्रयत्न करते रहे। इसी का परिणाम है, कि आपको सासारिक भोगो एव भोगजन्य साधनो से विरक्ति हो गई। आपने अपनी भावना को अपनी ममतामयी माँ एव ज्येष्ठ भाई तथा परिजनो के सामने रखी। माता एव बडे भाई ने आपको विभिन्न प्रकार से समझाया, परिजनो ने भी आपको गृहस्थजीवन मे रोक रखने के लिए सब तरह से प्रयत्न किए। परन्तु वे सफल नही हो सके। जिसके जीवन में सच्चा वैराग्य उद्‌बुद्ध हो जाता है, आत्मा मे त्याग की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है, उसे कोई भी शक्ति ससार मे रोक कर नहीं रख सकती।

सौभाग्य से आपको योग्यतम गुरु मिल गए। स्थानकवासी समाज मे आचार्यप्रवर श्रीहुकमीचन्दजी महाराज के षष्ठम पट्टधर युग-पुरुष, युग-द्रष्टा, क्रान्तिकारी विचारक, ज्योतिर्धर आचार्य श्रीजवाहरलालजी महाराज के सुयोग्य उत्तराधिकारी सरलस्वभावी, पण्डितप्रवर तत्कालीन युवाचार्य गणेशीलालजी महाराज के सान्निध्य मे वि० स० १९९६ माघ शुक्ला एकादशी के दिन जावद शहर मे बोराजी की बगीची मे आपने भागवती जैनदीक्षा स्वीकार की। दीक्षा के १५ दिन पहले अजमेरनिवासी एक ज्योतिषी ने इस दिन दीक्षा का विघ्नकारक बताया था, परन्तु दीक्षार्थी मगनलालजी ने इसकी परवाह न करके उसी दिन दीक्षा ग्रहण की। चबूतरे के कठड़े पर लगी शिलाएँ टूट कर गिर पडी, किन्तु शासनदेव की कृपा से किसी के जरा भी चोट न आई। यह अद्‌भुत चमत्कार था। आपने पूज्य गुरुदेव की सेवा मे में रह कर आगमो का अध्ययन किया; और अहर्निश सन्तो की सेवा-शुश्रूषा मे सलग्न रहे। अस्वस्थ साधु की परिचर्या करने का आपको अच्छा अनुभव है। आपको नाडी का ज्ञान बहुत अच्छा है। इसलिए रोगो का निदान करने और उसके अनुरूप आयुर्वेदिक औषध बताने मे आप बहुत निपुण हैं। भीनासर (बीकानेर) मे जब ज्योतिर्धर आचार्यप्रवर श्रीजवाहरलालजी महाराज अस्वस्थ थे, तब आपने अस्वस्थ-अवस्था से ले कर अन्तिम सास तक बडी लगन, श्रद्धा एव भक्ति से सेवा की। उनके अन्तिम समय से कुछ घटे पहले उनकी वाणी बद हो गई थी, तब आप उन्हे दवा दे कर होश मे लाए। उन्होंने आपके द्वारा प्रेरणा करने पर सथारा ग्रहण किया, जो ५ घटे तक का आया। रुग्ण, ग्लान, वृद्ध एवं बाल साधुओ की सेवा-वैयावृत्य करने मे आप सिद्धहस्त हैं और सेवा के

कार्य मे आपको आनन्द भी आता है। वर्तमान आचार्यप्रवर श्रीआनन्दऋषिजी महाराज की सेवा का भी आपको लाभ मिला है।

आप दीर्घ-तपस्वी भी हैं। आपने अब तक ५१ और ४१ दिन के उपवास किए हैं। ३३ और ३१ दिन की तपः-साधना दो बार की है, १५, ११, ६, १०, ६ एक-एक बार और अट्ठाई, सात, छह, पाँच, तेले एव बेले तो अनेक बार किए हैं। आप तप-साधना मे केवल गर्म पानी लेते हैं। तप और त्याग से तपा हुआ आपका सयम-निष्ठ जीवन प्रत्येक साधु के लिए प्रेरणा-दायक है।

आपका विहार (पैदल भ्रमण) क्षेत्र मेवाड, मारवाड, बीकानेर, मालवा गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई एव आन्ध्र-प्रदेश रहा है। कई वर्षों से आप आचार्य सम्राट् श्रीआनन्दऋषिजी महाराज की सेवा मे हैं और आचार्यश्री आपकी सेवा से सन्तुष्ट हैं। मैंने यह अनुभव किया है, कि आप सन्तो की धायमाता के समान हैं।

आध्यात्मिक साहित्य के प्रति आपको विशेष अभिरुचि है। आपके हृदय मे आनन्दघन चौबीसी पर राष्ट्रभाषा हिन्दी मे विस्तृत एव सुन्दर भाष्य लिखा कर समाज मे आध्यात्मिक विचारो का प्रचार करने की भावना जागृत हुई। आपने अपने गुरुभ्राता सिद्धहस्तलेखक पण्डितप्रवर मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज को इस ग्रन्थ पर भाष्य लिखने का अनुरोध किया, जिसका फल पाठको के समक्ष है। तपस्वीरत्नश्री के ही प्रबल पुरुषार्थ की देन है, कि 'अध्यात्म-दर्शन' के रूप मे यह 'पदमग्न-भाष्य' उपलब्ध हो सका है।

प्रकाशकीय

अध्यात्म योगी सन्त आनन्दघनजी द्वारा रचित चौबीसी (चतुर्विंशति-स्तुति) आध्यात्मिक जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें दर्शन, धर्म, पूजा, भक्ति, धर्म-क्रिया, आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना, आत्मिक वीरता, परमात्म-पद का दर्शन, मन आदि की साधना इत्यादि आध्यात्मिक विषयों पर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से सरस, सरल, भक्तिरस-प्रधान गेय पदों की सरचना है। इस पर अनेक विचारकों एव साधकों ने अर्थ, भावार्थ, विवेचन आदि प्रस्तुत किये हैं, किन्तु विस्तृत ढग से पदों में निहित तात्पर्यों को विविध पहलुओं से खोल सके, ऐसी व्याख्या से परिपूर्ण भाष्य हिन्दी भाषा में अब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। हमें प्रसन्नता है कि हमारी प्रकाशन समिति से हिंदी भाषा में अध्यात्मदर्शन के नाम से पदसरल-भाष्य प्रकाशित हुआ है। इसके भाष्यकार हैं—प्रबुद्धविचारक विद्वद्वर्य प० मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज। इसके मार्गनिर्देशक तो राष्ट्रसत आचार्यश्रीआनन्दऋषिजी म० रहे, किन्तु सर्वाधिक सम्प्रेरक रहे हैं—तपस्वीरत्न श्रीमगनमुनिजी महाराज, जिनकी सतत प्रेरणा व श्रीकुन्दनऋषिजी म० की सत्प्रेरणा और सर्वाधिक सहयोग से यह विशालकाय ग्रन्थराज प्रकाशित हो सका है। इसी प्रकार हम राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी म के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना आशीर्वचन लिख कर हमें उपकृत किया है, साथ ही विद्वद्वर्य श्रीचन्दनमुनिजी म (साहित्यनिकाय) के भी हम अत्यन्त आभारी हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थराज पर अत्यन्त भाववाही सुन्दर प्रस्तावना लिख कर इसका समुचित मूल्याकन किया है। प श्रीसुमेरमुनिजी एव विनोदमुनिजी ने इस भाष्य को आद्योपान्त अनेक बार पढ़ा, और इसमें उचित सुझाव, सशोधन एव परिवर्द्धन सूचित करने की महती कृपा की है। पण्डितरत्न विजयमुनिजी शास्त्री एव कलम-कलाधर मुनि समदर्शीजी का भी इसमें अपूर्व सहयोग मिला है, एतदर्थ हम इनके प्रति भी कृतज्ञ हैं।

अन्त में, जिन-जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस ग्रन्थराज में सहयोग मिला है, तथा जिन-जिन महानुभावों ने उदारतापूर्वक इस ग्रन्थराज के प्रकाशन में अर्थसहयोग दिया है, उन सबके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। मुज्ञ सुधीजन इसे पढ़ कर आध्यात्मिक लाभ उठाएँगे तो हम अपना प्रयास सार्थक समझेंगे। —मंत्री, विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, आगरा।

आशीर्वचन

भारत की सन्त-परम्परा मे समग्र भारत के प्रत्येक प्रान्त मे अध्यात्मवादी, भक्तिवादी, तथा तत्त्ववादी सन्त हुए हैं। उत्तरप्रदेश की सन्तपरम्परा मे सूरदास तथा तुलसीदास का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये दोनो सन्त वैष्णव-सम्प्रदाय के थे। परन्तु सन्त कबीर किसी भी सम्प्रदाय मे आबद्ध न हो कर उन्मुक्त विचारक कहे जा सकते हैं, महाराष्ट्र मे सन्त रामदास, सन्त तुकाराम तथा एकनाथ आदि जनप्रिय तथा लोक-प्रसिद्ध सन्त हो चुके हैं। राजस्थान मे मीरा, रैदास और दादू राजस्थानी जनता के मन के कण-कण मे रम चुके हैं। मीरा जैसा पद-माधुर्य तथा भावगाम्भीर्य अन्यत्र मिलना बडा ही दुर्लभ है। यही कारण है, कि मीरा के सगीतमय पद काश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक आबाल-गोपाल प्रसिद्ध हैं। अत. मीरा का जीवन तथा उसके भाव-प्रवण पद भारतीय जन-जीवन की सार्वजनिक सम्पत्ति माने जाते हैं।

वीर-प्रसूता राजस्थानभूमि में एक अन्य अध्यात्मवादी सन्त हुआ था, जिसका नाम आनन्दघन था। सन्त आनन्दघन का जन्म जैनपरम्परा के शालीन परिवार मे हुआ था। उसके मज्जागत सस्कार भी जैन-सस्कृति के ही रहे। परन्तु सन्त आनन्दघन के पदो को तथा अध्यात्म-प्रधान स्तुतियो को पढ कर यह निर्णय नही किया जा सकता, कि वह जैन-परम्परा मे आवद्ध था। सन्त आनन्दघन ने अपने पदो मे अन्धपरम्परा, रूढि और जडता का खुल कर विरोध किया है। परम्पराप्रेमियो ने उसे परम्परा के जाल मे जकडने का एकाधिक बार प्रयास किया था, पर स्वतन्त्रविचारक तथा युगस्पर्शी चिन्तन के धनी सुधारवादी सन्त आनन्दघन ने परम्पराप्रेमियो की किसी भी शर्त को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया था। इसी कारण परम्परा-वादियो द्वारा उन्हे कई बार तिरस्कृत भी होना पडा, पर उस मस्त योगी को आदर-निरादर की कोई परवाह नही थी। धर्मध्वजी जडवादी लोगो से जीवनभर वे सघर्ष करते रहे, उनके साथ समझौते के समस्त प्रयास असफल रहे। सन्त आनन्दघन जैनपरम्परा के थे, इसमे जरा भी सन्देह नही है। परन्तु उनके

अध्यात्मिक काव्य मे सूर जैसा गाम्भीर्य, तुलसी जैसी व्यापकता, कबीर जैसी स्पष्टता एव प्रखरता तथा मीरा जैसा माधुर्य और तुकाराम जैसी मृदुता सर्वत्र छलकती दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनके विहारक्षेत्र मुख्यतया राजस्थान और गुजरात रहे, तथापि उनकी कीर्ति और प्रसिद्धि भारत के प्रान्त-प्रान्त मे परिव्याप्त हो चुकी थी।

सन्त आनन्दघन ने जैन-परम्परा-प्रसिद्ध समस्त तीर्थंकरो की अध्यात्म-प्रधान स्तुति-सरचना की है। एक-एक तीर्थंकर की एक-एक स्तुति मे गायक और श्रोता आत्म-विभोर हो उठते हैं। सन्त आनन्दघन कल्पनाप्रधान नही, अपितु सहज भाव प्रधान कवि था। उसकी स्तुति और पदो मे सर्वत्र शान्तरस छलकता रहता है। उनके पदो का स्थायीभाव निर्वेद है। काव्य की कसौटी पर कस कर देखा जाए तो माधुर्य तथा प्रसाद गुण प्रतिपद मे प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। अलकार-योजना भी यत्र-तत्र उपलब्ध होती है, परन्तु वह गौण है, मुखर नही हो पाई। कवि का उधर ध्यान ही नही था, उसका मुख्य लक्ष्य था—एक-मात्र शान्त-रस के परिपाक की ओर। शान्तरस के परिपाक मे तथा उसकी अभिव्यक्ति में आनन्दघन को पूर्णत सफलता मिली है। शान्त-रस के विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव तथा संचारी-भाव बडी खूबी के साथ रस की अभिव्यक्ति कर देते हैं। शान्त-रस वाच्य नही रहा, वह सर्वत्र अभिव्यञ्जित हुआ है। यही कारण है, कि आनन्दघन के अध्यात्मप्रधान काव्य मे सर्वत्र भावो की मधुरिमा, शैली की प्राजलता तथा भाषा की गरिमा अपनी अभिव्यक्ति पाती रही।

मेरे प्रेमी सर्वोदयविचारक मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी ने सन्त आनन्दघन की चतुर्विशति-स्तुतियो पर 'अध्यात्म-दर्शन' नाम से एक भाष्य लिखा है, जिसमे एक-एक स्तुति को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अभी तक आनन्दघन पर इतना विशद, इतना स्पष्ट तथा इतना मर्मस्पर्शी भाष्य किसी भी लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया है। इसका समग्र श्रेय प्रबुद्ध विचारक गाधीवाद के व्याख्याता, अध्यात्मयोगी मुनिवर नेमिचन्द्रजी को है, जिन्होने अथक परिश्रम करके अध्यात्मप्रेमी जनता के कर-कमलो मे एक अध्यात्मकमल समर्पित कर दिया है। जिसे पा कर प्रत्येक पाठक तथा श्रोता को अमित आनन्द की भावानुभूति तथा रसानुभूति होगी।

—उपाध्याय अमरमुनि

वीरायतन, राजगृह (नालंदा)

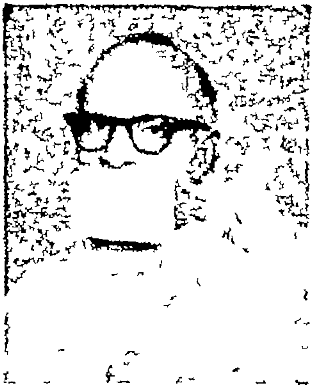

सरलस्वभावी मुनिश्री
सुन्दरलालजी महाराज

प्रवचनप्रभाकर प० मुनिश्री
सुमेरचन्द्रजी महाराज
(सयोजक)

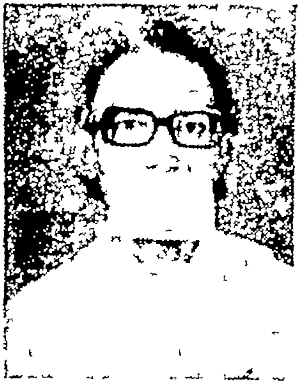

कर्मठ सेवानिष्ठ श्री विनोदमुनिजी
(सयोजक)

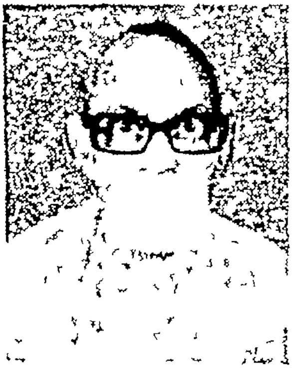

कलमकलाधर मुनिश्री
समदर्शीजी

मुनि सन्मतिशीलजी

प्रस्तावना

अध्यात्म एक ऐसी भूमिका है, जिसका आनन्द शब्दगम्य नही अनुभव-गम्य है। वह किसी से पाई नही जाती, अपनाई जाती है। वह एक ऐसा सरस रस है, जिसका आशिक स्वाद भी जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन ला देता है। मत-सम्प्रदाय की जड धारणाए, संकुचित बाडाबन्दी और अह की भेदरेखाए वहाँ स्वत तिरोहित होने लग जाती हैं। एकात्मभाव की अनुपम अनुभूति सर्वत्र मैत्री की गाथा को मुखरित कर देती है और 'एक एव भगवानयमात्मा' की ध्वनि स्वत गूजने लग जाती है। अहा ! यह एक निराली ही मस्ती है, अनूठा ही फक्कडपन है, विचित्र आत्मदशा है। अध्यात्मयोगी की कल्याणी वाणी कुछ भव्य भावभगिमा को धारण कर लेती है। उसकी दृष्टि कुछ अन्यादृशी सृष्टि के लिये ही अमृतवृष्टि करती रहती है। उसके रोम-रोम मे से अजस्र कल्याण का स्रोत वहता रहता है।

स्वनाम-धन्य अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी को जैनजगत् का कौन विज्ञ नही जानता ? उनकी अद्‌भुत अध्यात्मरस से ओतप्रोत कुछ कृतियाँ ही उनका यथार्थ परिचय है। मत-सम्प्रदाय की सीमाओ को तोड कर उन्होंने उन्मुक्त मुनिव्रत को स्वीकारा था। दिगम्बर-श्वेताम्बर की सारी उपाधियो को उन्होंने दूर रख दी थी। उसी का ही परिणाम है कि आज सारा जैनसमाज उनकी तात्त्विक कृतियो को ससम्मान आत्मसात् कर रहा है, अपना रहा है और उन्हे गौरव प्रदान कर रहा है। आश्चर्य ही क्या ? गगा का पानी तो सभी के लिये गगा का पानी ही है, उसके नैर्मल्य-माधुर्य आदि गुण सभी को एकरूपता प्रदान करते है। जैन हो, चाहे अजैन, हिन्दू हो चाहे मुस्लिम, स्वदेशी हो या विदेशी, गगा का पानी सभी की प्यास बुझाता है, शान्ति प्रदान करता है।

सही कहा है—

> 'जयन्तु ते सुकृतिनः, रससिद्धा कवीश्वराः',
> नास्ति येषां यश काये जरामरणजं भयम् ।"

कृतिकार अतीत के गाढ अन्धकार मे विलीन हो जाते हैं, पर उनकी अमर कृतियो पर काल का क्रूर कटाक्ष प्रभावी नही बन पाता। युग-युगान्तर तक वे कृतियाँ अखण्ड ज्योति बिखेरती रहती हैं, पथ प्रशस्त बनाती रहती हैं और गुमराहो को सही राह दिखलाती रहती हैं।

अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी की चौवीसी एक ऐसी ही अनुपम कृति है, अद्भुत देन है या सहज आत्मिक उद्गार है; जिन्हे पढने वाला साधक मस्त हुए बिना नही रह सकता, झूमे बिना नही रह सकता और कुछ अपने हृदय को छू रहा है—ऐसा अनुभव किये बिना नही रह सकता। उनके एक-एक पद कुछ अनूठी तात्विकता लिये हुए प्रस्फुटित हुए है। भाषा की सज्जा का वहाँ कोई ध्यान नही है। वहाँ तो भावना ही साकार बन कर निखरी है। अपनी अकृत्रिम निराली मस्ती मे ही सरस्वती ने पवित्र पदन्यास किया है। सहज सरल शब्द भी अनेक अर्थों के अभिव्यजक बने दिखाई देते हैं। अभिधा लक्षणा के पीछे मानो ध्वनियाँ कुछ अभिनव प्रकाश बिखेर रही हैं। रूपकों की तो वहाँ भरमार है। प्रथम पद ही अखण्ड अनन्त प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। ऋषभ जिनेश्वर को प्रियतम पद पर प्रतिष्ठित करती हुई शुद्ध-चेतनारूप नारी अपने प्राणेश्वर के प्रेम का वर्णन करती है। देखिये—

> "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूं रे कन्त।
> रीझ्यो साहेब संग न परिहरे, भागे सादि अनन्त ॥"

उन्होंने सादि अनन्त के भग से अपने देव की प्रीति को पुकारा है, अर्थात् जिस प्रेम की आदि है—प्रारम्भ है, पर अन्त नही है—अनन्त है। अहा! कैसी अद्भुत एव निराली प्रीति है। जगत् का प्रेम सोपाधिक है, किन्तु यह प्रेम तो निरुपाधिक है। उपाधिजन्य प्रेम तो, यह हो तो प्रेम हो—इस प्रकार कुछ मांग रहा है, चाह कर रहा है, वह असली प्रेम कहाँ? मांग की पूर्ति होने न होने पर प्रेम का सद्भाव एव तिरोभाव जहाँ हो, वहाँ वास्तविकता कहाँ? प्रेम की सच्चाई कहाँ?

श्रीआनन्दघनजी इसी स्तवना मे एक बडी क्रान्ति की बात कह डालते हैं—

"कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरजन में नवि चित्त धर्यु रे, रजन धातु-मेलाप ॥ऋषभ० ॥४॥

रूढ़िगत तपश्चर्या की सभी साधको मे वडी लम्वी परम्परा रही है। उस पर यह व्यग्योक्ति है कि पति को खुश करने के लिये कुछ अतिघोर तप करते हैं और शरीर को तपाना ही पतिमिलन का हेतु मानते हैं, किन्तु मेरे चित्त मे वह नही रुचा है, मुझे वह उचित नही लगा है। पतिरंजन तो धातु-मिलाप ही है, पति-पत्नी की एकरसता ही है, तन्मयता ही है। धातु-मिलाप के क्षण ही पतिरजन के क्षण हैं। इस प्रकार परमात्म-प्रेम का अद्‌भुत विश्लेषण यहाँ पठनीय है।

श्रीआनन्दघनजी अजित-जिन के दर्शनोत्सुक वन कर उनके पथ को निहार रहे हैं, उनकी वाट जोह रहे हैं।

परन्तु किस पथ से प्रभु का मिलना होगा? वह पथ कौन-सा है? उसे कैसे पहचाना जाए? इसी समस्या मे जगत् की उलझन का चित्रण करते हुए आप लिखते हैं—

"चरम नयणे करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल ससार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार ॥पथडो॥२॥
पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवता रे अन्धो अन्ध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरणधरण नहीं ठाय ॥पं०॥३॥

अहा! उस पथ को निहारने के लिये इन चर्मचक्षुओ का काम नही है, वहाँ तो दिव्यनयनो की आवश्यकता है।

कुछ लोग कहते हैं— 'परम्परागत मार्ग सही है" ऐसी मान्यता वालो पर तीखा कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि 'अन्धे के पीछे अन्धे हो रहे हैं।' जो मार्ग दिखाने के लिए अगुआ वना है, वह स्वय अन्धा है—वह स्वय कभी उस मार्ग को देख नही पाया है, तो उसके पीछे चलने वाले—अन्धानुकरण करने वाले तो मार्ग पा ही कैसे सकते हैं? इसी पद के उत्तरार्ध मे एक गहरी वात कह देते हैं। यदि वस्तुतया आगमकथनो पर विचार किया जाए तो पैर रखने का भी स्थान नही है। कहाँ आगमो की असिधारा—जैसी अत्यन्त तीक्ष्ण एव अहिदृष्टि जैसी सतत जागरूकता की साधना और कहाँ आज के साधको की सुविधा-परक वृत्ति! हा! कैसे मार्ग पाया जा सकता है?

कहीं-कहीं श्रीआनदघनजी की अन्तश्चेतना प्रभु के प्रति अतीव उत्कण्ठित होती हुई अपनी सुमति नामक सखी से कैसे भावभरे शब्दो मे कहती है—

"देखन दे रे, सखी मुने देखन दे, चन्द्रप्रभु-मुखचन्द, सखी ।
उपशमरसनो कन्द, सखी, गतकलिमल-दुख द्वन्द्व,सखी ॥१॥

अहा ! कितनी गहरी भावाभिव्यक्ति है ! सखी मुझे देखने दे ! आतुरता के पीछे कारण है कि भवभ्रमण करते हुए अनन्तकाल मे मुझे यह सुअवसर प्राप्त नही हुआ है। विविध योनियो के मार्मिक चित्रण का नमूना देखिये —

"सुहुम निगोदे न देखियो सखी, बादर अतिहि विशेष ॥सखी०॥
पुढवी आऊ न लेखियो सखी, तेऊ वाऊ न लेश ॥सखी०॥
वनस्पति, अतिघणदीहा सखी, दीठो नहि दीदार ॥सखी०॥
त्रि-ति-चउरिंदिय जललीहा, सखी, गतसन्नीपण धार ॥सखी०॥

तात्पर्य यह है कि वहाँ कही मुझे दर्शन का मौका नहीं मिला। केवल इसी मनुष्यभव मे यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है, अत मुझे अब देखने दे। प्रस्तावना मे कितना विवेचन दिया जाए, प्रत्येक कृति अद्‌भुत भावों को लिये हुए चली है।

सच्चा साधक कभी अपनी कमजोरी नही छिपाता। वह तो डके की चोट सभी के आगे उसे व्यक्त कर देता है। मन की चचलता के आगे हैरान श्री आनन्दघनजी सत्रहवें कुन्थुनाथस्वामी के स्तवन मे गजब की व्याख्या करते हैं—

"कुन्थुजिन ! मनडु किम ही न बाजे,
जिम-जिम जतन करी ने राखूं,तिम-तिम अलगूं भाजे ।"

प्रभो ! मेरा मन किसी प्रकार बाज नही आता। इसे काबू करने के लिये ज्यो-ज्यो प्रयत्न करता हूं, त्यो-त्यो वह दूर भागता है। मन का यह निश्चित स्वभाव है कि जहाँ जाने के लिये हम रोकना चाहेंगे, वहाँ वह जरूर जायेगा। इसी अनुभवगम्य स्थिति का यह प्रकट दिग्दर्शन है। मन के दौडने की नि स्सारता का चित्रण पढिये—

"रयणी वासर, वसती-उज्जड, गयण-पायाले जाय।
साप खाय ने मुखडु थोथुं, एह ओखाणो न्याय, हो, कुन्थु ॥

रात-दिन, बसति-उजाड, आकाश-पाताल में यह दौडता रहता है। इतना दौडते हुए भी इसे कुछ प्राप्त नहीं होता। फिर भी मालिक को तो यह भारी बना ही देता है। जैसे-साप काटता है, तो उसका पेट तो नहीं भरता, पर जिसे डंक मारता है, उसे तो विष से व्याकुल बना ही देता है।

अहा ! कैसी विचित्र लोकोक्ति का प्रयोग किया है। इसी स्तवन के अन्तिम पद मे तो वे एक असाधारण घोषणा कर देते हैं—'प्रभो ! अमुक ने मन को जीता, मन को मारा, मन को वश मे किया—ये सब सुनी सुनाई बातें हैं। मैं उन पर कैसे विश्वास करूँ ? यदि आप मेरे मन को वश मे ला दें, तो मैं उपर्युक्त कथनो को सत्य मान लूँगा।'

"आनन्दघन प्रभु ! म्हारो आणो तो साचू करी मानूँ।"

वस्तुत मन को मारना कठिन समस्या है। आनन्दघनजी मन को मारने से अधिक सुधारने मे विश्वास करते हैं। इस भाँति सारा ही ग्रन्थ बहुमूल्य शिक्षामणियो से एव आध्यात्मिक अनुभूतियो से भरा पडा है। बस, कण की परीक्षा से ही मनभर की परीक्षा हो जाती है।

मूलकृति एव भाष्यकार

यद्यपि आनन्दघन **चौबीसी** पर आज तक अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, अनेक व्याख्याए की गई है, फिर भी वे बहुत सक्षिप्त एव शब्दार्थ मात्र जैसी ही हैं। उनसे पाठको की तत्त्वजिज्ञासा यथार्थतया समाहित नही हो पाती। श्रीमद्‌राजचन्द्र जैसे महान् तत्त्व-मनीषियो ने भी कुछ गीतिकाओ पर ही प्रकाश डाला है, सभी गीतिकाओ पर नही। अत मुमुक्षुओ की माग थी कि कोई अनुभवी साधक इसकी विस्तृत व्याख्या करे। समुद्र की अतल गहराइयो तक गोता लगाने वाला तैराक ही उसकी गहराई को माप सकता है। केवल तट पर घूमने वाले यात्री को उसका कैसे पता लग सकता है ? इस अभाव की पूर्ति भाष्य लिख कर **मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी** ने सचमुच मे की है। भाष्यकार ने किस गहराई से तत्त्व को छूआ है और कैसी वास्तविक व्याख्या से समाधान किया है, यह विशिष्ट वाचको से कदापि छुपा नही रहेगा। इधर-उधर की व्याख्या से व्यर्थ का कलेवर बढाना और बात है और मूल का स्पर्श करना भिन्न बात है। यह मूलस्पर्शी व्याख्या बनी है। ग्रन्थकार के प्रत्येक शब्द के तात्पर्य को पकडने की इसमे विशेष चेष्टा की है।

यह नि सन्देह है कि मूल-मूल है, व्याख्या-व्याख्या है। सैकडो वर्षों का अन्तर चिन्तन के स्तर को बदल डालता है। शब्द भी अपने तात्पर्यों को बदल लेते हैं। वहाँ ऐदयुगीन मानव अपनी बुद्धि से अवश्य कुछ जोडना एव कुछ तोडना चाहता है—यह स्वीकरणीय तथ्य है, फिर भी टीका, वृत्ति, भाष्य के

विना दूसरा कोई चारा नही है । मूल को कितनी यथार्थता से कौन पकड़ता है ? यही देखना वहाँ अभीष्ट है ।

वैसे ही चौबीसी के पदो मे जहाँ-जहाँ कुछ शास्त्रोपजीवी भावनाएँ हैं, वहाँ-वहाँ उन-उन शास्त्रीय प्राचीन ग्रन्थो के श्लोक आदि टिप्पण में सप्रमाण दे दिये गये हैं । इससे प्रस्तुत भाष्य की मौलिकता पर और भी चार चांद लग गये हैं ।

व्याख्या की प्रामाणिकता

वही व्याख्याकार अपने और कृतिकार के साथ न्याय करता है, जो अपनी मान्यताओ को प्राधान्य न दे कर कृति के भावो को प्राधान्य देता है, क्योंकि वह वहाँ अपनी मान्यताओ की व्याख्या नही कर रहा है, बल्कि किसी अन्य व्याख्येय की व्याख्या कर रहा है । इस विषय में भी भाष्यकार बिलकुल खरे उतरे हैं । मेरी दृष्टि मे यह उनकी व्याख्या की प्रामाणिकता है, जो विशेष श्लाघनीय एव अनुकरणीय है ।

फूलो की बगिया महक रही है, सौरभ बिखेर रही है, कौन उससे प्रीणित होगा—उसे यह परवाह नहीं है । कलरव के साथ शीतल मधुर पानी का सोता बह रहा है, कौन उस पानी का उपभोक्ता होगा—उसे इसकी चिन्ता नही है । मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी भी उसी धुन के धनी हैं । वे स्वान्त.सुखाय सतत साहित्य-साधना मे सलग्न रहते हैं । कौन कैसा उपभोग करेगा—वे इस चिन्ता से विरत हैं, फिर भी सौरभ व शीतल जल का उपभोग हर कोई करना ही चाहेगा । सस्कृत के एक सुभाषित मे कहा है—

"गुणा कुर्वन्ति दूतत्वं, दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकी-गन्धमाघ्राय, स्वयमायान्ति षट्पदा. ॥"

—बस इन्ही शब्दो के साथ—

विo सo २०३३, ज्येष्ठशुक्ला १०
बेलनगज, आगरा ।

—चन्दनमुनि

अर्थ-सहायकों की सूची

५०१)	श्रीमती कमलाबाई गेंदामलजी भलगट	नारायणगाँव
१५१)	सौ० आनन्दीबाई माणकचन्दजी चोरड़िया	बोरी
२५१)	श्री सरदारमलजी पोपटलाल सचेती	जुन्नर
५१)	श्री पन्नालाल धूलचद लूणावत	जुन्नर
१००)	बाबूलालजी चुन्नीलालजी धोका	अहमदनगर
१००)	चम्पालाल रमणलाल चगेड़िया	सोनई
१०५)	सौ कमलाबाई घेवरचन्द सचेती	श्रीरामपुर
१०५)	श्री झुम्बरलालजी पुनमचन्दजी बाफना	श्रीरामपुर
५१)	श्री सन्ताबाई मिश्रीलालजी भडारी	श्रीरामपुर
१०५)	श्री वसन्तीलालजी केशरचन्दजी बोरा	आश्वी
१०५)	श्री रतनलालजी नवलमलजी भडारी	आश्वी
१०५)	श्रीमलजी शान्तिलालजी गाँधी	"
२२५)	श्री शान्तिलालजी दुलीचन्द रातड़िया	"
३१)	श्रीनथमलजी सूरजमलजी चोपडा	"
३०)	श्रीझुमरलालजी कचरदासजी गाँधी	"
१०५)	श्री रमणलालजी केसरचन्दजी बोरा	"
१६५)	सौ. चम्पाबाई शकरलाल गांधी	"
३१)	श्रीमूलचन्दजी कचरदासजी बोरा	"
३१)	श्री हरकचन्दजी गुलाबचन्दजी पटवा	"
१०५)	श्री नेमिचन्दजी भागचन्दजी कटारिया	श्रीरामपुर
१००)	छल्लाणी ब्रदर्स, गजबाजार	अहमदनगर
२५१)	श्री केवलचन्दजी हरकचन्दजी लोढा	सोनगाँव
५१)	श्री मोहनलालजी शान्तिलालजी गाँधी	"
५१)	डॉ कान्तिलाल खुशालचन्दजी बोरा	"
५१)	श्री चम्पालाल नैनसुखजी सिंघी	"

५१)	श्री कुमरलालजी पुखराजचन्दजी बोरा	सोनगाँव
२५)	श्री वसन्तलाल पन्नालाल गुगले	,,
१५)	श्री घेवरचन्द वदननालजी मेहूर	,,
११)	श्री मोहनलालजी फिरोदिया	,,
१००)	श्री मेघराज जैन, स्टेशन रोड बाजार	लक्ष्मीपेरे (कर्णाटक)
७५)	श्री प्रकाशलाल चन्दनमल नाहर	मिरजगाँव
१५१)	श्री चन्द्रकान्तजी शोभाचन्दजी बाफना	घोडनदी
१०५)	श्री माणकचन्दजी धूलचन्दजी दुगड	घोडनदी
२०१)	श्री पुखराजजी हीरालालजी तातेड	कटनी
२१)	श्री मिश्रीलालजी दगडुलालजी सोनी	,,
११)	श्री लखमीचन्दजी घीमालाल नाहर	,,
२५)	श्री राजकुमार आसकरण चडालिया	,,
१५)	श्री गोकुलचन्द खेमराज मुथा	घोडनदी
२०१)	श्री भँवरीलालजी जुगराजजी फूलफगर	घोडनदी
१०५)	श्री धनराजजी मोतीलालजी बोरा, आडतबाजार	अ नगर
१०५)	श्री भोजराजजी सुरेशकुमार खींवसरा	बीड
१०१)	श्री माणकचन्दजी राजमलजी बाफना	वडगाँव
५१)	श्री मोहनलालजी भगवानदास कोठारी	अ नगर
३०१)	श्री पन्नालालजी केशरीचन्दजी चंगेडिया	,,
१०५)	श्री उत्तमचन्दजी शान्तिलालजी नाहर	घोडनदी
१०१)	श्री रतनबाई सुखलालजी विनायक	
५१)	श्री कन्हैयालालजी नेमिचन्दजी भटेवरा	घोडनदी
१११)	श्री उत्तमचन्दजी रूपचन्दजी भंडारी (वडालावाला)	अ नगर
१०५)	श्री रतनलाल चान्दमलजी पीपलावाला	
३१)	श्री मोहनलालजी ओस्तवाल,	उमराण
३१)	श्री धरमीचन्दजी नवीनकुमारजी	रायचूर (कर्णा)
५१)	श्री शोभाचन्दजी क्षणकारमलजी चोपडा	म गा. रोड, अहमदनगर
१०५)	श्री धनराजजी श्रीमलजी पीतलिया	सारडागली, अहमदनगर
१०५)	श्री फूलचन्दजी हरकचन्दजी बोथरा	आडतबाजार, अहमदनगर
[illegible])	श्री उत्तमचन्दजी राजमलजी गूगले	गजबाजार, पाथर्डी (अ न)

१०१) श्री मानकचन्दजी फूलचन्दजी, लोढा, दालमडई, अहमदनगर
१०५) श्री दानमलजी कचरदासजी नाहर, विनय टेडिंग क तेलीखूट (अ नगर)
१०५) श्री कान्तिलाल घेवरचद मिघवी दालमडई (अ नगर)
१०५) श्री नारायणदास मोहनलाल लोढा ,, ,,
७५) श्री आसराज कन्हैयालाल कटारिया आडतबाजार, अहमदनगर
३१) श्री चुन्नीलालजी लखमीचन्दजी वोरा खिस्तीगली, अ नगर
६१) नाजुवाई हीरालालजी चोपडा काटेगली ,,
१०५) प्रेमलतावाई मुकनदासजी दुगड ,, ,,
३१) सौ सरसवाई पोपटलालजी देसरडा (६ उपवास के उपलक्ष मे)
पनसरे गली, अहमदनगर
५००) कचरदासजी मोहनलालजी लोढा घासगली, अहमदनगर
७५) मोहनलालजी जुगराजजी दालमडई (अ. नगर)
१०५) अमोनकचन्दजी विरदीचन्दजी कटारिया भीकार बाजार, अहमदनगर
२५) सौ० सूरजवाई नेमीचन्दजी लोढा वनजार गली, अहमदनगर
३५) वशीलालजी सुवालालजी गुगले जामखेड (अ नगर)
११) नेमीचन्दजी माणकचन्दजी मुथीयान परदेशी गल्ली, अहमदनगर
१०५) श्री प्रेमराज पन्नालालजी मुणोत सदाभवन नवीपेठ, अहमदनगर
१०००) श्रीनेमीचन्दजी भागचन्दजी कटारिया चाईस, अहमदनगर
१५१) श्री अमृतलालजी वशीलालजी गांधी नवीपेठ, अहमदनगर
६१) श्री मनसुखलालजी लूणकरणजी मुणोत बूरुडगली, अहमदनगर
५१) श्री लालचन्दजी अमरचन्दजी चगेडिया खिस्तीगली, अहमदनगर
१६५) श्री सुवालालजी वदुलालजी वोथरा आडत वाजार, अहमदनगर
१०५) श्री चान्दमलजी पन्नालालजी डागा आडत वजार, अहमदनगर
५१) श्री वशीलालजी नन्दरामजी पटवा अम्बिकानगर, अहमदनगर
१५१) श्री विजयकुमारजी बाजीरावजी गांधी नवीपेठ, अहमदनगर
३०१) श्री शान्तिलालजी मोहनलालजी काठेड आडतवाजार, अ. नगर
१०५) श्री माणकचन्दजी वनेचदजी खाविया चर्चरोड, अ नगर
१०५) श्री कान्तिलालजी ताराचन्दजी मूथा खिस्तीगल्ली, अ. नगर
१०५) श्री रतनचन्दजी रामचन्दजी वोरा पनसरे गल्ली, अ नगर

१०५) श्रीमती रतनबाई चुन्नीलालजी कर्णावट
c/o इन्द्रभान चुन्नीलाल कर्णावट — आडतबाजार, अ. नगर
३१) श्री शकरलालजी भीमराजजी कटारिया — बनजारगली, अ. नगर
१५१) श्री मनसुखलाल चैनसुखलालजी कोठेड — मारवाड लेन, अ. नगर
१०५) श्री शान्तिलालजी वर्धीलालजी भडारी — आडतबाजार, अ. नगर
३१) श्री हुक्कचन्दजी किसनदासजी चत्तर — चुडीगल्ली, अ. नगर
३१) श्री सूर्यकान्तजी जुगराजजी राका — दाल मडई, अ. नगर
१५) श्री सुभाषलालजी शकरलालजी गुदेचा — मालीवाडा, अ. नगर
५०१) श्री पुनमचन्दजी मोतीलालजी मुनोत — दालमडई, अ. नगर
२१) श्री पोपटलालजी चादमलजी गांधी — महाजोरोड, अ. नगर
१२०) श्री नवलमलजी शोभाचन्दजी गांधी — दालमडई, अ. नगर
१०५) श्री केशरचन्दजी गुलाबचन्दजी मुणोत — दालमडई, अ. नगर
१०५) श्री कान्तिलालजी व्रजलालजी निवाडीवाला
१५) श्री जवरीलालजी किसनदासजी हिरण मनमाड वाला
३०) श्री धनराजजी रमेशलालजी बोरा — गजबाजार, अ. नगर
७५) श्री इन्द्रभानजी घेवरचदजी भडारी — खिस्तगली, अ. नगर
१०५) श्री कान्तिलालजी भीकचदजी लुणावत — तावीदास गली, अ. नगर
१५१) सौ. गुलाबबाई मगनलालजी आष्टीवाला — मोचीगली, अ. नगर
१०५) श्री मोतीलालजी मुलतानचदजी बोरा ट्रस्ट — परदेशीगली, अ. नगर
१०१) नानीबाई रामचन्द गुगले — कोल्हार
१०१) श्री हीरालालजी चन्दनमलजी — कुकुमोड़ कोल्हार
५१) श्री सुखलालजी उत्तमचन्दजी राका — ,,
३५) श्री शान्तिलालजी नथमलजी राका — ,,
३१) श्री मनसुखलालजी नेमिचदजी चोरडिया — ,,
२१) श्री शान्तिलालजी नैनसुखजी सिघवी — ,,
१५) श्री पन्नालालजी गूदेचा — पानोली
५१) श्री स्वार्थीलाल जी नैनसुखलालजी भटेवरा — चाकण
५१) श्री चुन्नीलालजी नेमिचदजी भटेवरा — उरलीकाचन
३१) श्री अमोलकचदजी नवलमल गुगलिया — घुमरेगली कॉर्नर, अ. नगर
१०५) श्री पुनमचदजी दगडूरामजी भटारी — कापड बाजार, अ. नगर

७५)	श्री कुंवरलाल छगनलाल कासवा	आढते बाजार, अ. नगर
१५)	श्री कन्हैयालाल गांधी	अ नगर
२१)	श्री माणकचंदजी गोकुलदास मुनोत	हिवडावाला, अ. नगर
२०१)	श्री सुरजबाई दौलतरामजी बोरा	अ नगर
५०१)	श्री केशरचंदजी वशीलालजी कटारिया	पाडलीकर अ. नगर
२५१)	श्री शंकरलालजी मोहनलालजी पोखरणा	अ. नगर
१०५)	श्री मनमुखलाल केशरचंदजी चंगेडिया	सोनई, अ नगर
१६५)	श्री हरकचंदजी रतनचंदजी छल्लाणी	आडते बाजार, अ नगर
६१)	श्री भीकमचंदजी रामचंदजी लूंकड वाकुडीवाला	अ नगर
५१)	श्रीमती रंभाबाई भगवानदासजी कोठारी	सर्जेपुर रोड, अ नगर
५५)	श्री कुंवरलालजी भगवानदासजी कोठारी	सर्जेपुर रोड, अ. नगर
६१)	श्री माणिकचंदजी भिकनदासजी कटारिया	सुन्दरनिवास, अ नगर
१५)	श्री खुशालचंद दीपचंद बम्ब	गजबाजार, अ नगर
१०५)	श्री हेमराजजी श्रीमलजी गांधी रस्तापुर वाला	अ. नगर
१५)	श्री दलीचंद जीवराज गांधी	आडते बाजार, अ नगर
३१)	श्री गेनमल चन्दनमल गुगले	तपकीर गली, अ नगर
१५)	श्री मोहनलालजी हम्मीरमलजी चोपडा	तेलीखुंट, अ नगर
१०५)	श्री सुखलालजी चुन्नीलालजी लोढा	गजबाजार, अ नगर
६१)	श्री माणकचंद रतनचंद छल्लाणी	पारशाखुंट, अ नगर
१५)	श्री चंदनमलजी शिवलालजी पारख	अ नगर
३१)	श्री राजेन्द्रकुमार मोहनलालजी मुथा	खिस्ती गल्ली, अ. नगर
६१)	श्री उत्तमचन्दजी छोगमलजी रातडिया	नवा कापड बाजार, अ नगर
३१)	श्री पोपटलाल भीकमदास भलगट	गणेश ट्रेडर्स मालीवाडा, अ नगर
२१)	श्री शेषमलजी अमरचन्दजी भंडारी	नवा बाजार, अ नगर
१५)	श्री फूलचंद चतुर्भुज गांधी	जूना बाजार, अ नगर
५५)	श्री समरथमलजी कुन्दनमलजी बोरा	कपडा बाजार, अ नगर
६०)	श्री शान्तिलालजी भगवानदासजी गुगले	तोपखाना, अ नगर
३१)	श्री संजयकुमार पोपटलाल पीपाडा	अ. नगर
७५)	श्री शान्तिलालजी पन्नालाल चंगेडिया	भिंगार, अ. नगर

१५) श्रीमती रम्भाबाईन हेमराजजी गांधी, कापड बाजार, अ० नगर
१५) श्री आनन्दरामजी किशमदासजी छाजेड, मु म्हासा श्रीरामपुर
१०१) श्रीमती सूरजबाई मोहनलाल जी, शकर रोड, पूना-६

अर्थसहयोगी महानुभावो की यह सूची बहुत ही सावधानी के साथ छपवाई गई है, फिर भी किन्हीं महानुभावो के नाम इस सूची मे रह गये हो तो वे हमें क्षमा करें। सम्भव है, हमारे पास घोडनदी के अर्थ-सहायको की सूची नहीं पहुँची हो। हम उनसे क्षमाप्रार्थी है। इस सूची की प्रतीक्षा मे ही पुस्तक के छपने में काफी विलम्ब हो गया है।

जिन-जिन महानुभावो ने इस विशालकाय ग्रन्थराज मे अर्थसहयोग किया है, हम उन्हे धन्यवाद देते हैं। भविष्य मे हम आशा करते हैं कि वे महानुभाव इस प्रकार के अद्वितीय ग्रन्थराज के प्रकाशन में अवश्य अपना सहयोग देते रहेंगे।

मत्री
विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामडी, आगरा–२

पुस्तक-प्राप्तिस्थान (महाराष्ट्र मे)
राजेन्द्रकुमार मोहनलाल मुथा
अर्बन कॉ-ऑपरेटिव बैंक, गांधी रोड,
अहमदनगर (महाराष्ट्र)

१ ऋषभदेव-स्तुति—

सच्ची परमात्म-प्रीति

(तर्ज— कर्मपरीक्षा करण कुमर चाल्यो ...... राग-मारु)

ऋषभजिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि-अनन्त ॥ध्रुव०॥१॥

अर्थ

मेरे सच्चे प्रियतम (पतिदेव) तो रागद्वेष-विजेता ऋषभदेव परमात्मा हैं। मैं और किसी को अपने पति के रूप में नहीं चाहती, क्योंकि मेरे परमात्मदेव (पति) यदि एक बार प्रसन्न हो जायेंगे तो वे सादि-अनन्त भग (विकल्प) की दृष्टि से कदापि मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

भाष्य

अन्तरात्मा की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्म-प्रीति है। परमात्म-प्रीति के सम्बन्ध मे विभिन्न विकल्प है। परन्तु स्तुतिकर्ता श्रीआनन्दघनजी जगत् के किसी भी तथाकथित महान् (धन, सौन्दर्य आदि की दृष्टि से) व्यक्ति को अपने प्रियतम के रूप मे पसद नही करते। इसीलिए अपनी श्रद्धा नाम की सखी से चेतना (अन्तरात्मा) द्वारा कहलाते है —मेरे प्रियतम तो रागद्वेष-विजयी ऋषभदेव परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) हैं। इन्ही के चरणो मे मैं अपने तन, मन, इन्द्रिय, हृदय, बुद्धि आदि सर्वस्व अर्पण करती हूँ। इन्ही के पास रहने, इन्ही की सेवा मे अहर्निश सलग्न रहने की मेरी भावना है। मैं अपने इन्ही पतिदेव को चाहती हूँ। इनके साथ रहने मे मैं अपने जीवन की परम सफलता मानती हूँ।

अन्य के साथ क्यो नहीं ?

आर्यनारी जिसके साथ एक बार प्रीति जोड लेती है, उसे अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वही उसका आमरणान्त पति कहलाता है। उसके साथ

में उसे चाहे जितने कष्ट उठाने पड़े, वह पतिपरायणा या पतिव्रता ही रहती है परन्तु उस प्रीति में तो प्राय भंग होता देखा गया है। कई क्रूर पति अपनी पत्नी को अकारण ही छोड़ देते हैं कई दूसरी सुन्दरी के प्रेम में पड़ कर अपनी पत्नी की उपेक्षा कर बैठते हैं, कई अकालमृत्यु के शिकार बन जाते हैं, इसलिए ऐसी लौकिक प्रीति तो अस्थायी और प्राय विपत्तिकारिणी होती है इसी कारण शुद्धचेतना सती ऐसे किसी लौकिक व रागद्वेषपरायण पति (प्रियतम) से प्रीति जोड़ना नहीं चाहती।

अखण्डप्रीति के धनी परमात्मा

शुद्धचेतना की अन्तरात्मा पुकार उठती है कि रागद्वेष से अत्यन्त दूर परमात्मा (ऋषभदेव) ही अखण्डप्रीति के धनी है, उनके साथ एक बार मेरी प्रीति जुड़ जाने पर वह कभी टूटेगी नहीं। वे एक बार मुझे प्रसन्नतापूर्वक अपना लेंगे तो फिर कदापि मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमात्मा के साथ ऐसी अखण्डप्रीति तभी अविच्छिन्न, स्थायी और अटूट रह सकती है, जब आत्मा (चेतना) भी सतत अपनी शुद्ध स्वभावदशा में रहे। आत्मा शुद्ध स्वभावदशा की प्रीति छोड़ कर यदि सांसारिक वस्तुओं, इन्द्रियविषयों या व्यक्तियों के प्रति मोह, आसक्ति, आकांक्षा या स्वार्थवश प्रीति करने जायेगी तो उसकी वह प्रीति परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी नहीं रहेगी। अत वे कहते हैं-'परमात्मारूपी पति भी तभी प्रसन्न रहेंगे, जब उनके प्रति अनन्यभक्ति, अनन्यश्रद्धा और स्वभाव धारा में सततरमणता होगी और एक बार प्रसन्न (स्वभावनिष्ठ) होने पर वे मेरे हृदयसर्वस्व कभी मेरा परित्याग नहीं करेंगे।'

परमात्मा के प्रति प्रीति के स्थायित्व का कारण

एक बार परमात्मा के साथ प्रीति होजाने पर वह सदा के लिए स्थायी क्यों हो जाती है, इसके लिए आनन्दघनजी कहते हैं कि वह प्रीति सादि-अनन्त है। उसकी एक बार आदि (शुरुआत) तो होती है, परन्तु उस प्रीति का अन्त नहीं होता। जिस प्रीति का प्रारम्भ तो हो, पर अन्त हो जाय, वह प्रीति स्थायी नहीं होती, ज्यादा से ज्यादा वह-एक जन्म तक टिकती है। शरीर छूटने के बाद वह भी छूट जाती है।

संग-परिहार बनाम स्वभावदशापरिहार

कोई कह सकता है, संग का एक अर्थ आसक्ति है, और वह तो त्याज्य मानी गई है, इसलिए परमात्मा के साथ यह कैसे संगत हो सकता है? परन्तु यहाँ वीतरागप्रीति का प्रसंग होने से संग का अर्थ आसक्ति नहीं, अपितु स्वभावदशा का साथ है, जिसे परमात्मदेव कभी छोड़ते नहीं।

प्रीत-सगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय॥
ऋषभ० ॥२॥

अर्थ

जगत् मे प्रीति-सम्बन्ध तो सभी करते हैं। परन्तु ऐसे प्रीति-सम्बन्ध मे कोई दम नहीं होता। यथार्थ प्रीति-सम्बन्ध तो सर्व उपाधियो से मुक्त होता है। उपाधियो से युक्त प्रीति-सम्बन्ध तो आत्मधन को खो बैठता है।

भाष्य

अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध ही आत्मस्वभावरूपी अखण्डधन का रक्षक होता है, जबकि खण्डित प्रीतिसम्बन्ध आत्मस्वभावरूपी अखण्ड धन को नष्ट कर देता है। इसका मूल कारण उपाधि बतलाया गया है। पूर्वोक्त प्रथम पंक्तियो मे अखण्डप्रीति का लक्षण बताया गया है, जबकि इसमे अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताया है।

जगत् का प्रेम-सम्बन्ध

जगत् मे अपनी सन्तान, परिवार, जाति, धर्मसंघ, राष्ट्र, प्रान्त आदि से अधिकांश लोग प्रेम-सम्बन्ध जोड़ते हैं। परन्तु यह सम्बन्ध प्राय चिरस्थायी नही होता, मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी आदि समस्त प्रकार के जीव भी परस्पर प्रेम करते हैं, परन्तु दुनियादारी के इस प्रेम मे प्राय देहसम्बन्ध होता है। सांसारिक प्रीति-सम्बन्ध के पीछे शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुएँ—सौन्दर्य, स्वार्थलिप्सा, विविध कामनाएँ, भोगैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, इन्द्रिय-विषयाकांक्षा, अहंपोषण आदि पौद्गलिक उपाधियाँ रहती है। जैसे दूध मे खटाई डालते ही वह फट जाता है, वैसे ही उस अखण्ड प्रीतिसम्बन्ध मे उपाधि रूपी खटाई पड़ते ही वह टूट (फट) जाता है। उसमे बाह्य धन, साधन और बल का तो नाश होता ही है, आत्मगुणरूपी धन का सबसे ज्यादा

नाश होता है। क्योंकि सांसारिक पौद्गलिक वस्तु या व्यक्ति सभी नाशवान हैं उन्हें अपने मानने पर यानी उनमें अहंता-ममता की उपाधि का आरोपण करने पर भी वे अपनी नहीं होतीं। उन क्षणभंगुर वस्तुओं के साथ प्रीति का सम्बन्ध प्रारम्भ में, मध्य में, और अन्त में भी यथार्थरूप से सच्चा नहीं होता क्योंकि वह विविध उपाधियों से भिन्न होता है।

सच्चा प्रीतिसम्बन्ध

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सच्चे प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"सच्चा प्रीतिसम्बन्ध तो निरुपाधिक कहलाता है, जिसमें अखण्डता, अविच्छिन्नता और उपाधिमुक्तता होती है, उसमें प्रीतिसम्बन्ध, प्रीतिसम्बन्ध का पात्र एवं प्रीति-सम्बन्धकर्त्ता तीनों में निरुपाधिकता होती है। इस प्रीति-सम्बन्ध के पीछे भी कोई आसक्ति, फलाकांक्षा आदि उपाधि नहीं होती, ऐसा प्रीति-सम्बन्ध जिसके साथ जोड़ा जाता है, वह भी राग-द्वेष, मोह आदि उपाधियों से रहित समदर्शी, विश्ववत्सल एवं सर्वभूतात्मभूत होता है, तथा प्रीति-सम्बन्ध जोड़ने वाला व्यक्ति भी अपने को आराध्यदेव के अनुकूल पूर्वोक्त स्वार्थ, आकांक्षा आदि उपाधियों से रहित आत्मस्वभावनिष्ठ, आत्मपरायण बना लेता है, जिससे उसे आत्मधन खोने का कोई खतरा नहीं रहता, बल्कि वह अपनी आत्मशक्तियों को प्रगट कर लेता है, आत्मगुणों का विकास कर लेता है।

निरुपाधिक प्रीति का क्रम

प्रश्न होता है कि सर्वथा निरुपाधिक प्रीति तो क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए व्यक्ति ही कर सकते हैं, उससे नीचे की भूमिका वाले साधक की प्रीति सर्वथा निरुपाधिक नहीं होती, तब फिर एक परिवार या संघ में रहते हुए देव, गुरु, धर्मसंघ, देश, किसी सार्वजनिक संस्था व विश्व के साथ या मैत्रीसाधक या वात्सल्यसाधक संगठन के प्रति जो समूहगत प्रीति होती है, उसमें निरुपाधिकता कैसे आ सकती है? इसका समाधान संक्षेप में श्रीआनन्दघनजी के दृष्टिकोण में इस प्रकार है "उपाधि का मूल अहंता और ममता है। जितनी-जितनी जिसकी अहंता-ममता अधिक तीव्र होगी, उतनी-उतनी उपाधि बढ़ती जायगी और जितनी-जितनी अहंता-ममता मन्द होगी, उतनी-उतनी उपाधि कम होती जायगी। इसलिए अहंता-ममता का

त्याग जितना संकीर्ण दायरे मे होगा, उतना ही उपाधि का दायरा बढता जायगा, और जितना व्यापक विशाल दायरे मे होगा, उतना ही उपाधि का दायरा कम होता जायगा। इसीलिए एक आध्यात्मिक पुरुष ने साधक को परामर्श दिया है[1]—

'यदि अहता-ममता का सर्वथा त्याग नही कर सकते तो अहता-ममता को व्यापक कर दो, सर्वत्र फैला दो।'

अर्थात्—शरीर, परिवार, जाति, प्रान्त, राष्ट्र आदि पर जो अहता-ममता है, उसे इन सबसे ऊपर उठ कर सारे विश्व के प्राणियो तक पहुचा दो। समस्त प्राणियो को आत्मतुल्यदृष्टि से देखो, सर्वभूतमैत्री और विश्ववात्सल्य की दृष्टि मे व्यवहार करो। निष्कर्ष यह है एक शरीर मे रहते हुए भी अपने शरीर आदि के प्रति ममत्वदृष्टि से न सोच कर सारी मानवजाति की दृष्टि मे और यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते सर्वप्राणिमात्र की दृष्टि से सोचो, विश्व की समस्त आत्माओ के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखो, विरोधी, दुर्गुणी अथवा पापी आत्माओ के प्रति भी घृणा, द्वेष ईर्ष्या या वैरभाव छोड कर उनमे भी विराजित निरावरण चेतना को देखो और उनके साथ भी समता का व्यवहार करो। अपनी व्यक्तिचेतना को विश्वचेतना मे विलीन करने का प्रयत्न करो। इस प्रकार की विश्ववत्सलता सर्वभूतमैत्री या सर्वभूतात्मभूतदृष्टि रखते हुए जब धर्मसघ, देश या जाति के प्रति विशिष्ट सामूहिक प्रीति-सम्बन्ध होगा तो उसमे उपाधि का अश बहुत-ही कम हो जायगा।[2]

कदाचित् देहादि-सयोगवश निरुपाधिक प्रीतिसम्बन्ध मे स्खलना आ भी जायगी तो भी वह बहुत सूक्ष्म होगी, उसका परिमार्जन या शुद्धीकरण भी प्रतिक्रमण, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि से हो सकेगा। परन्तु इसके साधक को तादात्म्य-ताटस्थ्य का तथा अनायास-आयास का विवेक एव अप्रमादयुक्त जागृति रखना बहुत ही आवश्यक है। इस दृष्टि मे सच्चे

---

१ "अहता-ममता-त्याग. यदि कर्तुं न शक्यते।
अहता-ममता चैव सर्वत्रैव विधीयताम् ॥"

२ विश्वबन्धुत्व आदि प्रशस्त भावनाओ मे यद्यपि प्रशस्तराग का अश सभव है, तथापि अप्रशस्तराग (दृष्टि, स्नेह, और विषय के प्रति राग) की अपेक्षा वह बहुत ही क्षीण होगा।

प्रीतिसम्बन्ध में ध्येयानुकूल-अनुबन्ध जरूरी है। अन्यथा, बाह्यदृष्टि से सम्बन्धी कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि की उपाधि छोड़ने वाला साधक उक्त सम्बन्ध को छोड़ कर भी शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, स्थान, प्रसिद्धि, आदि में मोहवश हो कर नई उपाधियों में घिर जायगा और उसने प्रीतिसम्बन्ध को विषाक्त बना लेगा।

कोई कंत-कारण काष्ठभक्षण करे रे, मलशुं कंतने धाय।
ए मेलो नवि कदीए संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ० ॥३॥

अर्थ

कई मोहान्ध विवेकविकल महिलाएँ पति के मिलने के लिए काष्ठभक्षण करती हैं (लकड़ियों की चिता पर पति के साथ जीवित जल मरती हैं), इस इस कारण से कि इस प्रकार करने से पति से जल्दी मिलन हो जायगा। परन्तु ऐसा मिलन किसी भी तरह सम्भव नहीं है, क्योंकि मिलने वाले के तथा जिससे मिलना है, उससे मिलने के, किसी स्थान का पता नहीं है, न दोनों का कोई एक स्थान ही निश्चित है।

भाष्य

उपर्युक्त पंक्तियों में श्री आनन्दघनजी प्रीतिसम्बन्ध को दृढ़ करने हेतु विवेकविकल व्यक्तियों के द्वारा अजमाए जाने वाले पति-मिलन के मिथ्या उपाय बतलाते हुए कहते हैं—"कई मोहान्ध एवं विवेकशून्य नारियाँ आतुर हो कर आवेगवश, सामाजिक कुप्रथावश अथवा मोहान्धतावश या दिखावे के लिए प्राचीनकाल में अपने मृत पति के साथ सती हो जाती थीं, 'मुझे अगले जन्म में यही पति मिले', इस लिहाज से वे मृत पति के साथ चिता में जल मरती थीं, परन्तु इस प्रकार का देहार्पण करके प्रीति का प्रदर्शन निरर्थक है। यह मान्यता सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि पति के साथ जल मरने वाली स्त्री को पति मिल ही जायगा, क्योंकि सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विविध योनियों और गतियों में जन्म लेते हैं, पति और उसके साथ जल मरने वाली पत्नी के कर्म भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उन्हें गति भी भिन्न-भिन्न मिलेगी। कदाचित् दोनों को एक ही गति मिल भी जाय, फिर भी दोनों का एक ही राष्ट्र, प्रान्त, नगर

---

१ किसी किसी प्रति में 'कहीए' है, उसका अर्थ होता है — 'कहीं भी'।

या ग्राम मे, तथा एक ही परिवार मे अथवा समसंस्कारी कुल या जाति मे जन्म पाना अत्यन्त कठिन है।

पतिमिलन के लिए स्वदाहक्रिया : भ्रान्तिपूर्ण

इसीलिए अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी का स्पष्ट कथन है कि ऐसी पतिमिलन की मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रकार की आत्म-हत्या है, इस प्रीतिसम्बन्ध की दृढता का मूल वैषयिक आकाक्षा है, जो जैनदृष्टि से निदान (नियाणा) है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस स्वदाहक्रिया के पीछे आत्मदृष्टि की सर्वथा विस्मृति, गति-आगति के कारणो व कर्म के अचल सिद्धान्त का अज्ञान, विश्व-व्यवस्था की अल्पज्ञता तथा प्राय आवेश और अभिमान के पोषण की दृष्टि से एक प्रकार का आत्महनन प्रतीत होता है। कई व्यक्ति अपनी या अपनी जाति की प्रसिद्धि के लिए भी बहुत धन खर्च करते है, कष्ट सहते हैं और प्राण तक अर्पण कर देते है। इसलिए ऐसे आत्मदाह के पीछे प्रसिद्धि की कामना भी हो सकती है।

लोकोत्तर दृष्टि से भी काष्ठभक्षणक्रिया से मिलन नहीं

काष्ठभक्षण का पहले जो अर्थ किया गया था, वह लौकिक पति-मिलन की दृष्टि मे था, लोकोत्तरपति—परमात्मा मे मिलन की दृष्टि से अर्थ होता है—परब्रह्म परमात्मा को पति मान कर कई लोग उसे प्राप्त करने हेतु प्रीति के आवेग मे आ कर पचाग्नि ताप तपते है, यानी अपने चारो ओर आग से तथा सिर को सूर्य के प्रचण्ड ताप से जला कर, अपने सारे शरीर को भस्म कर देते है। किन्तु इस प्रकार मूढतापूर्वक जल कर मरने से भी मुक्ति मे विराजित परमात्मा से मिलन सम्भव नही है, क्योकि ऐसा व्यक्ति पता नही मर कर किस गति और योनि मे जायगा ! अत परमात्मा के स्थान (मोक्ष) मे उसका मिलाप कदापि सम्भव नही है।

पतिमिलन के ये सब मूढतापूर्ण उपाय देहदमन के सिवाय और कुछ नही हैं। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रीति बताने हेतु यदि कोई व्यक्ति मूढतावश देहदमन करता है, तो उसे भी परमात्मारूपी पति प्राप्त नही होता, क्योकि ऐसे अज्ञानकष्ट से शुभभावना हो तो कदाचित् स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु परमात्ममिलन या मुक्तिमिलन अथवा निश्चयनय की भाषा मे कहे तो शुद्धात्मभाव-मिलन कदापि नही हो सकता। कारण स्पष्ट है कि इसके

पीछे केवल भ्रान्तिवश देहार्पण की क्रिया है, आत्मसमर्पणपूर्वक शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमणता और काषायादि त्याग नहीं है। बल्कि कई बार तो परमात्ममिलन के लिए भी इस प्रकार के अज्ञतापूर्वक आत्मघात से समय तीव्र आर्त्त-रौद्र ध्यान होने से नरक और तिर्यंचगति भी प्राप्त होने की भी सम्भावना है।

इस प्रकार जन्ममरण के चक्कर में फंसाने वाली मूढतापूर्ण बाह्य प्रीति का दिग्दर्शन करा कर श्रीआनन्दघनजी उनके सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तन-ताप।
ए पतिरंजन मे नवि चित्त धर्यु रे रंजन धातुमेलाप ॥ऋषभ०॥४॥

अर्थ

कई व्यक्ति पति (परमात्मा=नाथ) को प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त कठोर तप करते हैं। इस प्रकार का पतिरंजन शरीर को तपाना—कष्ट देना है। मैंने अपने चित्त मे इस प्रकार के पतिरंजन (परमात्मा को खुश करने के तरीके) को स्थान नहीं दिया। मैं एक धातु से दूसरी धातु के मेल (एकमेक हो जाने) से होने वाले रंजन को ही परमात्मारूपी पति का रंजन मानता हूँ।

भाष्य

पतिरंजन के लिए मूढतापूर्ण तप

परमात्मा की प्रीति-सम्पादन के उत्सुक व्यक्तियों द्वारा परमात्मारूपी पति को रंजन करने के नाना उपायों को बता कर श्रीआनन्दघनजी अपना निर्णय स्पष्टरूप से बताते हुए कहते हैं—जैसे सांसारिक जीवन में विविध प्रकार के काम-भोगों की अभिलाषिणी स्त्रियाँ अपने पति को खुश करने के लिए अनेक प्रकार के तप करती हैं, कई अपने सुहाग को अमर रखने के लिए महीने-महीने तक उपवास, एकाशन, या चन्द्रायण आदि अनेक कष्टदायक तप करती हैं, सौभाग्यसूचक चिह्न धारण करती हैं, कई बार रात्रि-जागरण करती हैं, भगवान् को मनाने हेतु रात-दिन नाम-जप करती हैं, पति के खाने-पीने से पहले स्वयं नहीं खाती-पीती, इत्यादि अनेक कष्ट सह कर वे देहदमन करती हैं। वैसे ही कई तथाकथित साधु-सन्यासी अथवा गृह-

परमात्मारूपी पति को रिझाने के लिए [1] जगल मे, गुफाओ मे व एकान्त मे रहते है, परमात्मा व आत्मा का स्वरूप समझे बिना ही कर्त्तव्यविमुख हो कर रात-रातभर जाग कर, जोर-जोर से धुन बोलते हैं, नाम रटते है, कद-मूल, फल आदि खा कर निर्वाह करते है, कई पचाग्नि-ताप सहते हैं, कई औंधे लटक कर शीर्षासन की तरह उलटे खडे रहते है, कई शीत ऋतु मे ठडे पानी मे घटो खडे रह कर परब्रह्म का जाप करते है, कई महीनो भूखे रहते है या किसी एक चीज पर रहते हैं, कई महीनो तक खडे रहते है, कई एक टांग ऊँची करके खडे रहते हैं, कोई विविध आसन करते हैं। इससे भी आगे वढकर देहदमन के अनेक उपाय परब्रह्म-पति को रजन करने के लिए विवेक-विकल लोगो द्वारा अजमाये जाते है—जैसे कई लोग भैरवजप का आलबन लेकर पहाड या ऊँचे स्थल मे गिर कर झपापात करते है, कोई हिमालय मे जा कर वर्फ मे गल जाते हैं, कोई काशी मे करवत से अपने शरीर को चिरवा देते हैं, कोई जमीन मे मिट्टी मे शरीर को दववा कर जीवितसमाधि ले लेते है। ये और इस प्रकार के अन्य देहदमन के उपाय वाल (अज्ञान) तप है और इनके फलस्वरूप ये वालमरण के ही प्रकार हैं।

परमात्म-पति का वास्तविक रजन

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे तपो को तप नही, तनताप (शरीर को तपाना=कष्ट देना) कहा है। और इस प्रकार पतिरजन के तमाम उपायो को उन्होंने मन से भी नही चाहा, न स्वीकार किया। मतलव यह है कि देहदमन से होने वाले अज्ञानयुक्त निरुद्देश्य वाह्य तप मे और आत्मा की शुद्ध दशा मे रमण करने के हेतु होने वाले तप मे वहुत अन्तर है। आत्मशुद्धि (निर्जरा) के हेतु सिवाय इस प्रकार का अज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कष्ट-सहनरूप तप लौकिक पति का रजन कर सकता है, मगर लोकोत्तर पति (परमात्मदेव) का रजन तो सोने और चादी के मिलाप, या सोने के साथ सोने के मिलाप (धातुमिलाप) की तरह 'एकमेक हो जाने अर्थात् आत्मा के शुद्ध आत्मस्वभाव मे तल्लीन हो जाने से हो सकता है। प्रेम करने वाला

---

१ इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिये उववाई सूत्र मे वाल-तपस्वियो का वर्णन।

और प्रेमपात्र दोनों में अभिन्नता, एकत्वमयता या तद्रूपता हो जाना ही वास्तविक लोकोत्तर पतिरंजन है।

लोकोत्तर पतिरंजन में सोद्देश्य तप

उपर्युक्त गाथा में शुद्धचेतना का परमात्मचेतना के साथ एकरूप हो जाने को ही वास्तविक पतिरंजन कहा है, जो शुद्धचेतना की उत्कृष्टदशा की भावना है, परन्तु इसके दौरान जो भी बाह्य या आभ्यन्तर तप होगा, वह लक्ष्य की दिशा में ले जाने वाला होगा, जैसे सोना, चांदी आदि दो धातुओं को एकमेक करने के लिए उसे कदाचित् ५०० डिग्री तक का ताप देना पड़ता है, वैसे ही परमात्मा के साथ आत्मा का मिलन करने के लिए, मन, वचन, काया की इतनी उत्कट तीव्र दशा, स्वाभाविक रूप में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि को समभाव से सहने के रूप में बाह्य तप, तथा अहिंसादि व्रतपालन के रूप में ध्यान, कायोत्सर्ग, वैयावृत्य, स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, विनय आदि आभ्यन्तर तप करने पड सकते हैं। लेकिन उन तप को हम केवल देहताप नहीं कहेंगे, क्योंकि वह उत्कृष्ट रसायनपूर्वक आत्मा की परमविशुद्धदशा की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक रूप में होने वाला सोद्देश्य तप है।

सांसारिक प्रेम को पतिरंजन के विषय में निरर्थक बताने के बाद कई व्यक्ति किसी से प्रेम करना या प्रेम प्राप्त करना बिलकुल नहीं चाहते, यह मान्यता भी भ्रान्तिमूलक है, उसे बताने के लिए आगे की गाथा में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

कोई कहे लीला रे अलख-अलख तणी रे, लख पूरे मन आस।
दोषरहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष-विलास॥

ऋषभ० ॥५॥

अर्थ

कोई (वैदिक आदि सम्प्रदाय वाले) कहते हैं कि ईश्वर (परमात्मा) तो लक्ष (जिसके स्वरूप की जानकारी या पहिचान न हो सके, ऐसा) है, इस ारे दृश्यमान जगत् की अदृश्यरूप रचना, उसी ईश्वर की लीला है। अत इस ीला को जान लेने पर वह अलक्ष ईश्वर मन की सभी आशाएँ पूर्ण कर देता । परन्तु योगीश्वर आनन्दघनजी कहते हैं कि परमात्मा (बाह्यचक्षुओ से

अलक्ष्य निरजन निराकार जरूर है, मगर वह) तो समस्त पापदोषो से रहित होता है, उसके ऐसी लीला संगत नहीं होती ; क्योकि जगत् की रचनारूपी लीला तो काम-क्रोधादि दोषरूप विलास है।

भाष्य

परमात्मप्रीति का अज्ञानजनित प्रकार

परमात्मा के साथ प्रीति करने का एक अन्य प्रकार सासारिक लोगो द्वारा अपनाया जाता है, जिसका उल्लेख करते हुए आनन्दघनजी कहते हैं—कई लोगो की मान्यता है कि यो व्यर्थ ही तप करके देहदमन करने की या परमात्म-पति को रिझाने के लिए जल मरने की आवश्यकता नही ; क्योकि परमात्मा तो अलक्ष्य (अज्ञेय-अदृश्य) है , उस विदेह (देहरहित) के साथ हम सदेह का मिलन यो हो नही सकता , इसलिए उस अलक्ष परमात्मा की जो लीला (ससार की रचना) है, उसे लक्ष्य मे ले लो, यानी उस ईश्वर-लीला को साक्षात् देख लो, और उसकी महिमा का इस रूप मे गुणगान करते रहो। निष्कर्ष यह है कि ईश्वर ही हमारे विचारो, भावो और कार्यों का नियता है, उसकी इच्छा पर ही हमारे जीवन का सारा दारोमदार है, इस बात को मान कर उस पर ही सब कुछ छोड दो, हमे कुछ करने-धरने की जरूरत नही, न तप करना है, न कष्ट सहना है, न आत्मस्वरूप मे रमण के लिए ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करना है, वही प्रसन्न हो कर सब कुछ कर देगा। उसकी इस लीला को देख कर उसी के गुणगान मे मस्त रहने से वह प्रसन्न होगा, और हमारे मनोरथ पूर्ण कर देगा। परन्तु यह मान्यता भ्रान्तियुक्त है, आत्मा की स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाली और स्वपुरुषार्थविघातक है, स्वरूपरमणता मे विघ्नकारक है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना से आत्मा को हटाने वाली है।

निर्दोष परमात्मा के लिये सदोष लीला सगत नहीं

उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए वे कहते है—"जो परमात्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, अन्याय, पक्षपात आदि दोषो से बिलकुल मुक्त है, वीतराग है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुखमय है, उसमे कामनाजनित इच्छा से सम्पृक्त दोषयुक्त ससार की रचनारूप लीला कैसे सम्भव हो सकती है ? संसार के विकारो एव दोषो-कर्मो आदि मे सर्वथा मुक्त निरजन निराकार होने पर परमात्मा पुन कामना आदि दोषो से युक्त हो कर उस राग-द्वेषयुक्त ससार की

रचना करके अपनी लीला क्यों दिखाएँगे ? क्योंकि लीला कुतूहलवृत्ति से होती है, जो ज्ञान एवं सुख की अपरिपूर्णता से ही सभव है। इसलिए ऐसी लीला प्रत्यक्ष दोषयुक्त ही है। परमात्मा जन्म-मरण के चक्र में डालने वाली ऐसी दोषयुक्त प्रवृत्ति मे क्यों पड़ेंगे ?

अलक्ष्य परमात्मा के लक्ष्यरूप के साथ प्रीति

उक्त मान्यता वालो का कथन है—हम मानते है कि परमात्मा तो वस्तुत अलक्ष्य-अदृश्य, अव्यक्त है, मनुष्य की बुद्धि से पर-अगम्य है। ऐसे परब्रह्म का ध्यान करने के लिए भी कई योगी बाबा अलख (अलक्ष्य की ध्वनि करके) जगाते है। अत ऐसे अलक्ष्य में से लक्ष्यस्वरूप अवतरित होता है, ऐसा होता है। भक्तिमार्गी लोगो ने ऐसे अलक्ष्य को ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनों लक्ष्यरूपों मे कल्पित किया है, यानी उनका कहना है कि ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादन करता है, विष्णु उसका सरक्षण करता है और महेश (शिव) उसका संहार करता है। ये तीनों परब्रह्म परमात्मा के लक्ष्यरूप है। अलक्ष्यरूप परमात्मा के इन लक्ष्यरूपों की जब इच्छा होगी, तभी लक्ष्य के साथ हमारी सच्ची प्रीति होगी। उन्ही की इच्छा बलवान है। परमात्मा के ये लक्ष्यरूप ही हमारी आशाओ को पूर्ण करेंगे। इसलिए कुछ करने की जरूरत नही। जब ये लक्ष्यरूप भगवान् तुष्ट होंगे, तभी परमात्मप्रीति प्राप्त होगी। यही कारण है कि भक्ति-मार्गीय लोगो ने इन लक्ष्यरूप भगवानो को परमात्मा के अवतार, पैगम्बर, या मसीहा (प्रभुपुत्र) मान कर उन्हे प्रसन्न करने करने के लिए कीर्तन, धुन, नामोच्चारण आदि विधियाँ प्रचलित की। उनको रिझाने के लिए नृत्य-गीत, वाद्य आदि का आयोजन किया ; परन्तु यह सब भ्रान्ति है, क्योंकि इसके पीछे सबसे बड़ा अज्ञान तो कर्म-सिद्धान्त का है। प्राणी जैसा-जैसा कर्म करता है, वैसा-वैसा ही फल उसे स्वय को मिलता है। खुद के सिवाय दूसरा कोई उसके शुभ या अशुभ कर्म को बदलने और अच्छा या बुरा फल देने मे समर्थ नही है। दूसरी भूल यह है कि जीवन मे हिंसा, असत्य आदि का त्याग या परभावों मे रमणता का त्याग किये बिना तथा स्वभाव मे तथा अहिंसा आदि आत्मिक गुणो मे रमण किये बिना अथवा कर्तव्यकर्म छोड़ कर सिर्फ परमात्मा या उनके लक्ष्यरूप अवतारो के गुणगान करने आदि मे परमात्मा की प्रीति या प्रसन्नता सम्पादन करने की बात व्यर्थ चेष्टा है, बालचेष्टा है। क्या

परमात्मा चाटुताप्रिय है कि उसकी चापलूसी करने से वह उनके पाप माफ कर देगा ? परमात्मा के प्रति प्रीति इतनी सस्ती नही है। उसमे तो दो धातुओ के एकरूप होने की तरह अपने अह आदि विकारो को मिटा कर शुद्ध आत्म-दशा के प्रति सर्वस्व समर्पण करना पडता है। अगर ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे पुरुषार्थ किये विना केवल ऐसे थोथे गुणगानो से ही परमात्मा प्रसन्न हो जाता तब तो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करने की जरूरत ही क्या रहती ? अथवा स्वभाव मे रमणता की आवश्यकता भी क्यो होती ?

इसीलिए अगली गाथा मे परमात्मप्रीति या परमात्मभक्ति का रहस्य वताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है—

चित्तप्रसन्ने रे पूजनफल कह्यु रे, पूजा अखडित एह।
कपटरहित थई आतम-अर्पणा रे, आनन्दघन-पद-रेह ॥
ऋषभ० ॥६॥

अर्थ

आत्मचेतना—अन्तरात्मा की प्रसन्नता को ही परमात्मपूजा का फल कहा है। यही वास्तव मे अखण्डपूजा है। और ऐसी अखण्ड परमात्मपूजा निष्कपट या निःशल्य अथवा कषायरहित हो कर अपनी आत्मा को परमात्मा मे अर्पण कर देने से होती है। यही स्वात्म-अर्पणता आनन्दघन (सच्चिदानन्दमय परमात्मा के) पद (स्थान) की रेखा या मर्यादा है, अथवा निशानी है।

भाष्य

परमात्मा की पूजा का फल : चित्तप्रसन्नता

पूर्वोक्त गाथाओ मे परमात्मारूपी पति को प्रसन्न करने के विविध अज्ञानमूलक उपायो को श्रीआनन्दघनजी ने भ्रान्त ठहरा कर परमात्मा के साथ धातुमिलाप की तरह एकरूपता (तदात्मता) को उनकी प्रसन्नता का कारण वताया, अव इस गाथा मे उसकी विशेषता एव फलप्राप्ति की निशानी वताते हुए वे कहते है कि आत्मचेतना की प्रसन्नता ही परमात्मपूजा का फल है। आत्मचेतना की प्रसन्नता द्वैत, कषाय, परभाव, विकल्प या शल्य आदि विकारो से रहित हो कर परमात्मा के साथ अन्तरात्मा की एकरूपता से होती है। एकरूपता निर्विकारता—स्वच्छता व निर्विकल्पता रखने से होती है। यही अविच्छिन्न-अखण्डपूजा है। जव अन्तरात्मा परभावो मे विरत हो कर सतत

परमात्मतत्त्व या शुद्ध चैतन्यभाव में लीन हो जाती है, तभी अखण्ड शुद्धचेतना की धारा में बहती रहती है, वही परमात्मा की अविच्छिन्न पूजा है। पूजा का अर्थ स्वच्छ या निर्मल भी होता है। चेतना (चित्त) तभी निर्मल रह सकता है, जब उस पर विकल्पों, परभावों, रागादि या माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप शल्यों की छाया न पड़े, या उनसे मलिन न हो।

निष्कपट अर्पणता : परमात्मा की वास्तविक पूजा

परमात्मा की भावपूजा ही वास्तविक पूजा है। क्योंकि इसी में पूज्य, पूजक और पूजा का अभेद या एकत्व अविच्छिन्नरूप से रह जाता है। तभी परमात्मा के साथ तन्मयता या तदात्मता हो जाती है। और ऐसी तन्मयता के लिए निष्कपट अर्पणता होनी अनिवार्य है। जहाँ कपट आया कि अर्पणता में द्वैतभाव, स्वार्थभाव या मायादि शल्य या मोहभाव आ गया, समझलो। जहाँ अर्पणता में दंभ, दिखावा, या छल-प्रपंच आ जाता है, वहाँ अर्पणता वास्तविक नहीं होती, और न वहाँ आत्मा में आनन्द उत्पन्न होता है।

कई बार बहुत-से लोग परमात्मा की भक्ति का दिखावा करते हैं। बड़े-बड़े समारोह करके वे परमात्मा की पूजा की अखण्डितता बताने के लिए अखंड कीर्तन, अखण्ड जप आदि करते हैं, परन्तु उसके साथ सच्चे माने में अर्पणता नहीं होती, या तो प्रसिद्धि या नामना-कामना होती है या लोकरंजन करके परमात्मभक्ति, प्रभुपूजा या अखंड प्रभुनामसंकीर्तन की ओट में अपनी किसी स्वार्थसिद्धि की भावना होती है। अतः किसी प्रकार के दंभ, छलप्रपंच, मायाजाल या दिखावे आदि से दूर रह कर निष्काम-निःस्वार्थभाव से शुद्ध चेतना का परमात्म-चेतना में अर्पित हो जाना – तल्लीन हो जाना ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। सच्चा समर्पण 'अप्पाण वोसिरामि' – यानी अपने आत्मतत्त्व से भिन्न परभाव—जिनको अभी तक साधक अपने मानता आया है, उनका व्युत्सर्ग—अन्तःकरण से त्याग करने पर ही आता है। समर्पण मन को मनाने या लौकिक चातुर्य बताने का नाम नहीं है, क्योंकि ऐसा करने में सहजभाव नहीं रहता। उसमें तो परमात्मा (आदर्श शुद्धात्मदशा) के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने, अपने आपको भूल जाने और तद्रूप दृष्टि, तन्मयता, और तदात्मता प्राप्त करने की तड़फन चाहिए। ऐसे समर्पणकर्त्ता को बहिरात्मदशा से सदा-सर्वदा के लिए सर्वथा मुक्त हो कर

अन्तरात्मदशा मे ही सतत विचरण करना पडता है। साथ ही बाह्यभाव का विसर्जन, बुद्धि-विलास पर अकुश, परभाव के त्याग के साथ शुद्धचेतना के प्रति विशुद्ध परम आत्मा के साथ इतनी एकलयता हो जाय कि ध्याता, ध्येय और ध्यान एक हो जाय, ऐसा आत्मार्पण हो जाना ही वास्तविक परमात्म-प्रीति है। और अध्यात्मयोगी का लक्ष्य सदा इसी प्रीति का साक्षात्कार करना होता है।

आनन्दघन-पद का अर्थ

आनन्दघन का अर्थ है—सच्चिदानन्दमय। सच्चा और ठोस आनन्द आत्मा को तभी प्राप्त होता है, जब वह विकल्पो, वितर्को, विकारो, पौद्गलिक भावो या कषायादि परभावो से शून्य हो। आनन्दघनशब्द का शब्दश अर्थ भी (सिद्ध=शुद्ध, बुद्ध, मुक्त) आत्मा के आनन्द का समूह भी होता है। गणितशास्त्र मे लबाई, चौडाई और ऊँचाई, इन तीनो के समूह को घन कहते हैं। यहाँ भी आनन्द यानी आत्मा की निर्विकारी दशा और घन यानी उसकी विपुलता, ठोसपन, दोनो मिलकर आनन्दघनपद होता है।

रेह शब्द की विभिन्न अर्थों के साथ सगति

रेह शब्द का अर्थ 'रहना' भी होता है। जिसका अर्थ होता है—'आनन्दघनमय परमात्मा के स्थान मे रहना।' अधिकाश विचारको ने इसका अर्थ 'रेखा' किया है। रेखा का अर्थ वह चामत्कारिक मर्यादा है, जिसका उल्लघन नही किया जा सकता। कपटरहित हो कर आत्मसमर्पण करना ही आनन्दघनपद की मर्यादा (रेखा) है। रेखा का अर्थ कई लोग निशानी (चिह्न) भी करते हैं। वे यो अर्थसगति बिठाते हैं कि निष्कपट आत्मार्पणा ही आनन्द घन-पद-प्राप्ति की निशानी है।

कई प्रतियो मे रेह के बदले 'लेह' शब्द भी मिलता है। जिसका अर्थ किया जाता है—ऐसा निर्व्याज आत्मार्पण ही आनन्दघनपद को उपलब्ध करना है।

सारांश

श्री आनन्दघनजी ने प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव परमात्मा की स्तुति करते हुए परमात्म-प्रीति का समस्त तत्त्वज्ञान इसमे बता दिया है। प्रीति के

लिए, यथार्थ प्रीति-पात्र की पहिचान, निरुपाधिक प्रीति का तथ्य और सोपाधिक प्रीति, लौकिक प्रीति से पतिरंजन के लिए आत्मदाह, अज्ञानपूर्वक विविध कष्ट-सहन आदि को नश्वर बता कर लोकोत्तर पतिरंजन है। फिर जगत्प्रीति का रहस्य, तत्पश्चात् अदृश्य प्रभु की प्रीति से विरक्त हो कर दृश्यमान की प्रीति सिद्ध करने वालों की अज्ञता बता कर सच्ची प्रीति के लिए चेतना की एकता और निष्कपट आत्मार्पणता की अनिवार्यता बताई है। सचमुच, परमात्म-प्रीति का रहस्योद्घाटन करने में योगी श्रीआनन्दघनजी ने कमाल कर दिखाया है।

---

२ . श्री अजितनाथ-स्तुति—

परमात्मपथ का दर्शन

(तर्ज-पूर्ववत्)

परमात्मा से प्रीति के सम्बन्ध मे पूर्व स्तुति मे बहुत ही स्पष्टरूप मे योगी श्रीआनन्दघनजी ने कह दिया कि निष्कपट हो कर आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मप्रीति हो सकती है , परन्तु उक्त परमात्मप्रीति या परमात्म-प्राप्ति का मार्ग जब तक वास्तविक रूप से जान लिया न जाय, तब तक परमात्मभक्ति अधभक्ति रहेगी , इसलिए अब इस स्तुति मे परमात्मप्राप्ति के मार्ग का दर्शन (निर्णय) करने की दृष्टि से वे कहते है—

पथड़ो निहालु रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित-गुण धाम ।
जे तें जीत्या रे, तेणे हु जीतियो रे, पुरुष किस्यु मुझ नाम ॥
॥पथड़ो० ॥१॥

अर्थ

मैं द्वितीय वीतराग परमात्मा श्रीअजितनाथ भगवान् का (उनके पास पहुँचने का) मार्ग अत्यन्त बारीकी से देख रहा हूँ । अजितनाथ परमात्मा मुझ सरीखे व्यक्तियो द्वारा नहीं जीते (साधे) गए सद्गुणो के धाम है। उन्होने रागद्वेषादि शत्रुओ को जीत कर जिस मार्ग से कार्य सिद्ध किया था, उस मार्ग को देखते हुए मैं उन्हे कहता हूँ—मेरे परमात्मदेव ! जिनको आपने जीत लिया था, उन्होंने आपसे पराजित हो कर अब मुझे जीत लिया है। दूसरो के द्वारा विजित (पराजित) हो कर भी मेरा नाम पुरुष (पौरुषवान आत्मा) कैसे ठीक हो सकता है ? अत फिलहाल तो आप जिस मार्ग से गये हैं, उस समस्त पथ का अवलोकन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।

भाष्य

परमात्मपथ का निरीक्षण क्यो, कैसे ?

परमात्मा (विशुद्ध आत्मा) के साथ प्रीति करने वाले अन्तरात्मा

के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि परमात्मा ने धाम तक पहुँचने के लिए परमात्मा जिस मार्ग से गए हैं और अपने धाम तक पहुँचे हैं, उस मार्ग को पहले भलीभाँति देख ले, अन्तर में उस पथ का हृदयंगम कर ले। इसी दृष्टि से वीतरागभाव अथवा शुद्धात्मभाव का पथिक अन्तरात्मा पहले परमात्मपथ का दर्शन करने के लिए, पूर्णतया उत्सुक है।

जगत् में भिन्न-भिन्न धर्मों और पन्थों के, मत-मतान्तरों या सम्प्रदायों के प्रवर्तक परमात्म-प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग बताते हैं। कई बार जिज्ञासु साधक वास्तविक मार्ग को छोड़ कर एक या दूसरे मार्ग का पथिक बनता है, और चल कर जब उद्देश्य के विरुद्ध उसके नतीजे सामने आते हैं या वीतरागप्राप्ति के बदले राग, द्वेष और मोह की भूलभुलैया नजर आती है या निराशा का अनुभव होता है तो साधक पश्चात्ताप या कई बार आर्त्तध्यान से घिर जाता है। कई बार साधक तर्कशील बुद्धि की दौड़ लगा कर तर्क-वितर्क द्वारा अपना चातुर्य प्रगट करके उलटे मार्ग (उत्पथ) पर चढ़ जाता है, फिर घबराता है, उससे पिंड छुड़ाने के लिए छटपटाता है और मोहनीयकर्म की प्रबलता के कारण वीतराग परमात्मा द्वारा अभ्यस्त या प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप (मोक्ष) मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता। सात्त्विक बुद्धि और हृदय का समन्वय करके चलने के बजाय वह केवल बुद्धि पर भरोसा रख कर चलता है इसलिए पतन के मार्ग पर चढ़ जाता है, या ठोकर खा जाता है।

तीसरी बात भक्तिरस की दृष्टि से यह है कि जैसे प्रेमी या विरहिणी स्त्री अपने पति के आने की बाट जोहती रहती है, इसी प्रकार परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति करने वाला परमात्मप्रेमी साधक भी परमात्मा से (उनके स्वधाम में पहुँच जाने के कारण) विरह हो जाने से अन्तरात्मा में उनके पधारने (शुद्ध आत्मभाव के आने) की बाट जोहता = प्रतीक्षा करता रहता है।

इन सब दृष्टियों से विशुद्ध आत्मभाव का पथिक साधक सर्वप्रथम परमात्मा के उस विशुद्ध और वास्तविक मार्ग को देखने-जानने और भलीभाँति हृदयगम करने के लिए आतुर-उत्सुक है। वह परमात्म-पथ के दर्शन-बारीकी से अवलोकन करने, बुद्धि और हृदय से निरीक्षण-परीक्षण करने के लिए सन्नद्ध हो कर खड़ा है। वह जागृत हो कर अन्तर्हृदय से पुकार उठता है—'पथडो निहालु रे

बीजा जिनतणो रे 'मैं दूसरे तीर्थंकर वीतराग परमात्मरूप श्रीअजितनाथ भगवान् का मार्ग नीहार रहा हूँ। नीहारने का अर्थ सामान्यरूप से ही देखना नही है, अपितु जगत् मे प्रचलित अनेकविध परमात्मपथो का विश्लेषण करते हुए अन्तर मे डुबकी लगा कर यथार्थ परमात्मपथ को देख-जान-विचार-समझ कर दृढता से निर्णय करके उसमे तन्मय हो जाना है। इसमे निरीक्षण करने के साथ-साथ उस पथ को अन्तर मे उतारने और तदनुसार गति-प्रगति करने का मार्ग हृदय मे निर्धारित करने की बात भी गतार्थ है।

परमात्मप्राप्ति का मार्ग कहे, शुद्ध आत्मभाव-प्राप्ति का मार्ग कहे या मोक्षप्राप्तिमार्ग कहे, बात एक ही है। इसलिए केवल जान लेना (ज्ञान) ही परमात्मप्राप्ति का मार्ग नही है, दर्शन (हृदय से श्रद्धापूर्वक धारण करना) और चारित्र (तदनुसार आचरण करना) भी मार्ग है। निष्कर्ष यह है कि भौतिकता की चकाचौंध में साधक की दृष्टि आध्यात्मिकता के मार्ग से हट जाती है, वह अपनी नजर भौतिकता में गडा लेता है, इसीलिए अध्यात्मयोगी साधक आध्यात्मिकता की मजिल, अध्यात्म के चरमशिखररूप परमात्मा के समीप जाने के लिए आध्यात्मिकता के मार्ग में अपनी दृष्टि स्थिर करना चाहता है।

शत्रुविजेता परमात्मा के मार्ग मे शत्रुओ से विजित साधक के अन्तर की पुकार

जब परमात्ममार्ग का पथिक साधक अन्तर मे डुबकी लगा कर परमात्मा के मार्ग का अवलोकन करता है तो उसके अन्तर से पुकार उठती है—'हे अजितनाथ (रागद्वेषादि शत्रुओ से अविजित) परमात्मन्! आपके पास पहुचने के मार्ग मे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष आदि अनेक चोर, डाकू, लुटेरे, शत्रु के रूप मे आत्मधन का हरण करने के लिए खडे हैं, आपने तो उन सबको जीत लिया है, इसलिए आपका 'अजित' नाम तो सार्थक है, परन्तु वे कामादि शत्रु, जिन्हे आपने जीत लिया था, वे अब मुझे जीत रहे हैं, या पराजित कर देते है, मै जब आपके द्वारा प्ररूपित या अभ्यस्त मार्ग को देख कर चलने के लिए तत्पर होता हूँ तो अनेक शत्रु आ कर उस रास्ते मे खडे हो जाते है। मैं उन सबसे हार कर घबरा जाता हूँ। अपनी पुरुषार्थहीनता पर मुझे तरस आती है, मैं सोचने लगता हूँ, जब आप पुरुष हो कर वीतरागता

के मार्ग में बाधक उन[1] अठारह दूषणों पर विजय प्राप्त करके या उन शत्रुओं द्वारा विजित (पराजित) न हो कर अनन्त गुणों से युक्त आत्मगुणों के धारक बन कर अपने नाम को सार्थक कर चुके हैं, जबकि मैं उन दूषणों से पराजित हो कर उनके आगे घुटने टेक देता हूँ, तब मेरा 'पुरुष' नाम कैसे सार्थक हो सकता है? आगमों में तथा सांख्य-दर्शन में आत्मा को 'पुरुष' कहा गया है। आत्मा पौरुषयुक्त होने के कारण 'पुरुष'[2] कहलाता है। जब साधक आत्मा अपनी शक्तियों को न पहिचान कर विकारों से हार खाने लगता है, रागादि दूषणों का गुलाम बन जाता है, पौरुषहीन व निराश बन कर रागादि शत्रुओं के आगे पराजित हो जाता है, तब वह परमात्मा के आगे पुकार उठता है—'पुरुष किस्यु मुझ नाम?' मेरा पुरुष नाम कैसे यथार्थ है? मैं पौरुषवान हो कर जब विकारों से अपनी पराजय देखता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि मेरे लिए पुरुष शब्द शोभा नहीं देता।

यद्यपि पुरुष होते हुए भी मेरी दशा पुरुषार्थहीन हो रही है, फिर भी आपने जिस मार्ग पर पुरुषार्थ किया, उस मार्ग के दर्शन तो कर लूं। रास्ता देखा होगा तो किसी दिन इस रास्ते से जाने का पुरुषार्थ भी हो सकेगा। इसलिए प्रभो! मैं आपके पथ का अवलोकन करने को उद्यत हुआ, और प्राथमिक अवलोकन में मुझे जो कुछ मालूम हुआ, उसे मैं आपके सामने विनम्र भाव से प्रस्तुत करता हूँ।

जैनदर्शन की दृष्टि से देखें तो काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पाचों कारणों का समवाय होने पर ही कोई कार्य बनता है। परन्तु इन पाचों कारणों में पुरुषार्थ को भी विकासमार्ग में स्थान दिया गया है। वास्तव में देखा जाय तो शुभ या अशुभ कर्मों का बन्धन भी आत्मा के वैभाविक

---

१ अठारह दोष ये हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम, (वेदोदय) अज्ञान, मिथ्यात्व, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष।

२ 'पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं ..., पुरिसा अत्ताणमेव समभिजाणह' ..., आचारांगसूत्र

पुरुषार्थ से होता है। आत्मा जब तीव्र स्वाभाविक पुरुषार्थ करता है, तब इन कर्मों पर विजय प्राप्त करके अपने लिए अजर-अमर-अक्षय स्थान भी प्राप्त कर लेता है। इसी कारण आत्मा पुरुष (पुरुषार्थ करने वाला) कहलाता है। वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) से चैतन्यसम्पन्न साधक कहता है—आप तो स्वाभाविक परम पुरुषार्थ करके कर्मों पर विजय पा कर परमपुरुष कहलाए। लेकिन मेरी स्थिति देखते हुए मुझे लगता है कि मेरे लिए पुरुष नाम सार्थक नहीं है। चूंकि मैंने वीतराग परमात्मा के आदर्श को तथा उनको प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है, तब मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपका मार्ग देख कर आपके मार्ग पर आ जाऊँ। जो वीतराग परमात्मा के पैरो तले हैं, उन्हे मैंने सिर पर चढा लिये हैं, अत आपके सदृश बनने का खरा मार्ग यही है कि वीतराग जिन मार्ग मे चले है, उस रास्ते को देखूं और उनके पथ का अनुसरण करूँ। इसी प्रकार करने पर मेरा 'पुरुष' नाम सार्थक होगा। इसी दृष्टि से अन्तरात्मा ने वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) के मार्ग के अवलोकन करने का निर्णय किया।

यहाँ अवलोकन मे केवल जिज्ञासातृप्ति ही नहीं, अपने पुरुषार्थ को अवकाश देने की भी तीव्र इच्छा प्रतीत होती है। इसीलिए अन्तरात्मा वीतराग परमात्मा के आदर्शमार्ग के दर्शन के लिए सुसज्ज होता है, वहाँ कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, वह स्वय प्रकट करता है—

मार्ग-अवलोकन मे पहली कठिनाई

चरमनयणे करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य-विचार ॥पंथड़ो॥२॥

अर्थ

चमड़े की आँखो से आपका (वीतराग परमात्मा का) मार्ग देखते हुए तो सारा ससार भ्रान्त हो गया है। अजितनाथ परमात्मा जिस मार्ग से 'अजित' (अजेय) बने हैं, उस मार्ग को जिस नेत्र से देखना चाहिए, वह दिव्यविचाररूपी नेत्र (ज्ञाननेत्र) है।

भाष्य

चर्मचक्षुओ से वीतरागमार्ग के दर्शन अशक्य हैं

स्थूल आँखो से परमात्मा के मार्ग को देखने वाले लोग उनके मूर्त्तीक के

आगे नाचना, गाना, बजाना, रागरंग करना, उनके चित्र पर फूलों की माला डालना, रुपये-पैसों की भेंट चढ़ाना, उनका-सा स्वांग रचना और उनका प्रचार-प्रसार करना या स्वयं या दस-बीस का दल बना कर उनकी बाह्य भक्ति करना, अथवा उनकी सिर्फ जय बोल कर, गला-फाड़कर आवाज कर उनका केवल नाम-कीर्तन करके या उनके कोरे गुणगान करके उसके साथ अपने जीवन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषय में कोई खास पुरुषार्थ न करके मात्र बाह्य भक्ति को ही परमात्मा का रास्ता मान समझ लेते हैं। ऐसे लोग भी बाह्य रागरंग की भूलभुलैया में ही अटक कर रह जाते हैं। परमात्मा के मार्ग का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाते।

दूसरी दृष्टि से देखें तो चर्मचक्षुवाद के प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, मत, पंथ या दर्शन परमात्मा के मार्ग को सिर्फ चमड़े की इन स्थूल आँखों से देखने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रायः स्थूलदृष्टि से ही भगवान् की बाह्य क्रियाओं या प्रवृत्तियों अथवा बाह्य व्यवहार व आचरण को देख कर उनके मार्ग का निर्णय करते हैं। वे इन स्थूल आँखों से प्रायः यही देखा करते हैं कि हमारे पूजनीय आराध्यदेव गृहस्थावस्था में कैसे स्नान करते थे? कैसी गाड़ी में बैठते थे? उन्होंने विवाह किया या नहीं किया? उनके माता-पिता, भाई-बहन थे या नहीं? वे कौन थे, क्या थे? वे कैसे वस्त्र पहिनते थे? दीक्षा ली, तब कैसे ठाठबाठ से ली थी? यहाँ-वहाँ विहार किया? कितनी बाह्य तपस्याएँ कीं? उनका शिष्य-शिष्यासमुदाय कितना था? कितने अनुयायी थे? केवलज्ञान होने के बाद वे आहार करते थे या नहीं? वे वस्त्र रखते थे या नग्न रहते थे? वे दिनभर उपदेश आदि बाह्य क्रियाएँ क्या-क्या करते थे? वे रत्नजटित स्वर्णमय सिंहासन या पट्ट पर बैठते थे या शिलापट्ट पर? उनके पास देवता, इन्द्र आदि आते थे या नहीं? आते थे तो उन पर छत्र करते, व चमर ढुलाते थे या नहीं? वे अतिशयों से युक्त थे या नहीं? ये और ऐसी ही बातें चर्मचक्षुओं से देखी जा सकती हैं। इस प्रकार चमड़े की आँखों से इस स्थूलदर्शन को ही परमात्ममार्ग समझ कर सारा संसार भूला हुआ है। वह परमात्ममार्ग के वास्तविक तत्व या हार्द को नहीं समझ पाता।

इसी प्रकार कई स्थूल दृष्टि वाले लोग गाजा, सुलफा, भाग या शराब आदि नशीली चीजों का सेवन करके परमात्मा के मार्ग को देखने की चेष्टा

करते है। उनका कहना है कि नशे की धुन मे भगवान् मे सूरत लग जायगी, व्यक्ति अन्य स्थूल सासारिक चिन्ताओ से मुक्त हो जाएगा। परन्तु ये भी भ्राति मे पूर्ण वेतुकी बाते है। नशे मे चूर होने पर व्यक्ति अपने आपे मे ही नही रहता, वह परमात्मपथ को कैसे जान पाएगा ?

वस्तुत मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण व्यक्ति की दिव्यदृष्टि (स्वभावदृष्टि) पर जब पर्दा पड जाता है, तब वह स्थूल दृष्टि से आबद्ध होने के कारण परमात्मा के सच्चे मार्ग को देख नही पाता। वह भ्रान्तिवश विविध धर्मों, पथो, मतो, सम्प्रदायो या दर्शनो की मृगमरीचिका मे फस जाता है।

परमात्मपथ के दर्शन दिव्यनेत्र द्वारा ही सम्भव

जिस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भूतल पर सडक या मार्ग स्थूल आँखो से साफ दिखाई देता है, उस प्रकार का वीतरागमार्ग नही है, जो चर्मचक्षुओ से दिखाई दे सके। वह स्थूलमार्ग नही, अतीन्द्रिय मार्ग है, जो दिव्यविचाररूपी नेत्र से ही दिखाई दे सकता है।

अर्थात्-पारमार्थिक-विचारणारूपी दिव्यनयन के बिना मस्तक मे स्थित चमडे की आँखो से परमात्मा का यह अतीन्द्रिय मार्ग देखा नही जा सकता। परमात्ममार्ग का यथार्थ निर्णय करने मे चर्मचक्षु सफल नही हो सकते और न ही विभिन्न मतो, पथो को देख कर उनके विश्लेषणपूर्वक वीतराग के यथार्थ मार्ग को पृथक् करने मे चर्मचक्षु समर्थ हो सकते हैं। स्थूलनेत्र आखिर कितनी दूर तक देख सकते हैं ? अन्त मे उनकी भी सीमा है। स्थूलनेत्रो से प्रमाण-नय के भगजाल का या अगमत्यपू—र्णसत्य का अथवा आत्मा के स्वभाव-विभाव का दर्शन नही किया जा सकता। इसी कारण वीतराग परमात्मा के यथार्थ मार्ग का निर्णय दिव्यविचाररूपी नेत्र—अन्तश्चक्षु से ही हो सकता है। साथ ही परमात्ममार्ग और ससारमार्ग दोनो का सम्यक् विश्लेषण करना भी चर्मचक्षुओ के बूते से बाहर है। दिव्यविचारचक्षु का अर्थ है—शुद्ध आत्मा का ज्ञान, गहरा आन्तरिक ज्ञान, वही आन्तरिक नेत्र है। वीतराग परमात्मा के पथ को जानने-समझने और निरखने-परखने मे दीर्घदृष्टि या रहस्यज्ञ चक्षु होनी चाहिए। बाह्य प्रवृत्ति पर से बहुत-सी बातें समझ में नही आती। पर-

मात्ममार्ग को जानने-समझने में पहले शरीर और आत्मा का सम्बन्ध, स्व-परभाव, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध, वगैरह अनेक बातों का जानना जरूरी है। इसके लिए केवल चर्मचक्षु ही पर्याप्त नहीं है और सांसारिक दीर्घदृष्टि के लिए गहरा अभ्यास जरूरी है, जो अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हुआ। यह मेरी पहली कठिनाई है।

'चरम' शब्द का अर्थ 'अन्तिम' भी होता है, यानी अन्तिम शरीरी—विशिष्ट सम्पूर्ण ज्ञानी के नेत्र। उसकी अर्थसंगति इस प्रकार होती है—अगर केवल (पूर्ण) ज्ञानी की दृष्टि से इस संसार को देखें तो सारा संसार विविध अटपटी चक्करदार गलियों या पगडंडियों में भूला हुआ नजर आता है।

परमात्ममार्ग के दर्शन में दूसरी-तीसरी कठिनाई

परमात्मपथ के यथार्थ दर्शन के लिए स्थूलचक्षु पर्याप्त नहीं है और दिव्य विचारचक्षु (अलौकिक नेत्र) अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हुए हैं। इस कठिनाई को देखते हुए अब मुझे परमात्मपथ के दर्शन के अन्य उपायों पर दृष्टिपात कर लेना जरूरी है, यह सोच कर अगली गाथा से परमात्मपथ के दर्शन का पिपासु साधक कहता है—

पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवता रे, अंधो अंध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहीं ठाय ॥
॥पन्थडो०॥३॥

अर्थ

परमात्ममार्ग से अनभिज्ञ किसी ख्यातिप्राप्त (प्रसिद्ध) पुरुष के अनुभव अथवा सम्प्रदाय-परम्परा से चले आते हुए (मार्ग-विषयक) रूढिग्रस्त ज्ञान या पञ्चेन्द्रियों की विषयासक्ति से उत्पन्न पराश्रित बोध की दृष्टि से परमात्म-मार्ग को देखने जाएँ तो वहाँ अंधों के दल की तरह एक के पीछे एक अन्धानु-सरण ही प्रतीत होता है। निर्दोष आप्तपुरुषों के वचनसमूह-रूप आगम की दृष्टि से वस्तुतत्त्व (यथार्थ मार्ग) का विचार करें तो आगमोक्त परमात्ममार्ग और उपर्युक्त पुरुष-परम्परा आदि द्वारा बताये जाने वाले परमात्ममार्ग में आकाश-पाताल जितना अन्तर दिखाई देता है, अतः आचरण के अन्तर को देखते हुए कहीं पैर रखने को जगह नहीं रहती।

भाष्य

पुरुष-परम्परा-अनुभव से मार्गनिर्णय सम्भव नहीं

उपर्युक्त गाथा मे पुरुष, परम्परा और अनुभव ये तीन पद है। तीनो का आशय भी अलग-अलग प्रतीत होता है। पुरुष-परम्परा ने आशय है, वीतराग मार्ग मे अनभिज्ञ किमी प्रसिद्ध पुरुष ने कोई परमात्ममार्ग वनाया, उसके पीछे विना मोचे-समझे अन्धश्रद्धावश चले आते हुए मार्ग के ज्ञान को परमात्ममार्ग मानना। दूमरे परम्परापद से आशय है—शास्त्रो मे न लिखी गई बातो को एक के वाद एक गुरु-शिष्य-परम्परा या सन्प्रदाय-परम्परा द्वारा कुरुढिवश प्रचलित मार्ग को परमात्ममार्ग मानना। तथा अनुभव का आशय है—पचेन्द्रियो मे विषयासक्त पुरुष के अनुभव के द्वारा परमात्ममार्ग का निर्णय करना। यानी अपनी गलत ममझ से उत्पन्न हुए अनुभव से परमात्म-मार्ग का निर्णय करना।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि पूर्वोक्त तीनो उपाय अन्धो की टोली मे एक अन्धे के पीछे दूमरे अन्धे के भागने की तरह है। इनमे वीतराग परमात्मा के असली मार्ग का पता नही लगता।

वीतरागमार्ग मे अनभिज्ञ किमी प्रसिद्ध पुरुष ने वीतरागमार्ग के नाम से कोई बात चलाई। उसके पीछे आने वाली भीड उस पर कोई पूर्वापर विचार किये विना अन्धश्रद्धावश उसे यथार्थ परमात्ममार्ग के नाम मे पकड लेती है। अत ऐसे प्रसिद्ध पुरुष की परम्परा से परमात्ममार्ग का निर्णय करना कोरा अन्धानुकरण हो जाता है।

इसी प्रकार शास्त्र मे कई वाते लिखी नही होती, कई वाते पूर्वापर-विरुद्ध या वीतरागता के सिद्धान्त से असगत भी मिलती हैं, परन्तु गुरुधारणा या सम्प्रदाय-परम्परा के नाम से वे परमात्म-मार्ग के रूप मे चलाई जाती है, मगर ऐसी रूढ सम्प्रदायपरम्परा पर से भी परमात्ममार्ग का निर्णय करना खतरे से खाली नही है, क्योकि ऐसा करना भी लकीर के फकीर बन कर अन्धाधुन्ध चलना है।

अपना या वहुत-से लोगो का पराश्रित अनुभव भी गलत हो सकता है, इसलिए उस पर से भी परमात्म-मार्ग का निर्णय करना गतानुगतिकता को बढावा देना है।

अन्धो 'अन्ध पलाय'[1] कथन का आशय यह है कि अंधा आदमी स्वयं मार्ग देख नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह जिसे मार्ग बताता है, वह भी उसके बताए अनुसार स्वयं की आँख न होने से पीछे-पीछे चलता है। फलत वह मार्ग का भान खोता या तो उत्पथ पर चढ़ जाता है, अथवा दूसरे मार्ग का अनुसरण करता रहता है। अंधे मार्गदर्शक के मार्गदर्शन से अनुगामी पथिक भी अन्ध हो कर चलता है। इसी प्रकार गुरु-परम्परा, सम्प्रदाय-परम्परा और तथाकथित अनुभव-परम्परा तीनों ही अन्धानुकरण मात्र हैं, इनसे वास्तविक परमात्ममार्ग का निर्णय नहीं हो सकता। प्रेरणा देने वाला अपने मत, पंथ या अभिप्राय का कदाग्रही हो कर जब प्रेरणा लेने वाले को प्रेरणा देता है तब प्राय सम्यग्दृष्टि को छोड़ देता है, इसलिए परमात्ममार्ग के बारे में उसकी या उसकी परम्परा की बात भी प्रायः पूर्णतया यथार्थ नहीं मानी जा सकती।

आगम से भी मार्गनिर्णय कठिन है

परमात्मा के मार्ग का निर्णय करने में आगमो—धर्मशास्त्रों का आधार भी काफी वजनदार माना जाता है। आगमों से परमात्मपथ का निर्णय करने में पहली कठिनाई यह है कि यद्यपि आप्तपुरुषो के वचन [अर्हन्त प्रभु द्वारा भाषित अर्थ एव गणधरो द्वारा ग्रथित (सम्पादित) सूत्र] को आगम या शास्त्र कहा जाता है परन्तु प्राय आगम या शास्त्र के नाम से प्रचलित आगमो या शास्त्रो मे बताई गई बातो का अर्थ करने वाले भिन्न-भिन्न दृष्टि के होते हैं, वे अपने सम्प्रदाय, मत, पथ या गच्छ की परम्परा के अनुसार ही प्राय अर्थ करते हैं, उसी अर्थ को यथार्थ और दूसरी परम्परा द्वारा कथित अर्थ

१—देखिये 'अन्धो अन्ध पलाय' का मूलसूत्र मे निर्देश—

अधो अध पह नितो, दूरमद्धाण गच्छति।
आवज्जे उप्पहं जतू अदुवा पंथाणुगामिए।—सूत्रकृतागमसूत्र श्रु १ अ १ उ २

अधा आदमी अन्धे को प्रेरित करके ले जाय तो वह विवक्षित मार्ग से पृथक् मार्ग पर ले जाता है अथवा अन्धा प्राणी उत्पथ पर जा चढता है, या अन्य मार्ग का अनुसरण करता है।

को यथार्थ मान कर अपने माने हुए अर्थ को ही चाहे वह यथार्थ न हो, यथार्थ रूप मे चलाते रहते है। द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग (चरितानुयोग), चरणानुयोग और गणितानुयोग इन चार भागो मे आगमो मे तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त चारित्र, क्रिया, सम्यक्त्व का स्वरूप, साधुश्रावक के चरित्र एव आचार-विचार का वर्णन गुणस्थानक्रमारोह, जीवो के भेदाभेद, सात नय, निक्षेप, प्रमाण, नौ तत्व, गणित, विभिन्न धर्मकथाएँ, व्रत, तप आदि की विधियाँ बताई गई हैं। अत इन सब तथाकथित आगमो मे कथित बातो का अर्थ प्रत्येक सम्प्रदाय, मत, पथ या गच्छ आदि अपनी परम्परा के अनुसार करता है और उसी को सच्ची बताता है। इसे ही वीतरागता का शुद्ध व यथार्थ मार्ग कहता है। श्रद्धालु व्यक्ति की बुद्धि परस्परविरोधी बाते देख कर चकरा जाती है। इसलिए आगमो से परमात्म के असली मार्ग को खोजना बडा दुष्कर कार्य है।

इसमे दूसरी कठिनाई यह है कि वीतरागप्रभु के मार्ग का आगमो मे अन्वेषण करने वाले साधक प्राय उनके साधु-धर्मपालन के समय आए हुए उपसर्ग और परिषह, उनके तप, त्याग, महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति तथा निर्दोष भिक्षाचर्या आदि का वर्णन या साधक के लिए विधिरूप मे कथित मार्ग का वर्णन पढते है तो उनके रोगटे खडे हो जाते हैं। फलत प्रभु जिस बाह्यचारित्र के पथ मे गए, जो कठोर क्रियाकाण्ड प्रभु ने किए, स्वपरकल्याण के लिए जो घोर कष्ट-सहन प्रभु ने किए, सर्दी,-गर्मी आदि सहन करके जो कठोर साधना इन्होंने की, उस कठोर क्रियाकाण्ड के मार्ग को ही परमात्मा का मार्ग समझ बैठते है। इस प्रकार बाह्य चारित्र मे ही प्राय उनकी बुद्धि उलझी रहती हैं। ऐसे साधक स्वय भी उसी क्रियाकाण्ड-मार्ग का अनुसरण करके अपने को प्रभुमार्ग पर चलने वाले पथिक मानते है। इस कारण भी प्रभुपथ के रूप मे प्रभु के द्वारा अन्तरग रूप मे आचरित स्वरूपरमणरूप चारित्र या स्वरूप का ज्ञान-दर्शन उनकी समझ मे प्राय आता नही। इसीलिए प्रभुपथ का निर्णय आगम से दुर्लभ लगता है।

और फिर आगम या शास्त्र का जो लक्षण आचार्यो ने किया है, तदनुसार तो कई आगम आगम या शास्त्र की कोटि मे आने भी कठिन हो जाते है। क्योकि उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार शास्त्र की परिभाषा की गई है—'जिसके

द्वारा[1] आत्मपरिबोध हो, आत्मा अहिंसा एवं संयम की साधना से आत्म-पवित्रता की ओर गति करे, उस तत्त्वज्ञान को शास्त्र कहा जाता है।' व्युत्पत्ति के अनुसार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शास्त्र का अर्थ किया है—[2]जिसके द्वारा यथार्थ तत्त्वरूप ज्ञेय का, आत्मा का परिज्ञान हो, आत्मा को अनुशासित, शिक्षित किया जा सके, वह शास्त्र है। आचार्य सिद्धसेन एवं समन्तभद्र भी शास्त्र की यह कसौटी निश्चित करते हैं—[3]जो वीतराग-आप्तपुरुषों द्वारा जाना-परखा गया हो, जो किसी अन्य वचनों के द्वारा उल्लं-घित=हीन (अपदस्थ) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों (तर्क एवं प्रमाण) से खण्डित न हो सके, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त सार्वजनिक हितोपदेश हो, अध्यात्म-साधना के विरुद्ध जाने वाले पथों—विचारसरणियों का जो विरोध करता हो, वही सच्चा शास्त्र है।[4] आप्तवचन को आगम कहते हैं, लेकिन आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार[5] आप्तपुरुष उसका प्रतिपादन करने को उत्साहित नहीं होते, जो साक्षात् या परम्परा से मोक्ष का अंग न हो, क्योंकि ऐसा करने से उनकी आप्तता में दोष आता है। तत्त्व का यथार्थ उपदेशक आप्त है, जिसके वचन में पूर्वापरविरोध या असंगति-विसंगति न हो, जिसके वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से खण्डित न हों। अतः आगम, शास्त्र एवं आप्त के पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार वर्तमान में प्रचलित तथाकथित शास्त्रों के अनुसार जब परमात्ममार्ग का निर्णय करने जाते हैं तो उनमें कौन-सी

---

१. 'जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं'—उत्तराध्ययन ३/८.
२. सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावओ सत्थं—विशेषावश्यक, भाष्य
शासु अनुशिष्टौ, शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनाऽस्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्—टीका
३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥—रत्नकरण्डक श्रावकाचार
४. 'आप्तवचनमागमः'—प्रमाणनयतत्त्वालोक
५. नहि आप्तः साक्षात्पारम्पर्येण वा यन्न मोक्षाङ्गं तत्प्रतिपादयितुमुत्सहते अनाप्तत्वप्रसंगात्।—भगवतीसूत्रवृत्ति
६. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा—न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य।

बात किस नय की दृष्टि से कही गई है ? पूर्वापरविरोधी बातें किस अपेक्षा से कही गई है ? यह समझ मे नही आता । इसलिए आगम के अथाह समुद्र मे डुबकी लगा कर परमात्मा का मार्ग ढूँढना बडा दुष्कर कार्य है ।

और फिर आगमो के द्वारा सिर्फ मार्ग का अवलोकन (निरीक्षण) करना हो तो वह प्रचलित आगमो व शास्त्रो के बारबार स्वाध्याय, अध्ययन एव परिशीलन (अभ्यास) से बहुत कुछ सम्पन्न हो सकता है, मार्ग कैसा है ? क्या है ? इसका रहस्य क्या है ? आदि बाते समझ मे आ सकती हैं, लेकिन यहाँ कोरे (वन्ध्य) अवलोकन को परमात्मपथ के नीहारने मे स्थान नही है, ऐसा अवलोकन तो उत्तराध्ययनसूत्र की **'ज सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसय'** उक्ति के अनुसार थोथा व निष्फल है । त्यागभाव से रहित ज्ञान, आचरण से रहित ज्ञान वन्ध्य है । परमात्मपथ का निश्चय करने के लिए शास्त्रज्ञान के अनुसार आचरण का कदम बढाना आवश्यक है । इसलिए परमात्मपथ को निहारने का अर्थ—प्रभु मार्ग को देख-समझ-जान कर उस पर चलना है, प्रभुपथ पर चले बिना, उसका सम्यग्ज्ञान या अनुभव नही हो सकता ।

'चरण धरण नहिं ठाय' का रहस्य

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वोक्त कारणो को ले कर स्पष्ट कर दिया कि आगम (शास्त्र) के द्वारा परमात्मा के पथ की असलियत का विचार करें तो उस पर चरण टिकाने को या चारित्र का आचरण करने को कोई स्थान ही नही रहता । वह अत्यधिक कठोर लगता है । इस दृष्टि से **'चरण धरण'** के तीन रहस्य प्रतीत होते हैं । प्रथम तो यह है कि आगमो मे कथित प्रभु द्वारा आचरित व्यवहार (स्थूल) दृष्टि के चारित्र (क्रियाकाण्ड) को ही प्रभुपथ समझ लेने से स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र मे स्थिर रहना साधक के लिए कठिन हो जाता है, इस कारण स्वरूपरमणरूप चरित्र पर कदम रखना दुष्कर है । दूसरा रहस्य यह है—शास्त्रो मे कथित बातो मे परस्परविरुद्ध तथा कई जगह असगत बातो को देख कर बुद्धि के चकरा जाने से कौन-सा परमात्म-पथ है ? किसका अनुसरण किया जाय ? इस प्रकार बुद्धिभ्रम हो जाता है और साधक परमात्मा के असली मार्ग को पहिचान ही नही पाता । उस पर कदम रखना तो दूर की बात है ।

तीसरा रहस्य यह है कि प्रचलित आगमों में भी जो बातें बताई हैं—परमात्मा तक पहुँचने का जो सम्यक् मार्ग[1] बताया है, उसके अनुसार वर्तमान युग में पूरी तरह से आचरण करना टेढ़ी खीर है। क्योंकि प्रभुपथ का नीरागता कोरे शास्त्रावलोकन से नहीं हो जाता, उसके लिए प्रभु के स्वरूप-आचरणरूपादि चारित्र को जान-बूझ-समझ कर उस पर चलना अनिवार्य है, इसीलिए कहा गया—उस प्रभुपथ पर कदम रखना—चलना—असिधाराव्रत के [illegible] अत्यन्त कठिन है।

'चरण धरण नहिं ठाम' का एक रहस्य यह भी हो सकता है कि आगमों में कथित प्रभुमार्ग—चारित्रमार्ग—पर कदम रखते समय यह भी कहा गया है कि[2] 'इस लोक के किसी भी लौकिक स्वार्थ या प्रयोजन से आचरण (चारित्र पालन) न करे, पारलौकिक प्रयोजन से भी आचरण न करे कीर्ति, प्रशंसा, यश या पद-प्रतिष्ठा की लालसा से प्रेरित हो कर चारित्र का आचरण करना ठीक नहीं, केवल आर्हत्पद (वीतरागता) प्राप्त करने के लिए चारित्र-पालन करे।' इस दृष्टि से वीतरागता के पथ पर चलना बड़े-बड़े साधकों के लिए कठिन हो जाता है, क्योंकि आचार्य हेमचन्द्र को भी कहना पड़ा— 'दृष्टिराग इतना बलवान् और पापिष्ठ है कि बड़े-बड़े साधकों के लिए उसको नष्ट करना कठिन होता है।'[3] कांक्षामोहनीय भी इतना प्रबल होता है कि वह साधक की पवित्र दृष्टि पर मोह एवं अज्ञान का पर्दा डाल देता है, जिससे उसे परमात्मा का यथार्थ पथ ही दृष्टिगोचर नहीं होता, उस पथ पर चलने का तो अवकाश ही कहाँ? इसीलिए आगम में पथ के वस्तुतत्व पर विचार कर लेने पर भी पूर्वोक्त कारणों से उस पर चरण (कदम) रखना कठिन हो जाता है या उसके स्वरूपरमणरूप चारित्र पर स्थिर रहने अथवा व्यवहार चारित्र के रूप में आचरित प्रभुपथ की कठोरता को देख कर उसका आचरण करने की कोई गुंजाइश नहीं।

---

१ 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—तत्त्वार्थसूत्र १।१

२ 'न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।' —दशवै० ९/३६

३ दृष्टिरागो हि पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि—आचार्य हेमचन्द्र

प्रभुपथ के निर्णय मे चौथी और पाचवीं कठिनाई

वीतरागमार्ग के निर्णय का पिपासु आशावान साधक अपनी अन्य कठिनाइयाँ पेश करता है—

तर्क-विचारे रे वाद-परम्परा रे, पार न पहुंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय।।
पथड़ो०।।४।।

अर्थ

तर्क यानी अनुमानप्रमाण के द्वारा परमात्मपथ का विचार करें तो सिवाय शुष्क वाद-विवाद की लम्बी परम्परा के और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे विवादो की लम्बी कतार से कोई भी जिज्ञासु साधक किसी निर्णय के सिरे तक नहीं पहुँचता। हमारी अभीष्ट और जिज्ञासा के अनुकूल वस्तु का यथार्थरूप से लाभदायक और परिपूर्ण अशो मे कथन करने वाले पुरुष तो इस ससार मे बहुत ही विरले दिखाई देते हैं।

भाष्य

तर्क द्वारा भी परमात्ममार्ग का निर्णय दुष्कर

न्यायशास्त्र मे अनुमान-प्रमाण का बहुत बड़ा स्थान है। जो बाते साव्यवहारिक प्रत्यक्ष या आगमप्रमाण से सिद्ध नही होती, वे अनुमान-प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाती हैं। सारा जैनतत्त्वज्ञान तर्क के अनुकूल है। जैनदर्शन का समग्र नयवाद, सप्तभगी, स्याद्वाद, आत्मवाद, या तत्त्ववाद आदि अनेक बातें तर्क की कसौटी पर यथार्थरूप से कस कर निर्णीत की गई हैं। सन्मति-तर्क, स्याद्वाद-मजरी, अनेकान्त-जयपताका, स्याद्वादरत्नाकर, खण्डनखाद्य, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थरत्नो पर विचार करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, जैनदर्शन ने तर्क द्वारा जबर्दस्त किला फतह किया है। परन्तु तर्क मे वाद-विवाद का कही अन्त नही आता। एक प्रबल तर्क पूर्वोक्त निर्बल तर्क को काट देती है। चतुर नैयायिक तर्कों का ऐसा जाल बिछा देता है कि उसमे से प्रतिवादी का निकलना तो दूर रहा, उन सबको पूर्वपक्ष के रूप मे समझना भी दुष्कर हो जाता है। इसीलिए कहा [1] है—

---

१ वादाश्च प्रतिवादाश्च वदन्तो निश्चितानिव।
तत्त्वान्त नैव गच्छन्ति तिलपीलववद्गतौ।।

वाद और प्रतिवाद करके अपना अपने-अपने मत की निश्चित और यथार्थ बात कहते हो, इस प्रकार के लोग तेल की घानी के चारों ओर घूमने वाले बैल की तरह गोल-गोल चक्कर खाते रहते हैं, वे भी किसी सत्य का सिरा नहीं पाते।

इसीलिए कहा है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः' तर्क बिना पेंदे के लोटे की तरह एक जगह प्रतिष्ठित (स्थिर) नहीं हो पाता।

इसलिए परमात्ममार्ग का विचार भी केवल तर्क द्वारा करने पर सिवाय अनुभवहीन या भावहीन शुष्क वादविवाद के और कुछ पल्ले नहीं पड़ता। थोथी दलीलों, या शुष्क तर्कों से व्यक्ति किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँच पाते। यही कारण है छहों दर्शन अपने-अपने मत को तर्क द्वारा प्रमाणित करते हैं, मिल कर समन्वय नहीं कर पाते। चर्चा करने वाले जब अपने-अपने हेतुओं द्वारा अपने मताग्रहीत पक्ष को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तब सत्यशोधन के बदले केवल विद्वत्ता का प्रदर्शन किया जाता है। तर्क-वितर्क करने वालों में जिज्ञासा के बदले प्रायः विजिगीषा पाई जाती है। क्रियामार्ग में भी तत्त्वज्ञान की तरह अपनी मानी हुई क्रियाओं को सत्य तथा वीतराग-मार्गानुकूल सिद्ध करने के लिए तर्कों का बहुत दुरुपयोग किया जाता है तथा, परस्पर आक्षेप करके जिज्ञासाबुद्धि से भ्रष्ट हो कर दूसरों को नीचा दिखाने बदनाम करने या हराने की बुद्धि मुख्य बन जाती है। मतलब यह है कि सम्प्रदाय-मत-पथ के भेद, खींचातान, दुराग्रह, सत्यान्वेषणवृत्ति के बदले अपने अभिमत को सत्य सिद्ध करने के लिए मानवसुलभ अहंवृत्ति-पोषण के कारण वर्तमान स्थिति में सत्यशोधन या वीतराग-परमात्ममार्ग का पर्यवलोकन या निर्णय कोरे तर्क द्वारा होना अतीव दुष्कर है।

वस्तु का यथार्थरूप में कथन करने वाले विरले हैं

इससे पहले पूर्वोक्त सभी उपायों द्वारा वीतरागमार्ग के निर्णय के सम्बन्ध में विचार किया गया, लेकिन ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं मालूम पड़ता, जिससे यथार्थ निश्चय किया जा सके।

अतः श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि अब तो यह इच्छा होती है कि वस्तु जैसी और जिस प्रकार की है, उसे वैसी और उसी प्रकार से जो यथार्थरूप से

कहे, उनके पास जा कर परमात्ममार्ग का निर्णय करू, मगर ऐसे यथार्थवक्ता महापुरुष तो विरले ही है। जो है, वे झटपट पहचाने नही जा सकते। ऐसे महान् पुरुषो का समागम अशक्य नही तो दुर्लभ जरूर है, क्योकि वस्तु के स्वरूप मे किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता न करके कहना, अपने रागद्वेष, अपनी साम्प्रदायिक एव परम्परागत मान्यताओ, धारणाओ या अपने निजी स्वार्थो, सस्कारो या अह का कथन मे लेशमात्र भी प्रवेश न होने देना, बहुत ही कठिन है। किसी वस्तु के बारे मे जब हम सत्यता खोजने के लिए किसी महान् से महान् कहलाने वाले महानुभाव के पास जाते है, तो वहाँ उनके तत्त्व-प्रतिपादन के समय व्यक्तिगत अहभाव, साम्प्रदायिकता का पुट, परम्परागत धारणाओ, मान्यताओ या अपने सस्कारो का समावेश, तथा कई बार 'यह सत्य स्वय को ही उपलब्ध हुआ है' इस प्रकार के दावे ही दृष्टिगोचर होगे। इस प्रकार के प्रतिपादन से जिज्ञासु वीतराग परमात्मा के असली मार्ग के सत्यदर्शन के बदले उपर्युक्त भूलभुलैया या अधिक उलझन मे पड जाता है। जगत् में ऐसे लोग इनेगिने हैं, जो किसी वस्तु मे निहित वस्तुतत्व या यथार्थ धर्म का यथातथ्यरूप में कथन कर सके। क्योकि वस्तु का यथार्थ कथन करना इसलिए टेढी खीर है कि ऐसा करने वाले प्राय साम्प्रदायिकता, स्वत्व-मोह या कालमोह से ग्रस्त अपने कहे जाने वाले लोगो के कोपभाजन बन जाते हैं, प्राय उन्हें नास्तिक, मिथ्यात्वी, कृतघ्न आदि नाना गालियो का शिकार बनना पडता है अथवा उनके पूर्वाग्रह, रूढ मिथ्यासस्कार, अहभाव मे लिपटे हुए मत ही उन्हे किसी लागलपेट के बिना मध्यस्थभाव मे सत्य प्रतिपादन करने मे बाधक बन जाते हैं। इसलिए अपने पूर्वाग्रहो, रूढ सस्कारो, विवेक-विकल मान्यताओ या धारणाओ, या अन्धविश्वासो अथवा देव-गुरु-धर्म एव आगम-सम्बन्धी मूढताओ से ऊपर उठ कर वीतरागपथ के सम्बन्ध मे निष्काम भाव से सत्य प्रगट करने वाले महापुरुष विरले है। शुद्ध सत्यभाषको की विरलता के कारण परमात्ममार्ग का निश्चय दुर्लभ है।

वस्तु को यथार्थ व यथारूप मे कहने वाले व इसमें जरा-सी भी अतिशयोक्ति खीचातान, मताग्रह या पूर्वाग्रह रखे बिना जिज्ञासु के आगे प्रगट करने वाले पुरुषो की विरलता देखनी हो तो किसी भी बडे से बडे तथाकथित तत्त्वज्ञानी या महान् कहलाने वाले व्यक्ति के सान्निध्य मे कुछ दिन रह कर, उनकी दलीलें, तर्क, साम्प्रदायिक झुकाव आदि पर से देखी-समझी जा सकती है।

परमात्मपथ के दर्शन में छठी कठिनाई

इस प्रकार परमात्मपथ के दर्शन में मुख्य-मुख्य कठिनाइयों का पूर्वोक्त गाथाओं में उल्लेख करके श्रीआनन्दघनजी अब परमात्मपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त दिव्यनयनरूपी आधार के विषय में दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं—

वस्तु विचारे रे दिव्यनयन तणो रे, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार ॥
॥पंथडो०॥५॥

अर्थ

पदार्थ के यथार्थ रूप का विचार करने में जो दिव्यनेत्र=प्रत्यक्षज्ञानी अतिशयज्ञानी या अतिशय प्रत्यक्ष ज्ञान है उनका तो इस (पचम) काल में निश्चय ही वियोग हो गया है। इसलिये उनके विरह में देखे तो वस्तुतत्त्व के यथार्थ ज्ञान का कोई आधार नहीं है। मन-वचन-काया के योगो की तरतमता वासनाओ (कषायो) की तरतमता के अनुसार होती है। इस दृष्टि से प्रबल वासनाओ (कषायों) से क्रमश मुक्त होने के कारण कई महान् आत्माओं के कषायो के क्षयोपशम की अधिकता होगी, उतनी ही मन वचन-काया के योगों की स्थिरता अधिक होगी। अत ऐसे महापुरुषो के ज्ञान के अधिकाधिक क्षयोपशम से भावित बोध ही इस काल मे आधारभूत है।

भाष्य

दिव्यनयन क्या है? उनका वियोग क्यो?

योगी आनन्दघनजी ने परमात्म-पथ के दर्शन के लिए पहले दिव्यनयन की मुख्यता बताई थी। अन्य उपायो से प्रभुपथ-दर्शन की दुष्करता का प्रतिपादन के बाद यहाँ वे पुन उसी दिव्यनयन का उल्लेख करते हुए कहते है कि अगर आज इस प्रकार के दिव्यनेत्रधारी या आत्मप्रत्यक्षज्ञानी होते तो मुझे प्रभुपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त कठिनाइयो का सामना न करना पडता। मेरी परमात्म-मार्ग के दर्शन की समस्या बहुत ही आसानी से हल हो जाती, परन्तु अफसोस है कि आज वे दिव्यनेत्रधारी महापुरुष इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र) में रहे नही अथवा मेरे अपने अदर वे दिव्यनेत्र (प्रत्यक्षज्ञान) प्रकट होने दुर्लभ

होने से मुझे भी परमात्मा-पथ का निर्णय करना कठिन हो रहा है। उनका निश्चय ही वियोग हो गया है।

दिव्यनयन-पद से यहाँ इन्द्रियो मे न होकर, जिन्हे सीधे आत्मा से होने वाला ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे प्रत्यक्षज्ञानी महापुरुष या आत्मप्रत्यक्षज्ञान विवक्षित है। क्योंकि वस्तुतत्व का यथार्थ पूर्ण निर्णय तो प्रत्यक्ष ज्ञानी या प्रत्यक्षज्ञान ही कर सकते हैं। परोक्षज्ञानियो के ज्ञान मे कुछ न कुछ कमी रह ही जाती है।

मुख्यतया ज्ञान दो प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रियो और मन की उपस्थिति मे जो ज्ञान होते हैं, वे परोक्षज्ञान कहलाते है। जैनदर्शन की दृष्टि से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो परोक्षज्ञान है। चूँकि अन्य दर्शन इन्द्रियो और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं, इसी कारण जैन दार्शनिक इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और इन्द्रियो और मन के निमित्त के बिना सीधे ही आत्मा मे होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहने लगे। पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इसी को ही श्रीआनन्दघनजी दिव्यनयन = आत्मप्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं।

ऐसे आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान से ही वस्तुतत्व का यथार्थ रहस्य समझा जा सकता है। तभी परमात्मा के मार्ग का सच्चा निर्णय हो सकता है, परन्तु इस पचम काल मे इस (भरत) क्षेत्र मे तो ऐसे आत्मप्रत्यक्षज्ञानी या आत्मप्रत्यक्षज्ञान का सयोग नही है, उनका इस समय वियोग है।

विभिन्न दृष्टियो से तरतमयोग और तरतम वासना के अर्थ तथा तद्युक्त बोध

वासना का अर्थ है—कषाय, राग-द्वेष, या मोह आदि और योगो का अर्थ है—मन-वचन-काया के व्यापार। ज्यो-ज्यो वासनाओ की तरतमता = न्यूनाधिकता होती जाती है, त्यो-त्यो मन-वचन-काया के योगो की तरतमता होती है। अर्थात् जिसमें वासनाओ (कषायो, अभिमान, नामना-कामना, पूजा-सत्कार-लिप्सा, एव विविध एषणाओ,) की जितनी और जिस अनुपात मे तीव्रता या मन्दता होगी, उतनी और उसी अनुपात मे उसमे मन-वचन-काया के योगो की चपलता (अस्थिरता) या अचपलता (स्थिरता) होगी और उस-

उस व्यक्ति का बोध भी योगों की सफलता या असफलता के अनुसार उतना-उतना अशुद्ध (अनिर्मल) या शुद्ध (निर्मल) होगा।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति का बोध जितना-जितना तीव्र कषायों आदि से रहित होगा, उतना-उतना वह निर्मल, निर्मलतर होता जाएगा। इस दृष्टि से प्रबलतर या प्रबल कषायों से मुक्त होने के कारण जिन महानुभावों के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विशुद्ध व निर्मल हैं, ऐसे आगमज्ञ, बहुश्रुत स्थितप्रज्ञ या गीतार्थ महापुरुषों का शुद्धात्मभावना से वासित (भावित) बोध ही वर्तमानयुग में परमात्मपथ दर्शन के लिए आधारभूत है।

अथवा निश्चयनय की दृष्टि से कहें तो अपनी आत्मा प्रबलतर या प्रबल कषायों से मुक्त होगी, तभी उसका क्षयोपशम तीव्र होगा और उक्त तीव्र क्षयोपशमभाव से वासित (युक्त) बोध से ज्ञान की विशुद्धता होगी, बुद्धि पर अज्ञान, मोह, अभिमान, लालसा, स्पृहा, स्वार्थ आदि का आवरण कम होगा और तभी मैं स्वयं परमात्मपथ=शुद्धात्मदशा के पथ का निर्णय कर सकूँगा। अर्थात्—प्रबलकषायों से रहित मेरी आत्मा शुद्धात्मभावरमणरूप परमात्मपथ के प्रत्यक्षदर्शन में अग्रसर होगी।

साधारण प्राणी सांसारिक वासनाओं या परभावों की ओर इतना आसक्त होता है कि सहसा उसमें आत्मविकास या स्वभावरमणता की भावना जागृत नहीं होती और उसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशमभाव उतना नहीं मिलता और न ही तदनुरूप योग=(संयोग) मिलते हैं। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति की जितनी-जितनी शुद्धात्मज्ञान की क्षयोपशमभाव से होती है, उतने-उतने प्रबल व प्रबलतर संयोग (योग) भी उसे सहज में मिलते जाते हैं। यानी क्षयोपशमभावों की न्यूनाधिकता के अनुसार अनुकूल संयोगों की न्यूनाधिकता होती है।

उदाहरणार्थ—कई साधकों का क्षयोपशमभाव तीव्र होता है तो उन्हें प्रौढ़ और अनुभवी गुरुओं, तदनुकूल साधनों, अनुकूल स्थान-सहचार-सत्संग आदि का संयोग मिलता है, उनकी ग्रहण-धारणा-शक्ति भी तीव्रतर होती है, जबकि कई साधकों को तीव्र और कतिपय साधकों को मन्द या मन्दतर मिलती है। इस दृष्टि से जिन साधकों की क्षयोपशमभावना तीव्रतम होगी उन्हें तदनुकूल तीव्रतम संयोग और तीव्रतम ग्रहण-धारणाशक्ति मिलेंगे और तदनुसार उनका बोध भी तीव्रतम क्षयोपशमभावना से भावित होगा। ऐसे व्यक्तियों का

बोध ही वर्तमानकाल मे तो परमात्मपथ के निर्णय का आधार हो सकता है ।

वर्तमानकाल मे परमात्मपथ निर्णय मे आधारभूत बोध

हम बहुत-सी बार यह अनुभव करते हैं कि साधको के बोध मे अनेक प्रकार की न्यूनाधिकता होती है । किसी-किसी साधक का क्षयोपशम इतना प्रबल होता है कि चाहे जैसा नया प्रश्न उसके सामने प्रस्तुत किया जाय, वह अपने विशाल वाचन और व्यापक बोध के आधार पर उसका यथार्थ उत्तर दे सकता है । शास्त्र मे ऐसे-ऐसे श्रुतज्ञानियो का उल्लेख है कि वे अपने मतिज्ञान से उसका ठीक उपयोग लगाएँ और उनका बोध स्थिर विशाल और सुदृढ हो तो चाहे जैसे सूक्ष्मभावो के विषय मे केवलज्ञानियो के बराबर यथातथ्य निर्णय दे सकते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी आत्म-प्रत्यक्षज्ञानियो (दिव्यनेत्रो) के अभाव मे पूर्वोक्त प्रबलतम क्षयोपशमभावना से भावित बोध को इस युग मे परमात्मपथ-निर्णय का आधार मानते हैं ।

निश्चयनय की भाषा मे कहे तो अपने मे आत्मप्रत्यक्षज्ञान (दिव्यनेत्र) के अभाव मे अपने उपादान=क्षयोपशमभाव के प्राबल्य से होने वाला (वासित) बोध ही वर्तमानकाल मे परमात्ममार्ग के निर्णय का आधार बन सकता है ।

इस बात को न मान कर यदि यही आग्रह रखा जाय कि जब कभी दिव्य-ज्ञानी या दिव्यज्ञान का योग मिलेगा, तभी परमात्मपथ का बोध किया जायगा, तो उस साधक को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, अनेक विघ्न उसके विकासमार्ग मे रोडा अटकाएँगे, अब तक उसने जो भी प्रगति की है, वह भी ठप्प हो जायगी और आत्मा कर्मो से भारी हो कर जन्ममरण के चक्र मे भटकती रहेगी । अत अपने क्षयोपशम के अनुसार जो भी अनुकूल साधन या सयोग प्राप्त हो, उनका अवलम्बन ले कर परमात्मपथ पर प्रगति करते रहना चाहिए । इसी आशय से श्रीआनन्दघनजी ने वर्तमानकाल मे मति-श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट क्षयोपशमभाव से भावित बोध से युक्त ज्ञानी या ज्ञान के आधार को योग्य माना है ।

परमात्मपथदर्शन के लिये श्रेष्ठ आधार : समय की परिपक्वता

पूर्वोक्त गाथा मे दिव्यज्ञान के अभाव मे वर्तमान युग मे उत्कृष्ट क्षयो-

परमसत्य. मति-श्रुतज्ञानी या मति-श्रुतज्ञान ने जिसके बोध का आधारभूत बनाया, परन्तु श्रीआनन्दघनजी उस दिन के लिए उत्सुक हैं। उनका मनोरथ है कि मैं स्वयं ऐसा दिव्यज्ञान या दिव्यदर्शी योगी का मार्ग प्राप्त करूँ, परन्तु इस समय उसकी उपलब्धि न होने पर भी जीने का श्रेष्ठ आधार है—परमात्मपथ के दर्शन के लिए, इसका उल्लेख वे अन्तिम गाथा में करते हैं—

काललब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब।
ए जन जीवे रे जिनजी ! जाणजो रे, आनन्दघन-मत-अम्ब

पथड़ो०॥८॥

अर्थ

यथार्थ (स्वभावरमणतारूप) पुरुषार्थ करते-करते काल परिपक्व (समय पक जाने) होने पर तथारूप आत्मलब्धि (आत्मशक्ति) प्राप्त करके आपका (परमात्मा का) पथ देख सकूँगा, यह आशा (प्रतीक्षा) ही मेरे लिए श्रेष्ठ अवलम्बन है। हे वीतरागप्रभो ! इसी आशा के आधार पर मेरे सरीखा व्यक्ति जी रहा है। इसे ही आप आनन्दघन (सच्चिदानन्दरूप) के पथ का आम्रवृक्ष या सार समझना।

भाष्य

काललब्धि की प्रतीक्षा : जीने का श्रेष्ठ आधार

श्रीआनन्दघनजी आशावादी (Optimist) हैं, वे जैनदर्शन की रगों को छूते हुए कहते हैं, जिसके तन-मन-प्राण में परमात्मपथ—मोक्षपथ पाने की तीव्रता है, जो अहर्निश स्वभावरमणस्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ करता है, उसे एक न एक दिन परमात्मपथ के दर्शन हो कर रहते हैं, उसका वह पुरुषार्थ, वह तीव्र तमन्ना खाली नहीं जाती, पर साधक को उस समय की प्रतीक्षा करना, उस अवसर के आने तक धैर्य रखना जरूरी है।

खेत में बीज बोते ही किसान को उसका फल नहीं मिल जाता, उसे काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, धैर्य के साथ फसल पकने तक इन्तजार करनी पड़ती है, तब तक उसे उत्साहपूर्वक गोडाई, सिंचाई, और सुरक्षा करनी होती है। तभी उसे उसका सुन्दर फल मिलता है। इसी प्रकार परमात्मपथ के दर्शन के लिए भी स्वभावरमणरूप पुरुषार्थ द्वारा आत्मशक्ति प्राप्त होने तक प्रतीक्षा

करनी आवश्यक है। इसी दृष्टि से योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते हैं—

"वीतरागप्रभो! समय परिपक्व होते ही आत्मशक्ति (काललब्धि) प्राप्त होने पर मैं अवश्य आपके पथ का दर्शन करूँगा, इसी आशा—प्रतीक्षा का अवलम्बन ले कर मैं जी रहा हूँ। वास्तव मे, मेरी आत्मा तो उसी दिन को देखने के लिए उत्सुक है, जिस दिन मुझे परमात्मपथ के दर्शन होंगे, उसी दिन मेरी यह आत्मसाधना सफल होगी।

काललब्धि का अवलम्बन क्या और कैसे?

जैनदर्शन मे प्रत्येक कार्य के लिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, पाँच कारणसमवाय को अनिवार्य बता कर उपयुक्त स्थान दिया गया है, यही बात आत्मविकास के लिए है। इस दृष्टि से आत्मविकास के लिए दूसरे चार कारणो की तरह काल का परिपाक भी होना चाहिए। समय पकने पर ही अमुक कार्य होता है। आम अमुक समय आने पर ही पकता है। गर्भ नौ महीने का होने पर ही बालक का प्रसव होता है, फसल अमुक समय पर ही पकती है। इसी तरह दिव्यज्ञान के लिए अमुक काल का लाभ या प्राप्ति काललब्धि कहलाती है। स्वभावरमण मे पुरुषार्थ करते-करते जिस समय आत्मशक्ति इतनी बढ जायगी कि दिव्यज्ञान—आत्मप्रत्यक्षज्ञान होते देर नही लगेगी, उसी समय को काललब्धि[1] (समय का परिपाक) कहना चाहिये।

शास्त्र मे ५ प्रकार की लब्धियाँ बताई गई हैं—(१) काललब्धि, (२) भावलब्धि, (३) करणलब्धि, (४) उपशमलब्धि और (५) क्षायिकलब्धि। काललब्धि भी आत्मशक्ति-विशेष मे ही प्राप्त होने वाला एक सामर्थ्य है, एक प्रकार की योग्यता है, जिसके प्राप्त होने पर परमात्मपथ का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने काललब्धि को ही परमात्मपथ-दर्शन की आशा का अन्तिम आधार मान कर उसी के सहारे जीने व तब तक प्रतीक्षारत रहने की बात-अभिव्यक्ति की है।

१—'पाइअसद्दमहण्णवो' मे लब्धि के क्षयोपशम, सामर्थ्यविशेष, अर्हता, लाभ, प्राप्ति और योग्यता आदि अर्थ किये गये हैं।

दूसरों की आशा और पथदर्शन की आशा में अन्तर

यो तो 'आशा औरन की क्या कीजे' पद में श्रीआनन्दघनजी ने आशा के प्रति उपेक्षा व्यक्त की है, लेकिन यहाँ आशा को बड़ा आधार माना है, परन्तु इस आशा और उस आशा में रात-दिन का अन्तर है। वह आशा पराई है, जिसमें पौद्गलिक वस्तुओं स्थूल या भौतिक पदार्थों या विषयों की प्राप्ति की आशा है, उसमें आशा करने वाले को पूँछ हिलाने वाले कुत्ते की उपमा दी गई है। वह आशा परपदार्थों की गुलामी है परन्तु यहाँ आशा है—काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथ के दर्शन की आशा, इसमें किसी से मांग, गुलामी या याचना नहीं की गई है, न परपदार्थों को प्राप्त करने की यह आशा है; यह तो आत्मा का अपने आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ करके काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथदर्शन की आशा है। उसमें आशादासी के दास बनने की बात है, जबकि इसमें आशादासी पर विजय प्राप्त करने की बात है। चेतनराज (आत्मा) को इस प्रकार की आशा के अवलम्बन के सिवाय और कोई चारा ही नहीं है।

जीवन का आधार : भौतिक या आत्मिक ?

श्रीआनन्दघनजी आगे कहते हैं—इसी आशा के आधार पर मुझ सरीखा साधकजन जीवन जी रहा है। साधक-जीवन के लिए संसारी जीवों की तरह धन-सम्पत्ति, संतति सुख-सामग्री आदि जीने के आधार नहीं होते, उसके जीने का आधार आध्यात्मिक होता है। क्योंकि साधक को जब तक पूर्णशुद्ध आत्म-दशा की प्राप्ति नहीं हो जाती, जब तक का जितना काल है, उस काल को वह आत्मशक्ति उपलब्ध करने में बिताता है, वह स्वभावरमण में पुरुषार्थ करते करते ही अपना जीवन पूर्ण करता है, उसके जीवन जीने का आधार आत्मिक होता है। आत्मसाधना करना, आत्मस्वरूप जानना आत्मशक्ति प्राप्त करना आत्मशक्ति प्राप्त करने के लिए साधन-सामग्री जुटाना व उसका समुचित उपयोग करना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी के अन्तर का स्वर गूँज उठता है—

"ए जन जीवेरे जिनजी ! जाणजो रे · · "

आनन्दघन-मत-अम्ब के सम्बन्ध में

योगी श्रीआनन्दघनजी ने अपना कोई मत, पथ, सम्प्रदाय या गच्छ नहीं

बनाया और न वे किसी सम्प्रदाय को चलाना चाहते थे, बल्कि उन्होने इसी चौबीसी मे आगे गच्छ, सम्प्रदाय, पथ आदि के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, इसलिए आनन्दघन-मत का अर्थ किसी मत, पथ या सम्प्रदाय का सूचक नहीं हो सकता। चूँकि योगी आनन्दघनजी जिदगीभर आत्म-शोधन, आत्म-चिन्तन-मनन और आत्मविकास के अवलोकन मे रहे हैं, इसलिए आनन्दघनमत का अर्थ यहाँ आनन्दघनरूप=शुद्धात्मभावमय मत=विचाररूपी आम्रफल अथवा शुद्धात्मभावमय विचार का सार है।

श्रीआनन्दघनजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जब मैंने अपने शुद्ध चित्त-क्षेत्र मे परमात्म-पथ-दर्शन के प्रति तीव्र आत्मनिष्ठा-रूपी आम की गुठली बो दी है, तब तो एक दिन मे उसके स्वभावरमणता मे आनन्द देने वाले आनन्दघनरूप परमात्मा के विचार की शीतल शुद्धात्मदशारूपी छाया वाला आम्रवृक्ष=परमात्मा (वीतराग) अथवा परमात्मपथदर्शनरूपी आम्रफल अवश्य प्राप्त करूँगा। ऐसा मेरा अखण्ड मत=निश्चय है।

सारांश

अजितनाथ भगवान् की स्तुति के बहाने इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-मार्ग के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा बताई है। साथ ही दिव्यज्ञानचक्षु को उसका सर्वोत्तम उपाय बता कर उन्होंने परमात्मपथ के दर्शन करने मे चर्म-चक्षु, पुरुष-परम्परा, शास्त्र-परम्परा तथा पराश्रित अनुभव, आगम, तर्क, यथार्थ-वक्ता एव दिव्यज्ञान का वियोग आदि मुख्य कठिनाइयाँ बताई है, लेकिन अन्त मे स्वीकार किया है कि उच्चश्रेणी के क्षयोपशम वाले निर्मल श्रुतज्ञानी पुरुष के श्रुतज्ञान का बोध वर्तमानयुग मे आधाररूप हो सकता है। लेकिन अन्तिम गाथा मे कालपरिपक्व होने तक परमात्मपथदर्शन की प्रतीक्षा मे रत रहने की आशा का अवलम्बन मान कर उसी के सहारे जीवन जीने का निश्चय किया है। मतलब यह है कि रागद्वेषादि विकारो से रहित शुद्ध आत्मदशा प्राप्त होने पर ही पूर्णरूप से परमात्मपथ का साक्षात्कार हो सकता है, यही सब गाथाओ का निचोड है।

३ सम्भवनाथ-स्तुति—

परमात्मा की सेवा

(तर्ज—रातली रमी ने किहांथी आविया रे, राग-रामगिरि)

परमात्मा के साथ अखण्ड प्रीति के बाद परमात्मा के मार्ग का दर्शन व निर्णय करना आत्मसाधक के लिए अनिवार्य होता है मार्ग का निर्णय हो जाने पर ही परमात्मा की सेवा भलीभांति हो सकती है। इसलिए इस तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथभगवान की स्तुति के माध्यम से परमात्म-सेवा का रहस्योद्घाटन करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

'सम्भवदेव' ते धुर सेवो सवे रे, लही प्रभुसेवन-भेद।
सेवन-कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥
सम्भव० ॥१॥

अर्थ

परमात्मा (परमशुद्ध आत्मा) की सेवा का गहरा रहस्य समझ कर सभी आत्मसाधक सर्वप्रथम सम्भवनाथदेव (वीतराग परमात्मा) या वीतराग-परमात्मा के देवत्व की सेवा करें। परमात्मसेवा में कारणभूत पहली भूमिका-अवस्था के योग्य अभय, अद्वेष और अखेद ये तीन बातें हैं।

भाष्य

परमात्म-सेवा क्यों ?

पूर्वोक्त दो स्तुतियों में जिस प्रकार प्रथम और द्वितीय तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मप्रीति और परमात्ममार्ग के दर्शन का रहस्य खोल कर रख दिया है, वैसे ही इस स्तुति में तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथदेव की स्तुति के माध्यम से परमात्मा की या परमात्मतत्त्व की सेवा सर्वप्रथम क्यों करनी चाहिए ? परमात्म-सेवा क्या है और कैसे करनी चाहिए ? इन सबका विश्लेषणपूर्वक रहस्योद्घाटन किया है।

सवाल-यह होता है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे दूसरे सब कार्य छोड कर सभी साधको को सर्वप्रथम परमात्मा की सेवा करने की प्रेरणा क्यो दी ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि दूसरी स्तुति की अन्तिम गाथा में उन्होंने यह बता दिया कि मैं परमात्मपथ के दर्शन के बिना हर्गिज हटने वाला नही, चाहे कितना ही काल क्यो न व्यतीत हो जाय, मैं तब तक धैर्य या प्रतीक्षा करूंगा, जब मेरी आत्मशक्ति इतनी बढ जायगी, मेरा क्षयोपशमभाव इतना तीव्रतम हो जायगा कि काल का परिपाक भी हो जायगा और एक दिन वह अवसर भी आ जायगा, जब मैं परमात्मपथ का साक्षात्कार करके ही दम लूंगा , इसी आशा और विश्वास के साथ मैं बैठा हूं। अत जब साधक की परमात्मपथदर्शन की इतनी तत्परता हो जाती है, तब उसे अपने आपको परमात्मपथदर्शन के योग्य, समर्थ और कार्यक्षम बनाने के लिए सर्वप्रथम उत्साहपूर्वक परमात्मसेवा करना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी सभी मुमुक्षुओ, किन्तु परमात्मपथदर्शन से निराश साधको का व अपने को परमात्मपथदर्शन के योग्य बनाने हेतु पहले परमात्मसेवा करने का आह्वान करते हैं ।

परमात्म-सेवा क्या है ?

परन्तु साथ ही वे कुछ साधको तथा स्वय के चेतनराज से चेतावनी के तौर पर कहते हैं—परमात्मा की सेवा करने से पहले सेवा का स्वरूप तथा उसका रहस्य समझ लो। परमात्मसेवा का स्वरूप एव रहस्य समझे बिना ही दुनियादार लोगो की तरह अगर परमात्मसेवा के नाम से किसी और कार्य को करने लग जाओगे, या सेवा के साथ किसी प्रकार का राग, द्वेष, मोह, नामना-कामना, भय, लोभ, या किसी स्वार्थ को जोड दोगे अथवा सेव्य पुरुष का स्वरूप न समझ कर, जैसे-तैसे रागी-द्वेषी, कामी, क्रोधी देव को ही देवाधिदेव परमात्मा मान कर उसकी सेवा को परमात्मसेवा मान कर करने लगोगे, या परमात्मा (निरजन-निराकार शुद्ध अनन्तज्ञानदर्शनचारित्रमय आत्मा) के वीतरागत्व या शुद्ध आत्मत्व की उपासना के बदले उनके बाह्यरूप, स्थूलप्रतीक या उनके द्वारा विहित क्रिया कलापो या उनके बाह्य अतिशय, शारीरिक वैभव की ही सेवा करने मे जुट कर उनके थोथे गुणगान या कोरे कीर्तन करके ही उसे परमात्मसेवा समझ लोगे , अथवा परमात्मा के नाम से किसी व्यक्ति-

विशेष (भले ही वह महान् हो) के प्रति राग और मोह करके उसकी बाह्य-सेवा—स्थूलसेवा (अपनी आत्मा को रागद्वेष मोह या परभावों से न हटा कर) करने लग जाओगे तो परमात्मसेवा के वास्तविक लाभ से वञ्चित हो जाओगे। परमात्मसेवा का वास्तविक और चरम लाभ कहा गया, राग-द्वेष मोह या कर्मों से मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होने की अवधि तक बीच में परमात्मसेवा की साधना के दौरान उसी सिलसिले में जो जो यथार्थ (सापेक्ष से सम्बन्धित) सम्भव हैं उनका उल्लेख आगे की गाथाओं में वे स्वयं करते हैं। बिना ज्ञान के (सोचे-समझे) सेवा करने से कर्ममुक्ति के बदले कर्मबन्धन ही अधिक सम्भव है।

साथ ही यह विचारणीय है कि यहाँ सम्भवदेव (परमात्मदेव) की ही सेवा करने को कहा है। यानी आत्मसाधक का आदर्श सेव्य पुरुष परमात्मदेव है। परमात्मदेव को मामूली या न्यूनाधिक गुणों से देवत्व प्राप्त नहीं होता। ऐसे देवत्व की प्राप्ति के लिए अनन्त गुणों की परिपूर्णता होनी आवश्यक है। परिपूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए आत्मा को ही परमात्मदेव कहा जा सकता है। वही साधक द्वारा सेवा के योग्य आदर्श हो सकता है। यही कारण है कि किसी किसी प्रति मे 'सम्भवदेवत' पाठ मिलता है, उसका अर्थ सम्भव (परमात्म) देव की सेवा के बदले परमात्मा के देवत्व की सेवा होता है, निश्चयनय की दृष्टि से यह अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मदेव अपनी किसी प्रकार की सेवा नहीं चाहते, वर्तमान मे वे स्वय प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए उनके शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ की सेवा करना भी सम्भव नही है, और परोक्ष होने के कारण उनकी आत्मा को हमारी सेवा की अपेक्षा नही है। बल्कि वे अपनी आत्मा को परमात्मदेव बनाने के लिए किसी की सेवा या सहयोग की अपेक्षा रखे बिना स्वयं के शुद्धात्मभावरमण मे पुरुषार्थ करते हैं। वे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हमारे द्वारा उनके गुणगान या स्तुति करने मे उनको कोई भी लाभ नही है। वीतराग होने के कारण हमारे द्वारा सेवा करने या न करने से वे कोई खुश या नाराज नही होते, न वरदान या श्राप देते हैं। अत निश्चय दृष्टि मे परमात्मसेवा का रहस्य है—शुद्ध आत्मसेवा। वीतराग-परमात्मदेव को आदर्श मान कर अपनी आत्मा को राग, द्वेष, कषाय आदि परभावो से हटा कर शुद्ध स्वभाव में लगाना, अपनी आत्मा को परमात्मा की तरह आत्मगुणों

से पूर्ण, व योग्य बनाने का सतत पुरुषार्थ करना—परमात्मदेवरूप आदर्श को न भूलना ही प्रकारान्तर से परमात्म-सेवा है। वस्तुत परमात्मसेवा शुद्ध आत्म-भाव का एक आदर्श है। अत साधक के द्वारा परमात्मा के साथ स्वभाव-स्वरूपरमणता के रूप मे अभिन्नता स्थापित करना ही परमात्म-सेवा है।

यही कारण है कि जैनदर्शन परमात्मदेव-शब्द मे राग, द्वेष, अहकार आदि परभावो मे पडने वाले, जगत् के नियन्ता-कर्त्ता-धर्ता-हर्ता, अच्छे-बुरे कर्म के फल प्रदान मे समर्थ किसी तथाकथित देव को आदर्श या सेव्य नही मानता। परमात्मदेव इन सब मोहमायादि परभावो से रहित निरजन, निराकार, अनन्त-ज्ञानादि गुणो से परिपूर्ण परमशुद्ध आत्मा होते हैं।

परमात्मसेवा कैसे?

पूर्वोक्तस्वरूपयुक्त परमात्मदेव की सेवा कैसे की जाय? उन्हें क्या भेट चढाई जाय? उनकी सेवा के लिए क्या ले कर पहुँचा जाय? ये और ऐसे प्रश्न सेवक के सामने उपस्थित होते हैं। यह तो सर्वविदित है कि वीतराग परमात्मा किसी प्रकार की बाह्य भेंट या ससार का कोई भी पदार्थ दूसरो से नही चाहते। परन्तु आत्मार्थी साधक जब वीतरागदेव को आदर्श मान कर उनकी सेवा करने के लिए तत्पर होता है तो परमात्मसेवा के लिए उसे अपनी आत्मा मे वैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। बिना भूमिका प्राप्त किये ही कोई व्यक्ति बाह्य नाचगान, रगराग या कीर्तन-भजन आदि को ही परमात्मसेवा मान बैठेगा तो वह धोखा खाएगा। परमात्मसेवा केवल नाचने, गाने, या रिझाने से नही हो जाती, उसके लिए अपनी आत्मा मे वैसी योग्यता प्राप्त करनी जरूरी है। कोई व्यक्ति दशवी कक्षा की योग्यता प्राप्त किये बिना ही प्राइमरी मे सीधा दशवी कक्षा मे बैठ जाय तो वह सफल नही हो सकता, वैसे ही परमात्मसेवा की भूमिका या योग्यता प्राप्त किये बिना या सेवा का क ख ग सीख कर बीच की भूमिका पार किये बिना सीधा ही परमात्मसेवा की उच्चकक्षा पर पहुँचना चाहे तो वह सफल नही हो सकता। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए सर्वप्रथम अपना उपादान तदनुरूप शुद्ध होना जरूरी है। उपादान शुद्ध हुए बिना सेव्यपुरुष-परमात्मा के प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क मे रहने पर भी व्यक्ति उनसे कुछ लाभ नही उठा सकता, वास्तविक सेवा करना तो बहुत दूर है। और न ही उनसे परोक्ष सेवा हो सकती है। इसीलिए यहाँ सेवा के लिए

प्रथम भूमिका प्राप्त करने का अर्थ होता है—सेव्यपुरुष के अनुरूप अपने उपादान की शुद्धि। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस न्याय के अनुसार वीतराग परमात्मदेव की सेवा के लिए अपनी आत्मा (उपादान) को तदनुरूप होने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

यहाँ 'सेवनकारण' शब्द है, उसका अर्थ 'सेवा के लिए' अधिक संगत प्रतीत होता है। यदि 'सेवनकारण' शब्द में कारण शब्द को निमित्तकारण माना जाय तो भूमिका का अर्थ करना होगा—'चित्तभूमिका'[1] (अवस्था) अथवा 'चित्तभूमि' (मनोभूमि)। क्योंकि परमात्मसेवा में चित्त की अमुक भूमिका या अमुक प्रकार की चित्तभूमि ही निमित्त कारण बन सकती है।

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के रूप में तीन बातें जरूरी

परमात्मसेवा की निष्ठा रखने वाले साधक के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में तीन बातें प्राप्त करनी जरूरी हैं—'अभय, अद्वेष, अखेद'। इन तीनों की पहली भूमिका में अनिवार्यता इसलिए बताई कि साधारण व्यक्ति या राजा अथवा धनाढ्य की सेवा के लिए भी व्यवहार में तदनुकूल योग्यता और भूमिका प्राप्त करनी पड़ती है, तब लोकोत्तर वीतराग परमात्मा की सेवा के लिए तो काफी ऊँची आत्मभूमिका अथवा चित्तभूमिका का होना आवश्यक है। परमात्मा की सेवा को बहुत-से अज्ञलोग बहुत आसान समझते हैं अथवा बहुत-से नशेबाज या धूर्त लोग साधु-सन्त के वेष में कुछ भी त्याग करने की बात अथवा आत्म-भावों में रमण करने की बात को तिलांजलि देकर सिर्फ नशा करके सुरत लगाने या परमात्मा के कोरे गुणगान, कीर्तन-भजन करने मात्र से उनकी सेवा होना मानते हैं। परन्तु यह इतना सस्ता सौदा नहीं है। इसीलिए श्रीआनन्दघन-जी इसी स्तुति की अन्तिम गाथा में कहते हैं—**"मुग्ध सुगमकरी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप"** इसी कारण परमात्मदेव की सेवा की पात्रता के लिए ये तीन बातें सर्वप्रथम आवश्यक बताई हैं। यदि साधक को परमात्मस्वरूप का

१—योगसाधना में चित्त की पांच भूमिकाएँ बताई गई हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

सेवन (स्पर्श या मिलन) करना हो तो उसके लिए प्राथमिक योग्यता के रूप मे उसमे भयरहितता, द्वेषरहितता और खेदरहितता होनी आवश्यक है। इन तीनो के विना आत्मा मे परमात्मदेव की सेवा की योग्यता नही आती।

किसान खेत मे वीज वोने से पहले भूमि को साफ व समतल करता है, उसमे काटे, ककड, झाडझखाड आदि हो तो उन्हे उखाड फेंकता है, जमीन ऊवडखावड हो तो उसे फोड कर दताली से सम बनाता है। इसी प्रकार आत्म-रूपी भूमि मे सेवारूपी वीज वोने से पहले आत्मभूमि मे रहे हुए भय, द्वेष, खेद आदि काटे-ककडो को साफ करके आत्मभूमि को समताभाव से समतल वनाना आवश्यक है। तभी परमात्मसेवा का यथार्थ फल मिल सकता है। भय, द्वेष, खेद से ककरीली, कटीली या पथरीली बनी हुई ऊवड-खावड (विषम) मनोभूमि या आत्मभूमि मे यदि परमात्मसेवारूपी वीज वो दिया जायगा तो वीज तो निष्फल होगा ही, परिश्रम भी व्यर्थ जायगा। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए तत्पर साधक को पहली भूमिका के रूप मे ये तीन वातें अपनानी जरूरी है। आगे की भूमिका के लिए तो इससे भी वढकर उच्च योग्यता की अपेक्षा है, यह वात भी 'पहली' शब्द से ध्वनित होती है।

अव आगे की गाथा मे श्रीआनन्दघनजी स्वय इन तीनो के अर्थ वताते है—

'भय' चंचलता (हो) जे परिणामनी रे, 'द्वेष' अरोचकभाव।
'खेद' प्रवृत्ति हो करतां थाकिए रे, दोष अवोध=लखाव ॥सभव० २॥

अर्थ

परिणामो (मनोभावो) अथवा विचारो की चचलता (अस्थिरता) ही भय है, परमात्मसेवा के प्रति अरुचि, अथवा मन के प्रतिकूल पदार्थ के प्रति या मुक्ति, मुक्तिमार्ग या मुक्तिमार्ग के आराधक के प्रति घृणा=अप्रीति द्वेष है, इसी प्रकार परमात्मसेवा की या सयमादि धर्म की प्रवृत्ति=क्रिया करते हुए ऊव जाना, घवरा जाना, थक जाना या रुक जाना खेद है। परमात्मसेवा मे वाधक ये तीनो दोष अवोध (नासमझी, अज्ञान या मिथ्यात्व) की निशानी हैं।

भाष्य

परमात्मसेवा मे प्रथम विघ्न : भय

परमात्मसेवा अन्ततोगत्वा शुद्ध आत्मसेवा मे फलित होती है। अत-

साधक के मन के किसी भी कोने में यदि नरकादि का भय छाया रहता है, या नरकादिभय-निवारण की दृष्टि से ही वह परमात्मसेवा का पुरुषार्थ करता है, अथवा परमात्मसेवा का लक्ष्य नरकादि भय या इहलोक के किसी भय के निवारण का है, अथवा किसी अपयश, अकस्मात् दुर्घटना, सुरक्षा, या प्राण अथवा आजीविका चले जाने के डर से परमात्मसेवा की जाती है या अन्य किसी स्वार्थ में आग पड़ जाने के डर से की जाती है तो वह भय-प्रेरित होने के कारण दोषयुक्त है। क्योंकि भय का अर्थ परिणामों में चंचलता आ जाना है। जब मनुष्य के मन में भय की आग लगती है तो वह चंचलता की लपटें उछालता है और मन शुद्धात्मभावरमणतारूप परमात्मसेवा से हट कर अमुक भय के चिन्तन में चला जाता है, चित्त एकाग्र न रह कर डांवाडोल हो जाता है। कई दफा मनुष्य परिवार, समाज, जाति, कौम, सम्प्रदाय राष्ट्र या किसी तथाकथित महान् व्यक्ति के डर से परमात्मसेवा में लगता है अथवा इनके दबाव से या निन्दा के डर से शुद्ध परमात्मसेवा के मार्ग को छोड़ बैठता है। वास्तव में ये सब, परमात्मसेवा से भ्रष्ट करने वाले तथा मनोयोग को चचल बनाने वाले होने से विघ्नकारक हैं। शास्त्रों में भय के मुख्यतया ७ कारण बताये हैं—इहलोकभय, परलोकभय, आदान (छीन लेने का) अथवा अत्राण (असुरक्षा का) भय, अकस्मात् (दुर्घटना हो जाने का) भय, आजीविका का भय, अपयशभय और मरणभय। साधक में इन ७ भयों में से कोई भी भय होगा तो वह रजोगुणी बन जाएगा, अस्थिर हो जाएगा उसकी आत्मा शुद्धात्मभावरमणतारूपी परमात्मसेवा से विमुख हो जाएगी। भयभीत प्राणी कोई भी सत्कार्य साहसपूर्वक नहीं कर सकता, वह सत्कार्य करने में दूसरों से दबता है, सच्ची बात नहीं कह सकता, उसका जीवन सदा भयाक्रान्त बना रहता है, ऐसी स्थिति में परमात्मसेवा के बारे में भी उसकी समझ स्पष्ट नहीं होती, उसका ज्ञान-दर्शन सम्यक् नहीं होता।

परमात्मसेवा में द्वितीय विघ्न : द्वेष

परमात्मा की सेवा का तात्पर्य शुद्ध आत्मा की सेवा है। जब आत्म-भाव से भिन्न भावों—शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति रुचि, प्रीति और उसका उत्कटरूप मोह या लालसा होती है और जब अनात्मभावों के प्रति रुचि प्रबल होती है तो आत्मभावों की सेवा (परमात्मसेवा) के प्रति

अरुचि या घृणा हो जाती है। मतलब यह है कि जब आत्मभाव-रमणता के प्रति अरुचि होती है तो साधक के जीवन मे शरीर से सम्बन्धित पदार्थो—धन, मकान, जमीन जायदाद, सन्तान, जाति अथवा सम्प्रदाय आदि के प्रति आकर्षण, राग या मोह बढ जाता है। क्योकि यह स्वाभाविक है कि जब एक पदार्थ के प्रति राग या मोह होगा तो दूसरे पदार्थ के प्रति अरुचि या घृणा होगी। वही वास्तव मे द्वेष है। शुद्धात्मभाव के प्रति या आध्यात्मिक प्रगति के प्रति ऐसा अरोचकभाव परमात्मसेवा मे बाधक है।

दूसरी दृष्टि से सोचें तो शुद्धात्मभाव की दृष्टि से स्वरूप मे रमण करने वाला साधक जब किसी जाति, धर्मसम्प्रदाय, वेष, रग, वर्ण, प्रान्त, या राष्ट्र के व्यक्ति या प्राणी के इन बाह्यरूपो—परभावो को देख कर अरुचि या घृणा प्रगट करता है, उसके प्रति अप्रीति पैदा होती है, तब वह उसके अन्दर विराजमान शुद्धात्मतत्त्व को नही देखता, किन्तु उसके बाह्य (शारीरिक) रूप, वेषभूषा व रहनसहन को ही देख कर उससे घृणा या अरुचि करने लगता है, यह भी परमात्मसेवा मे विघ्न है।

अथवा दूसरी दृष्टि से कहे तो शुद्धात्मदशा मे रमणता यानी परमात्मसेवा करने वाले साधक को जीवन मे शरीर और मन के प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति या प्रतिकूल (अनिष्ट) वस्तु या व्यक्ति के प्राप्त होने पर यानी निश्चयनय की भाषा मे कहे तो प्रतिकूल परभावो का सयोग उपस्थित होने पर अरुचि, अप्रीति या घृणा होना भी परमात्मसेवा मे बाधक है।

अथवा यो भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति परमात्मसेवा (शुद्ध आत्मसेवा) के लिए तत्पर है, उसको अगर सर्वकर्मक्षयकारी मुक्ति के प्रति या मुक्तिमार्ग के प्रति अरुचि है, जो भवाभिनन्दी साधक इन्द्रियों के भोग-विलास, नाचगान, खानपान आदि मे मस्त हैं, और यह सोचता है कि मुक्ति में तो ये सब चीजें हैं नही, अत उस रूखीसूखी मुक्ति से क्या लाभ? इस तरह जो व्यक्ति मुक्ति या मुक्तिपथ का नाम सुनते ही मुँह मचकोड कर उसके प्रति घृणा और अप्रीति प्रगट करता है, तो उसका यह अरोचकभाव भी द्वेष है, जो परमात्मसेवा मे बाधक है।

परमात्मसेवा मे तीसरा विघ्न : खेद

आत्मा की शुद्धदशा मे रमण करने की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करते

समय थक जाना, रुक जाना, ऊब जाना, झुंझलाहट पैदा होना खेद है, और वह भी परमात्मसेवा में विघ्न है।

बहुत-सी बार हम देखते हैं कि साधक परमात्मसेवा की साधना करता-करता ऊब जाता है और कह उठता है—अब कहाँ तक इस प्रवृत्ति को करूँ! इतने वर्ष तो करते-करते हो गये! तब या तो वह शुद्धात्मभावरमणता की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बेगार समझ कर जैसे-तैसे बिना मन से करता है, अथवा झुंझला कर उसे बिलकुल छोड़ देता है। अथवा किसी आत्मसाधक को वर्षों तक परमात्मसेवा की साधना करते हो जाते हैं और उसे अपने अनुकूल अभीष्ट फल नहीं नजर आता अथवा प्रतिकूल फल नजर आता है, या उसकी उक्त साधना के साथ संजोयी हुई लौकिक फलाकांक्षा पूर्ण नहीं होती, तब या तो वह उस साधना के प्रति अश्रद्धा प्रगट करता है, या उसे कोस कर वहीं स्थगित कर देता है। अथवा आत्मसाधना या मोक्षसाधना की प्रवृत्ति करते-करते फल के लिए उतावला हो कर फल के शीघ्र दृष्टिगोचर न होने पर शंकाशील हो कर बिना किसी प्रकार का समाधान अथवा आत्मनिरीक्षण-अवलोकन या अपनी भूल का पर्यालोचन-परिमार्जन किये बिना सहसा उक्त प्रवृत्ति करने से रुक जाता है। ये सब खेद के ही प्रकार हैं जो परमात्मसेवा के मार्ग में बहुत बड़े विघ्न हैं।

ये तीनों दोष अबोध के परिचायक हैं

परमात्मसेवा के मार्ग में बाधक या विघ्नकारक, भय, द्वेष और खेद नामक ये त्रिदोष वात-पित्त-कफ नामक त्रिदोष के समान साधक के अबोध के चिह्न हैं। ये तीनों दोष आत्मसाधक में हों तो समझना चाहिए कि उसमें परमात्मसेवा के बारे में नासमझी है, अज्ञान है अथवा अल्पज्ञान है। उसे पता ही नहीं कि ये तीनों दोष मिल कर उसकी परमात्मसेवा-साधना की जड़ कैसे काट रहे हैं। परमात्मसेवा के साधक को अपनी साधना के दौरान जहाँ परिणामों में किसी भी प्रकार की चंचलता (अस्थिरता) दिखाई दे, अथवा स्वभावरमणरूप परमात्मसेवा या मुक्तिमार्ग की प्रवृत्ति करते समय किसी व्यक्ति, परिस्थिति, शरीर या शरीर से सम्बद्ध वस्तु या प्राणी के प्रति अरुचि या घृणा पैदा होने लगे, अथवा आत्मसाधना-रूप परमात्मसेवा (मुक्तिमार्ग)

की प्रवृत्ति करते समय थकान, अधीरता या झुंझलाहट होती प्रतीत हो तो समझ लेना चाहिए कि यह मेरी किसी नादानी का परिणाम है। मुझे इनसे बच कर तुरंत किनाराकसी करनी चाहिए ; अन्यथा मेरी परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका परिपक्व नहीं होगी , कच्ची रह जाएगी ।

इन तीनो दोषो से रहित हो कर परमात्मसेवा की भूमिका तैयार करें

निष्कर्ष यह निकला कि किसी के लिहाज, दवाव, या किसी प्रकार की भीति के शिकंजे में न आ कर निर्भयता से—अभय बन कर सेवासाधना करे, साथ ही सभी प्राणियों—खासकर मानवों में निहित प्रतिकूल वेष, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, रंग, प्रान्त आदि के प्रति, या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा वस्तु के प्राप्त होने पर उनके प्रति घृणा, अरुचि या अप्रीति छोड़ कर प्राणियों में निहित शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रति रुचि या प्रीति करे, अनिष्ट वस्तु या स्थिति के प्राप्त होने पर शुद्ध आत्मभाव की ओर अपनी लीनता-तन्मयता रखे। इसी प्रकार परमात्म-सेवासाधना की किसी भी प्रवृत्ति को रुचिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, धैर्य के साथ विना, थके विना, ऊबे फलाकांक्षा पूरी न होने पर भी उत्साहपूर्वक सतत करता रहे।

परमात्मसेवा के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद इन तीनों को साधक अपना ले, यही श्रीआनन्दघनजी का आशय है।

भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा के वास्तविक अवान्तर फल

पूर्वगाथाद्वय में परमात्मसेवा का स्वरूप, रहस्य और उसके लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में भय, द्वेष और खेद इन तीनों दोषों का त्याग बताया, परन्तु साधक के अन्तर में सहज ही प्रश्न होता है कि आखिर परमात्मसेवा की पूर्वोक्त भूमिका और स्थिति कब और कैसे तैयार होती है ? उसे उक्त साधना के दौरान क्या क्या यथार्थ लाभ कर्मक्षय या क्षयोपशम की दृष्टि से मिलते हैं ? इसी जिज्ञासा को शान्त करने हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति-परिपाक।
दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचन-वाक् ॥सम्भव०॥३॥

अर्थ

जब चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त चल रहा हो, यानी भवभ्रमण का अन्तिम चक्र हो, तथा उसमे भी चरमकरण (तीनों करणों मे से अन्तिम करण) हो और जब भवपरिणति (जन्ममरण की स्थिति=परम्परा) का परिपाक=अन्तिम सिरा आ पहुँचा हो, तब कर्ममलरूप दोषों का निवारण हो जाता है, तथा उसकी दृष्टि सम्यक् हो कर खुल जाती है, आत्मसम्मुख होती जाती है और उसे वीतराग-प्रवचन की वाणी का लाभ प्राप्त होता है।

भाष्य

पूर्वोक्त गाथाद्वय मे बताये हुए भय, द्वेष और खेद इन तीनों दोषों के चले जाने पर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होती है, और तब साधक की दृष्टि में से भवाभिनन्दिता (संसार मे जन्म-मरण के चक्र मे डालने वाली बातों मे रुचि=प्रसन्नता) मिट जाती है और उसमे मोक्षाभिनन्दिता उत्पन्न हो जाती है। यानी साधक का मुख संसार की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाता है।

पहली उपलब्धि : चरमपुद्गलपरावर्त

कर्मक्षयरूप मुक्ति की दशा मे साधक अपारजन्ममरणरूप संसारसागर मे मिथ्यात्वाश्रित अनन्तदुःखरूप अनन्त पुद्गलपरावर्तों का अनुभव करता हुआ सागर के किनारे लगने की तरह पुद्गलपरावर्त के किनारे लग जाता है। अर्थात् उनका पुद्गलपरावर्त—जन्ममरण का चक्र अन्तिम रह जाता है। परमात्मसेवा के लाभ के रूप मे साधक की संसारयात्रा कितनी कम हो जाती है! मोक्ष की दौड मे वह कितना सफल हो जाता है! चरमपुद्गलपरावर्त कोई कम उपलब्धि नही है। पुद्गलपरावर्त जैन पारिभाषिक शब्द है। द्रव्य से सामान्यतया सर्वपुद्गलो का जिसमे ग्रहण और त्याग हो, वह पुद्गलपरावर्त कहलाता है। चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त यानी पर्यन्तवर्ती पुद्गलावर्त—द्रव्यत. सामान्यतया सभी पुद्गलो के ग्रहण और त्यागरूप से प्रवृत्त होने पर होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चौदह रज्जूप्रमाण लोक मे औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन इन सातों की वर्गणाओ के रूप मे सभी पुद्गल भरे हुए हैं। उनका परिणमन करना अर्थात् उक्त प्रत्येक वर्गणा के रूप मे प्रत्येक पुद्गल का परिणमन किया जाय, तब द्रव्य से बादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी तरह एक-एक पुद्गलपरमाणु

को पहले औदारिक वर्गणा के रूप मे भोगे, तत्पश्चात् क्रमश वैक्रियादि छहो वर्गणाओ के रूप मे दूसरी वर्गणा के व्यवधानरहित भोगे, इस प्रकार क्रमश सातो वर्गणाओ के रूप मे सर्वपुद्गल भोगे जाय, तव द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल-परावर्त होता है। इसमे एक परमाणु औदारिकवर्गणा के रूप मे भोगने पर यदि वीच मे वैक्रियादिवर्गणा के रूप मे उसे चाहे जितनी वार भोगा जाय, वह सूक्ष्म पु० प० मे नही माना जाता। लोकाकाश के असख्य प्रदेश है। प्रत्येक प्रदेश का मरण से स्पर्शन किया जाय, तव क्षेत्र से वादर पुद्गलपरावर्त होता है, इसी तरह लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश का क्रमश एक के वाद एक मरण से स्पर्शन किया जाय, तव क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त मे एक प्रदेश मे मरण होने के वाद उसके अनन्तर (उसमे विलकुल सलग्न) प्रदेश मे मरण हो, वही माना जाता है, वीच के काल मे अन्य प्रदेशो मे चाहे जितने मरण हो, वे नही गिने जाते। कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनो के सभी समयो का व्युत्क्रम से (आगे-पीछे) मरण मे स्पर्शन करे, तव काल मे वादर पुद्गलपरावर्त होता है, तथा इसी प्रकार कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरो के समय का मरण मे क्रमश स्पर्शन हो, तव कालसे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। उदाहरणार्थ—इससे पीछे की उत्सर्पिणी के प्रथम समय मे मृत्यु होने पर उसके वाद की दूसरी किसी भी उत्सर्पिणी मे दूसरे समय मे मृत्यु हो, वही काल मे सूक्ष्म पु० प० माना जाता है। वाकी के वीच के मरणसमय की गणना इसमे नही की जाती। कषाय से अध्यवसाय पैदा होते हैं, और उनसे कर्मवन्ध होते हैं। चूंकि कषायजनित अध्यवसाय तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि होने से कर्मवन्ध मे वहुत तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होता है। कषाय-जनित अध्यवसायो की तीव्रतामन्दता के असख्य स्थान (डिग्रियाँ) होते हैं, इसीलिए अनुवन्ध-स्थान भी असख्य है। चूंकि वासना अनेक प्रकार की होती है, अत अनुवधस्थान भी असख्य (उतने ही) प्रकार के होते हैं। इन सभी अनुवध-स्थानको को पहले-पीछे मृत्यु द्वारा स्पर्श करके पूर्ण करे, तव भाव से वादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी प्रकार पहले अल्पकषायोदय के अध्यवसाय से मृत्यु पा कर, तत्पश्चात् उसके अनन्तर रहे हुए (लगते) अध्यवसाय-स्थान मे मरण प्राप्त करके क्रमश सर्व अध्यवसायस्थानो का उक्त मरण से स्पर्श

करे, तब भाव से सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त होता है। यदि बीच में दूसरे अध्यवसाय स्थानों का मरण में स्पर्श करे तो उसे सूक्ष्म पु० प० नहीं माना जाता।

प्राणी ने ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये हैं। इस प्रकार के अनन्त अगणित पुद्गलपरावर्तनों के प्रवाह में यह अब तक भटके माना जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो पुद्गलपरावर्तन ऊपर बताए हैं, वे तो बादर (स्थूल) परावर्तन बताए हैं, सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन तो अनन्त बार किये होंगे। तात्पर्य यह है सूक्ष्म पुद्गल-परावर्तन का विचार करें तो दस कोटा-कोटी सागरोपमकाल की एक उत्सर्पिणी होती है, उसके प्रथम समय में मरण हो, उसके बाद दूसरी उत्सर्पिणी के ठीक दूसरे समय में मरण हो, वही गिना जाता है। बीच में व्युत्क्रम से जितनी बार मरण हुए, वे व्यर्थ गए। वे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त की गणना में नहीं आते। इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्त हो चुकने के बाद जब संसार में भटकते-भटकते प्राणी का अन्तिम पुद्गलपरावर्त आए, तब उसे ओघदृष्टि हट कर योगदृष्टि प्राप्त होने लगती है। परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका (योग्यता) हो जाने पर साधक को इस 'चरमपुद्गलावर्त' का लाभ मिलता है। यह भी एक प्रकार की 'काललब्धि' है।

दूसरी उपलब्धि चरमकरण

इस संसार में उपर्युक्त कथनानुसार अनन्त पुद्गलपरावर्तनकाल तक प्राणी अबोधदशा में भटकता रहता है। वह रागद्वेष में गाढ़ रक्त, संसाररसिक हो कर अनेक प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म यातनाएँ सहता है। एक गड्ढे में से निकल कर दूसरे में गिरता है। कई दफा देवगति में जन्म ले कर स्थूल सुखों का अनुभव करता है, तथा अनेक बार नरकगति में पैदा हो कर महायातनाएँ सहता है। कई बार तो एक बार आँख मूँद कर खोले, उतने समय में १३-१६ बार जन्ममरण होता है। परन्तु जहाँ तक सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, वहाँ तक पौद्गलिक पदार्थों—परभावों में ही वह आनन्द मानता है, परभावों में रमण का वह आदी हो जाता है। परन्तु जब किसी जिज्ञासु को यथार्थ मार्ग पर आना होता है तो उसकी ओघदृष्टि नष्ट हो कर योगदृष्टि खुल जाती है। वह चरम पुद्गलपरावर्त तक आ पहुँचता है।

और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले वह धर्ममार्गानुसारी सुनीति, उचित नियत्रण और उचित व्यवहारमार्ग पर चल कर गुणप्राप्ति मे धीरे धीरे प्रगति करता है और व्यवहारकुशल वनता है। जैनदर्शन मे सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले उक्त मार्गानुसारी व्यक्ति को तीन करण प्राप्त होने का विधान है। करण का अर्थ यहाँ एक विशेप परिणाम या अध्यवसाय है। वे तीन करण ये हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। ये तीनो करण सम्यक्त्व-प्राप्ति मे कारणभूत हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण मे प्राणी की पूर्वकाल मे जैसी प्रवृत्ति थी, वैसी ही वनी रहती है, उसमे जरा भी परिवर्तन नही होता। कई लोग इसे अध-प्रवृत्तिकरण भी कहते है। जिस प्रकार पहाडी नदी का पत्थर नदी मे वारवार इधर-उधर लुढकते-टकराते गोल, चमकदार व चिकना वन जाता है, इसी प्रकार जीव भी ससारसागर मे अनेक दु ख सहते-सहते कोमल और शुद्ध परिणामी वन जाता है। उसका परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि उसके वल पर उसके आयुष्यकर्म के सिवाय वाकी के ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मो की (मिला कर) उत्कृष्ट स्थिति [1] घटते-घटते पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून (जरा-सी कम) एक कोटाकोटी सागरोपमकाल की रह जाती है। इसी परिणाम को शास्त्र मे यथाप्रवृत्तिकरण कहा है। यथाप्रवृत्तिकरण से जीव रागद्वेप की एक मजवूत, कर्कश, गूढ वाँस के समान दुर्भेद्य दृढ ग्रन्थी (गाठ) तक आता है, इसी को ग्रन्थीदेश की प्राप्ति कहते हैं। यो तो यथाप्रवृत्तिकरण से अभव्यजीव भी इस ग्रन्थीदेश की प्राप्ति अनन्तवार कर सकते हैं, यानी कर्मो की वहुत वडी स्थिति घटा कर अन्त कोटाकोटी सागरोपमप्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेप की इस दुर्भेद्य निविड ग्रन्थी को तोड नही सकते। अत इस ग्रन्थी का भेदन किये विना ही प्राणी वापस पूर्वप्रवृत्ति मे

---

१ कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति ६० कोटाकोटी सागरोपम की है, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की है, नाम-गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटी सागरोपम की है, आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है।

लौट जाय तो यथाप्रवृत्तिकरण का कोई अर्थ नहीं रहता। ऐसा निरर्थक यथाप्रवृत्तिकरण तो प्राणी ने अनेक बार किया है। किन्तु ऐसे अनन्त यथा-प्रवृत्तिकरण किया हुआ भव्यजीव अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद वापस नहीं लौटता, ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसके परिणामों में यथाप्रवृत्तिकरण में भी अधिकाधिक निर्मलता (शुद्धता) होती जाती है, और एक दिन वह उस विशुद्धतर परिणाम के द्वारा रागद्वेष की दुर्गम और कठोर ग्रन्थी को—अर्थात् रागद्वेष के अनिष्टसंस्कारों को छिन्न-भिन्न कर सकता है।

अपूर्वकरण—भव्यजीव पूर्वोक्त जिस परिणाम से रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थी को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में अपूर्वकरण कहा है। अपूर्वकरण नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बारबार नहीं होता। इस कारण से तथा प्राणी ने अपनी संसारयात्रा में इससे पहले कभी इस प्रकार का ग्रन्थीभेद नहीं किया होने से तथा रागद्वेष की पक्की गांठ को तोड़ डालने का यह पहला ही अवसर होने के कारण आत्मशक्ति के इस अभूतपूर्व उज्ज्वल और साहसिक कार्य को 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। इस प्रकार घनग्रन्थी के टूटने से चेतन रागद्वेष पर कुठार की तरह तीव्रपरिणामरूपी धारा से प्रहार करके उक्त ग्रन्थी को शिथिल कर देता है और अपनी अपूर्व आत्मशक्ति के चमत्कार को आगे बढ़ाता है, अपनी प्रगति के नये आयाम और नूतन द्वार खोलता है। परन्तु अपूर्वकरण वही कर सकता है, जिसने यथाप्रवृत्तिकरण किया हो। मगर यथाप्रवृत्तिकरण वाला अपूर्वकरण करे ही, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। पर अपूर्वकरण करने के लिए पहले यथाप्रवृत्तिकरण करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से यथाप्रवृत्तिकरण की अपूर्वकरण के पूर्वकारण के रूप में बहुत ही उपयोगिता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि अपूर्वकरण में निबिड रागद्वेष की गांठ टूटने से रागद्वेष का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, रागद्वेष की जो पक्की गांठ थी, वह खुल जाती है, उसकी पकड़ ढीली हो जाती है और उसका सर्वथा नाश करने का मार्ग खुल जाता है।

अनिवृत्तिकरण=चरमकरण=अन्तरकरण—अपूर्व (करण) वीर्योल्लास के परिणाम से प्राणी ग्रन्थिभेद करने के बाद अन्तर्मुहूर्तकाल में अनिवृत्ति

करण मे आ जाता है। अपूर्वकरण करते समय प्राणी के परिणामो मे जो निर्मलता (कर्मक्षय के कारण) हुई थी, उसकी अपेक्षा अनिवृत्तिकरण मे और भी अधिक निर्मलता होती है। इसे अनिवृत्तिकरण या चरमकरण इसलिए कहा जाता है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना वह निवृत्त नही होता, वापिस नही लौटता। इन तीनो करणो का क्रम इस प्रकार है—जब तक पूर्वोक्त ग्रन्थी-देश है, तब तक प्रथमकरण है, ग्रन्थीभेद हो जाने पर द्वितीय करण हो जाता है, और जब जीव सम्यक्त्व को आसन्न (निकट) कर लेता है, या पुरस्कृत (सामने) कर लेता है, तब अनिवृत्तिकरण होता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, उस स्थिति मे से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते है और सिर्फ एक भाग शेष रह जाता है, तब अन्तरकरण की क्रिया शुरू होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही होती है। चूंकि अन्तर्मुहूर्त के असख्यात भेद है। अन्तरकरण करने पर उस मिथ्यात्वकर्म के एकत्रित कर्मदलो की दो स्थितिया हो जाती है। अन्तरकरण से अधस्तनी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त रहती है, उतने काल मे जितने भोगे जा सके, उतने उसके कर्मदल होते है। और दूसरी स्थिति इसी अन्तरकरण से शेष उपरितनी होती है। प्रथम स्थिति मे जीव अन्तिम अन्तर्मुहूर्तकाल मे मिथ्यात्व-कर्मदलिको को भोग लेता है, तब तक वह इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहता है। परन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रथम स्थिति, के हटते ही अन्तरकरण की द्वितीय स्थिति के प्रथम समय मे ही औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। क्योकि उस समय मे मिथ्यात्वमोहनीय कर्मदलिको का विपाक और (प्रदेशोदय=वेदन) नही रहता। परन्तु यह औप-शमिक सम्यक्त्व उतने काल (अन्तर्मुहूर्त) तक ही रहता है, जितने काल तक के उदययोग्य दलिक आगे-पीछे कर लिये जाते हैं। इसके प्राप्त होते ही जीव को पदार्थो की स्पष्ट या असदिग्ध प्रतीति होती है। जैसे वन मे लगी हुई दावाग्नि पहले जले हुए इन्धन या ऊषरप्रदेश को पा कर दब जाती है, वैसे ही मिथ्यात्ववेदनरूप दावानल भी अन्तरकरण को पा कर दब जाता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरण मे प्राणी दो कार्य करता है—मिथ्यात्वस्थिति के दो

विभाग करके अन्तरकरण करता है। [1]अन्तर्मुहूर्तकाल तक का मिथ्यात्व-कर्मदलिक वाला छोटा पुंज जो उदय में आता है, उसका क्षय कर देता है, और इसके अनन्तर क्षण में ही बाकी के जो कर्मदलिक उदयाभिमुख न हुए हों उस पुंज को उपशान्त कर देता है, जिससे उसे [2] उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनिवृत्तिकरण को ही चरमकरण समझना चाहिए।

मिथ्यात्वकर्मदलिकों का इस प्रकार अन्तर करना (भेद डालना) ही अन्तरकरण कहलाता है। मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिकों में जिस समय इस प्रकार का अन्तर (भेद) किया जाता है, उस समय प्राणी को जो आनन्द आता है, उसकी तुलना ग्रीष्मऋतु में रेगिस्तान में दोपहर को चलती हुई लू और कड़ी धूप में व्याकुल प्राणी के शरीर पर बावना चन्दन छिड़कने में अथवा रेगिस्तान में किसी हरे-भरे जमीन के टुकड़े को पा कर जो आनन्द और सुखशान्ति प्राप्त होती है या जो अपूर्व आनन्दमयी परिस्थिति बन जाती है, उससे की गई है। ठीक उसी प्रकार का आनन्द अनिवृत्तिकरण के अन्त में और अन्तरकरण के प्रथम समय में प्राणी को होता है। उस समय उसके गाढ मिथ्यात्वतिमिर की तीव्रता कम हो जाती है, कठोर अनन्तानुबन्धी कषाय हट जाता है, मिथ्यात्व ने उस व्यक्ति को जो परिताप दिया था, वह भी मिट जाता है। जिस मिथ्यात्व के जोर से प्राणी संसार में भटकता था, अनादिकाल से उसके जाल में फसा हुआ था, उसकी समाप्ति होती देख कर उसे बहुत आनन्द का अनुभव होता है, फिर उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती जाती है। सचमुच अनिवृत्तिकरण मुमुक्षु के लिए वरदानरूप है, सम्यग्दर्शन का द्वार खोलने वाला है।

परन्तु यह आनन्दानुभूति, यह अद्भुत उपलब्धि उसी को होती है, जो रागद्वेष की पक्की वज्रमयी गाठ को तोड कर आगे बढ जाता है। जो रागद्वेष की गाठ या चट्टान को देख कर घबरा कर वापिस लौट जाता है या वहीं

---

१ अन्तर्मुहूर्त काल का मतलब है—४८ मिनट से जरा-सा कम काल।

२ जिसका तत्काल उदय न हो तथा सर्वथा नाश भी न हो, जो अन्दर दबा हुआ पड़ा रहे, उसे उपशमन या उपशम कहते हैं।

ठिठक जाता है, वह इस आनन्दानुभूति या उपलब्धि को प्राप्त नही कर सकता।

इस सम्बन्ध मे तीन चीटियो का उदाहरण दिया जाता है—कुछ चीटियाँ ऐसी होती है, जो चलते-चलते कील, चट्टान या दीवार जैसी कोई रुकावट आ जाय तो घबरा कर वही से वापस लौट जाती है। कुछ ऐसी होती हैं, जो साहस करके रुकावट डालने वाली कील, चट्टान या दीवार पर चढ तो जाती हैं, किन्तु वही ठिठक जाती है, आगे नही बढ पाती। किन्तु तीसरे प्रकार की कुछ चीटियाँ ऐसी भी होती हैं, जो कील आदि को छोड कर आगे बढ जाती हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति दर्शनमोहनीयकर्म के भारी-भरकम पुंज को देखते ही घबरा कर वापस लौट जाते हैं, वे यथाप्रवृत्तिकरणी की कोटि मे आते हैं। जो उस दर्शनमोहनीयकर्मपुंज से साहस करके भिड जाते है, उसमे निहित रागद्वेष की ठोस और कठोर गाठ को तोड डालते है, वे अपूर्व-करणी की कोटि मे आते हैं, परन्तु रागद्वेष की निविडग्रथी का भेदन करके वहाँ से जो आगे बढते है, वे अनिवृत्तिकरण के अधिकारी बनते है। अर्धपुद्गल-परावर्तकाल तक ससार मे स्थिति बाकी रहती है, तब जीव अपूर्वकरण करता है। जबकि चरमकरण मे चरमपुद्गलपरावर्त काल तक का ससार-भ्रमण रहता है। इसमे मोक्षयात्रा की ओर जीव की दौड शुरू हो जाती है।

तीसरी उपलब्धि : भवपरिणतिपरिपाक

साधक को परमात्मसेवा की प्रथमभूमिका प्राप्त होने के बाद जब चरम-पुद्गलपरावर्त और चरमकरण की उपलब्धि हो जाती है तो यह स्वाभाविक है कि उसकी परिणति यानी रुचि या आदत परभावो मे रमण के कारण ससार मे-जन्ममरणरूप परिभ्रमण मे, या परभावो—पौदगलिक पदार्थों को अपने मान कर उनमे आसक्त होने, व आनन्द मानने आदि भव यानी सासारिक बातो की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाय। क्योकि आत्मा का मूल स्वभाव तो अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है। रागद्वेष की परिणति (भवपरिणति) के कारण उसका मूल स्वभाव, दब गया है या वह अपने असली स्वभाव मे भटक गया है। परभावरमणता या परपरिणति मे दिलचस्पी जीव की ससार-यात्रा का दिग्दर्शन है, मगर जब उसे परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त

हो जाती है तो वह अपने स्व-स्वभाव में रमणता की ओर सम्मुख हो जाता है, उस समय उसकी संसारपरिणति (रुचि, स्वभाव या आदत) का अन्त आ जाता है, उसका किनारा आ जाता है। सांसारिक वस्तुओं से दिलचस्पी लेने की उसकी सीमा आ जाती है। क्योंकि अब उसकी मुक्तियात्रा शुरू हो चुकी है, इसलिए उसकी संसारयात्रा (भवस्थिति) की परिणति पक कर जीर्ण-शीर्ण हो चुकती है। मतलब यह है कि ऐसे साधक को इस प्रकार की भवपरिणति का किनारा दिखाई देने लगता है, तब संसार के प्रति परिणति का अन्त तो आ जाता है, मगर अभी तक संसार का सर्वथा अन्त नहीं आया, उसके अन्त के लिए तो जब वह सम्यग्दर्शन पाने के बाद 'स्वभावरमण' में सतत पुरुषार्थ करता है; तभी आता है।

चौथी उपलब्धि : दोष-निवारण

यहाँ पंच-कारणसमवायों का योग किस प्रकार होता है, यह भी विचारणीय है। पहला चरमावर्त (अन्तिम पुद्गलपरावर्त) काल नामक कारण का द्योतक है, दूसरा अनिवृत्तिकरण पुरुषार्थ नामक कारण का सूचक है, और तीसरा भवपरिणतिपरिपाक स्वभाव भवितव्यता और कर्म नामक कारणों का द्योतक है। अतः पाँचों कारणों के समवाय के होने पर उक्त तीनों उपलब्धियों के माध्यम से उपशमसम्यक्त्व तक साधक पहुँच जाता है। यहाँ तक जब साधक पहुँच जाता है तो संसार-सम्मुखता का दोष या मिथ्यात्वदोष हट जाता है, अथवा प्रकारान्तर से कहें तो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप तीव्रतम व कठोरतम कषायदोष मिट जाता है। यह ध्यान रहे कि इस भूमिका में स्थित साधक में अन्य प्रकार के दोषों का सर्वथा नाश नहीं होता, मगर वे दोष दूर हट जाते हैं।

पंचम उपलब्धि : सम्यग्दृष्टि का खुलना

जब उक्त साधक में मिथ्यात्व का दोष दूर हट जाता है, हालांकि उसमें अभी सम्यग्दर्शन (क्षयोपशम) के साथ चल, मल, और अगाढ़ दोष रहते हैं, तथापि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्गत अन्तरकरण करने से उसकी दृष्टि सम्यक् रूप से खुल जाती है, उसे वस्तुतत्व का भलीभाँति यथातथ्यरूप से बोध हो जाता है, वह हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्वों को अच्छी तरह जान जाता है, परभाव

और स्वभाव का भेदविज्ञान उसके हृदय मे भलीभाँति जग जाता है। ओघ-दृष्टि खत्म हो कर उसे योगदृष्टि प्राप्त हो जाती है, अपने स्वस्वरूपरूप का उसे ज्ञान हो जाता है। अब तक उसका दृष्टिबिन्दु ससारसम्मुख था, अब वह दिशा बदल कर मोक्षसम्मुख होता जाता है।

जब इस प्रकार साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है, तब अभी तक उसमे रहे हुए दुराग्रह, एकान्त अभिनिवेश आदि दूर होते जाते है, ससार के प्रति उसका राग (मोह या आसक्ति) कम होता जाता है, उसके चित्त मे स्थिरता, शान्ति और नम्रता आती जाती है, उसमे स्वकीय-परकीय भावो का विवेक आ जाता है, उसे अपने हिताहित का बोध हो जाता है, ससार से छुडाने वाला और उसमे भटकाने वाला कौन-कौन है? इसका पृथक्करण करने की उसमे शक्ति आ जाती है। इसी का नाम भली दृष्टि का खुलना है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' मे मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक जिन ८ दृष्टियो का उल्लेख है, यद्यपि उनमे से पूर्व-पूर्व की ४ दृष्टियाँ आत्मा के सम्मुख क्रमश खुलती हुई दृष्टियाँ है, मगर वे चार दृष्टियाँ तो मिथ्यात्वगुणस्थान की भूमिका मे रहती हैं, जबकि यहाँ मिथ्यात्व की भूमिका पार करके साधक चरमकरण की भूमिका पर आ कर सम्यग्दृष्टि का द्वार खोल देता है। इसलिए 'भली दृष्टि' से यहाँ प्रसगानुसार सम्यग्दृष्टि अर्थ ही सगत लगता है।

कही-कही 'दृष्टि खुले' का अर्थ मार्गानुसारी की दृष्टि खुल जाती है, किया गया है। परन्तु यह अर्थ भी यहाँ सगत नही जचता। क्योकि मार्गानुसारी की भूमिका सम्यक्त्वप्राप्ति से पहले की भूमिका है, मार्गानुसारी की भूमिका के लिए जो ३५ गुण बताए हैं, वे नैतिक जीवन के हैं। आध्यात्मिक जीवन की भूमिका सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के बाद शुरू होती है। यहाँ सम्यक्त्वप्राप्ति के प्रारम्भ की भूमिका मे तो सम्यक् दृष्टि खुलती ही नही है। मार्गानुसारी की दृष्टि तो उक्त साधक की बहुत पहले ही खुल चुकी होती है। अत 'दृष्टि खुले भली' से सम्यग्दृष्टि का खुलना ही सिद्धान्त-सम्मत अर्थ है।

छठी उपलब्धि : प्रवचनवाणी की प्राप्ति

ऐसे सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक को अनायास ही प्रवचनवाणी की प्राप्ति

हो जाती है। यह बात स्पष्ट है कि प्रवचनवाणी की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति के हृदय में प्रवचन सम्यक्रूप में परिणत न हो कर मिथ्यारूप में ही प्राय परिणत होते हैं। मिथ्यादृष्टि प्रवचनवाणी का श्रवण कर सकता है, कर्णकुहरों में प्रवचनवाणी के शब्द डाल सकता है, किन्तु प्रवचनवाणी की प्राप्ति वह नहीं कर पाता; क्योंकि उसे प्रवचनवाणी हृदयगम नहीं होती, उसकी दृष्टि सम्यक् खुली न होने से वह दिमाग में जचती नहीं, गले उतरती नहीं। इसलिए जो बात गले न उतरे, अनेकान्त के आईने में भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से समझ में न आए, हृदय और बुद्धि को जचे नहीं, उसे उसकी प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि अनिवृत्तिकरण की सम्प्राप्ति से पहले मिथ्यादृष्टि की भूमिका में व्यक्ति को प्रवचनवाणी की प्राप्ति नहीं होती, जबकि उक्त करण की प्राप्ति के साथ ही सम्यग्दृष्टि खुल जाने से व्यक्ति प्रवचनवाणी की प्राप्ति भलीभांति कर लेता है।

प्रवचनवाणी की प्राप्ति का अर्थ है—वीतराग-प्ररूपित सिद्धान्त की वाणी की प्राप्ति अथवा सुविहित जिनागमो की वाणी की उपलब्धि। वास्तव मे महामूल्य सिद्धान्तो के महान् सत्यों को जान लेना, उन्हें व्यवस्थित रूप से यथायोग्य स्थान पर सयोजन करना प्रवचनवाणी की प्राप्ति है।

प्रवचन का अर्थ—जिनदेवप्रणीत सिद्धान्त या वीतराग आप्तपुरुषों द्वारा प्ररूपित प्रवचनरूप द्वादशागी (बारह अगो) होता है। प्रवचन का अर्थ सघ या चतुर्विध तीर्थ-यहाँ सगत नहीं है।

ऐसे उत्तम और वीतराग-विज्ञानपारगत आप्त-प्रवचनो की प्राप्ति बहुत बडी उपलब्धि है, साधक के जीवन मे। ऐसे प्रवचनलाभ से साधक ससार और मोक्ष का स्वरूप, हेय-ज्ञेय-उपादेय का तत्त्व, स्वपरविवेक, आदि भलीभांति जान जाता है। शुद्धात्मभाव मे रमण या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मे प्रयाण को अधिक स्थिर, परिपक्व और निश्चित कर लेता है। उसके हृदय मे ऐसे प्रवचनोक्त वचनो के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि अधिकाधिक बढती जाती है। प्रवचनप्राप्ति से वह शान्त, धीर, निष्पक्ष और समतावान् हो जाता है, साथ ही इससे उसमे सहिष्णुता, रहस्यज्ञता, समझाने की चातुरी, प्रत्येक समस्या को आत्मबुद्धि से सुलझाने की शक्ति, उपकारबुद्धि

जिज्ञासा और नम्रता बढ़ती जाती है और आक्षेपबुद्धि, कदाग्रही वृत्ति, ईर्ष्या प्रत्येक बात को देहबुद्धि से सोचने की स्वार्थवृत्ति घट जाती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त छहों उपलब्धियाँ परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होने पर साधक को हस्तगत हो जाती है।

प्रथम-भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा मे प्रेरकनिमित्त

पूर्वोक्त गाथा मे कर्मक्षय एव मोक्षप्राप्ति अथवा स्वभावरमणता से क्रमश मुक्ति की दिशा मे प्रस्थान से सम्बन्धित ६ फलो का उल्लेख श्रीआनन्दघनजी ने किया। अब उन फलो की प्राप्ति मे प्रेरक निमित्तकारण के सम्बन्ध मे वे अगली गाथा मे कहते हैं—

परिचय पातक-घातक साधुशुं रे, अकुशल-अपचय चेत।
ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे, परिशीलन नय हेत॥
॥ संभव० ॥ ४ ॥

अर्थ

ऐसा होने पर साधक को पापों के नाश करने वाले साधुओ का परिचय होता जाता है। उसके चित्त में अकल्याणकारी अशुभसंकल्पो की कमी होती जाती है और उसे आत्मा के सम्बन्धों मे विचार करने वाले आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवण एव मनन द्वारा नैगम आदि समस्त नयो, हेतुओं या उपादानादि कारणो का अनाग्रहबुद्धिपूर्वक परिशीलन (बार-बार अभ्यास) करने का योग मिलता जाता है।

भाष्य

प्रेरक निमित्तो की प्राप्ति

जब साधक चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोष-निवारण, सम्यग्दृष्टि और प्रवचनवाणी की प्राप्ति, इन उपलब्धियो का अनायास लाभ पा लेता है, तब उसकी आध्यात्मिक प्रगति बढ़ती जाती है, किन्तु सामान्य जनता उसकी आध्यात्मिक प्रगति की परख नही कर पाती। वह ऐसे साधक को धुनी या पागल-सा कह देती है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे सम्यग्दृष्टिप्राप्त साधक की आध्यात्मिकप्रगतिसूचक कुछ बातो का निर्देश किया है, जो प्रेरक निमित्त के रूप मे उसे अनायास ही मिलती जाती है।

जिन पर से उसे आध्यात्मिकविकासपथिक के रूप मे पहिचाना जा सकता है।

प्रथम प्रेरक निमित्त : पापनाशक साधु से परिचय

ऐसा आध्यात्मविकासपथिक अतीव जिज्ञासु व नम्र होता है, वह अपने आंशिक ज्ञान के मद मे आ कर अकड़ नहीं बनता। अतः उसे नये-नये ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अपने आचरण मे आगे बढ़े हुए पापनाशक एव धर्म (स्वभाव) मे लीन स्वपरमुक्तिसाधक साधुओं से परिचय का योग मिल मिल जाता है, उनका सत्संग करके वह अपने स्वरूप के ज्ञान मे, तथा तत्त्वो के अनुभव मे वृद्धि करता जाता है। जो भी, जहाँ भी ऐसा स्वभावरमण-साधक या परमात्मभावलीन स्वपर-कल्याण साधक पुरुष उसे मिल जाते है, उनकी सगति वह अवश्य करता है। वास्तव मे, किसी भी व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड बाह्यवेश या बाह्य क्रियाएँ नहीं होतीं, वह होता है—ज्ञान का भण्डार भरने अथवा निश्चयदृष्टि से कहे तो अपने सुषुप्त ज्ञान को जागृत व प्रगट करने के उद्देश्य से, किसी प्रकार की स्वार्थ भावना या स्पृहा से दूर रह कर अध्यात्मज्ञान के अनुभवी, शुद्धात्मविज्ञान मे पारगत, अशुभकार्यों या अशुभभावो (पापो) को नष्ट करने वाले पुरुष का सत्सग, सम्पर्क या परिचय। किसी व्यक्ति की सोहबत से ही उसके असली जीवन का पता लगाया जा सकता है। 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्' इस नीतिसूत्र के अनुसार एक सरीखी आदत, समान शील, स्वभाव और तुल्य व्यसन वालो की ही परस्पर एक दूसरे के साथ पटरी बैठती है। दीर्घ परिचय, चिरकालस्थायी मैत्री, या स्थायी सगति समान भूमिका वाले लोगो की ही निभती है। उक्त सद्गुणी साधुपुरुष का परिचय (लम्बे अर्से तक सहवास या सम्पर्क-मेलजोल) साधक के आध्यात्मिक विकास का परिचायक होता है। वास्तव मे ऐसे पापवृत्तिनाशक सन्तपुरुष के समागम का योग मिल जाने से उसकी पापवृत्ति स्वत नष्ट हो जाती है, बुद्धि की जडता दूर हो जाती है, वाणी मे सत्यता आ जाती है, ऐसे पुरुषो के सत्सग से साधक अपनी इज्जत मे चार चाँद लगा देता है, जीवन मे उन्नति की राह पा लेता है। चित्त मे आर्तध्यान—रौद्रध्यान या चिन्ताएँ काफूर हो कर प्रसन्नता पैदा होती है, ऐसे व्यक्ति का जीवन सर्वांगीण बनता है। जिसके मन-वचन-

काया मे एकरूपता हो, जो सरलता और निश्छलता, नि स्पृहता और नम्रता की मूर्ति हो, बडे से बडे पापियों के मन मे स्थित पाप जिसके दर्शन से ही दूर भाग जाते हो, वही साधुमना पुरुष है। मतलब यह है कि परमात्म-सेवा की प्रथमभूमिकाप्राप्त साधक को ऐसे महान् साधुपुरुष का सत्सगरूप निमित्त प्राप्त हो ही जाता है। जो आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बढना चाहता है, उसे वैसे निमित्त प्राय मिल ही जाते हैं।

दूसरा निमित्त . चित्तवृत्ति मे अकुशलता का त्याग

आत्मसाधना में प्रगति हो जाने की दूसरी परख यह है कि उक्त साधक की चित्तवृत्ति मे अकल्याणकारी अथवा खराब परिणामो-अध्यवसायो (या सकल्पविकल्पो) का अपचय=क्षय या ह्रास हो जाता है अथवा अकुशल शब्द का अर्थ अशुभकर्म या पापकर्म भी होता है, इसके अनुसार 'चेत' शब्द को छोड कर अर्थसंगति इस प्रकार बिठाई जा सकती है कि उसकी आत्मा मे अशुभ=पापकर्म घट जाते है, कम हो जाते हैं अथवा क्षीण हो जाते हैं।

चित्तवृत्ति या चित्त की परिणाम (अध्यवसाय) धारा अकुशल (अविवेकी या विकृत) कैसे बन जाती है? और उसका ह्रास कैसे हो जाता है? कुशल चित्तवृत्ति कैसी होती है? वह साधक की साधना मे कितनी उपयोगी उपलब्धि है? इस सम्बन्ध मे विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि अकुशल चित्तवृत्ति के कारण स्पर्श, रस, घ्राण, कर्ण और नेत्र, इन पाँचो इन्द्रियों के अनुकूल विषयो को देख कर वह तुरन्त ललचा जाएगा, उनमे आसक्त हो कर उनके भोग में अनुकूल, किन्तु नतीजे मे भयकर दु खदायी विषयो को भोगने के लिए तत्पर हो जाएगा, हितैषी व्यक्तियो के मना करने पर भी वह उनसे विरक्त नही होगा, उसका चित्त उक्त विषयो को पाने के लिए तैयार हो जाएगा, उनके वस्तुस्वरूप का सही मूल्याकन वह नही कर पाएगा। मतलब यह है कि जहाँ तक व्यक्ति का चित्त इस प्रकार का अकुशल रहता है, वहाँ तक उसमे ससार की वासना कम नही होती, शरीर अथवा जडवस्तुओ का और चेतन का परस्पर सम्बन्ध कितना, कैसा और कहाँ तक है? इसका ज्ञान न होने से सिर्फ सुनी-सुनाई बातो से वह थोडा बहुत जानता है, उसे इन्द्रियभोगो मे जीवन की सार्थकता दृष्टिगोचर होती है। जहाँ तक

अकुशलता होती है, वहाँ तक क्रोध मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारों को उनके असली रूप में वह पहिचान नहीं सकता, रागद्वेष के यथार्थ-रूप को न जानने के कारण प्रणय (दाम्पत्यप्रेम) साम्प्रदायिक व जातीय मोह तथा राष्ट्रान्धता आदि को उपादेय मान लेता है, अतत्त्वाभिनिवेश का शिकार बन कर संसार के गाडरिया प्रवाह में वह जाता है, ऐसी स्थिति में आत्माभिमुखता न हो कर संसाराभिमुखता ही अधिक रहती है।

किन्तु जब उक्त अकुशल चित्तवृत्ति का ह्रास हो जाता है, तो उनके मोह, कषाय आदि का ह्रास हो जाता है, वह शरीर, चित्त, इन्द्रियों आदि पर नियन्त्रण कर सकता है, शरीर, चित्त, इन्द्रियों आदि का स्वभावरमण-रूप धर्म में सदुपयोग कर सकता है, वह कर्मक्षय करने में कारणभूत समताभाव को अपना लेता है; वस्तु के यथार्थस्वरूप को जान लेता है, क्रोधादि विकारों या रागद्वेषों के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हो जाने के कारण, उनसे होने वाली भारी हानि को देख कर वह अपने स्वरूप में रमण करने लगता है। उसे आध्यात्मिक विकास में जीवन की सार्थकता प्रतीत होने लगती है। पापकर्म से वह सहसा लिपटता नहीं, बल्कि पापकर्म का ह्रास कर देता है। अकुशल चित्त का ह्रास ऐसा प्रबल निमित्त है, जिसके कारण साधक की स्वत: आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है।

दूसरे अर्थ के अनुसार अकुशल-अपचय यानी, चेतना (आत्मा) में से पापकर्मों या अशुभ कर्मों का ह्रास हो (घट) जाता है। अर्थात् जब तक बुरे या अशुभकर्म रहते हैं, तब तक आत्मा की परभावों में, विशेषत: अशुभ परभावों में रमण करने की वृत्ति बनी रहती है, वह पापकर्म करने में ही जीवन का सच्चा आनन्द मानता है। किन्तु आत्मा में कुशलता प्राप्त होने पर वह पापकर्मों को बहुत ही कम देता है, उसके अशुभकर्मों की जड़ें हिल जाती हैं। उसकी चेतना आत्माभिमुखी हो कर संसाराभिमुखता या स्वार्थान्धता के कारण होने वाले पापकर्मों को क्षीण कर देती है। यही उसकी आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड है।

तीसरा निमित्त : आध्यात्मग्रन्थों का श्रवण, मनन और परिशीलन

वास्तव में व्यक्ति के जीवन में जब आध्यात्मिक विकास होता है,

तव उसकी जिज्ञासा आत्मा के अपने असली गुण—ज्ञान को, जो सोया हुआ है, जगाने की होती है। वह ज्ञानाभिव्यक्ति मे महानिमित्त, ज्ञान के स्रोत आध्यात्मिक ग्रथो को सुनने, उन पर मनन-चिन्तन करने और विविध नयो और हेतुओ या उपादानादि कारणो से उसका परिशीलन करके अधिकाधिक हृदयगम करने की होती है। वह ज्ञान भी उसका वन्ध्य नही होता, वह आचरण के रूप मे उसे क्रियान्वित करके आध्यात्मिक प्रगति के नये-नये द्वार खोलता रहता है।

आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवणमनन-पूर्वक परिशीलन पर से साधक की आध्यात्मिक प्रगति का पता लग जाता है। जिस साधक मे आध्यात्मिक विकास अधिक होगा, उसकी रुचि स्वाभाविकरूप से आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवण और मनन द्वारा उनकी गहराई मे डूब जाने और उन ग्रन्थो मे विहित वातो का अपनी आत्मा के साथ तालमेल विठाने की होगी। वह उन आध्यामिक ग्रन्थो की गहराई मे डुवकी लगा कर ज्ञानरत्नो को खोज कर निकाल लेगा, आत्मा मे सुषुप्त शक्तियोरूपी मुक्ताओ को प्राप्त कर लेगा, आत्मा मे निहित अनन्त ज्ञानादिगुणो की निधि को हस्तगत कर लेगा। आध्यात्मिक ग्रन्थो के परिशीलन (वार-वार के अभ्यास) से उसमे हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक आ जायगा। कर्म, शरीर, आत्मा, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, निर्जरा, वध, मोक्ष, स्वभाव-परभाव, रागद्वेप कपाय आदि परपरिणतियो का आत्मा पर प्रभाव-अप्रभाव, आत्मा का स्वरूप क्या है? वह स्वय अपने कर्मों का कर्ता-हर्ता है या और कोई महासत्ता है? मन, वाणी, इन्द्रिय, काया आदि का आत्मा के साथ क्या सम्वन्ध है? ये आत्मा को कैसे गुलाम वना लेते हैं? इनकी दासता मे कैसे मुक्ति हो सकती है? इत्यादि अनेक वातो के सम्वन्ध मे उसका ज्ञान सिद्धान्त सम्मत, परिपक्व और सम्यक् हो जायगा। जीवन और जगत् की अटपटी गुत्थियो, मानसिक उलझनो, चिन्ताओ, भयो, पूर्वाग्रहो झूठे आग्रहो आदि से उसका मानस मुक्त हो कर शान्ति, समता, सहिष्णुता, निष्पक्षता, धीरता, एकाग्रता आदि से युक्त हो जायगा। निसन्देह आध्यात्मिक ग्रन्थो का स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा से अनुप्राणित हो तो मानवजीवन का कायापलट हो सकता है, अपने खोये हुए

ज्ञान के खजाने को पा कर आत्मा में अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा अपने अभिन्न साथी ज्ञान को पा कर उसमें तन्मय हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान में ओत-प्रोत व्यक्ति खाना-पीना, सोना, तथा अन्य शारीरिक चिन्ताएँ सर्वथा भूल जाता है। आध्यात्मग्रन्थों के एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय से व्यक्ति को ज्ञान-समाधि लग जाती है, उसको प्रत्येक वस्तु सूर्य के प्रकाश की तरह हस्तामलकवत् मालूम हो जाती है। मैं कौन हूँ, परमात्मा कौन है? संसार के अन्य प्राणी कौन हैं? उनके साथ तथा शरीरादि जड़पदार्थों या परपदार्थों के साथ मेरा क्या और कितना सम्बन्ध है? कैसे आत्मा कर्मों के बन्धन में जकड़ जाता है? कैसे छूट सकता है? कर्मबन्धन के कितने प्रकार हैं? मुक्ति के क्या-क्या उपाय हैं? आत्मा की स्वरूपरमण में निष्ठा कैसे सुदृढ़ हो सकती है? आत्मा परभावों में आसक्त क्यों हो जाता है? आदि तमाम बातें उसके ज्ञाननेत्रों के सामने स्पष्ट हो जाती हैं।

किन्तु तोतारटन की तरह आध्यात्मिक ग्रन्थों की शब्दावली या पारि भाषिक शब्दों को केवल घोट लेने का नाम ही स्वाध्याय नहीं है। और न ही अर्थ समझे-बूझे बिना किसी ग्रन्थ को पढ़-सुन लेने को ही स्वाध्याय कहा जा सकता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी का स्वर गूंज उठता है—'ग्रन्थ **अध्यातम श्रवण-मनन करी रे परिशीलन नय हेत'**, अर्थात् अध्यात्मग्रन्थों का केवल पढ़ना-सुनना ही नहीं, अपितु नयों और हेतुओं के साथ मननपूर्वक परिशीलन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है, और इस प्रकार के स्वाध्याय में साधक की आध्यात्मिक प्रगति की परख हो जाती है। केवल द्रव्य, गुण, पर्याय का रटन करने वाला या अध्यात्मग्रन्थों को सूने मन से या विद्वत्ता प्रदर्शित करने की दृष्टि से पढ़ने या सुनने-सुनाने वाला, अथवा आत्मा-परमात्मा की लम्बी-चौड़ी, व्यवहार से बिलकुल असम्बद्ध चर्चा करने वाला, या आध्यात्मिकता में पहले नैतिकता या धार्मिकता की बूंद भी जीवन में न हो और कोरी आध्यात्मिक तर्क-वितर्क करने वाला व्यक्ति वास्तविक स्वाध्याय से कोसों दूर है। उसे आध्यात्मिक या आध्यात्मिक विकास की पगडंडी पर चलने वाल नहीं कहा जा सकता। कई दफा तो इस प्रकार के तथाकथित अध्यात्मवा अध्यात्मशून्य जीवन बिताते हुए लम्बी चौड़ी आध्यात्मिकता, तत्त्वज्ञान अ

स्वाध्याय की डींगे मार कर आत्मवचना और समाजवचना करते देखे जाते है।

इसलिये आत्मा से सम्बन्धित उपर्युक्त बाते जिन ग्रन्थो मे निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से अकित हो, जो अध्यात्म को जीवन मे रमाने और पचाने वाले अनुभवी मनीषियो, चारित्रशील महान् आत्माओ द्वारा लिखे गए हो, जिन ग्रन्थो मे उल्लिखित बातें सर्वज्ञ आप्तवचनो से सम्मत हो, सिद्धान्त, युक्ति, तर्क, प्रमाणो, और नयो से सिद्ध हो, जो अपने पूर्वाग्रह, परम्पराग्रह, साम्प्रदायिक पक्षपात आदि से दूर हो, जो जीवन के उच्च आदर्शों और ध्येय को स्पष्टत प्रतिपादन करते हो, ऐसे ग्रन्थ आध्यात्मिक ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थो का एकाग्रतापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और युक्ति, प्रमाण, नय, हेतु, कारण आदि के विचारपूर्वक परिशीलन करने, और अपनी आत्मा के साथ उन बातो का ताल-मेल बिठाने का अभ्यास करना सच्चे माने मे 'स्वाध्याय' है। ऐसे साधक को अनायास ही इस प्रकार के स्वाध्याय का वातावरण एव प्रबलनिमित्त मिल जाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थो की जिज्ञासा और मीमासा-पूर्वक प्राप्त हुआ स्वाध्याय साधक की आध्यात्मिक प्रगति का परिचायक है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने का फल बता कर श्रीआनन्दघनजी ने वैसी भूमिका प्राप्त करने मे निमित्त-कारणरूप ये सब वस्तुएँ बता दी हैं। क्यो अभय, अद्वेप और अखेद-अवस्था के परिपक्व बनाने के लिए पापघातक साधुपुरुप का सत्सग, चित्त मे अकुशलता का ह्रास, एव अध्यात्मग्रन्थो का श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक अभ्यास बहुत आवश्यक है। इसलिए ये तीनो बाते, पूर्वोक्त तीनो गुणों की प्राप्ति मे प्रेरक निमित्तकारण बन जाती है। इस कार्यकारणभाव सम्बन्ध को न मान कर, जो व्यक्ति परमात्म-सेवारूप कार्य के लिए आध्यात्मिक विकास और उसके कारणो को उड़ाने का प्रयास करते हैं, उन्हे फटकारते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है—

कारणजोगे हो कारज नीपजे रे, एहमा कोई न वाद।
कारण विण पण कारज साधीए रे, ए निजमत उन्माद ॥
सम्भव०॥५॥

अर्थ

कारणो के योग से ही कार्य निष्पन्न होता है, ऐसा न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त है, इसमे विवाद को कोई अवकाश नहीं है। परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि हम अनुकूल कारणों के विना ही कार्य सिद्ध कर (वना) लेंगे; यह उनका मनमाना वकवास है, अपने मत का मतवालापन है।

भाष्य

कारण और कार्य का अविनाभावी सम्बन्ध

यह केवल न्यायशास्त्र की ही बात नहीं, विश्व के प्रत्येक मानव की अनुभवसिद्ध बात है कि कारण होने पर ही कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए यह निर्विवाद है। परन्तु कौन-से कारणो का किन-किन कार्यों के होने से हाथ है, यह निश्चितरूप से नहीं बताया जा सकता। इसलिए कई ईश्वरवादी, देववादी या अव्यक्तशक्तिपूजक लोग अथवा प्रकृतिवादी आलसी मनुष्य ऐसा कह देते हैं कि हमें किसी भी कार्य के लिए कारणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर चाहेगा, अमुक देव की कृपा होगी या फला देवी या अदृश्यशक्ति हम पर प्रसन्न होगी, या प्रकृति हमारे अनुकूल होगी तो कार्य अपने आप ही हो जायगा। हमे कुछ करने-धरने की जरूरत नही। परन्तु उनकी यह बातें बेसिरपैर की हैं। वे स्वय रोटी बनाने का और रोटी मुंह मे डालने का क्यो प्रयास करते है? वहा उन्हे अपने आराध्यदेव या मान्यशक्ति के सहारे को छोड कर समय आने पर, उक्त वस्तु का स्वभाव तद्रूप परिणत होने का हो, अपना कर्म भी अनुकूल हो, वैसा कार्य करना नियत भी हो, तो भी स्वय पुरुषार्थ करना होता है।

प्रत्येक कार्य मे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव मे कोई भी कार्य नही हो सकता। मूल मे कारण के दो रूप होते हैं—उपादानरूप और निमित्तरूप। जो कारण अन्तत स्वय स्वयं कार्य-रूप मे परिणत होता है, उसे उपादानकारण कहा जाता है। जो कारण कार्य की सम्पन्नता मे अनुकूल (सहयोगी) रहता है और कार्य हो जाने के वाद अलग हो जाता है वह निमित्तकारण कहलाता है। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए, घडा एक कार्य है। मिट्टी उसमे उपादान कारण है, क्योंकि मिट्टी स्वय अन्त मे घटरूप

मे परिणत होती है, किन्तु घडे के बनने मे कुम्हार, डडा, चाक और डोरी वगैरह निमित्त कारण हैं। निमित्त तीन प्रकार का होता है—सहकारीनिमित्त प्रेरकनिमित्त। और तटस्थनिमित्त। घडे के बनने मे घडा बनाने वाला कुम्हार प्रेरकनिमित्त है। और चाक, डडा, डोरी आदि जो अन्य साधन हैं, वे सहकारीनिमित्त हैं। तथा काल, स्वभाव, नियति (भवितव्यता), कर्म और पुरुषार्थ, तथा आकाश आदि सब तटस्थनिमित्त हैं। जैनदर्शन मे विहित काल, स्वभाव आदि पच-कारणसमवाय भी प्रत्येक कार्य के होने मे अनिवार्य बताये हैं। कोई व्यक्ति उपर्युक्त पच-कारण-समवाय मे से पाँचो को कारण न मान कर एकान्तरूप से किसी एक या अनेक को कारण माने तो वह यथार्थ नही है।

कारण का लक्षण भी न्यायशास्त्रियो ने यही किया है कि जो कार्य होने के अव्यवहित पूर्वक्षण मे अवश्य हाजर हो। जो कार्य मे साधक हो, जिसके न होने पर कार्य हो ही न सके, उसे कारण कहते हैं।'

कारण के इस लक्षण की दृष्टि से कार्य की सम्पन्नता के लिए दोनो ही कारण आवश्यक हैं, परन्तु मुख्यता उपादान की है। उपादान के होने पर निमित्त तो कोई न कोई अवश्य रहेगा ही। हाँ, निमित्तकारण एक के बदले दूसरा हो सकता है, परन्तु तद्रूप उपादान का होना तो अनिवार्य है। इसीलिए अध्यात्मशास्त्र में उपादान की मुख्यता मानी गई है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि ६ द्रव्यो मे से जीव और पुद्गल गतिमान और क्रियावान द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया मे उपादानकारण स्वय होता है। जीव और पुद्गल मे जो क्रिया और गति होती है, उसका उपादान वह स्वय ही है। उपादान तो एक ही होता है, जब कि निमित्त अनेक हो सकते हैं, उनके सम्बन्ध मे निश्चितरूप से कुछ नही जा सकता। यदि उपादान का कार्यरूप में परिणत होने का निश्चित कालक्षण आ चुका है, तो निमित्त भी उसी क्षण आ मिलेंगे। किन्तु यदि उपादान ही शुद्ध नही है, तो निमित्त कितना ही शुद्ध क्यो न रहे, उससे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा। परिवर्तन निमित्त मे नही, उपादान मे होना चाहिए। निमित्त बलवान नही, बलवान तो उपादान है।

आकाश मे जब सूर्य उदित होता है तो उसका प्रकाश धीरे-धीरे फैलता

प्रारम्भ होता है, तब कमल स्वयं ही खिलने लगते हैं। सूर्य ने न तो कमल-पुष्प को खिलाया और न उन मुर्झाए हुए फूलों के अंदर उसने कोई साक्षात् सीधा परिवर्तन ही किया। फूल का खिलना फूल की अपनी क्रिया है। यहाँ सूर्य प्रेरकनिमित्त नहीं तटस्थनिमित्त है। किन्तु एक कुम्भकार जिस समय घड़ा बनाता है, तब वह इच्छापूर्वक ही बनाता है। अतः वह तटस्थनिमित्त नहीं, प्रेरक निमित्त है। मछली जब जल में तैरती है, तो तैरने का काम मछली स्वयं ही करती है। अतः तैरने की क्रिया का उपादान स्वयं मछली ही है, क्योंकि उसी में क्रिया हुई। किन्तु मत्स्य की तरणक्रिया में निश्चय में धर्मास्तिकाय और व्यवहार में जल निमित्त होता है।

उपादान और निमित्त की समस्या इतनी गहन है कि उसे समझना उतना आसान नहीं है। फिर भी यदि उपादान को पकड़ लिया जाय तो समस्या हल होते देर नहीं लगती। सम्यग्दृष्टि आत्मा की मूल दृष्टि उपादान पर केन्द्रित रहती है। यद्यपि वह निमित्त का तिरस्कार नहीं करता, तथापि वह निमित्त में उलझ कर नहीं बैठ जाता। निमित्त तो सदा उपस्थित रहता ही है, देर उपादान की ही होती है।

शक्ति बाहर में नहीं अपने अन्तर में रहती है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को जागृत कर लेता है, वह जगत् में असाधारण समझे जाने वाले कार्य कर लेता है। अन्दर की शक्ति को जागृत करने का अर्थ है—उपादान को जागृत करना। जिस आत्मा ने उपादान को समझ लिया, उस आत्मा के लिए कोई भी साधना कठिन नहीं है।

प्रस्तुत प्रसग में परमात्मसेवारूप कार्य है। उसके लिए उपादानकारण आत्मा है। अभय, अद्वेष और अखेद ये आत्मा के सहभावी गुण होने से सहकारी उपादानकारण हैं। किन्तु प्रकारान्तर से उन्हें परमात्मसेवारूप कार्य के अन्तरंग निमित्तकारण कहा जा सकता है। और पूर्वगाथा में बताए हुए तीन कारणों में से अकुशलवृत्ति का ह्रास अन्तरंग-निमित्त व पाप घातक साधुओं से परिचय, तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों का श्रवण, मनन एवं नय-हेतु-पूर्वक परिशीलन ये दो परमात्मसेवारूप कार्य के प्रेरक निमित्तकारण हैं, जबकि काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ आदि इसके तटस्थ (उदासीन)

निमित्तकारण है। इसी प्रकार चरम आवर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोप-निवारण, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति आदि कार्य (फल) भी कारण की अपेक्षा रखते है।

दूसरी तरह से देखे तो अभय, अद्वेप और अखेद ये तीन परमात्म-सेवा रूप कार्य के लिए अनन्तरकारण है और पापनाशक साधु से परिचय, चित्तवृत्ति या चेतना मे से अशुभ (पाप) कर्मों का ह्रास, तथा आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक परिशीलन आदि परम्पराकारण है।

सौ बात की एक बात है—परमात्मसेवा के योग्य बने हुए आत्मारूप मुख्य उपादानकारण का तथा अभय, अद्वेष एव अखेदरूप सहकारी उपादान कारणो का कार्य से ठीक पहले क्षण मे होना अनिवार्य है। अगर उपादानरूप कारण जागृत होगा तो पूर्वोक्त निमित्त स्वत उपस्थित हो जायेंगे।

शास्त्रो मे वर्णन आता है कि राजा प्रदेशी एक घोर नास्तिक था। वह धर्म के प्रति अश्रद्धालु व धार्मिक पुरुषो के प्रति घृणा करता था। पर जब केशीकुमार श्रमण के सान्निध्य मे आया तो उसकी दृष्टि मे अचानक परिवर्तन कैसे हो गया? जो व्यक्ति अत्यन्त क्रूर और कठोर था, वह अत्यन्त कोमल कैसे बन गया? यह सब कुछ उपादान के परिवर्तन से हुआ। राजा प्रदेशी का उपादान प्रसुप्त पडा था, केशीकुमार श्रमण का निमित्त मिलते ही वह जागृत हो गया। इतना जागृत कि उसकी रानी ने धर्मसाधना मे सग्लन राजा को विप दे दिया, तब भी वह शान्त बना रहा। ऐसा परिवर्तन उसकी निजशक्ति-उपादान का था। अर्जुनमालाकार प्रतिदिन सात व्यक्तियो की हत्या करने वाला महापापी बना हुआ था, कोई भी, यहाँ तक कि राजगृही का राजा भी उसे पकडने का साहस नही कर सका। उसी अर्जुनमाली को महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए राजगृही के निर्भीक श्रमणोपासक सुदर्शन का निमित्त मिला तो वह एकदम नम्र एवं दयालु बन गया। अत सुदर्शन का निमित्त अवश्य है, लेकिन अर्जुन का उपादान शुद्ध न हुआ होता तो सुदर्शन (निमित्त) क्या कर सकता था? भगवान् महावीर का निमित्त गौतम को भी मिला और गोशालक को भी। लेकिन गोशालक छह वर्ष तक उनके

साथ रह कर भी श्रेष्ठत्व अर्जित करने में इसलिए निष्फल रहा कि इसका उपादान शुद्ध न था, जबकि गौतम महान् बनने में सफल हो गया था।

इसलिए अपनी योग्यता, निजशक्ति (उपादान) को परमात्मसेवा (शुद्ध-आत्म-रमणता) रूप कार्य के लिए जागृत करना आवश्यक है। उपादान जागृत होते ही निमित्त अपने आप उपस्थित हो जायेंगे। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि परमात्मसेवा-रूप कार्य के लिए उपादानकारण के साथ-साथ पूर्वोक्त निमित्तकारणों का होना अवश्यम्भावी है।

कार्य-कारण-सम्बन्ध को न मानने वालों का मत

प्रस्तुत परमात्मसेवा के सम्बन्ध में एकान्त भक्तिवादी, या एकान्त निश्चयदृष्टिवादी अथवा अव्यक्तशक्तिवादी या एकान्त नियति आदि पंच-कारणवादी अथवा एकान्त परमात्माश्रयवादी या इसी प्रकार की मान्यता वाले लोगों का कहना है कि परमात्मसेवारूप कार्य को हम पूर्वोक्त कारणों के बिना ही सिद्ध कर लेंगे। हमें उक्त कारणों के झंझट में पड़ने या अपनी आत्मा को किसी कष्ट में डालने की जरूरत नहीं, अपने आप परमात्मसेवा का सब काम हो जायगा।

एकान्त-भक्तिमार्गियों का कहना है—न कोई भय, द्वेष या खेद छोड़ने की जरूरत है और न किसी प्रकार का त्याग, तप या स्वभावरमणरूप पुरुषार्थ (ज्ञान दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ) करने की ही आवश्यकता है। ये सब स्व-कर्तृत्ववाद के झंझट हैं। इन बातों के चक्कर में न पड़ कर मन से दृढ विश्वास कर लो कि परमात्मा जब चाहेंगे, तब अपने आप उनकी सेवा का कार्य हो जायगा।

एकान्त निश्चयाभासियों का कहना है,—किसी प्रकार का त्याग, तप या चारित्र में पुरुषार्थ आदि सब व्यवहार की बातें हैं, असद्भूत हैं, ये सब शरीर से सम्बन्धित बातें हैं, इनमें परमात्मा की सेवा में कोई सहायता नहीं मिल सकती। जब आत्मा से परमात्मसेवा होनी होगी, तब अपने आप हो जायगी आत्मा भी अपने आप तदनुरूप शुद्ध हो जायगी। उपादानरूप आत्मा शुद्ध होगी तो निमित्तकारणों की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी। परन्तु व्यवहार का और निमित्तकारणों का यह अपलाप वस्तुतः निश्चयनयाभास ही सूचित करता है।

अव्यक्तशक्तिवादियो का मत भी लगभग भक्तिवादियो जैसा ही है। वे केवल देवी या अव्यक्तशक्ति अथवा प्रकृति को रिझाने, प्रसन्न करने और उससे वरदान माँगने का प्रयास करते हैं। अपनी आत्मा द्वारा कोई भयादि के त्याग, अहिंसादि के पालन या आत्मरमणरूप पुरुषार्थ की कतई जरूरत महसूस नही करते।

एकान्त नियतिवादी भी कालादि अन्य चार कारणो का अपलाप करते हुए या आत्मारूपी उपादानकारण के प्रति उपेक्षा करते हुए कहते हैं-'जो कुछ होना होगा, वह हो ही जायगा। परमात्मसेवा विधाता ने (या भाग्य मे) लिखी होगी तो हो जायगी। हमारे त्याग, तप व्रत, नियम, सयम या स्वभाव-रमण मे पुरुषार्थ आदि करने से क्या होगा ? इन सब चक्करो में पडने की क्या जरूरत है ? यही हाल एकान्तकालवादी, एकान्तस्वभाववादी, एकान्त नियतिवादी, एकान्तकर्मवादी, या एकान्तपुरुपार्थवादी (क्रियाकाण्डरत) लोगो का है। वे भी परमात्मासेवारूप कार्य के लिए अपने एक-एक कारण को ले कर उपादानकारणरूप आत्मा को शुद्ध बनाने या अन्य विभिन्न प्रकार के निमित्तकारणो की आवश्यकता नही समझते। एकान्तपरमात्माश्रयवादी तो लगभग आलस्यपोपक-से होते है। आलसियो का जीवनसूत्र तो यही है—

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।"

स्पष्ट है कि वे भी परमात्मा को ही सब कार्यो का दारोमदार मानते है। परन्तु आखिर जब वे अपने ही इस मत के विरुद्ध चलते हैं तो उन्हे घूम फिर कर कार्यकारणवाद की मान्यता पर आना ही पडता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी का मुख्य स्वर यही गूँज रहा है कि जो लोग परमात्मसेवारूप कार्य को पूर्वोक्त उपादान या निमित्त कारणो के बिना ही कर लेने की झूठी जिद्द ठानते हैं, या इस मिथ्याग्रह के शिकार है, वे अपनी मान्यता की झूठी दुहाई देते है या उनका कथन महज बकवास है। अथवा 'वदतो व्याघात' न्याय के अनुसार अपने ही मुह से अपनी बात का खण्डन है, या फिर साम्प्रदायिक मत के दुराग्रह का मतवालापन है।

कुछ लोग पूर्वोक्त मान्यता के दुरभिनिवेशवश यह कह बैठते है कि

परमात्मा की सेवा तो बहुत आसान है, तुम लोगों ने उसे बहुत कठोर और अगम्य बना दी है, इसमे त्याग के रूप मे कुछ भी करना-धरना नहीं है, इस श्रीआनन्दघनजी असलियत बताते हुए कहते हैं—

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप ।
देजो कदाचित् सेवक-याचना रे, आनन्दघन-रस-रूप ॥
संभव०॥६॥

अर्थ

मुग्ध (अज्ञानी, भोले, बालजीव या अतत्त्वदर्शी, नासमझ) लोग परमात्म-सेवा को आसान मान कर उसे अपना लेते हैं। मगर परमात्मसेवा अगम्य (प्रत्येक व्यक्ति द्वारा आसानी से जानी न जा सकने योग्य) और अनुपम (बेजोड़) है। आनन्द के घनरसरूप प्रभो ! मेरी आपसे प्रार्थना है कि भविष्य मे कभी मुझे ऐसी अद्वितीय परमात्मसेवा देना ।

भाष्य

मुग्ध लोगो की दृष्टि मे परमात्मसेवा आसान

मुग्ध से यहाँ अभिप्राय है—उन अतत्त्वदर्शी लोगो से, जो कार्यकारणभाव की गहराई मे कोई विचार नही करते, जो लकीर के फकीर बन कर अपनी बुद्धि से परमात्मसेवा के बारे मे नही सोचते, अथवा आडम्बरपरायण लोगो की चकाचौंध मे पड कर भयादि के त्याग, तप या स्वभावरमणरूप ज्ञानदर्शनचारित्र मे पुरुषार्थ करने की मुख्य बात को उडा कर उपेक्षा करके केवल नाचने-गाने और कीर्तनजपादि करने की आसान बात पर मुग्ध है, या जो नासमझ और भोलेभाले लोग है, जिनमे लबी समझ नही है, तथाकथित गुरु ने जो भी मार्ग पकडा दिया, उसे परमात्मा की सेवा-भक्ति मान कर चलने वाले बालजीव है।

ऐसे विवेकमूढ लोग परमात्मसेवा को बहुत ही आसान समझ कर अपना लेते हैं। वे यह नही सोचते कि परमात्मभक्ति केवल नाच-गा कर या उनका नाम जोर-जोर से रट कर उन्हे रिझाने का प्रदर्शन करने मे या चढावा चढाने या प्रसाद बाटने या उनके प्रतीक के आगे कोरे हाथ जोड देने या उनका गुण-गान करने मात्र से अथवा उनकी नकल कर लेने से सिद्ध नही होती परमात्म-सेवा के लिए जो वास्तविक कारण है, उन्हे अपनाने पर ही वह सिद्ध

हो सकती है। केवल शब्दादि-विषयो मे आसक्त, सासारिक स्वार्थ मे मग्न, स्वर्गादि ऋद्धिसिद्धि के लोभ मे डूबे हुए अथवा अपनी नामवरी या प्रसिद्धि के लिए परमात्मा का प्रतीक बना कर उनके मुकुट या अन्य सासारिक पदार्थ चढा देने मात्र से परमात्मसेवा नही हो सकती। परन्तु मुग्ध लोग इस परमात्म-सेवा को, जो १ साधारण व्यक्ति की पहुँच से बाहर है, जो ससार मे अनुपम वस्तु है, उसे बिलकुल आसान, सुगम और झटपट सिद्ध होने वाली चीज मानते है और उसी दृष्टि से परमात्मसेवा के वास्तविक कारणो को तिलाजलि दे कर सेवा के नाम पर सस्ता सौदा अपनाते है, जिसमे **'हीग लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय'** चाहते है। परन्तु परमात्मसेवा को वे जितनी सरल मानते हैं। उतनी सरल नही है, इसमे तो बाह्य (पर) भावो को छोड कर आन्तरिक भावो की गहराई मे जाना पडता है। सन्त कबीरजी भी यही बात कहते हैं। २

परमात्मसेवा की प्रार्थना : साधक की भक्तिमय नम्रभाषा

इस स्तुति के अन्त मे योगी श्रीआनन्दघनजी ऐसी कठोर परमात्मसेवा की सम्भवदेव प्रभु मे याचना करते है। प्रश्न होता है— साधक को तो स्वय पुरुषार्थ द्वारा परमात्मसेवा सिद्ध करनी चाहिए, उसे परमात्मा से मागने की क्या जरूरत है ? वास्तव मे निश्चयनय की दृष्टि से तो परमात्मसेवा या किसी भी आध्यात्मिक अनुष्ठान के लिए परमात्मा या किसी भी 'अव्यक्त शक्ति से साधक को मागने की जरूरत नही होती। और न ही वीतरागपरमात्मा किसी को कोई चीज देते-लेते हैं। मगर व्यावहारिक दृष्टि से आनन्दघनजी अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिए भक्ति की भाषा मे परमात्मा के सामने इस प्रकार की प्रार्थना कर बैठते है तो कोई अनुचित भी नही है। और फिर श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से किसी सासारिक वस्तु या प्रसिद्धि, पदवी, ऋद्धि, सिद्धि आदि की कोई माग नही करते, वे तो अध्यात्मयोगी के लिए

---

१ नीतिकार कहते हैं—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्य '। सेवाधर्म अत्यन्त गहन है, वह योगियो के लिए भी अगम्य है, साधारणजनो की तो बात ही क्या ?

२ **भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है, शीश सौंपे बिना भक्ति नाहीं।**
नाचना, कूदना, ताल का पीटना, राडिया खेल का काम नाहीं ॥

परमात्मसेवा अनिवार्य होने से उसी की प्रार्थना करते है। वह भी 'देजो कदाचित्' कह कर उतावलेपन से नही, किन्तु धीरता के साथ, जब कभी अपने चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम इतना तीव्र हो जाए, तभी परमात्मा की शुद्ध सेवा चाहते हैं।

चूंकि वे परमात्मसेवा को अगम्य और अनुपम वस्तु कह चुके हैं। इस प्रार्थना मे वे वर्तमान मे अपनी आत्मा का उक्त प्रकार की अगम्य या अतीन्द्रिय, अनुपम सेवा के योग्य न होना भी नम्रतापूर्वक ध्वनित कर देते हैं।

एक बात यह भी है कि वे परमात्मसेवा के इस आग्नेयपथ पर आने से पहले जो महापुरुष इस कठोरपथ पर प्रयाण करके इसे पार कर चुके हैं, उनकी प्रेरणा, मार्गदर्शन या दिशानिदर्शन चाहते हैं। क्योंकि परमात्मसेवा जैसे आध्यात्मिक मार्ग मे पारगत पुरुष के निर्देशन मे चलने पर ऐसे गहन कार्य मे कही स्खलना, आत्मवचना, पतन या भ्रान्ति की सभावना नही रहती। इसलिए ऐसे सेवानिष्णात वीतराग परमात्मा के चरणो मे विनय करके, उनकी आज्ञा ले कर उनके सामने सेवक बन कर नम्र प्रार्थना करके सेवा के आग्नेय पथ पर चलने मे सहीसलामती या आत्मसुरक्षा अधिक है, खतरे की सभावना कम है। कई लोग गुरु या परमगुरु (परमात्मा) का निश्राय (शरण) न स्वीकार करके अध्यात्म के नाम से उलटे रास्ते चढ जाते हैं, फिर उन्हे उसी पथ का पूर्वाग्रह हो जाता है, वे गलत मार्ग को भी सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इसलिए ये और ऐसे सभावित खतरो से बचने का उपाय शरणागत बन कर 'अप्पाण वोसिरामि' कह कर प्रार्थना करना है।

'आनन्दघन-रसरूप' के सम्बन्ध में

आनन्दघनरसरूप-शब्द परमात्मा का सम्बोधन भी सम्भव है। जिसका अर्थ होता है—आनन्द से ओतप्रोत सेवारस आपमे लबालब भरा है, आप आनन्दघनरसमय हैं। 'आनन्दघनरसरूप' सेवा का विशेषण भी बहुत कुछ सम्भव है; क्योंकि परमात्मा की सेवा इतनी ठोस आनन्दरसदायिनी होती है कि उसका अनुभव वही कर सकता है। जिस भाग्यशाली को परमात्मसेवा यथार्थ रूप मे उपलब्ध हो जाती है, उसको वह सेवा आनन्द से ओतप्रोत लगती है, वाणी से अगम्य होने के कारण वह वाणी मे उसका वर्णन नही कर सकता।

अथवा 'मेरी याचना आनन्दघनरसरूप है, यह अर्थ भी हो सकता है। यानी मेरी परमात्मसेवा की याचना आनन्दमगलदायिनी है। मुझे ससार की कोई भी वस्तु परमात्मसेवा के समान आनन्ददायिनी नही लगती। यही अनुपम आनन्ददायिनी है। इसी की याचना मैं करता हूँ। मुझे इसी याचना मे आनन्द है।

सारांश

इसमे श्री सभवनाथ परमात्मा की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मसेवा का रहस्य खोल दिया है। प्रारम्भ मे अध्यात्मयोगी के लिए परमात्मसेवा सर्वप्रथम आवश्यक बता कर उसके लिए प्राथमिक भूमिका के रूप मे अभय, अद्वेष और अखेद की साधना करना जरूरी बताया है। चूंकि वीतरागपरमात्मा स्वय[1] अभय, वीतद्वेष, (वीतराग) और खेदरहित हैं,[2] इसलिए उनकी सेवा के लिए उक्त तीनो गुण प्राथमिक भूमिका के रूप मे शुद्धात्म-भावरमणकर्ता साधक मे होने आवश्यक है। इसके पश्चात् परमात्मासेवा-फल के रूप मे चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणति परिपाक, मिथ्यात्त्वदोप-निवारण, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, प्रवचनवाणी की प्राप्ति आदि बताए है। तदनन्तर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त करने के तीन मुख्य उपाय, फिर परमात्मसेवारूप कार्य के लिए कारणो की अनिवार्यता बता कर कार्य-कारणभावसम्बन्ध को न मानने वाले तथा परमात्मसेवा को सुगम समझ कर अपनाने वाले मुग्ध लोगो को चुनौती दी है। और अन्त मे, अगम्य, अनिर्वचनीय, अनुपम परमात्मसेवा प्राप्त होने की प्रार्थना भक्ति की भाषा मे करते हुए प्रस्तुत विषय का उपसहार किया है। सचमुच, इस स्तुति मे परमात्मसेवा का रहस्य अध्यात्मयोगी श्री ने खोल कर रख दिया है।

---

१ भयवेराओ उवरए।
२ 'खेयन्नए से कुसले महेसी'—(सूत्रकृताग वीरस्तुति)

४ · श्रीअभिनन्दन-जिनस्तुति—

परमात्म-दर्शन की पिपासा

(तर्ज—आज निहेजो रे दीसे नाईनो रे, राग–धनाश्री, सिंधुडो)

अध्यात्म के क्रमिक विकास पथ पर आया हुआ साधक परमात्मसेवा के बाद परमात्मा के दर्शन का प्यासा बन कर, अनेक विघ्नबाधाओं और संकटों के बीच भी दर्शनोत्सुक होता है और पुकार उठता है—

अभिनन्दन जिन दरिसण तरसीए, दरिसण दुर्लभ देव।
मत-मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव ॥
अभि० ॥१॥

अर्थ

मैं अभिनन्दन नामक चतुर्थ जिनेन्द्र (वीतराग परमात्मा) के दर्शन के लिए तरस रहा हूँ; परन्तु हे परमात्मदेव! आपका दर्शन बहुत ही दुर्लभ हो रहा है। प्रत्येक मत, पथ, सम्प्रदाय और दर्शन के अग्रगण्यो के पास जा कर पूछते हैं कि परमात्मदर्शन कैसे होगा? तब उत्तर मे सभी मत-पंथ-सम्प्रदाय वाले अलग-अलग मत (अभिप्राय) मे अपनी-अपनी मान्यता की स्थापना करते हुए कहते हैं—"हमारा मार्ग ही प्रभुदर्शन का सच्चा मार्ग है, हम ही परमात्मा का दर्शन करा देंगे।" अथवा प्रत्येक मत-पंथ वाले कहते हैं—"यहीं आ जाओ। मैं ही परमात्मा हूँ।"

भाष्य

परमात्मदर्शन क्यों, क्या और कैसे?

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रथम सोपान पर चढा हुआ साधक ठेठ मंजिल तक पहुँचना चाहता है, उसे केवल इतने से ही सन्तोष नही होता। वह सम्यग्दर्शन के अन्तिम छोर तक पहुँच कर परमात्मा के भलीभाँति दर्शन करना चाहता है। और सम्यग्दर्शन के पथ पर

प्रयाण प्रारम्भ होते ही उसका यह प्रश्न उठाना उचित भी है कि "परमात्मा के के दर्शन क्योंकर होंगे ? मैं उनके दर्शन पाने के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ। जब मैं वीतराग परमात्मा के दर्शन के सम्बन्ध मे विचार करने लगता हूँ तो मुझे उनके दर्शन बहुत ही दुर्लभ, दुष्प्राप्य और कठिन प्रतीत होते हैं। यदि अब भी—इतनी उच्चभूमिका पर आने के बाद भी परमात्मा का दर्शन नही प्राप्त कर सका तो मेरा जीवन व्यर्थ चला जायगा। परमात्मा का दर्शन प्राप्त किये बिना मेरे लिए जगत् मे सब कुछ मिथ्या है, सारा विश्व अन्धकारमय एव दु खमय है।" इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है—**'दरसण तरसीए'** आपके देवदुर्लभ दर्शन के लिए तरस रहा हूँ। आपके सम्यक् दर्शन के बिना मैंने ससार की अनेक परिक्रमाएँ कर ली, अनेक जगह भटका, देवलोक मे भी गया, नरक, तिर्यंच और मनुष्यलोक मे पहुँचा, मगर किसी भी जगह सुख नही मिला। आपके सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा सुख प्राप्त होता भी कैसे ? क्योंकि वहाँ मैं क्षणभगुर वैपयिक सुखो के चक्कर मे फस रहा, आपका सद्दर्शन पा कर शुद्धात्मतन्मयतारूपी आत्मिक सुख प्राप्त नही किया। अत मैं पूर्ण तत्परता के साथ सन्नद्ध हूँ।

चूँकि गाथा मे जिन-दर्शन पद है, इसलिए उसका सही अर्थ—वीतराग परमात्मा को आँखो मे देखना नही होता, अपितु परमात्मा को अन्तरात्मा से देखना होता है। अथवा दर्शनशब्द दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होने वाली तत्त्वरुचि या तत्त्वार्थश्रद्धा के अर्थ मे है। अथवा वीतराग-परमात्मा का जो दर्शन है, उसे प्राप्त करना है—यानी साधक को प्राप्त हुए क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यग्दर्शन से ही सन्तुष्ट हो कर बैठ जाना नही है, अपितु अनन्त क्षायिकसम्यग्दर्शन तक मुझे प्राप्त करना है, जो आज दुर्लभ हो रहा है, अथवा परमात्मदर्शन का मतलब शुद्ध आत्मा का दर्शन है।

परमात्मदर्शन दुर्लभ क्यो ?

आज कर्मो व कपाय, राग-द्वेप, मोह आदि विकारो के कारण शुद्ध (परम) आत्मा पर नाना आवरण आए हुए हैं, इसलिए उसकी झाकी नही हो रही है, उसके दर्शन मे अनेक विघ्नबाधाएँ अडी खडी हैं, इसलिए परमात्मदर्शन दुर्लभ हो रहा है।

कोई यह कह सकता है कि जगत में इतने धर्मों, सम्प्रदायों, मतों, पंथों या दर्शनों के होने हुए भी परमात्मा के दर्शन क्यों दुर्लभ हो रहे हैं ? सभी धर्म, मत, पंथ आदि परमात्मा के दर्शन कराने, प्रभु-साक्षात्कार कराने का दावा करते हैं, फिर क्या कारण है कि परमात्मा के दर्शन इतने दुष्प्राप्य हो रहे हैं ? जहाँ इतने धर्म और धर्मों के संस्थापक हों, जहाँ विविध धर्माचिनार, परमात्मा के पुत्र, पैगम्बर, मसीहा, या अवतार मौजूद हों, वहाँ भला परमात्मा का दर्शन इतना कठिन क्यों होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वयं आनन्दघनजी इस गाथा के उत्तरार्ध द्वारा कहते हैं—'**मत मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव**' इसका तात्पर्य यह है कि चाहे जिस पंथ, मत, सम्प्रदाय या दर्शन के केन्द्र या धर्मस्थान में जा कर पूछा जाय, सर्वत्र प्रायः मिथ्या आग्रह, अपनी मान्यता की पकड, अपने मत पर सच्चाई की छाप लगाने का अभिनिवेश दिखाई देगा। इसलिए एकान्तदृष्टिपरायण, मताग्रही प्रायः यही कहेंगे—हम कहते हैं, वही प्रभुदर्शन का सत्यमार्ग है, हमारे मत, पंथ या सम्प्रदाय आदि के सिवाय किसी पंथ, मत आदि को सत्य के दर्शन नहीं हुए, न हमारे सिवाय किसी ने आज तक प्रभुदर्शन का रहस्य (या सत्य) प्रगट किया है।' अथवा वे कहेंगे—"हमारे धर्म-सम्प्रदाय या मत-पंथ में बताये गए ईश्वर या भगवान् ही परब्रह्म परमात्मा हैं, उनके दर्शन हमारे मत, पंथ या सम्प्रदाय में शामिल होने पर ही होंगे। हमें गुरु स्वीकार कर लो, बस, तुम्हें परमात्मा के दर्शन बहुत जल्दी करा देंगे।" इस प्रकार एक या दूसरी तरह से सभी अपनी-अपनी मान्यताओं को सत्य बता कर जिज्ञासु व्यक्ति के कान, नेत्र, और मुँह बंद कर देते हैं, वे न दूसरे की बात सुनने देते हैं, न दूसरों की सत्य बात देखने-समझने देते हैं, न किसी विषय में तर्क करने देते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु एवं भद्र परमात्मदर्शनपिपासु व्यक्ति इन सम्प्रदायों या मतपंथों के भवरजाल में फँस जाते हैं। एकान्त आग्रही लोग कोई शंका या तर्क भी प्रायः नहीं करने देते, बल्कि शंका या तर्क करने वाले को या तो वे अधर्मी, नास्तिक बताते हैं, या फिर वे अधर्मी, मिथ्यादृष्टि या नास्तिक हो जाने का डर दिखा कर चुप कर देते हैं। अनेकान्तवाद के उपासक भी प्रायः मताग्रह या मतान्धता के शिकार बन जाते हैं, और अपने ही मत को सत्य सिद्ध करने में एडी से चोटी तक पसीना बहा देते हैं। विविध दर्शन भी

एकान्त आग्रही बन कर अपनी मानी हुई बात को सच्ची और दूसरे की बात को बिलकुल मिथ्या सिद्ध करने मे तनिक भी नही सकुचाते। यहाँ तक कि अपनी बात को भगवान् के द्वारा बताई हुई सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अत इन वादो, मतो, पथो या सम्प्रदायो के झझावातो मे साधक सहसा निर्णय नही कर पाता कि कौन-सा पथ, मत, या धर्मसम्प्रदाय मुझे परमात्मदर्शन करायेगा ? कौन-सा दर्शन सत्य है ? और कभी-कभी तो बाह्य आडम्बरो या वाक्पटु लोगो के मोहक शब्द जाल मे साधक फस जाता है, परमात्मदर्शन की धुन मे एकान्त और मिथ्या दर्शन के चक्कर मे पड जाता है, अथवा भोग-विलास, रागरग या इन्द्रियविषयपोषक वातावरण की चकाचौंध मे परमात्म-दर्शन भूल जाता है, किसी दूसरे बनावट, दिखावट व सजावट से ओतप्रोत अमुक व्यक्ति के दर्शन को ही परमात्मा का दर्शन समझ लेता है, अथवा अनेक मान्यताओ एव मतो के अन्धड मे व्यक्ति भ्रान्तिवश कही का कही भटक जाता है। इसी कारण परमात्मा के दर्शन या परमात्मा का दर्शन बहुत दुर्लभ है।

विश्व मे प्रचलित विविध दर्शनो को देखते हैं तो वे भी अपनी,अपनी मान्यताओ के एकान्त आग्रह मे फसे हुए हैं। वे दूसरे दर्शनो के दृष्टिकोणो को समझ कर समन्वय करने या अपने मताग्रह को छोडने के लिए जरा भी तैयार नही हैं। यहाँ प्रसगवश आत्मा के सम्बन्ध मे कुछ दर्शनो के एकान्त-दृष्टिपरक मत देखिए—साख्य, योग और वेदान्तदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे ऐरन पर हथौडे की चाहे जितनी चोटे पडें, वह स्थिर रहता है, वैसे ही देश, काल आदि के कितने ही थपेडे खाने पर भी आत्मा मे जरा भी परिवर्तन नही होता, वह बिलकुल स्थिर रहती है। इस मान्यता मे उपर्युक्त तीनो दर्शन बिलकुल भी परिवर्तन नही करते और न ही अपनी ज्ञानदृष्टि खोल कर सत्य के दूसरे पहलू को देखने-परखने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक सुख-दु ख, ज्ञान आदि को आत्मा के गुण मानते अवश्य है, लेकिन आत्मा को एकान्त नित्य और अपरिवर्तनशील (अपरिणामी) मानते हैं।

बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक, परिणामी और निरन्वय परिणामो का प्रवाहमात्र मानते हैं।

इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल के, चेतना और भौतिक वस्तु के अथवा एक आत्मा का दूसरी आत्माओं के साथ सम्बन्ध के विषय में तथा बन्ध और आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के बाद आत्मा की होने वाली स्थिति के सम्बन्ध में प्रत्येक दर्शनकार की मान्यता भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक दर्शन प्रायः अपनी ही बात को सत्य मान कर आग्रहपूर्वक पकड़े रखता है। परिणामस्वरूप वे परमात्मा (आत्मा) के यथार्थ दर्शन के अन्वेषण की उदात्त भावना के बदले आत्मा (परमात्मा) के सम्बन्ध में अपनी बात को सच्ची स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसलिए उन दर्शनों के शब्दजालरूप महारण्य में फंस कर प्राणी यथार्थ (सम्यग्) दर्शन नहीं कर पाता। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने यथार्थदर्शन को दुर्लभ बताया है।

अथवा उपर्युक्त पथों, वादों, मतों या दर्शनों का एकान्त आग्रह, सापेक्षता रहित दृष्टि, पूर्वापरविरोध न हो, तभी सापेक्षदृष्टियुक्त, एकान्त-आग्रह-रहित, पूर्वापरसंगत, विशुद्ध, पक्षपातरहित और अनेकान्तवाद-विशुद्ध परमात्मदर्शन (तत्त्वज्ञान का शुद्ध श्रद्धान) हो सकता है। परन्तु पूर्वोक्त मतों, पथों या दर्शनों में ये लक्षण न होने से साधक के लिए परमात्मदर्शन या तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन अथवा शुद्ध आत्मदर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा आत्मा के द्वारा बार-बार परभावों में पड़ जाने के कारण या छहों द्रव्यों के यथार्थ वस्तुतत्त्व (स्वरूप) पर स्वत्वमोह-कालमोह व पूर्वाग्रह आदिवश न टिक सकने के कारण परमात्मा (सत्य) के दर्शन दूरातिदूर होते जाते हैं। इसलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर[1] के अन्तर से स्वर फूट पड़ा—"प्रभो! मोह के अन्धकार से मेरे नेत्र आवृत हो गए। इसी कारण मैंने आज तक कभी एक बार भी आपका दर्शन नहीं किया। मैं सोच रहा था कि इस समय मर्मस्थान को बींधने वाले अनेक अनर्थ (अनिष्ट कष्ट) मुझे पीडित कर रहे हैं, अगर आपका दर्शन हो गया होता तो ये मुझे कष्ट देने को उद्यत क्यों

---

१ नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन, पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः, प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते॥
—कल्याणमंदिर स्तोत्र

होते ?" सचमुच परमात्मदर्शन के बिना बार-बार ससार मे जन्ममरण की अनर्थ-परम्पराएँ खडी होती है, अगर एक बार भी सच्चे माने मे सम्यक्त्वमोह का आवरण हट कर मुझे आपका सम्यग्दर्शन हो जाय तो यह अनर्थपरम्परा भी मिट जाय या इसकी सीमा आ जाय। परन्तु मोहादि विकारो मे आत्मा घिरी होने के कारण शुद्धात्मदर्शन नही कर पाती, जो परमात्मा का सच्चा दर्शन है, उसे नही प्राप्त कर पाती और न ही उन परमात्मा के बताये हुए सद्दर्शन (सत्य) पर अविचल, गाढ और निर्दोषरूप से श्रद्धा ही टिक पाती है।

चूंकि सम्यग्दर्शनरहित प्राणी की सिद्धि (कर्ममुक्ति) नही हो सकती, न ससार का अन्त आ सकता है, इसलिए दर्शन देवदुर्लभ है, और उसी की हार्दिक तमन्ना है।

इस गाथा मे बताई हुई योगी श्रीआनन्दघनजी की बात की साक्षी के रूप मे उत्तराध्ययनसूत्र मे स्वय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के गौतमगणधर के समक्ष निकाले हुए उद्गार है—

न हु जिणे अज्ज दीसई, बहुमए दीसई मग्गदेसिए।

'हे गौतम ! तुम्हे आज जिन (वीतराग परमात्मा) का दर्शन नही हो रहा है। अनेको मत (मान्यता) वाले मार्गदेशक दिखाई दे रहे हैं।' बहुत से मार्गदेशक लोग परमात्मदर्शन (शुद्ध आत्मदर्शन) इसलिए नही करा पाते, उसका कारण श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे स्पष्ट दिया है। इसीलिए वर्तमानकाल मे परमात्मदर्शन अतीव दुर्लभ है, जिसको पाने के लिए वे उत्सुक है।

इसीलिए अगली गाथा मे दर्शन की दुर्लभता का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

सामान्ये करी दर्शन दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष।
मद में घेर्यो रे अंधो केम करे, रवि-शशिरूप-विलेख ?॥

अभिनन्दन० ॥२॥

अर्थ

सामान्यरूप से ही जब आपका दर्शन दुर्लभ है तो समस्त नयो, प्रमाणो,

निक्षेपो आदि द्वारा सर्वप्रकार से निर्णयरूप आपका विशेष दर्शन तो और भी दुर्लभ है। क्योंकि जैसे कोई अन्धा हो और फिर शराब आदि के नशे से घिरा हो तो पहले तो वह सूर्य और चन्द्रमा के रूप को ही देख नहीं सकता, तो फिर इन दोनो के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण कैसे कर सकता है? वैसे ही विवेकनेत्र से रहित और उनमे भी मत, सम्प्रदाय, पंथ और दर्शन आदि के आग्रहरूप मद से मत्त बने हुए मतपथवादी सामान्यतया आपका दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते तो विभिन्न नयप्रमाणादि द्वारा आपके (शुद्धात्मा के) विश्लेषण-पूर्वक विशेष दर्शन तो प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं?

भाष्य

सामान्य और विशेषरूप से दर्शन की दुर्लभता

पूर्वोक्त गाथा मे परमात्मदर्शन की दुर्लभता का एक कारण बताया था— मतपथवादियों का मताग्रह। इस गाथा मे उसी का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है कि उसका नतीजा क्या आता है?, परमात्मदर्शन की दुर्लभता को इसमे सामान्य और विशेष दो दृष्टियों से श्रीआनन्दघनजी ने तौला है। यहाँ परमात्मा के दर्शन के दो प्रकार बताए हैं—सामान्य और विशेष। सामान्यरूप मे परमात्मा (अभिनन्दन) के दर्शन है वे ही आत्मा के (मेरे) दर्शन है। जो मेरी आत्मा के दर्शन है, वे ही परमात्मा के हैं। मेरी और इनकी आत्मा (द्रव्य) के स्थूल पर्याय मे भले ही भिन्नता हो, सामान्यरूप से स्वरूपदर्शन मे कोई भिन्नता नहीं है।

आत्मा और परमात्मा दोनो के आत्मगुणों—ज्ञाताद्रष्टा या चैतन्यस्वरूप मे कोई अन्तर नहीं। यह सामान्य दर्शन है।

इसी दृष्टि से कहा है कि सामान्यरूप मे समस्त ससारी आत्माओं को परमात्मदर्शन या शुद्धात्मदर्शन दुर्लभ है। बहुत-से प्राणी तो आत्मदर्शन का विचार भी नहीं करते, वे ससार के व्यवहार या अपने सासारिक क्रियाकलापों या शरीर, परिवार व सन्तान आदि के भरण-पोषण आदि सासारिक प्रवृत्तियो मे इतने रचेपचे रहते है, अथवा विविध व्यसन, निद्रा, गपशप या आलस्य मे इतने ग्रस्त रहते है कि उन्हे दर्शन के सम्बन्ध मे सोचने-विचारने तक की फुरसत ही नहीं मिलती, दर्शन प्राप्त करना तो दूर की बात है।

अथवा कई लोग ऐसे होते है, जो मतमतान्तर के झगडे मे पड कर अपने पाथिक या साम्प्रदायिक कदाग्रहो, पूर्वाग्रहो, या मिथ्या मान्यताओ, या मिथ्या-ज्ञान के चक्कर मे ऐसे फस जाते हैं कि उससे छूटना कठिन हो जाता है। ऐसे दुराग्रही और आँख खोल कर न दखने वालो के लिए दर्शनप्राप्ति सामान्य-रूप से कठिन है।

इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे ६ स्थान (बाते) बताए गए हे, जिन्हे मानना या जिन पर सोचना दर्शनप्राप्ति के लिए अनिवार्य है—(१) आत्मा अवश्य है, (२) आत्मा शाश्वत है, अविनाशी है, (३) जीव पुण्य और पाप का कर्ता है। (४) जीव कृतकर्मों का भोक्ता है, (५) योग्य पुरुषार्थ होने पर जीव की मुक्ति होती है, (६) जीव की मुक्ति के लिए उपाय भी है। इन ६ स्थानको का विचार, स्वीकार और स्पष्ट जानकारी न हो तो दर्शनप्राप्ति नही होती, दर्शन-प्राप्ति के अभाव मे वह जीव ससार मे भटकता रहता है, मगर वह उसका कारण नही जान पाता और चक्कर खाता रहता है। इसलिए विभावो या पौद्गलिक भावो मे रमण करते रहने वाले जीवो को सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है।

व्यवहारनय की दृष्टि से दर्शनप्राप्ति के ३ लिंग (चिह्न) बताए है—(१) शुश्रूषा—जिसे दर्शन सम्बन्धी तथ्यो और तत्त्वो को सुनने-समझने की अहर्निश तमन्ना हो तथा जो दूसरे सब काम छोड कर दर्शन की विचार-चर्चा सुनने के लिए दौड पडता हो, उसमे उसे खूब आनन्द आता हो, वह शुश्रूषा-लिंगी है। (२) **सेवा**—जिसे धर्मकरणी या धर्माचरण मे बहुत आनन्द आता हो, ऐसा व्यक्ति सेवा-लिंगी है। तथा (३) **वैयावृत्य**—जिसे देव अथवा गुरु की सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य करने मे आनन्द आता हो, रोगी, वृद्ध, तपस्वी, आदि की सेवा मे जिसकी दिलचस्पी हो, वह वैयावृत्यलिंगी है।

इन तीन लिंगो की प्राप्ति वाला दर्शन प्राप्त होना बहुत कठिन है। क्योकि इन तीनो के लिए अपना स्वार्थ, स्पृहाएँ, व इच्छाएँ छोड कर मानसिक एकाग्रता, अनुशासनशीलता एव इन्द्रियसयम को अपनाना पडता है। ये साधारण प्राणी मे होते नही, इसलिए सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ बताई है।

वस्तुतत्त्व का बोध तथा पर सच्ची समझपूर्वक श्रद्धा को जब हम परमात्मा का सम्यग्दर्शन कहते हैं, तो इसे प्राप्त करने के लिए भी सामान्यतया व्यवहार-नय की दृष्टि से ४ अंगों की प्राप्ति आवश्यक बताई है - (१) तत्त्वज्ञान का सुदृढ परिचय (२) तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञानी की सेवा (३) व्यापन्नकुदर्शनी का वर्जन (दर्शनभ्रष्ट जीव का संग न करना) और (४) कुलिंगीसंगवर्जन (धर्म-विरोधी, धर्मान्ध अथवा अधर्मी व्यक्ति के संग का त्याग) सम्यक्त्व के लिए ये चारो शर्ते बहुत ही कठिन होने से सामान्यतया दर्शन को कठिन बताया गया है। अत, निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से सामान्य रूप से दर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन यथार्थ है।

दर्शनमोहनीय की तीव्रग्रन्थी का श्रुतज्ञानरूपी पैनी छैनी से जब भेदन हो जाता है, तब आत्मा के सर्वप्रथम दिव्यनयन खुलते है; उनसे सर्वप्रथम जो सामान्यज्ञान होता है कि मैं हूँ, वह है, वे है। इस प्रकार के ज्ञान को सामान्यदर्शन है कहा जाता है, जो कि अत्यन्त दुर्लभ है। शास्त्रीय परिभाषा मे सामान्यदर्शन को उपशमसम्यक्त्व कहा है, जो अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्तिम दौर मे होता है। और इसके आते ही सर्व-प्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का उपशमन होता है। जिसे ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों का विभिन्न दृष्टियों, नयो एव हेतुओ से समग्ररूप मे विश्लेषण हो सके तथा सम्यक् निर्णय हो सके, उसे विशेष दर्शन कहते हैं।

विशेषदर्शन सामान्यदर्शन से भी दुर्लभतर इसलिए है कि इसमे वस्तु के तमाम पहलुओ का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार और निर्णय करना होता है। जो व्यक्ति साम्प्रदायिक, पांथिक या दार्शनिक वादाग्रह, पूर्वाग्रह या अपने माने हुए मत-पथ या मान्यता को सत्य मानने के मद से ग्रस्त है, जो दूसरो के पास या अन्यत्र सत्य सम्भव है, इसे कतई देखना-सुनना भी नही चाहता, वह अहकार, अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिक कट्टरता, हृदय मे असत्य जानते हुए भी सत्य सिद्ध करने का हठ, विवेकचक्षु के प्रयोग से इन्कार इत्यादि अनेक उपाधियो से युक्त है, वह विभिन्न नयो (दृष्टिकोणो), पहलुओं और हेतुओ से वस्तुतत्त्व का या आत्मा का विचार या निर्णय नही कर सकता। इस कारण विशेष-दर्शन की प्राप्ति दुर्लभतर बताई है। कदाचित् विशेषदर्शन की प्राप्ति

हो भी जाय, तो भी आसपास के विरोधी वातावरण के कारण उसके दिल-दिमाग मे यह बात जचनी मुश्किल है कि स्वय के माने हुए मत-पथ-दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र भी सत्य के अंशो की सम्भावना है, अथवा भिन्नभिन्न दृष्टिबिन्दुओ से प्रत्येक वस्तुतत्त्व को देखा जा सकता है। इसलिए निर्णय करना या निश्चय करना दर्शन की प्राप्ति से भी बढकर मुश्किल है। इसी कारण सर्वांगसत्यदर्शन की झाकी होना कठिन है।

सामान्य और विशेष रूप से दर्शन की दुर्लभता को स्पष्ट करने के अभिप्राय से श्रीआनन्दघनजी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—"**मद मे घेर्यो रे अधो केम करे, रविशशिरूपविलेख ?**" जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वय अन्धा हो, फिर शराब आदि नशीली चीज का सेवन करने से वह नशे मे चूर हो जाय तो सूर्य और चन्द्रमा के स्वरूप का विश्लेषण करना तो दूर रहा, उनके रूप का अवलोकन भी नही कर सकता। उसी प्रकार जो व्यक्ति पहले तो मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से ग्रस्त हो, मिथ्यात्व से अन्धा हो, फिर वह अपने मत, पथ, सम्प्रदाय या दर्शन के मद ('मेरा ही सच्चा है' के अहकार के नशे) मे डूबा हो तो, वह नयो, हेतुओ आदि द्वारा विभिन्न पहलुओ या दृष्टिकोणो से विशेष प्रकार से परमात्मा के सत्य का दर्शन करना तो दूर रहा, सामान्यरूप से भी उक्त दर्शन को प्राप्त नही कर सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से सोचे तो जिसे दर्शनमोहनीय के कारण मिथ्यात्व-दशा से ग्रस्त होने से सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई, उसे शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशसा, मिथ्यादृष्टिसस्तव, इन सम्यक्त्व के ५ अतिचारो (दूषणो) से रहित विशिष्ट परमात्मदर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

बहुत-से तथाकथित पण्डित या विद्वान् विभिन्न प्रकार के नयो, हेतुओ, तर्कों या आगमो द्वारा भी परमात्मा का सम्यग्दर्शन प्राप्त करने मे समर्थ हो सकते हैं, इस बात का खण्डन करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते हैं—

हेतु-विवादे हो चित्त धरी जोइए, अतिदुर्गम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ॥
अभिनन्दन० ॥३॥

अर्थ

हेतुओं (तर्कों) के विवादों (पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के झगड़ों में) चित्त को दृढ़ता से लगा कर उनके द्वारा परमात्मा का दर्शन करने जाय तो नयवाद (विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं) को समझना अत्यन्त पेचीदा है। शास्त्रप्रमाण की सहायता लेने जांय तो शास्त्र की जटिल एवं पूर्वापर-असंगत बातों से जहाँ बुद्धि चकरा जाती है; वहाँ कोई गुरुगम (निष्पक्ष गुरु की धारणा) न होने से परमात्म-दर्शन में यह सब व्यर्थ का विवाद है, बड़ा झगड़ा है, प्रपंच है या अत्यन्त खेदजनक है।

भाष्य

नयवाद में परमात्म-दर्शन दुर्लभ

श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन अब अन्य पहलुओं से करते हैं। बहुत से लोग परमात्मदर्शनप्राप्ति को बहुत ही आसान समझते हैं। वे सोचते हैं कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् दुनिया में हैं, वे किसी भी वस्तु को समझने-समझाने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म तर्क प्रस्तुत करते हैं, विविध दृष्टिकोणों को समझते-समझाते हैं। परन्तु तर्कों या हेतुओं से परमात्मा का दर्शन इतना आसान नहीं है। क्योंकि नयवाद अत्यन्त दुर्गम्य है। विभिन्न नयों का वर्णन कर देना या विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत कर देना एक बात है, और अपना मताग्रह पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह अथवा एकांतसत्य की भ्रान्ति को सर्वांश सत्य समझने का अहंकार छोड़ कर विभिन्न नयों या दृष्टिकोणों में सापेक्षता—सामंजस्य—अविरोधिता अथवा संगति स्थापित करना और बात है। यह बात बुद्धि की अपेक्षा हृदय से ज्यादा सम्बन्ध रखती है। जब तक हृदय परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के सत्यदर्शन के लिए झुके नहीं, बुद्धि में से कदाग्रह, मताग्रह या स्वत्वमद का नशा न उतरे, तब तक हृदय नम्र और सरल नहीं हो सकता, और हृदय के नम्र व सरल हुए बिना सत्यदर्शन होने अतीव दुर्लभ है। जहाँ बौद्धिक पहलवानों द्वारा तर्कों के दावपेंच लगा कर दूसरे को हराने और स्वयं के जीतने अथवा अपने बुद्धिबल से भ्रान्त तर्क प्रस्तुत करके या तोड़-मरोड़ कर अर्थ करके अपनी मानी हुई बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयास होता है, वहाँ सत्यनिष्ठा नहीं होती। प्रभुदर्शन की प्राप्ति के लिए आन्तरिक निष्ठा के अभाव में कोई भी हेतु या नयवाद सहायक नहीं हो सकता।

आगमवाद से भी दर्शनप्राप्ति कठिन

अब रही आगम प्रमाणो द्वारा प्रभुदर्शन प्राप्त करने की बात, वह भी व्यर्थ श्रम है। क्योकि आगमो के पाठो मे परमात्मदर्शन का निर्णय करने मे कठिनाई यह है कि आगमो मे जहाँ भी पूर्वापरविरुद्ध, असगत, अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सन्दर्भ मे कही हुई बाते आएँगी, वहाँ साधक की बुद्धि की गाडी अटक जाएगी, वहाँ निष्पक्ष गुरु की धारणा की जरूरत पडेगी और निष्पक्ष, सापेक्षवादपूर्वक वस्तुतत्व का यथातथ्य प्रतिपादन करने वाले गुरु बहुत ही विरले हैं। आगम का अर्थ है—वीतराग आप्तपुरुषो द्वारा भाषित और गणधरो द्वारा ग्रथित—सकलित मूलसूत्र, जिनमे जैनदर्शन के चारो अनुयोगो के सम्बन्ध मे बाते कही गई हो। आगमो मे बहुत-सी बाते प्रचलित और उपादेय होती है, बहुत-सी हेय और ज्ञेय होती है। कई स्थलो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अमुक परिस्थितिवश उत्सर्गसूत्र के बदले अपवादसूत्र होते हैं, कई जगह विभिन्न आशयो से पृथक्-पृथक् विधान व्यवहारचारित्रपालन के हेतु किये गए हैं, ऐसी स्थिति मे सामान्य साधक की बुद्धि गडबड या शका मे पड जाती है और उस समय यथार्थ निर्णय करने के लिए निष्पक्ष, सच्चे गुरु का मिलना भी कठिन हो जाता है। क्योकि आगमो मे बहुत-से विवादास्पद स्थलो मे परम्परागत अर्थ या सम्प्रदायगत धारणाएँ चलती हैं, किसी विवादास्पद विषय के बारे मे किसी गुरु से पूछने पर प्राय वह जिस सम्प्रदाय—परम्परा का होगा, उसे जैसी धारणा होगी, तदनुसार ही प्राय अर्थ करेगा या धारणा बनाएगा। ऐसी स्थिति मे परमात्मा के यथार्थ दर्शन की प्राप्ति तो खटाई मे पड जायगी, व्यक्ति एक के बदले दूसरी परम्परागत बात को ही परमात्मा का दर्शन समझ कर अपना लेगा। इसलिए शास्त्रप्रमाण द्वारा भी परमात्म-दर्शन की प्राप्ति होना कठिन है।

अत सापेक्षदृष्टि (अनेकान्तदृष्टि)—प्ररूपक जब वादविवाद के अखाडे मे उतर जाता है, तब उसे परमात्म—(सत्य) दर्शन तो होते नही, वह अपने अह-कार मे ही सतुष्टि करता है, जो पहले से जाना-माना है, उसी को सत्य समझ कर परमात्मा के दर्शन के नाम से चलाता है।

वाद-विवादो मे अक्सर विजिगीषाभाव होता है, जिज्ञासाभाव नही।

इस कारण 'वादे-वादे जायते तत्त्ववोध :' के बदले वाद-विवाद झगड़े, वैर-विरोध और द्वेष का रूप ले लेता है। फिर चाहे वह हेतुवाद हो या आगमवाद वे यथार्थ परमात्मदर्शन की प्राप्ति मे प्राय बाधक बनते है।

गुरुगम का अर्थ होता है—निष्पक्ष गुरु की प्रेरणा या मार्गदर्शन। आगमो मे बहुत सी बाते गुरुगम के अभाव मे उलटे रूप मे परिणत या प्रचलित हो जाया करती है। प्रत्येक व्यक्ति मे गुरु होने की योग्यता नही होती। केवल सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ का पण्डित होने से, शास्त्रो का अधिक वाचन होने मात्र से कोई गुरु नही हो सकता। शास्त्र मे (धर्मोपदेशक) के सम्बन्ध मे बहुत ही स्पष्ट बताया गया है[1]—

जो अपनी आत्मा को परभावो (दुर्गुणो) से सदा बचाता हो, इन्द्रियों और मन का दमन करता हो, जिसने चिन्ता-शोक आदि को नष्ट कर दिया हो, जो निश्चिन्त व निस्पृह हो, आश्रवो से दूर हो, वही परिपूर्ण (सभी दृष्टियो से सर्वांगपूर्ण) एव यथातथ्यरूप मे शुद्ध धर्म का कथन कर सकता है।

जिसका गम्भीर अध्ययन हो, विचारो के अनुरूप आचार हो, भौतिक-दृष्टि के बदले आध्यात्मिक दृष्टि मुख्य हो, शुद्ध आत्मभाव मे निष्ठा हो, जो श्रद्धापूर्वक अहिसा सत्य-आदि धर्मो का पालन करता हो, जिसने धर्म को जीवन मे रमाया हो, वही गुरु कहलाने और शास्त्रो के सम्बन्ध मे मार्गदर्शन देने का अधिकारी है।

अत. इस काल मे निष्पक्ष, निरभिमानी, स्वयप्रेरित, दीर्घद्रष्टा, नवीन-प्राचीन युगद्रष्टा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञान मे कुशल गुरु का सयोग मिलना बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि हेतुवाद, नयवाद या आगमवाद के द्वारा परमात्मा के दर्शन की प्राप्ति होने के बदले विवाद, विरोध, झगडा, या विषमभाव या खेद बढ़ने की आशका है, जिसका सकेत श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा के अन्त मे कर दिया है।

---

१ "आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्म सुद्धमाइक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं॥"

परमात्मदर्शन के विषय मे और क्या-क्या विघ्न हैं, उनका निर्देश करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते हैं—

घाती डूंगर आडा अतिघणा, तुझ दरिसण जगनाथ।
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगू कोई न साथ ॥
अभिनन्दन० ॥४॥

अर्थ

हे जगत् के नाथ ! मेरे देव !, आपके यथार्थदर्शन मे रास्ते मे विघ्न-कारक घातीकर्मों के अनेक पहाड अड़े खड़े हैं। साहस करके कदाचित् आपके दर्शन पाने के मार्ग पर चल पड़ूं तो भी साथ में चलने वाला कोई रास्ते का जानकार पथप्रदर्शक भी तो नहीं है !

भाष्य

परमात्मदर्शन मे बाधक : घातीकर्मपर्वत

परमात्मा के यथार्थदर्शन के लिए आत्मा का भी शुद्ध होना आवश्यक है। चेहरा चचल या मलिन होता है तो दर्पण मे ठीक दिखाई नहीं देता, वैसे ही आत्मा मन-वचन-काया के योगो से अस्थिर और कषायो व कर्मों से मलिन होता है तो परमात्मारूपी दर्पण मे यथार्थरूप मे उसके दर्शन नही हो सकते। यही कारण है कि परमात्मदर्शन के लिए सर्वप्रथम आत्मा के गुणो का सीधी घात करने वाले कर्मों (चार घातीकर्मों=ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को श्रीआनन्दघनजी ने पर्वत के समान बाधक बताए है। १. विभिन्न मतो वालो का स्वमत-स्थापना का आग्रह, २ सामान्य-रूप से दर्शनप्राप्ति की दुर्लभता, ३ किसी एक निश्चय पर आने की उसमे भी अधिक कठिनता, ४ मत-मद के नशे मे चूर मिथ्यात्वान्ध होने के कारण स्वरूप-की अशक्यता, ५ तर्कवाद की जटिलता, ६ नयवाद की दुर्गम्यता, ७ आगम द्वारा दर्शनप्राप्ति मे गुरुगम का अभाव, ८ सच्चे मार्गदर्शन के अभाव मे झूठे विवाद, इतने प्रभुदर्शनघाती पर्वतो की बात पूर्वोक्त गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी ने की। परन्तु इनसे भी बढकर आत्मगुणघातक ४ मुख्य पर्वत हैं, जो परमात्मा के दर्शन मे रोडे अटकाते हैं। वे एक नही, चार नही, अनेक हैं और ठोस हैं। कर्मों के मुख्यतया दो विभाग किये हैं—घाती और अघाती। घातीकर्म आत्मा के चार मूल अनुजीवी गुणो—ज्ञान, दर्शन, चारित्र

और वीर्य का घात करते हैं, उनमे विघ्नबाधा पहुँचाते हैं। ये हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। ज्ञानावरणीय ज्ञान का कम या ज्यादा घात करता रहता है। यह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही होने देता। दर्शनावरणीय वस्तु का सामान्य बोध होने मे विघ्न डालता है। जो बुद्धि को चक्कर मे डाल कर राग-द्वेष के अधीन बना कर मनोविकारों, कषायो व वेदोदय द्वारा चारित्र पर प्रभाव डालता है वह चारित्रमोहनीय तथा शुद्ध आत्मा-परमात्मा के दर्शन मे बाधक बनता है, वह दर्शनमोहनीय कर्म है। जो आत्मा की अचिन्त्यशक्ति, अनन्त बल-वीर्य विकसित नही होने देता, वह अन्तरायकर्म है। इन चारो घातीकर्मों की सर्वगुणघाती प्रकृतियाँ २० है और देशघाती कर्मप्रकृतियाँ २७ है। बाकी के ४ (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) कर्म अघाती है। ये आत्मगुणो का सीधा घात नही करते। ये प्राय शरीर मे ही अधिक सम्बन्धित है।

श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—"हे जगन्नाथ! ये आत्मगुणघाती कर्मपर्वत है, जो आपके दर्शन मे अन्तरायरूप है। ये पहाड जब तक चूर-चूर नही हो जायेंगे, तब तक आपके दर्शन होने कठिन है।

निश्चयनय की दृष्टि से कहे तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन होने मे ये परभावरूप घातीकर्म विघ्नकारक है। ये चारो मिल कर मेरे अनन्तज्ञानगुण, अनन्तदर्शनगुण, अनन्तचारित्रगुण और अनन्तबलवीर्य का ह्रास कर रहे है, अथवा मैंने इन परभावो को अपने मान कर अपनाए, ये मेरे ही असली स्वरूप के दर्शन मे बाधक बन गए हैं। इन्हे कैसे दूर करूँ?

दर्शन में विघ्न : साथी पथप्रदर्शक का अभाव

कोई कह सकता है कि साधक को तो अपनी आत्मा मे ही रमण करने से मतलब है, कर्मो का आत्मा से सम्बन्ध ही क्या है? ये क्या कर सकते हैं? परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। साधक बाहर से शुष्क अध्यात्मवाद के घेरे मे पडा-पडा यो कहता रहता है—'मैं ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, निर्मोही हूँ, अनन्तबली हूँ', परन्तु इस भ्रम मे अपने आपका अधिक मूल्यांकन करके जब वह परमात्मदर्शन के मार्ग पर आगे बढता है तो उसके पैर लडखडाने लगते हैं, उसका हृदय कांपने लगता है, उसकी शक्ति सांसारिक मोहमाया मे ही

अधिक लगती है, उसका मन रागद्वेष के द्वन्द्वो, मताग्रहो, पूर्वाग्रहो आदि की ओर ही अधिक दौडता है, बुद्धि अहकार के पोषण मे ही लगती है, काम-क्रोध-लोभ मोह आदि दुर्गुणो की शिकार बन कर आत्मा निर्बल हो जाती है। फिर भी आनन्दघनजी इन घातीपर्वतो की परवाह न करके परमात्मदर्शन के लिए साहसपूर्वक कदम आगे बढाते है, अपनी सारी शक्ति बटोर कर वे चल पडते हैं, या तो कार्य सिद्ध करके छोडूँगा या शरीर छोड दूंगा, इस प्रकार के दृढसकल्पपूर्वक जब वे दर्शनप्राप्ति के रास्ते पर चल देते है, तो आगे चल कर उन्हे अनुभव होता है कि "अरे! मैं तो अकेला ही चल पडा! मुझे न रास्ते का पता है और न परमात्मा के दर्शन की विधि की जानकारी है, कैसे पहुँच पाऊँगा, परमात्मा के निकट ?" अत वह स्वय ही इस कठिनाई को प्रगट करते हैं—**'सेंगू कोई न साथ'** सेग् का अर्थ होता है—रास्ते का जानकार, रास्ता बताने वाला पथप्रदर्शक। जब अज्ञात देश मे कोई व्यक्ति जाता है या अटवी (घोर जगल) के रास्ते से जाता है तो किसी न किसी पथप्रदर्शक-मार्ग के जानकार आदमी को साथ ले लेता है। ताकि वह रास्ता भूले नही, सही सलामत अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाए और रास्ते मे डाकुओ, लुटेरो आदि से भी रक्षा हो सके। परमात्मदर्शन का पथ भी बहुत कटकाकीर्ण और अटपटा है। अनजाना आदमी इस पथ पर चलने का साहस करेगा, तो वह कही रास्ता भूल कर परमात्मा के बदले किसी चमत्कारी या प्राणिघातक या स्वार्थसाधक रागद्वेपपरायण देवी-देवो के चक्कर मे फँस जाएगा अथवा परमात्म-दर्शन के नाम से किसी उटपटाग व्यक्ति के दर्शन को ही सच्चा दर्शन मानने लगेगा। उसे परमात्मदर्शन मे सफलता नही मिलेगी। वास्तव मे ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति को परमात्मदर्शन के लिए चलना तो स्वय को ही है, उसके बदले दूसरा व्यक्ति चले तो उसे दर्शन नही हो सकेंगे। परन्तु कोई सच्चा मार्गदर्शक मिल जाता है, तो उसे रास्ता ढूँढने मे कोई दिक्कत नही होती और न वह सीधा रास्ता छोड कर या भूल कर उत्पथगामी बनता है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी अपनी लाचारी प्रदर्शित करते है कि मैं चला तो था, ऐसे किसी मार्गदर्शक साथी की खोज मे, पर मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नही मिला, जो नि स्पृह, निष्पक्ष और नि स्वार्थ हो कर सही-सही मार्गदर्शन कर कर दे, या मुझे उत्पथ पर जाने से बचा ले, जहाँ मैं रास्ता भूल जाऊ,

वहाँ मुझे रास्ता बता दे। परन्तु अफसोस है कि ऐसा कोई योग्य मार्गदर्शक साथी नहीं मिला। अधकचरे, उत्पथगामी, मतावेषी, वासनावर्द्धक या स्वार्थी मार्गदर्शक जरूर नजर आए, पर उनसे मेरा काम बनने के बदले ज्यादा बिगड़ता, इसलिए मेरी कठिनाई यह है कि मैं अब बिना ही किसी मार्गदर्शक साथी के बैठा हूँ। मुझे परमात्मदर्शन की बहुत ही तमन्ना है, पता नहीं कब पूरी होगी ?

इतनी सब कठिनाइयाँ बता कर अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन के अन्य उपायों को निष्फल बताते हुए कहते हैं—

> 'दर्शन- दर्शन' रटतो जो फिरू', तो रणरोज-समान।
> जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान ?"
>
> अभिनन्दन० ॥५॥

अर्थ

अगर मैं दर्शन-दर्शन की रट लगाता फिरू' तो यह मेरा रटन अरण्यरोदन के समान या मेरा वह भ्रमण जंगली रोज के भ्रमण के समान होगा ! भला जिसे प्रभुदर्शनरूपी अमृत पीने की इच्छा हो, उसकी वह प्यास दर्शनशब्द के रटनरूपी जहर से कैसे मिट जायगी ?

भाष्य

दर्शन के रटन से दर्शन की प्यास नहीं मिटती

श्रीआनन्दघनजी ने दर्शन की दुर्लभता पर विचार करते हुए पिछली गाथाओं में अपनी उलझन और खिन्नता प्रगट की है। उन्हें मताग्रहवादियों से परमात्मदर्शन -प्राप्ति दुर्लभ लगती है। इसी तरह तर्कवाद, नयवाद और आगमवाद से भी विवाद के सिवाय और कुछ पल्ले नहीं पड़ता नजर आता ! स्वयं पुरुषार्थ करने जाय तो उन्हें घातीकर्मरूपी पर्वतों का लांघना दुष्कर लगता है और कदाचित् साहस करके परमात्मदर्शन के पथ पर चल भी पड़े, तो भी रास्ते में अनभिज्ञ होने के कारण तथा कोई पथप्रदर्शक (Guide) न होने से कहीं भटक जाने का खतरा प्रतीत होता है। परन्तु अन्त में उन्हें एक उपाय सूझा कि मैं 'दर्शन-दर्शन' की रट लगा कर लोगों के सामने अपना विचार प्रगट करू, शायद कोई राहबर मिल जाय और दर्शन की मेरी प्यास

मिटा दे।' परन्तु इस सम्बन्ध मे भी वे अपनी निराशा प्रगट करते है कि अगर मैं जनता के सामने दर्शन-दर्शन चिल्लाता फिरू तो मेरी यह पुकार अरण्यरोदन के समान होगी। मुझे ऐसी सम्भावना कम है कि कोई मेरी यह पुकार सुने। क्योकि ससार मे अधिकतर लोग शुष्क अध्यात्मवाद की रटन के द्वारा अपना आत्मसतोष मान लेते है, अथवा सूखा अध्यात्मवाद बघार कर जनता मे अध्यात्मयोगी या आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, वे अपने जीवन मे प्राय वास्तविक आत्मदर्शन या परमात्मदर्शन न तो स्वयं ही कर पाते है, और न दूसरो को करा सकते हैं।

अथवा मेरा दर्शन-दर्शन की रट लगाते घूमना भी उसी तरह होगा, जैसे जंगल मे रोज (नील गाय) का होता है। बेचारा वह पशु गर्मी मे प्यास लगने पर पानी की खोज मे इधर-उधर दौड लगाता फिरता है, परन्तु पास जाने पर दूर से दिखाई देने वाले पानी के बदले सूखी रेत मिलती है। जैसे उसमे उसकी प्यास नही मिटती, वैसे ही परमात्मदर्शन की प्यास बुझाने के लिए दर्शनशब्द की रट लगाता जगह-जगह भटकता फिरू, तो उस आशिक सत्य को ही सर्वांशसत्य मान लेने, चाहे जिस 'दर्शन' को परमात्मा का दर्शन मान लेने से मेरी भी दर्शन की प्यास नही मिट सकती। जिस तरह किसी व्यक्ति को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अगर अमृत के नाम पर विष पी ले तो उसकी अमृतपिपासा मिट नही सकती, उसी तरह जिसे परमात्मा (वीतराग) के सम्यग्दर्शन की पिपासा हो, उसे अगर सम्यग्दर्शन के नाम से प्रचलित कोई कुदर्शन या अव्यवस्थित एकान्त-दर्शन प्राप्त करा दे तो उसकी सम्यग्दर्शन-पिपासा कैसे मिट सकती है? बल्कि जैसे पानी के बदले मिट्टी का तेल पी लेने पर प्यास मिटने के बदले अधिक भडक उठती है, वैसे ही परमात्मा वीतराग के सम्यग्दर्शनरूपी अमृत के बदले कोई कुदर्शनरूपी विष पिला दे तो उससे दर्शन की प्यास मिटने के बदले और अधिक भडकेगी, यानी ऐसे व्यक्ति को प्रत्येक सम्यग्दर्शन को देख कर भी उसमे मिथ्यादर्शन की बू आने लगेगी, वह सच्चे दर्शन को भी झूठा समझने लगेगा। जैसे दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है, वैसे ही सम्यग्दर्शनपिपासु भडक जाने पर सम्यग्दर्शन को अपनाने मे भी सदेह या वहम करने लगेगा।

यहाँ 'रणरोज' का अर्थ अरण्यरोदन अधिक सगत प्रतीत होता है। उस दृष्टि से अर्थ होगा—सुदूरयात्री की वन मे होने वाली दशा के समान उक्त अध्यात्मयात्री की दशा ससाररूपी वन मे हो जाती है। घोर अटवी पार करके जाने वाला यात्री अगर उस अटवी मे पानी-पानी पुकारता है तो उसकी प्यास जब नहीं बुझती, तब आखिर वह हार-थक कर पानी के नाम से जो भी चीज मिल जाती है, उसे पी कर मन को मना लेता है, मगर उससे उस यात्री की प्यास बुझती नहीं, इसी प्रकार ससाररूपी घोर अटवी पार करके जाने वाला अध्यात्मयात्री भी परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्यास लगने पर दर्शन-दर्शन शब्द की रट लगाता है, और जब उसे सच्चा दर्शन नहीं मिलता, तब आखिरकार हार-थक कर वह जो भी 'दर्शन' मिल जाता है, उसे ही सच्चा मान कर मन को बहलाता है, लेकिन उसकी सद्दर्शन की जो प्यास थी, वह मिटती नहीं। फलत प्यास बनी की बनी रहती है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे किसी को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अमृत के बदले अमृत के नाम से विषपान कर ले, अथवा गगाजल मे अवगाहन करने की इच्छा वाला व्यक्ति तलैया के गदे व छिछले पानी मे अवगाहन कर ले। या गुलाब के सुगन्धित फूल के बदले गुलाबी रग के निर्गन्ध टेसू के फूल प्राप्त कर ले। कई बार अशदर्शन (आशिक सत्य) विषपान जैसा बन जाता है, उसी को सर्वांशदर्शन (सत्य) मान कर प्राणी वही फस जाता है, उसका आगे का विकास या गुणस्थानक्रम रुक जाता है। असल मे अमृत-दर्शन का अर्थ है—अमर होने का दर्शन। बाह्य क्रियाकाण्ड से अनुप्राणित या भौतिक दर्शन अथवा लौकिक सुखो की पूर्ति करने वाला दर्शन अमरता या अमृत का दर्शन नहीं है। उसमे चाहे स्वर्गप्राप्ति हो जाती हो, या मनुष्यगति प्राप्त हो जाती हो, मगर है यह जन्ममरण का चक्र, ससार (मृत) की प्राप्ति ही। इसलिए जिसे जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो कर अमृतत्व के दर्शन पाने या उन परमात्मा के अमृतत्व के दर्शन पाने की इच्छा है, वह उस मृतत्व (जन्म-मरण के) चक्र मे फँसाने वाले दर्शन को पकड ले तो उसके लिए यह विषपान तुल्य ही होगा। उसकी अमृतपिपासा उस विषपानतुल्य विपरीत दर्शन, ससारमार्ग मे भटकाने वाले कुदर्शन या भौतिक दर्शन से कैसे मिट सकती है?

कई बार सामान्य साधक यह मान लेते हैं कि वीतराग देव, पंचमहाव्रती

गुरु और वीतरागकथित धर्म इन तीनों का पाठ गुरु के मुख से सुन लेने में और तथाकथित अमुक वेष व अमुक क्रिया वाले गुरु को गुरु बना लेने मात्र से वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इतनी सुलभ नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मा की शुद्धस्वरूप और तदनुसार शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त देव (फिर उनका नाम चाहे जो हो, वे किसी भी धर्मतीर्थ में हुए हों। अथवा शुद्धात्मदशा को प्राप्त करने के लिए परभावों के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा, मोह, आदि को छोड कर साधना करने वाले (वे चाहे जिस पंथ, धर्म-सम्प्रदाय या वेष के हों) गुरु या स्वर्गादि प्राप्ति के कराने वाले मोह [प्रेय] मार्ग—जन्ममरण के पथ—को छोड कर मोक्षमार्ग पर ले जाने वाले धर्म को धर्म मानना, विश्वास करना और अपनी आत्मा को इसी शुद्ध आत्मभाव रमण वाले पथ पर ले जाने के लिए अहर्निश प्रयत्न करना आवश्यक है। अन्यथा, वीतराग परमात्मा के सम्यग्दर्शन के बदले अन्धविश्वास, गुरुडमवाद, झूठा संतोष, सच्चे आत्मविकास में रुकावट आदि चीजें ही पल्ले पड़ेंगी। फिर तो हर कोई पढा-लिखा तथाकथित व्यक्ति वेष पहन कर भोलेभाले व्यक्तियों के कान में यह मन्त्र–"देव अर्हन्त, गुरु निर्ग्रन्थ (अथवा अमुकनाम वाला) और केवलीप्ररूपित धर्म, ये तीन करो स्वीकार, हो जायेगा बेडा पार" फूंक देगा और लाखों तथाकथित सम्यग्दर्शनी अनुयायी आसानी से बना लेगा। जैसा कि अनेक धर्म—सम्प्रदाय के लोगों में देखा जाता है।

श्रीआनन्दघनजी को इसीलिए कहना पडा—"**मत मत भेदे रे जो जई पूछिए सहु थापे अहमेव**"। सभी मतपथवादी अपने-अपने मत-पंथ या अपने नाम की समकित [सम्यक्त्व] दे कर वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन के नाम से अपना सिक्का चलाने का प्रयास करते देखे जाते हैं और वह तथाकथित सम्यग्दर्शन अमृत के बदले जहर का काम करता है—परस्पर विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों, पथों, मतों के झगडे बढा कर वैरविरोध फैला कर, राग-द्वेष बढा कर। ऐसे तथाकथित सम्यग्दर्शनियों में मेरे-तेरे की, अपने उपाश्रयों, मान्यताओं, परम्पराओं, व अनुयायियों के अहत्व-ममत्व बढाने और दूसरों को नीचा दिखाने उनके प्रभाव को फीका करने की होड लगती है। इन सारी प्रक्रियाओं

से तथाकथित सम्यग्-दर्शनी या सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के दावेदार आत्मदृष्टि को ताक मे रख कर या परमात्मा या आत्मा के तत्त्वज्ञान की जोरशोर से रट लगा कर उसकी ओट मे प्राय शरीरदृष्टि बन जाते है। वे शरीर से सम्बन्धित बातो—बढिया खानपान, सम्मान, प्रतिष्ठा, अनुयायियो की वृद्धि शरीरपोषण, अहकारपोषण, या राग-द्वेषवर्धक प्रवृत्तियो मे ही अधिक मशगूल नजर आते हैं।

इसीलिए आनन्दघनजी उस तथाकथित लेबल वाले सम्यग्दर्शन से सतुष्ट नही हैं, वे इसे अमृतपान के बदले विषपान समझते है। अत वे इसे न अपना कर अगली गाथा में परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कृतसकल्प हो कर पुकार उठते हैं—

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो सीझे जो दरसणकाज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज॥
अभिनन्दन० ॥ ६ ॥

अर्थ

अगर आपके (परमात्मा) दर्शन का कार्य सिद्ध हो जाय, तो मुझे जीवन या मृत्यु के कष्ट की कोई परवाह नहीं है। अथवा यदि आपके दर्शन की प्राप्ति का मेरा काम बन जाय तो फिर मुझे जीवन (जन्म)-मरण के चक्र मे भटकने का त्रास (कष्ट) नहीं रहेगा—सदा के लिए मिट जाएगा। सामान्यरूप से तो दर्शन दुर्लभ है, तथापि आनन्द के समूहरूप आप जिनराज (परमात्मदेव) की कृपा हो जाय तो यह सुलभ भी है।

भाष्य

दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाने को तैयार

आध्यात्मिक जीवन मे मोक्षयात्री के लिए परमात्म-दर्शन या सम्यग्दर्शन सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, यो कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी कि सम्यग्दर्शन एक का अक है, और ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग आदि बिंदियाँ है। जैसे एक के न होने पर बिंदियो का कोई मूल्य नही होता, वैसे ही सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान, चारित्र, तप, नियम, सयम, वीर्य, उपयोग

आदि की कोई कीमत नही है । सम्यग्दर्शन के अभाव मे ज्ञान, चारित्र आदि सब भवभ्रमण मे वृद्धि करने वाले है, भव मे मुक्ति दिलाने वाले नही । सम्यग्दर्शन के अभाव मे चाहे जितना तप कर ले, चाहे जितना शरीर को कष्ट दे ले, चाहे जितनी कठोर क्रिया कर ले, चाहे जितना आचार पालन कर ले, वे सब मुक्ति के कारण नही बनते, उनमे स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, वे जन्ममरण के बन्धन को काटने वाले नही बनते । उत्तरोत्तर आत्मविकास भी तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र हो । गुणस्थानश्रेणी पर भी जीव तभी चढता है, जब उसमे सम्यग्दर्शन हो । कोरे वेष का, थोथी क्रियाओ का, विद्वत्ता, पाण्डित्य या शास्त्रो के गम्भीर अध्ययन का सम्यग्दर्शन के बिना कोई मूल्य नही है । आत्मविकास मे ये वस्तुएँ तभी मदद दे सकती हैं, जब सम्यग्दर्शन इनके मूल मे हो । जिसका दर्शन (दृष्टि) सम्यक् हो जाता है, उसे शास्त्रो की, तत्त्वो की, हेय-ज्ञेय- उपादेय की, वस्तु-स्वरूप को समझने की, अध्यात्मदृष्टि से किस वस्तु का, कहाँ, कितना और कैसा उपयोग या सम्बन्ध है ? इन सब बातो की यथार्थ समझ आ जाती है, आत्मभाव पर ठोस श्रद्धान हो जाता है, समस्त जीवो को आत्मा की दृष्टि से देखने मे वह अभ्यस्त हो जाता है, समस्त शास्त्रो, धर्मों, दर्शनो, मतो, पथो धर्मग्रन्थो, धर्मधुरधरो, महापुरुषो आदि तथा ससार के समस्त पदार्थों को वह आत्मा की कसौटी पर कस कर जाँचने-परखने लग जाता है । प्रत्येक वस्तु मे निहित सत्यों व तथ्यो की छानबीन वह कर सकता है । यही सच्चा आत्मदर्शन और यही सच्चा परमात्मदर्शन है । वीतराग का सम्यग्दर्शन भी यही है । इसे पा कर व्यक्ति निहाल हो जाता है, जन्म-मरण के अनेकानेक चक्करो को काट देता है, उसका ससार-परिभ्रमण सीमित हो जाता है । और प्राणी के जीवन मे सबसे बडा कष्ट जन्ममरण का है, क्योकि जन्म लेने के बाद मृत्यु-पर्यन्त प्राणी सम्यग्दर्शन के अभाव मे अज्ञान व मोह के वशीभूत हो कर अनेक अनर्थकर व तीव्र अशुभकर्मबन्धक प्रवृत्तियाँ कर बैठता है, अपने लिए फिर जन्ममरण के चक्र बढाता रहता है । यही दु खो की परम्परा का मूल कारण है । अतएव श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि अगर दर्शन-प्राप्ति का मेरा कार्य सिद्ध होता हो तो मै जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हूँ । मुझे जिंदगी मे चाहे जितने कष्ट सहने पडे, मेरी जिंदगी चाहे आफतो के सागर

पर खड़ी हो, मुझे मारणान्तिक कष्ट भी क्यों न सहना पड़े, चाहे मेरी मृत्यु ही सामने खड़ी हो, अथवा चाहे मुझे कई जीवन क्यों न धारण करने पड़ें, मुझे इसका कोई रंज नहीं, न मुझे जिंदगी या मौत की परवाह है, जिंदगी रहे या जाय, मौत भले ही आज ही आ जाय, मुझे उस पर कोई गम नहीं आनी, न मुझे जिंदगी से मोह होगा, और न ही मृत्यु से नफरत। अगर प्रभु के सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती हो तो मैं हजार जिंदगियाँ न्यौछावर करने को तैयार हूँ। यह हुआ इस पंक्ति का एक अर्थ, जो अधिक संगत जचता है।

इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया गया है कि अगर वीतरागप्रभु के दर्शन का मेरा कार्य सिद्ध हो जाय तो मुझे फिर उतने जन्म-मरण के त्रास नहीं रहेंगे। यानी मेरे जन्म-मरण के कष्ट कम हो जायेंगे, क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर (ससार=जन्ममरण का चक्र) परित्त (सीमित) हो जाता है।

पहले अर्थ में श्रीआनन्दघनजी की सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की तीव्र तमन्ना, अपूर्व उत्सर्गभावना प्रगट होती है, उसके लिए वे जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। जिस प्रकार धन या बहुमूल्य रत्न आदि की प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने को तैयार हो जाता है, इतना ही नहीं, अपनी जान हथेली पर रख कर, या गोताखोरों की तरह मरजीवा बन कर अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है, वैसे ही श्रीआनन्दघनजी भी मानो दर्शनपिपासु लोगों को दर्शनप्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं —भव्य जीवो! परमात्मदेव (शुद्ध आत्मदेव) के दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवन और मरण की परवाह मत करो, तन, मन, धन, साधन सभी वस्तुएँ इस पर फना कर दो, इसके लिए जो भी कष्ट आएँ, सहने को तैयार रहो।

दूसरे अर्थ के अनुसार श्रीआनन्दघनजी दर्शनकार्यकी सिद्धि का फल बताते है, कि अगर दर्शनकार्य सिद्ध हो जायगा तो जन्म-मरण का त्रास नहीं रहेगा, अपार जन्म-मरण का वह कष्ट मिट जायगा या कम हो जायगा।

दुर्लभ दर्शन—कृपा से सुलभ

पूर्वोक्त गाथाओं द्वारा श्रीआनन्दघनजी दर्शन की दुर्लभता का विभिन्न पहलुओं से प्रतिपादन कर चुके। दर्शनप्राप्ति के मार्ग मे कितनी अड़चने हैं? दर्शनप्राप्ति के लिए व्यावहारिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से कौन-

कौन से उपाय है? यह बात भी उन्होंने इस स्तुति मे दिल खोल कर प्रभु के समक्ष रख दी। परन्तु अन्त मे हार-थक कर वे परमात्मा के सामने घुटने टेक कर कहते है—'आपका दर्शन तो दुर्लभ है, परन्तु हे आनन्दमूर्ति देव! आपकी कृपा से सुलभ भी है। मतलब यह है कि श्रीआनन्दघनजी मानो अपना बौनापन जाहिर करते हुए कहते है—दर्शनरूपी अमृतफल जो परमात्मारूपी तरु मे लगे हुए है, पाने तो है, पर मै तो अभी उन्हे पाने मे अक्षम हूँ, बौना हूँ। मुझ पर परमात्मा की कृपा हो जाय तो दुर्लभ दर्शन भी सुलभ हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी से यह अमृतफल छोडा भी नही जाता, किन्तु साथ ही पाने की दुर्लभता भी है,। दर्शन की महत्ता के साथ-साथ उसकी दुर्लभता भी प्रतीत होती है। मगर वे इस दुर्लभता को सुलभता मे परिणत करने के लिए कटिबद्ध है, 'परमात्म-कृपा द्वारा। देखना यह है कि वह परमात्मकृपा कैसे प्राप्त होती है? यह बात आत्म-अर्पण के सम्बन्ध मे की गई अगली (सुमतिनाथ प्रभु की) स्तुति मे स्पष्ट की गई है।

आनन्दघन-परमात्मा की कृपा क्या व कैसे ?

प्रभुकृपा से दुर्लभ दर्शन सुलभ होने की बात पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योकि जिस धर्म या दर्शन मे ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाता है, वहाँ ईश्वर-अनुग्रह या प्रभुकृपा से किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने की बात मानी जा सकती है, परन्तु सृष्टि को अनादि मानने वाले जैनदर्शन मे परमात्मा की कृपा को क्या स्थान हो सकता है? यह विचारणीय प्रश्न है। वीतराग परमात्मा तो पर कर्ता-हर्ता है नही, न कुछ लेते-देते है। फिर भी जैन दृष्टि से प्रत्येक कार्य के होने मे निमित्तकारणो मे जो ५ कारण-समवाय आवश्यक माने है, उनके अतिरिक्त भी अनेक निमित्तकारण हो सकते है, वैसे निमित्तकारणो मे से एक कारण 'परमात्मा' हो सकते है। ऐसा मानने मे सैद्धान्तिक दृष्टि मे कोई आपत्ति भी नही है। सभी प्राणी एक साथ तो मोक्ष मे जाते ही नहीं हैं, परन्तु परमात्मा की कृपा तो सबको मोक्ष मे ले जाने की है; और रही है। आवश्यकनिर्युक्ति मे सिद्धो (परमात्मा) और आत्मा के गुणो का शाश्वतभाव वर्णित है। सिद्ध (परमात्मा) की उपकारकता शाश्वतभाव को ले कर है। इस तत्त्वदृष्टि से प्रभुकृपा को आगम मे अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

मूल मे तो स्वयं आत्मा, जो उपादानकारण है, उतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह परमात्मदर्शन के योग्य बन सके। इसीलिए निश्चयदृष्टि से वे अपनी आनन्दघनरूप वीतराग शुद्धस्वरूप आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते है—हे अनन्त आनन्द के धाम आत्मा, तेरी कृपा हो जाय, यानी तू उतनी सशक्त, समर्थ और कार्यक्षम बन जाय तो तू आसानी से परमात्मदर्शन या शुद्धात्म-दर्शन कर सकती है। जब आत्मा शुद्धात्मभाव की ओर तीव्रता से बढ़ती है, तो अनायास ही सिद्ध-परमात्मा की कृपा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का शुद्धता की ओर बढ़ना ही परमात्मा का वास्तविक दर्शन है, अथवा सम्यग्दर्शन का लाभ है।

सारांश

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के दर्शन (सम्यग्दर्शन) की महत्ता और दुर्लभता के विभिन्न कारणो का उल्लेख करते हुए वर्णन किया है। मतपथवादियो का अपने मत की स्थापना का आग्रह, हेतु (तर्क) वाद नयवाद और आगमवाद, घातीकर्मपर्वत-निवारण, पथप्रदर्शक का साथ, दर्शन की रट, आदि सभी उपायो से परमात्मदर्शन की दुर्लभता सिद्ध की है। घातीकर्म-पर्वतो को हटाना तथा दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाना, ये दो दर्शनप्राप्ति के उपादानकारण है, जिनके प्रगट होने पर कार्य अवश्य होता है। बाकी के सब निमित्तकारण तो उपादानकारण के शुद्ध और योग्य होने पर प्रायः अपने-आप ही अनुकूल बन जाते है।

सचमुच, परमात्मा के सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी ने विभिन्न पहलुओ से वर्णन करके कमाल कर दिखाया है।

वास्तव मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप, व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियो से विचारणीय है। साथ ही सम्यग्दर्शन के प्रकार, इसके गुणस्थान, इसे पुष्ट करने वाले ८ गुण, इसकी प्रगति व फल के सम्बन्ध मे तीन (योग) शुद्धि, शुश्रूषादि तीन लिंग, शमादि ५ लक्षण, शंकादि ५ दूषण, ५ भूषण (स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थसेवा), प्रावचनी आदि ८ प्रभावक, राजाभियोगेण आदि ६ आगार, तत्त्वज्ञान-परिचय आदि ४ सद्दहणा, ६ जयणा-

(कुदेव और कुगुरु के साथ वन्दन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, सलाप, इस तरह ६ प्रकार का व्यवहार न रखना) ६ भावना (आलंकारिक शब्द, मूल, द्वार, नीव, निधान, आधार, भाजन), ६ स्थान (अस्ति, नित्य, कर्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय), अरिहंत आदि १० विनय, इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ६७ बोल (अधिष्ठान) विशेष रूप से जानने योग्य हैं। दर्शन आत्मा का मूलगुण है, मोक्ष का द्वार है, धर्म का मूल है। इस पर जितना भी मनन किया जाय, थोड़ा है।

अपनी तमाम सावद्य प्रवृत्तियों का सर्वतोभावेन उत्सर्ग (त्याग) करके परमात्मा के चरणों में अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन, वाणी आदि सबको समर्पण करना। मुनि बनने के बाद पादाघात के कारण संयम में विचलित होने पर मेघकुमार को जब श्रमण भगवान् महावीर ने विभिन्न युक्तियों द्वारा समझाया तो उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली और प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करके प्रभु महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा कर ली कि "आज से जीवनपर्यन्त सिर्फ आँख के सिवाय, मेरे समस्त अंगोपांग, मन बुद्धि-इन्द्रियादि सब आपको समर्पित हैं, ये सब आपकी आज्ञा से बाहर नहीं चलेंगे।"[1] आज्ञा में ही धर्म है, आज्ञा में तप है, इसका भी आशय आत्मसमर्पण से है।[2] चार शरणों का स्वीकार करना भी आत्मसमर्पण के अन्तर्गत है।

वैष्णव-सम्प्रदाय में प्रभुभक्ति की दृष्टि से समर्पण करने की बात का उल्लेख भगवद्गीता[3] एवं भागवत आदि धर्मग्रन्थों में जगह-जगह किया है। वहाँ 'सर्वस्व अर्पण' का अर्थ यही किया गया है कि तूने ? जो कुछ सत्कार्य, सद्विचार, सदाचार, सद्व्यवहार या सदनुष्ठान किये हैं, उन सबको प्रभु-समर्पण कर।[4] तेरे बुद्धि मन, इन्द्रियाँ, वाणी, आदि सब अवयव तथा तेरे पास जो कुछ भी अपने माने हुए तन, मन, धन, साधन, परिवार, सन्तान, प्रतिष्ठा सम्प्रदाय आदि हैं, उन्हें प्रभु के चरणों में समर्पण कर दे, और कह दे 'इदं न मम' (यह मेरा नहीं है प्रभु आपका ही है)। ईश्वर-कर्तृत्ववाद की दृष्टि से समस्त पदार्थ, शरीर, धन आदि भगवान् के दिये हुए माने जाते हैं, इसलिए समर्पण करते समय भक्ति की भाषा में भक्त यही कहता है—'प्रभो! आपकी दी हुई वस्तु आपको ही समर्पित करता हूँ।'[5] सर्वस्व-समर्पण' में खाने-पीने-पहिनने से लेकर व्यापार, आजीविका, अध्ययन करना, भोजन बनाना, आदि जो भी सत्प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबमें ममत्वबुद्धि का त्याग करना आवश्यक होता है। यदि समर्पण नाटकीय तौर पर न हो तो समर्पणकर्ता यही

---

१ 'आणाए धम्मो, आणाए तवो'।
२ अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि' आदि।
३ 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (मेरे में मन और बुद्धि को अर्पित कर)
४. तत् कुरुष्व मदर्पणं (तेरे समस्त कार्यों को मेरे अर्पण कर)
५. त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये।

मानता है कि मैने जो भी सत्कार्य किये, वे किसी कामनावृत्ति से नही, केवल निष्कामभाव से अर्थात् प्रभुकृपा से या प्रभुप्रीत्यर्थ किये हैं, उनके शुभ फल का श्रेय भी प्रभु को हो। इस प्रकार के समर्पण मे भक्त प्रत्येक शुभ कार्य निष्कामभाव से करता है तो अहता-ममता या स्वच्छन्दता की, वृत्ति किसी प्रकार प्रकार के बदले या शुभफल की आकाक्षा या अपेक्षा नही रह सकती। इस प्रकार के समर्पण मे अहकर्तृत्व, ममकर्तृत्व का त्याग हो जाने से भक्त प्रभु मे तन्मय, तल्लीन और तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार का तादात्म्य स्थापित करना और नि स्पृह वृत्ति रखना ही समर्पण का कार्य है।

आत्मसमर्पण किसको किया जाय ?

आध्यात्मिक साधक के लिए आत्म-समर्पण करने की बात तो समझ मे आती है, परन्तु किसके समक्ष किया जाय ? क्योकि जगत् मे देखा जाता है कि साधारण व्यक्ति अपने से विशिष्ट सत्ता, प्रभुता, शक्ति, और वैभव वाले शासक, सम्राट्, पदाधिकारी, शक्तिशाली, या वैभवशाली के आगे समर्पण कर देता है, विजेता के सामने पराजित अपने हथियार डाल देता है, वह स्वय को उन-उन विशिष्ट शक्तिशाली देवो या प्रभुओ के अधीन (Surrender) कर देता है। इसी प्रकार लौकिक व्यवहार मे भी कई ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि विशिष्ट देवो या दुर्गा, काली, भवानी, चण्डी, चामुण्डा, सरस्वती लक्ष्मी आदि विशिष्ट देवियो के आगे व्यक्ति नतमस्तक हो कर सर्वस्व-अर्पण करता है, नैवेद्य (चढावा) चढाता है।

अथवा परमात्मा के नाम से कई रागी, द्वेषी, भौतिक ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को सर्वस्व-समर्पण कर देता है।

इसी बात को दृष्टिगत रख कर श्रीआनन्दघनजी आध्यात्म विकास-पथिक साधको के लिए इसी गाथा मे आत्मार्पण की बात स्पष्ट करते हैं— '**सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी!**'—"हे आत्मज्ञानी! अध्यात्म-विकास-तत्पर! दर्पण की तरह निर्मल (निर्विकार) श्रीसुमतिनाथ वीतराग (परमात्मा) के चरण मे आत्म-समर्पण करो।" यहाँ प्रभुचरण को दर्पण के समान निर्विकार इसलिए बताया है कि जैसे दर्पण

५ : सुमतिनाथ-जिन-स्तुति

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण

(तर्ज—राग वसंत, तथा केदारो)

सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जिम अविकार, सुज्ञानी।
मतितर्पण बहुसम्मत जाणीए, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी ॥
॥सुमति० १॥

अर्थ

हे सुज्ञानी! इस अवसर्पिणी काल के पंचम तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ परमात्मा के दर्पण की तरह निर्मल निर्विकार चरणकमल (अथवा कमलवत् निर्लेप चारित्र) मे अपनी आत्मा को समर्पित (अर्पण) करना वास्तव मे अपनी बुद्धि को तृप्त (संतुष्ट) करना है: और इस बात को बहुजन-सम्मत (मान्य) समझो। ऐसा करने से आत्मा मे (या जगत् मे) सद्विचारो का प्रचार-प्रसार होगा।

भाष्य

आत्म-समर्पण क्यों?

पूर्वस्तुति मे परमात्मा के दर्शन की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने अन्त मे परमात्मा की कृपा मे उसकी सुलभता बताई, परन्तु परमात्मा की कृपा तभी प्राप्त हो सकती है, जब साधक अपनी आत्मा को परमात्मा के चरणों मे 'अप्पाणं वोसिरामि' (मैं अपने आपका व्युत्सर्ग=न्यौछावर=बलिदान करता हूँ) कर दे, अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर दे। इसलिए श्रीसुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति मे आध्यात्मिक साधक के लिए परमात्मा के चरणों मे अपनी आत्मा को समर्पित करने की बात पर जोर दिया है।

कई बार साधक अपनी स्वच्छन्द वृत्ति-प्रवृत्तियो, स्वार्थों, स्पृहाओ या वासना-कामनाओं को छोड़े बिना ही आत्मविकास के पथ पर आगे बढ़ना

चाहता है। अथवा तथाकथित प्रभु के आगे नाच-गा कर, उनकी जय बोल कर, उनके गुणगान करके, उनकी चापलूसी करके, बिना कुछ त्याग व पुरुषार्थ किये सिर्फ उनको रिझा कर उनकी कृपा प्राप्त करना चाहता है, अथवा नाटकीय ढंग से औपचारिक रूप में शब्दों में कहता है—'यह सब प्रभु का है, परन्तु अन्तर में सभी चीजों पर अहत्व-ममत्व का सर्प फन फैलाए बैठा रहता है, प्रभु की आज्ञा की ओट में सभी कार्य मनमाने ढंग से करता है, स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु ये सब आत्मा के निजी (अनुजीवी) गुणों के विकास में बाधक है, इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी को कहना पडा—आत्मसमर्पण, और वह भी निर्दोष, नि स्पृह, निर्विकारी परमात्मचरणों में किये बिना आत्मविकासेच्छुक साधक की कोई गति नही है। इसके बिना उसके सकल्प-विकल्प मिट नहीं सकते, उसकी बुद्धि को सन्तोष नही हो सकता, उसके तन-मन को शान्ति नही मिल सकती। और जब तक विकल्प और योगों का चापल्य कम नही होगा, तब तक आत्मविकास होना दुष्कर है, परमात्मभक्ति होनी कठिन है। इसीलिए परमात्मभक्ति १ के लिए आत्म-समर्पण व शीष-समर्पण सत कबीरजी ने अनिवार्य बताया है।

आत्म-समर्पण का स्वरूप

सर्वप्रथम सवाल यह है कि आत्मसमर्पण क्या है? इसका स्वरूप क्या है? जब तक इसे समझ न लिया जाय, तब तक आत्मसमर्पण की बात अधूरी और औपचारिक या शाब्दिक ही रहेगी।

जैनदर्शन में 'विनय' में उसका समावेश किया गया है, उसके लिए जैनशास्त्रों में **'अप्पाण वोसिरामि'** शब्द का प्रयोग जगह-जगह किया गया है उसका तात्पर्य है—अपनी अहता-ममता, अपनी लालसा, अपनी इच्छा-कामना, वासना, अपनी स्वच्छन्दता, अपना स्वार्थ, अपनी समस्त उद्दाम एव चचल वृत्तियां, अपने गुप्त मनोभाव, अपने समस्त दुर्विचारों, दुष्कार्यों व

---

१ **"भक्ति भगवत की बहुत बारीक है।**
शीश सौंप्या बिना भक्ति नाहीं।"

पर अच्छी-बुरी सभी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, लेकिन दर्पण पर उनका कोई असर नहीं होता, वह स्वच्छ और निर्मल रहता है, वैसे ही प्रभु का चरण भी निर्मल निर्विकार रहता है, उस पर भी संसार के विकारों का कोई असर नहीं होता, उनके ज्ञान में सभी अच्छी बुरी वस्तुओं की झलक पड़ती है, लेकिन उन पर कोई असर नहीं होता। यहाँ सुमतिनाथ नामक पाँचवें तीर्थंकर की स्तुति का प्रसंग होने से 'सुमतिचरण' कहा है, परन्तु 'दोषरहित वीतराग परमात्मा का चरण' ही समझना चाहिए। चूंकि इस स्तुति में आत्मसमर्पण करने वाला व्यक्ति मुमुक्षु है, अध्यात्म-रसिक है, वीतरागपथ का राही है, इसीलिए 'सुज्ञानी' शब्द से इसे सम्बोधित किया गया है। इस कारण ऊपर बताए हुए किसी भौतिक शक्तिशाली, वैभवशाली, योद्धा या रागी-द्वेषी प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण करने का तो सवाल ही नहीं उठता। जो काम, क्रोध आदि अठारह दोषों से रहित, निर्विकारी, निःस्वार्थ, निःस्पृह, समभावी वीतराग परमात्मा हैं, (उनका नाम चाहे जो हो) उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहिए। रागी, द्वेषी या लौकिक व्यक्ति या भौतिक शक्ति के आगे समर्पण करने से सुज्ञानी के आत्म-गुणों का विकास होने के बदले ह्रास ही होगा।

अध्यात्मविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि '**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी**', जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही कार्यसिद्धि हो जाती है। जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है।[1] इसके अनुसार अगर कोई साधक भौतिक-शक्तिसम्पन्न देख कर रागी, क्रोधी, विकारी को अपना आदर्श मान कर उसके चरणों में समर्पण कर देता है, उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है, तो उसके भी वैसा ही बन जाने की सम्भावना है, उससे उसकी आत्मशक्तियाँ प्रगट नहीं हो सकेंगी, उसके आत्मगुणों का विकास नहीं हो सकेगा। इसलिए आदर्श को छोटा या नीचा कदापि नहीं बनाना चाहिए। यही कारण है कि इस स्तुति में निर्दोष एवं निर्विकारी-वीतराग परमात्मा के चरणों में साधक को आत्मसमर्पण करने का कहा गया है। यानी अध्यात्म-

---

१ यो यच्छ्रद्धः स एव सः —भगवद्गीता।

साधक को अपना आदर्श, श्रद्धेय या आराध्य निर्दोष, निर्विकारी परमात्मा को मानना है, उन्ही के चरणो मे अपना सर्वस्व समर्पण करना है।

परन्तु यह सब कथन भक्ति की भाषा मे व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से अर्थ होगा—आत्मा का दर्पण की तरह निर्विकारी (शुद्ध) परम आत्मा (परमात्मा) मे समर्पण करना। अथवा चरण चारित्र को कहते है, इस दृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वीतराग-उपदिष्ट निर्लेप (कमलवत्) व निर्दोष चारित्र मे अपनी आत्मा को तल्लीन—तन्मय कर देना या आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप मे अपने आपको लीन कर देना। यही कारण है कि 'विनय' के चार भेदो मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विनय को अध्यात्म-साधना मे अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

आत्मसमर्पण से लाभ और उसका महत्व

इस प्रकार के आत्मसमर्पण से अध्यात्मपथिक को भौतिक लाभ तो अनेको हैं। सर्वस्व-समर्पण कर देने से सबसे बडा लाभ तो यह है कि व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है, किसी भी शुभकार्य के हानि-लाभ के समय मन के पलडे पर मानसिक चिन्ताओ का उतार-चढाव नही होता, मानसिक सन्तुलन या समत्व बना रहता है, कार्य बिगड जाने पर मनुष्य मन कल्पित या अकल्पित निमित्तो को कोसने या उन्हें भला-बुरा कहने की प्रवृत्ति से छूट जाता है, और कार्य भलीभाँति सिद्ध होने पर भी अपने या अपनो को निमित्त मान कर मनुष्य अहकार मे फूल जाता है, प्रतिष्ठा-प्राप्ति और श्रेय के लूटने की धुन मे वह विविध मदो मे झूम कर अपनी आत्मा को नीची गिरा लेता है, अपने विकास का अधिक मूल्याकन करके आगे के विकास से अपने को वचित कर देता है। परन्तु परमात्म-समर्पण करने के बाद दोनो ही अवस्थाओ मे वह अपने समत्व पर, उपादान पर स्थिर रहेगा। इससे उसकी बुद्धि को बहुत सतोष मिलेगा।

भक्तिमार्गीय सर्वस्व-समर्पण की दृष्टि से देखे तो भी कई लाभ प्रतीत होते हैं। क्योकि बहुत-सी बार साधक को फलाकाक्षा थका देती है, वर्षों तक साधना करते-करते वह ऊब जाता है और झटपट सफलता-प्राप्ति न होने पर वह तिलमिला उठता है और झुझला कर सत्कार्य या सत्पथ को भी छोड

बैठना है। ऐसी दशा में परमात्म-समर्पित व्यक्ति को फलाकांक्षा (कांक्षा) नहीं सताएगी। वह निष्कांक्ष, निःशंकित और निर्विचिकित्स हो कर साधना के पथ, पर अबाधगति से चलता जायगा। दूसरा लाभ सर्वस्वसमर्पित व्यक्ति को बदले की भावना से छुटकारे का मिलता है। यानी प्रायः साधक किसी की सेवा, परोपकार आदि सत्कार्य के बदले उस व्यक्ति से प्रतिष्ठा, नामवरी या कुछ भौतिक लाभ चाहता है, इस प्रकार की सौदेबाजी करके वह साधना को मिट्टी में मिला देता है। परन्तु परमात्मसमर्पित साधक निःस्पृह व निःस्वार्थभाव से सत्कार्य या सत्पुरुषार्थ करेगा। इससे कांक्षामोहनीय कर्म से बहुत अंशों में वह साधक बच जायगा।

इष्ट के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग से उसे आर्तरौद्र-ध्यान नहीं होगा, क्योंकि वह तो सब कुछ भगवच्चरणों में समर्पित कर चुका है। किसी प्रकार का भय, क्षोभ, अस्थिरता या लोभ का ज्वार उसे नहीं दबा सकेगा। क्योंकि समर्पण करने पर उसे वैराग्यरूप अभय का वरदान मिल जाता है। सबसे बड़ा भौतिक लाभ सांसारिक लोगों को यह है कि वे सच्चे माने में परमात्मा के चरणों में सर्वकार्यों या इच्छाओं को समर्पित कर देते हैं तो फिर अकार्य या बुरे कार्य में वे प्रवृत्त नहीं हो सकते, दुर्व्यसनों और पापकार्यों से तो उन्हें फिर बचना ही होगा। जैनसाधकों के लिए तो 'अप्पाणं वोसिरामि' करने के बाद समस्त सावद्य (दोषयुक्त) कार्यों को छोड़ना होता है तथा अपने मन-वचन-काया को पापकार्यों से हटाना अनिवार्य होता है।

समर्पणकर्त्ता के जीवन में अहंकर्तृत्व और ममकर्तृत्व—जो कि समस्त राग-द्वेषों की जड़ें हैं सभी सांसारिक झगड़ों के मूल हैं—से भी प्रायः पिण्ड छूट जाता है। इन और ऐसे ही दोषों के हट जाने या नष्ट हो जाने पर आत्मसमर्पणकर्त्ता को आध्यात्मिक लाभ भी अनेकों होते हैं—(१) आत्मा मोहनीय आदि घातीकर्मों को आते हुए रोक (संवर कर) लेती है, (२) आर्त-रौद्र-ध्यान से बच कर धर्म-शुक्लध्यान में लग जाती है, (३) परभावों में रमण करने की वृत्ति छोड़ कर स्वभाव में रमण करने में प्रवृत्त होती है, (४) शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी दुर्भावों या भौतिक पदार्थों (परभावों-विभावों) के चिन्तन से हट कर आत्म-चिन्तन में अधिकाधिक जुटती है, (५) आत्मसमाधि प्राप्त कर लेती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में

इसके मुख्यतया दो लाभ बता दिये हैं—गतितर्पण और सुविचार-परिसर्पण। अहत्व ममत्व, चिन्ता, कांक्षा, स्वार्थ, दोपारोपण, स्वत्वमोह आदि सब बुद्धि की उछलकूद का परिणाम है। जब साधक आत्मसमर्पण कर देता है तो बुद्धि की यह सब उछलकूद बन्द हो जाती है, वह स्थिर, शान्त और सन्तुष्ट (तृप्त) हो जाती है कि जब मैंने सब कुछ परमात्मा पर छोड दिया है, सब कुछ उन्हे ही सौंप दिया है तो मुझे किसी बात की चिन्ता, फलाकांक्षा, निमित्त को श्रेय-अश्रेय देने, मनमाना करने, या अहता-ममता करने की क्या जरूरत है? आत्मा मे समर्पण से पहले जो दुर्विचारो के बादल उमड-घुमड कर आ जाते थे, समर्पण के बाद वे सब फट जाते है और सद्‌विचारो का सचार आत्मा मे होता रहता है। अथवा आत्मा परभावो मे सचार करना छोड कर स्वभाव या स्वरूप मे रमणता के सुविचारो मे ही सचार करता है अथवा ऐसे सुविचारो मे आगे बढ़ना है।

इस प्रकार के आत्मसमर्पण की बात केवल हम ही नही कह रहे है, इसका महत्व प्रत्येक धर्मसस्थापक, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक मत-पथ और दर्शन मे आंका गया है। बडे-बडे धर्मधुरधरो, आध्यात्म-पथप्रेरको या अध्यात्म-मार्ग-दर्शको एव भक्तिमार्गियो ने आत्मसमर्पण को अध्यात्म-पथ पर प्रयाण करते समय आवश्यक माना है। इसलिए आत्मसमर्पण की बात बहुजनसम्मत, अनेक धर्मपुरुप-मान्य और सार्वजनिक है, केवल हमारी कपोलकल्पित या नई नही है।

परन्तु परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण करने के लिए किस प्रकार की आत्मा होनी चाहिए, इस सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे आत्मा की तीन मुख्य अवस्थाएँ बताते है—

त्रिविध सकल तनुधरगत आतमा, बहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानी!
बीजो अन्तर आतम, तीसरो परमातम अविच्छेद, सुज्ञानी ॥

अर्थ

समस्त शरीरधारियो के आत्मा तीन प्रकार के होते हैं—सबसे पहला प्रकार बहिरात्मा का है, दूसरा प्रकार अन्तरात्मा का है और तीसरा प्रकार परमात्मा का है, जो अखण्ड, अविनाशी और नित्य है।

भाष्य

आत्मा की तीन अवस्थाओं के कारण तीन प्रकार

अध्यात्मसाधक जब संसार की समस्त आत्माओं के साथ मैत्री, अभिन्नता या सर्वभूतात्मभाव, या आत्मौपम्य अथवा समत्व स्थापित करने जाता है तो उसे संसार के समस्त देहधारियों या प्राणियों के ऊपरी चोलों, ढांचों या विभिन्न देशों, वेषों, भाषाओं, प्रान्तों, धर्म-सम्प्रदायों, जातियों या दर्शनों के ऊपरी आवरणों को अपनी विवेकमयी प्रज्ञा से दूर हटा कर सब में विराजमान आत्मा को देखना चाहिए। उसे किसी भी प्राणी का मूल्यांकन इन ऊपरी भेदों या आवरणों से न करके आत्मा पर से करना चाहिए। वैसे तो निश्चय दृष्टि से संसार की सभी आत्माओं व परमात्मा की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मा को ले कर विश्लेषण करते हैं, तो ज्ञान की न्यूनाधिकता के कारण बाह्य भेद दिखाई देता है। अतः संसार के समस्त प्राणियों की आत्माओं को देखते हैं तो उनकी मुख्यतः तीन कोटियाँ नजर आती है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। ये तीनों आत्माएँ उत्तरोत्तर निर्मलतर हैं। आत्म-गुणों के विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर आगे बढ़ी हुई हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ अखण्ड, निर्मलतम, निर्विकारतम, एवं अविनाशी एवं सदा एकस्वरूप में रहने वाला प्रकार परमात्मा का है, इससे कम निर्मल व उत्तम प्रकार अन्तरात्मा का है और सबसे निकृष्टतम अधिक विकारी प्रकार बहिरात्मा का है। अथवा 'अविच्छेद' शब्द का अर्थ यों भी कर सकते है कि आत्मद्रव्य की दृष्टि से सर्वत्र अविच्छिन्न एक आत्मद्रव्य ही है। ये तीन भेद तो आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न बुद्धि को ले कर किये गये हैं।

आत्मा के ये तीन प्रकार किस कारण से किये है, तीनों के लक्षण क्या-क्या है ?, यह बात अगली दो गाथाओं में बताते है—

आतमबुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप, सुज्ञानी।
कायादिकनो साखीधर रह्यो, अन्तर आतमरूप, सुज्ञानी ॥३॥
ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाध, सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुणगणमणि-आगरू, इम परमातम साध, सुज्ञानी ॥४॥

अर्थ

जो शरीर, या शरीर से सम्बन्धित पदार्थों आदि को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करता—मानता है, उसे प्रथम पाप रूप बहिरात्मा का प्रकार समझना। शरीर तथा सर्वपदार्थों या समस्त प्रवृत्तियो मे अपनेपन (ममत्व) की बुद्धि हटा कर सर्वत्र उन सबका साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) बन कर रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

जो ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण हो, जो परम पवित्र हो, कर्म, कषाय, रागद्वेष आदि सब उपाधियो से दूर हो, जो इन्द्रियो से अगम्य-अगोचर हो, जो अनन्तगुणरूपी-मणियो का भण्डार या खान हो, इस प्रकार के स्वरूप वाले को परमात्मा समझो अथवा इस प्रकार के परमात्मपद को सिद्ध करो—प्राप्त करो।

भाष्य

आत्मा का प्रथम प्रकार बहिरात्मा

आत्मा के तीनो प्रकारो मे बहिरात्मा सबसे निकृष्ट प्रकार है। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है। वह यही तर्क करता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि (तेज) और आकाश, इन पांचभूतो के सयोग से एक चीज बन जाती है, अथवा गोबर (मिट्टी) के साथ गोमूत्र (पानी) वायु, सूर्य की धूप व आकाश के मिलने मे गोबर मे बिच्छू पैदा हो जाते है, वैसे ही उक्त पांच भूतो के सयोग से ही यह शरीर बना है, यही आत्मा है। इस प्रकार वह आत्मा नाम की कोई चीज न मान कर शरीर को ही सब कुछ समझता है। शरीर की राख होने पर आत्मा की समाप्ति मानता है, उसका कथन इसी प्रकार का होता है कि[1] जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, खूब मौज उडाओ, शरीर के भस्म होते ही सब कुछ ही खत्म हो जाना है, आत्मा नाम की कोई अलग चीज नहीं है, न कोई शरीर के राख होने के बाद लौट कर आता है।

ऐसा शरीर व्यक्ति को अपना मान कर यह समझता है कि यह सदा शाश्वत

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥—चार्वाक

रहेगा, कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होगा, यह शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ, इसी को पुष्ट करने और शरीर के लिए दुनियाभर के उखाड़-पछाड़ करने में वह लगा रहता है। शरीर के लिए जरा-सा भोजन चाहिए, वह बढ़िया से बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थों को जुटायेगा और संग्रह करके रखेगा, शरीर को सुन्दर बनाने के लिए तेल-फुलेल, क्रीम, पाउडर आदि लगाएगा। शरीर को ढकने के लिए साधारण वस्त्र चाहिए, पर शरीरमोही दुनियाभर के बढ़िया और बारीक वस्त्रों को जुटायेगा, संग्रह करके रखेगा। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, कई मकान बनाएगा, आलीशान बगले सजा-सँवार कर रखेगा। इन और ऐसे ही शरीर से सम्बन्धित तमाम पदार्थों पर उसकी मैं और मेरेपन की बुद्धि होगी, जिसके कारण राग-द्वेष, घृणा, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, वैरविरोध, कलह आदि अनेक उत्पात खड़े होंगे, जिनमें पाप कर्मों का बहुत बड़ा पुंज तैयार हो जायगा। मतलब यह है कि बहिरात्मा जीव अपनी समस्त प्रवृत्तियों में मैं और मेरेपन के कारण इतना तद्रूप हो जाता है कि उसे आत्मा के पृथक् अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। शरीर ही मैं हूँ, ये सब चीजें या ये सब सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार मेरे हैं, यह सब धन, मकान, दूकान, जमीन, जायदाद सब मेरी है, ये सब सत्कार्य मेरे ही किये हुए है, मेरी इज्जत बढ़े, मुझे ही यश मिले, मेरा नाम रोशन हो, मैं ही सर्वेसर्वा बन जाऊँ, मेरी ही यह सब कमाई है, इस प्रकार रातदिन ममत्व के जाल में जो फँसा रहता है, आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, जो शरीरादि पर द्रव्यों को आत्मबुद्धि से पकड़ कर अनात्मभूत तत्वों को स्व-स्वरूप मानता है, उन्हीं में तदाकार हो जाता है, जिसे नाशवान शरीर के लिए दुनियाभर के प्रपंच, पापकर्म व उधेड़बुन करते हुए कोई संकोच या विचार ही नहीं होता, एक क्षणभर के लिए भी जो आत्मा के विषय में सोच नहीं सकता। आत्मा के लिए कुछ भी नहीं करता। उसकी समग्र चेतना मोह से आवृत होने के कारण उलटी और जडीभूत हो जाती है। वह अहर्निश पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में रचा-पचा रहता है। इसी कारण बहिरात्मा को पापरूप, अनेक दोषों से युक्त और अनेक आधि-व्याधि-उपाधियों से युक्त कहा है।

आत्मा का दूसरा प्रकार : अन्तरात्मा

अन्तरात्मा वहिरात्मा से विलकुल भिन्न होता है। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ (धन, दूकान,मकान,जमीन, जायदाद) तथा परिवार व सगे-सम्बन्धी आदि मे, या शरीर से सम्बन्धित प्रवृत्तियो मे ज्ञाता, द्रष्टा और मेरे-पन की बुद्धि नही रखता, जो शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ एव प्रवृत्तियो का ज्ञाता- द्रष्टा-साक्षीरूप बन कर रहता है, उनके ममत्व मे नही फँसता, उन्हे अपने नही मानता, यथोचित प्रवृत्तियाँ करते हुए भी वह उन्हे अपनी नही मानता, निर्लिप्त रहता है। परभावो को आत्मा के नही मानता जो शरीरादि बाह्यभावो मे आत्मबुद्धि छोड कर शुद्ध ज्ञानरूप आत्मस्वरूप का निश्चय करता है, जो विषयादि मे आत्मबुद्धि नही करता, विषयो और शरीर आत्मा को आत्मा से अलग मानता है। जो शरीर से आत्मा को भिन्न मान कर अपनी आत्मा को शरीर की क्रिया का साक्षी मानता है, उसे परद्रव्य मान कर उससे सम्बन्धित ममत्व मे नही फँसता, इस कारण अहकारवश अपने को उसका कर्त्ता नही मानता, पूर्वोपार्जित कर्मों को भोगते हुए अपने आपको तटस्थ साक्षीरूप मानता है, वह अन्तरात्मा है। रस्सी मे साँप का भ्रम दूर हो जाने पर जैसे व्यक्ति भ्रममुक्त हो जाता है, वैसे ही अन्तरात्मा भ्रममुक्त हो जाता है। अन्तरात्मा यो विचार करता है कि आत्मस्वरूप से अलग हो कर मैंने इन्द्रियो के द्वारा विषयों मे मग्न हो कर अहभाव के कारण आत्मा को यथार्थरूप से जाना- समझा नही। जो जो रूप मैं जगत् मे देख रहा हूँ, वह तो पराया है, अपना [आत्मा का] रूप तो ज्ञानमय है। वही मेरा असली रूप है, वह इन बाह्य रूपो से भिन्न है, वह इन्द्रियो से अगोचर है। ससार मे सुनाई देने वाले विविध शब्द भी (चाहे वे निन्दा के हो या प्रशसा के हो या और कोई हो) पराये है, आत्मा के नही हैं, आत्मा तो इन शब्दो से रहित है। इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श के विषय मे वह समझता है कि ये सब पराये हैं, आत्मा के नही है। शरीर वगैरह मे मैंने आत्मबुद्धि के भ्रम से पहले अनेक क्रियाएँ कर ली, अब तो मुझे परभावरूप मन, वचन और काया से आत्मा को भिन्न करना है, ज्ञान मे नही। ज्ञान से तो आत्मा का ही अभ्यास करना है। मुझे आत्मा ज्योतिर्मय ज्ञानरूप दिख रही है। मैंने भेदज्ञान होने से आत्मा का स्वरूप देख लिया है। शरीर वगैरह को परद्रव्य मान लिया, तब मेरे लिए अब न तो कोई स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है, न बालक, या वृद्ध है।

लिंग, संख्या, वर्ण आदि के विकल्पों से मैं मुक्त हूँ। अब न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र। सब प्रकार की शरीरचेष्टाएँ स्वप्न या इन्द्रजालवत् हैं। मैं अभी तक संसार में इसी कारण दुःख पाता रहा कि मैंने आत्मा-अनात्मा का स्वभाव-परभाव का भेद नहीं समझा। अज्ञानी पुरुष विषयों को अपने मान कर उनसे प्रीति करता है, मेरे लिए वह विषयप्रीति आपत्ति का स्थान है। काया पर अज्ञानी आदमी ही आसक्त होते हैं, वे अपने शरीर का सुन्दर रूप, बल, आयु आदि चाहते हैं, पर मुझे अपने को चिदानंद में लगाना है, काया की आसक्ति छोड़नी है। आत्मविज्ञान से रहित पुरुष अपना दुःख नहीं मिटा सकता। मैं अपने स्वरूप में रमण करने से ही आनन्द मानूँगा, अज्ञानी प्राणी अपनी अन्तर्ज्योति रुद्ध हो जाने के कारण अपनी आत्मा से भिन्न वस्तु पर मुग्ध-संतुष्ट हो जाते हैं, पर मुझे तो अपनी आत्मा में ही संतुष्ट व मुग्ध होना चाहिए।

इस प्रकार अन्तरात्मा यह मानता है कि वस्त्र के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ़, लम्बे या नष्ट हो जाने से शरीर लाल, जीर्ण, दृढ़, मोटा, लम्बा या नष्ट नहीं होता, वैसे ही शरीर के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ़ लम्बे या नष्ट होने से आत्मा लाल मोटी, लंबी, दृढ़ जीर्ण या नष्ट नहीं होती। इस प्रकार के भेदविज्ञान के सतत अभ्यास से अन्तरात्मा अपने भवभ्रमण को नाश कर देता है। जो आत्मा को नहीं जानता, वह पर्वत, गाँव, उपाश्रय आश्रम आदि को अपने रहने का स्थान मानता है, परन्तु जो अन्तरात्मा (ज्ञानी) है, वह सभी अवस्थाओं में अपनी आत्मा में ही अपना निवास-स्थान मानता है। अपनी आत्मा ही अपना आत्मीय, बन्धु, शत्रु, या मित्र है, शरीरादि दूसरे कोई अपने नहीं है, इस दृष्टि से आत्मा अपना संसार भी स्वयं बनाती है और मोक्ष भी स्वयं ही अपने लिए रचती है। अन्तरात्मा शरीर को आत्मा से अलग मानता है, इसलिए जीर्ण वस्त्र की तरह वह शरीर का भी बिना हिचकिचाहट के त्याग कर देता है। अन्ततोगत्वा वह ज्ञानी होता है, वह आत्मा को अन्तरंग रूप से और शरीर को बाह्यरूप से जान-देख कर दोनों के अन्तर का पक्का ज्ञाता-द्रष्टा बन कर आत्मा के निश्चय से डिगता नहीं। ऐसा व्यक्ति निरन्तर भेद-विज्ञान के अभ्यास से आत्मनिष्ठ बन जाता है, आत्मा द्वारा आत्मा में आत्मा का विचार करता है, और आत्मा शरीर से भिन्न है इस प्रकार के भेदाभ्यास

से पक्की निष्ठा हो जाने पर शरीर पर से उसका ममत्व छूट जाता है, देहा-ध्यास या देहासक्ति छूटने पर वही शरीर के बार-बार जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है। ऐसा आत्मनिष्ठ व्यक्ति स्वप्न मे भी खुद शरीर मे है, या शरीर खुद का है, इस प्रकार शरीर के प्रति आसक्ति या अध्यास नही करता। इसलिए स्वप्न मे भी देह नष्ट हो जाय तो भी उसे रज नही होता। ऐसे आत्मनिष्ठ को शरीर के आश्रित जाति, लिंग, वेप, वर्ण, प्रान्त, देश आदि का अभिमान (मद) नही होता। इसप्रकार का अन्तरात्मा जो कुछ भी प्रवृत्ति या क्रिया सोते या जागते करेगा, उसमे उसे पाप-कर्म का बन्ध नही होगा। शुभ और अशुभ दोनो भावो को वह कर्मबन्ध का कारण जान कर जहाँ तक हो सके, आत्मा शुद्ध भाव मे ही रमण करेगा, जहाँ अशक्य होगा, वहाँ बिना मन से शुभ भाव को अपनाएगा, किन्तु अशुभभाव को तो हर्गिज नही अपनाएगा। इस प्रकार अन्तरात्मा आत्मा को सिद्धस्वरूप अनुभव करके आत्माराधन द्वारा परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा का तृतीय प्रकार : परमात्मा

जो आत्मा अनन्तज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण है, अठारह दोपो से रहित परम पवित्र है, शरीर के अध्यास के कारण होने वाली समस्त उपाधियो से मे रहित है, जो इन्द्रियातीत ज्ञानादि अनन्तगुणो का भडार है, वही परमात्मा है। उसका नाम चाहे जो कुछ हो। जैनदर्शन इतना उदार है कि वह किसी जाति, देश, वेप, वर्ण, लिंग आदि के साथ परमात्मपद को नही बाधता। किसी भी जाति, देश, वेप, वर्ण, सघ, या लिंग आदि का स्त्री-पुरुष आत्माराधन करके परमात्मा बन सकता है। ऐसा परमात्मा इन्द्रियातीत इसलिए है कि वह इन्द्रियो से परे है, इन्द्रियो का विषय नही है, जहाँ इन्द्रियो का विषय और बल काम नही कर सकते, जहाँ विकल्पात्मक बुद्धि कुठित हो जाती है, वहाँ अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुणो की परिपूर्णता से ही परमात्मा परिलक्षित हो सकता है।

चू कि पूर्वोक्त गाथा मे समस्त देहधारी आत्माओ के ही ये तीन प्रकार बताए थे, इसलिए यहाँ समस्तकर्म, काया, आदि से मुक्त, सिद्ध निरजन, अशरीरी परमात्मा का उल्लेख न कर देह मे रहते हुए जो देहाध्यास से

सर्वथा मुक्त हो कर चार प्रकार के घातीकर्मो से भी मुक्त हो चुके है, ऐसा परमात्मा ही विवक्षित है। ऐसे परमात्मा वीतराग अतीतदोष हो कर स्वयं तरते है, और दूसरो को संसार-सागर से तरने का मार्ग बताते है।

ऐसा परमात्मभाव किसी के दे देने से नही मिलता, और न किसी की कृपा का फल है यह तो अन्तरात्मा के स्वयं पुरुषार्थ से, स्वत प्रेरित आत्म-साधना से प्राप्त होता है। इसी परमात्मभाव की सिद्धि प्राप्त करना अध्यात्मसाधक के जीवन का लक्ष्य है।

श्री आनन्दघनजी ने 'इम परमातम साध' कह कर प्रत्येक आत्मनिष्ठ साधक के द्वारा वीतराग परमात्मा के चरणो मे आत्म समर्पण एव तदनुसार आत्म-साधना के स्वय पुरुषार्थ से परमात्मत्व को सिद्ध करने का निर्देश किया है। साथ ही इससे अन्य दर्शनो की आत्मविज्ञान से विपरीत इस मान्यता का निराकरण भी द्योतित कर दिया है कि परब्रह्म परमात्मा कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, या परब्रह्म परमात्मा को आत्मसमर्पण करने के बाद सदा के लिए उसी की गुलामी, जी—हजूरी या उसके सामने स्वयं की लघुता प्रदर्शित करते रहना है और स्वय मे परमात्मपद प्राप्त करने की असमर्थता प्रगट करना है। वास्तव मे निश्चयदृष्टि से तो परमशुद्ध आत्मा मे सतत रमणता ही आत्मा की परमात्म-समर्पणता है, और उसमे आत्मा स्वयमेव परमात्मा हो जाता है।

सारांश यह है कि इन तीनों गाथाओं मे बताए हुए तीन प्रकार की आत्मा की अवस्थाओ का ज्ञान परमात्म-समर्पण के लिए आवश्यक है। 'मैं' और 'मेरे' की ममता मे जब तक आत्मा घिरा हुआ रहता है, तब तक वह जीव आत्मा तो है, परन्तु बहिरात्मा समझा जाता है। जब आत्मा अपने को देह से भिन्न मान कर देहाध्यास छोड देता है, परभावो या आत्म-भिन्न सर्व वैभाविक भावो या पदार्थों मे अहंता-ममता की मान्यता का त्याग करके शान्त, संयमी, व आत्मनिष्ठ बनता है तब वह अन्तरात्मा कहलाता है, और जब वह पूर्ण अध्यात्मयोगी बनकर अपनी आत्मा मे सर्वथा लीन हो जाता है, तब उसमे १८ दोष मिट जाते है, वह परम पवित्र, अनन्त गुणो की खान, और ज्ञानानन्द बन जाता है, तब परमात्मा बनता है।

किन्तु यथार्थ आत्मसमर्पण किस आत्मा की स्थिति मे और कैसे होता है ? इस बात को बताने के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे मे कहते है—

बहिरातम तजी अन्तर-आतमा-रूप थई थिर भाव, सुज्ञानी !
परमातमनु हो आतम भाववु, आतम-अर्पण-दाव, सुज्ञानी ॥५॥

अर्थ

हे सुज्ञानी ! वहिरात्मभाव को छोड़ कर, अन्तरात्मा के रूप मे भावपूर्वक स्थिर हो कर अपनी आत्मा मे परमात्मत्व-अवस्था की भावना करना ही आत्म-समर्पण का सच्चा दावा या उपाय है ।

भाष्य

आत्मसमर्पण का सच्चा उपाय

इस गाथा मे आत्मसमर्पण का सहज स्वाभाविक और यथार्थ उपाय बताया है। सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही वास्तव मे परमात्मा बनने का सरल उपाय है। इसमे हठयोग की, जप-योग की, या आसन-प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओ आदि के जटिलतम उपायो की अपेक्षा नही है। कोई भी किसी भी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, देश या वेष का आत्मनिष्ठ व्यक्ति इस उपाय के द्वारा आत्मसमर्पण करके परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। इसमे न कोई बाह्य अध्ययन की जरूरत है और न ही बाह्य भौतिक साधनो या यन्त्र-मन्त्र-तंत्रादि मे पारगत होने की आवश्यकता है। इसमे सबसे बडी शर्त है—बहिरात्मभाव छोडने की, जो आत्मा के अपने हाथ मे है। यानी शरीर, शरीर के अवयव-हाथ, पैर, मस्तक, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि, तथा शरीर से सम्बन्धित कुटुम्ब, परिवार, जाति, देश आदि, एव शरीर के आश्रित धन, धरा, धाम, जमीन, जायदाद आदि मे जो तेरी आत्म-बुद्धि है, मैं और मेरापन है, आसक्ति है, तू यह मानता है कि ये मेरे हैं, मैं इनमे भिन्न नही हूँ, मैं इन सब वस्तुओ के रूप मे हूँ, इत्यादि प्रकार के अनात्मभाव की मान्यता को

१ वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीतामे भी कहा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ अ. ६ श्लो. ३

छोड़ दे और अन्तरात्मा में हृदय और बुद्धि को एकाग्र कर दे, यानी शरीर, शरीर के अंगोपांग, परिवार, धन, जमीन, जायदाद आदि स्थावर-जंगम पदार्थ मेरे नहीं है, मैं उनका नहीं हूँ, मेरे गुण, स्वभाव, कार्य आदि उनसे भिन्न हैं, , ये सब पदार्थ या संयोग सम्बन्ध, क्षणिक है, नाशवान है, मैं अपने स्वभावरूप अविनाशी हूँ। शुभाशुभ कर्मों के संयोग के कारण मेरा और इनका मिलन (संयोग) हो गया है। मेरा स्वभाव इन सबको जानने-देखने (ज्ञाता-द्रष्टा) का है। इस प्रकार अन्तरात्मभाव में अपने आपको स्थिर कर दे।

इस प्रकार अन्तरात्मभाव में एकाग्र होने पर अपनी आत्मा में अहर्निश परमात्मत्व का विचार करना चाहिए। अर्थात्—प्रतिदिन यह विचार करे कि मेरी आत्मा ही (शुद्ध होने पर) परमात्मा है। निश्चयदृष्टि से मेरी आत्मा शुद्ध, है बुद्ध है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखमय है। मैं इन सब बाह्यभावों, अनात्मभावों से परे हूँ, मेरे अंग, स्वभावज या सहजात नहीं है, ये सब संयोगज है, मेरे से भिन्न है। इस प्रकार परमात्मत्व में आत्मत्व को विलीन कर देना, तद्रूप-तन्मय-तदात्मभावों से भावित कर देना ही सच्चे माने में सर्वांगीण आत्म-समर्पण है। इसमें एकमात्र आत्मभाव ही रहता है, निरन्तर आत्मनिष्ठा ही रहती है तात्पर्य यह है कि परमात्मा में अन्तरात्मा का समर्पण होने से परमात्मपद मिलता है, सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने का यही सबसे उत्तम फल है। यही आत्मसमर्पण की सर्वोत्तम, सरलतम विधि है। इसी पर से परमात्मरूपी मैदान में आत्मसमर्पण के खिलाडी का सच्चा दाव लग सकता है। यही परमात्मभावप्राप्ति का सच्चा उपाय है।

आत्मा को शरीरादि से भिन्न मान कर पृथक्-रूप से उसको वास्तविक रूप में पहिचाने बिना केवल नाटकीय ढंग से अथवा औपचारिकरूप से किसी भी वीतरागप्रभु के केवल नाम जप, जयकार, या नृत्यगीत-भजन के द्वारा उनके चरणों में आत्मसमर्पण मानना बुद्धिभ्रम है, ऐसे कच्चे आत्मसमर्पण या कच्ची भक्ति का परिणाम यह आता है कि बाह्यरूप से आत्मार्पण कर देने पर भी उनमें पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्र,राष्ट्र के, जाति-जाति के, धर्मसम्प्रदायों के आपसी झगड़े, रागद्वेष, मोह, स्वार्थ और वैरविरोध चलते रहते है, यानी वे अन्दर से पूरे बहिरात्मा बने रहते है। और इस प्रकार से बहिरात्मभाव से

रहते हुए नाटकीय ढग से परमात्मा के चरणो मे समर्पण करने वाला व्यक्ति परमात्मभाव प्राप्त नहीं कर मकता।

अव अन्तिम गाथा मे परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण का वास्तविक लाभ वताते हुए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—

आतम-अर्पण वस्तु विचारतां, भरम टले, मतिदोष, सुज्ञानी !
परमपदारथ संपति संपजे,-'आनन्दघन'-रसपोष, सुज्ञानी !
सुमतिचरण० ॥६॥

अर्थ

परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण के वस्तुतत्व का विचार करने से भ्रान्तियाँ, वहम या आशंकाएँ टल जाती है, बुद्धि के दोष (छद्मस्थ अवस्था के कारणरूप) नष्ट हो जाते हैं और अन्त मे,मोक्षरूप परम पदार्थ एवं अनन्त-ज्ञानादि परम सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, जो अखण्ड शान्ति, शाश्वत एव परिपूर्ण आनन्द के रस की पोषक होती है।

भाष्य

आत्मसमर्पण के वस्तुतत्व का विचार

वास्तव मे आत्मसमर्पण का मच्चा लाभ साधक तभी उठा सकता है, जब पूर्वोक्त प्रकार मे आत्मार्पण का स्वरूप समझे, उसके यथार्थ तत्व पर मनन चिन्तन करे। आत्मा क्या है ? क्या शरीर आत्मा है ? मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप आदि आत्मा है या आत्मस्वभाव है ? क्या शरीर के अगोपाग आत्मा है ?, या शरीर से मम्वन्धित परिवार, जाति, धर्मसम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त आदि आत्मा हैं ? अथवा धन, धाम, जमीन, जायदाद आदि आत्मरूप है ? अथवा कर्म, राग, ममत्व आदि आत्मा है ? इन मवका भलीभाति विश्लेपण —पृथक करके भेदविज्ञान करना आत्मा के वस्तुतत्व का विचार है और वहिरात्मभाव को छोड कर अन्तरात्म-भाव मे स्थिर हो कर परमात्मतत्व मे लीन हो जाना, तादात्म्यभाव से भावित होना समर्पण के वस्तु तत्व का विचार है। इस प्रकार आत्ममर्पण का यथार्थ तत्त्व सोचे, विचारे एव तद्रूप ध्यान करे।

यथार्थ चिन्तनपूर्वक आत्मसमर्पण से विविध लाभ

आत्ममर्पण पर सागोपाग विचार करने से सब भ्रान्तियाँ अपने आप

काफूर हो जाती है। जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही आत्मसमर्पण के सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होते ही, भ्रम का सारा अंधेरा दूर हो जाता है। वे भ्रम क्या है? शरीर और शरीर से सम्बद्ध सभी पदार्थों मे आत्मबुद्धि या मै और मेरेपन का जो भ्रम था, जैसे अंधेरे मे रस्सी मे होने का भ्रम हो जाता है दूर से सीप मे चादी का भ्रम हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञान एव मोह के कारण परपदार्थों मे अपनेपन के जो भ्रम पैदा हो गये थे, वे सब तत्त्वविचारणा से मिट जाते हैं।

इसके अलावा आत्मसमर्पण पर गहराई से तात्त्विक चिन्तन करने पर बुद्धि पर कुहासे की तरह जमे हुए सब दोष दूर हो जाते है। संसारी व्यक्ति की बुद्धि पर अनादिकालीन संस्कारवश जो अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, दुर्ध्यान दुश्चिन्तन, दुश्चेष्टा, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अनिश्चितता, चिन्ता, भय, आशंका आदि दोषो की परतो की परतें जमी हुई थी, वे पूर्वोक्त सद्विचार से उखड जाती है, बुद्धि मे निश्चिन्तता व हल्कापन महसूस होने लगता है। और श्रुतज्ञान से बढते-बढते जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, तो छद्मस्थता के कारण ज्ञान पर पडा हुआ पर्दा भी हट जाता है,

इससे भी आगे चल कर आत्मसमर्पण के साधक को मोक्षरूप परमपदार्थ एव अनन्तज्ञानादि आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, उसे शाश्वत खजाना मिल जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, जन्ममरण के चक्र से, रागद्वेषादि के चगुल से छूट जाता है, कर्मो से सर्वथा मुक्त हो जाता है और ऐसे अक्षय शाश्वत आनन्द के धाम मे पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचने के बाद लौटना नही होता, वही अखण्ड आनन्द के रस मे वह निमग्न हो जाता है। वहाँ किसी का झंझट, चिन्ता, फिक्र, या किसी भी प्रकार की मोह-माया नही रहती है। वहाँ एकरस आनन्द रहता है।

साराश

इस पचम तीर्थकर की स्तुति मे श्री आनन्दघनजी ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, इन तीन आत्माओ का स्वरूप बता कर परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण का वास्तविक उपाय, महत्व और लाभ बताया है।

६ : पद्मप्रभजिन-स्तुति—

आत्मा और परमात्मा के बीच अंतर-भंग

(तर्ज—चाँदलिया, सन्देशो कहेजे मारा कान्त ने राग मारु व सिन्धुडो)

पद्मप्रभ जिन, तुझ मुझ आंत रे, किम भाजे भगवन्त ?
कर्मविपाके कारण जोईने रे, कोई कहे मतिमन्त ॥
पद्मप्रभजिन० ॥१॥

अर्थ

हे पद्मप्रभ, वीतराग परमात्म देव ! आपके और मेरे बीच मे जो अन्तर (दूरी) पड गया है, हे भगवन् ! वह अन्तर कैसे दूर (नष्ट) हो सकता है ? कर्मफल का ज्ञाता कोई बुद्धिमान पुरुष (परमात्मा और आत्मा के बीच मे दूरी का कारण कर्मों को जान कर) कहता है—कर्मों का परिपाक (कर्मफल-भोग) होने पर ही यह अन्तर मिट सकता है ।

भाष्य

परमात्मा और आत्मा के बीच मे दूरी का कारण : कर्म

इससे पहले की स्तुति मे वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का लक्षण वता कर वहिरात्मभाव को छोड कर अन्तरात्मा मे स्थिर होकर आत्मा मे परमात्मत्व की भावना करने से परमात्मपद की प्राप्ति वताई गई थी, उससे स्पष्ट हो गया कि सामान्य जीव जब तक वहिरात्मा वना रहेगा, तव तक उसके और परमात्मा के वीच मे बहुत ही दूरी रहेगी। अत अव इस स्तुति मे उसके सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठाये गये हैं—पहला प्रश्न यह है कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के वीच मे जो दूरी है, वह किस कारण से हे ? और दूसरा यह कि वह अन्तर कैसे दूर हो सकता है ?

निश्चयनय की दृष्टि से यह वात तो स्पष्ट है कि "अप्पा सो परमप्पा' 'आत्मा ही परमात्मा है।' और यह वात भी यथार्थ है कि जिस जीवात्मा

के परिणाम बहिरात्म भाव से हट जाते हैं और उसकी परिणति और स्थिरता अन्तरात्मा में हो जाती है, ऐसा अन्तरात्मभावरत जीवात्मा ही परमात्मा बनने के लिए उत्सुक और तत्पर होता है। परन्तु जब वह व्यवहारदृष्टि से देखता है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न होते हुए भी वर्तमान में तो मेरे और परमात्मा के बीच में तो करोड़ों कोसों का अन्तर है। मैं मध्यलोक में हूँ और परमात्मा लोक के अग्रभाग पर हैं, मेरे से सात रज्जूप्रमाण लोकभूमि पार करने के तुरन्त बाद, ही लोक के शिखर पर हैं। इतना अधिक फासला (Distance) तो मेरे और परमात्माके बीच में क्षेत्र-कृत है। कालकृत दूरी भी है, कि भगवान् पद्मप्रभु अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में मुक्त (सिद्ध) परमात्मा बन चुके हैं और मैं पचम आरे में हूँ, यानी काल का फासला भी काफी हो चुका है और आगे भी न जाने कितना काल अभी और लगेगा, आपके पास पहुँचने तक में। द्रव्यकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच में काफी है। परमात्मा वर्तमान में सिद्ध हैं, मुक्त हैं, गति जाति-शरीरादि से रहित हैं और मैं वर्तमान में सिद्ध बुद्ध-मुक्त नहीं हूँ। गति-जाति शरीरादि से सयुक्त हूँ, मैं वर्तमान में सिद्धत्व से रहित हूँ, पर्यायरूप से अशुद्ध हूँ। कहाँ वे शुद्धअनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य से युक्त और कहाँ मैं अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, चारित्र और वीर्य में भी बहुत पिछड़ा हुआ! कितना अन्तर है! और भावकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच में काफी है। वे रागद्वेषरहित सहजानन्दी शुद्ध और निखालिस आत्मभावों से भरे हुए हैं, मैं अभी रागद्वेष-काम क्रोध-लोभ-मान-मोहादि कषाय भावों से सयुक्त हूँ। अत मुझे आश्चर्य होता है कि परमात्मा के और मेरे बीच में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जो इतना अन्तर (फासला) पड़ गया है, वह क्यों पड़ गया है? जबकि द्रव्य-स्वभाव की दृष्टि से मेरी और परमात्मा की आत्मा में ऐक्य है, समानता है। अत. श्री आनन्दघनजी जिज्ञासाभाव से पूछते हैं कि आपके और मेरे बीच में जो इतना अन्तर पड गया है, वह किस कारण से है? व्यवहारनय की दृष्टि से जब उन्होंने सोचा तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया कि परमात्मा के और मेरे बीच में जो इतना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृत अन्तर पड गया है, उसका मूल कारण है—मेरे वैभाविक गुण का अशुद्ध परिणमन और निमित्त कारण है कर्म। क्योंकि परमात्मा समस्त कर्मों से रहित होने के कारण क्षेत्र

से भी हमसे वहुत दूर चले गये, काल से भी वे कर्म नष्ट होते ही काफी पहले पहुँच गए, हम वहुत पीछे रह गए। द्रव्य और भाव से भी कर्मों के सर्वथा नष्ट होते ही उनके और हमारे वीच मे इतना अन्तर हो गया कि वे सिद्ध, बुद्ध मुक्त, अनन्तज्ञानदर्शनमय हो गए, और हम अभी कर्मो से घिरे होने के कारण ही वन्धन मे जकडे हैं, ससारी है, ज्ञान-दर्शन भी हम मे अभी परोक्ष और अल्प हैं। राग-द्वेष-मोह आदि विकार भी कर्मो के ही कारण है, और इनके रहते और नये कर्म भी हम वाध लेते है।

परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच का अन्तर

जव यह निश्चय हो गया कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के वीच मे काफी अन्तर है, और वह कर्मो के कारण है, तव श्री आनन्दघनजी इतने अन्तर को सहन न कर सके। वे परमात्मादर्शन के लिए तो जीवन-मरण की वाजी लगाने को तैयार हो गए और अन्तरात्मा की भूमिका तक आ पहुँचे, तव इस कर्म के अभाव और सद्भाव को ले कर रहे हुए अन्तर को दूर करने के लिए वे परमात्मा के सामने अन्तर्हृदय मे पुकार उठे—"**पद्मप्रभ जिन तुझ मुझ आतरू रे; किम भाजे भगवंत?**"

परन्तु परमात्मा तो अशरीरी, निरजन, निराकार, सिद्ध (मुक्त) होने के कारण उनकी यह आवाज सुन नही सकते, किन्तु अपने ज्ञान मे इसे जान तो सकते है, मगर ज्ञान मे जान लेने के वावजूद भी वे निराकार, अशरीरी, वाणी रहित होने के कारण उत्तर तो दे नही सकते। अत श्रीआनन्दघनजी की हार्दिक जिज्ञासा को शुद्धबुद्धि वाले गुरुदेव सुन कर वोले-'परमात्मा मे कर्म नही है, कर्म-विपाक नही है, कर्मवन्धन का कारण ही नही रहा, इसलिए वे परम शुद्ध, वुद्ध, मुक्त, सहजानदी शुद्धस्वरूपी, सिद्ध परम-आत्मा (परमात्मा) है, तुम मे अभी कर्म है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि हैं, जिनमे तुम मे कर्मवन्धन का कारण है। तुम मे कर्म-उपार्जन की क्रिया होती है, कर्म क्रिया से वनते है। इसलिए कर्मफलयोग (कर्मविपाक) तुम मे होता है। क्योकि कर्म ही वन्धनरूप वन कर शुभाशुभ फल चखाते है। जव तक ये कर्म फल दे कर (कर्म भोग कर) क्षय नही हो जाते, झड नही जाते, तव परमात्मा और आत्मा के वीच मे अन्तर रहेगा। जीवात्मा कर्म के फल भोगने

(विपाक) के समय मे अगर समभाव मे या आत्मभावो मे स्थिर रह नही सकता, प्रत्युत राग, द्वेष मोह, लोभ आदि करता रहता है। इसी कारण आत्मा और परमात्मा के बीच मे अन्तर पड़ा हुआ है। अगर यह अन्तर नष्ट करना हो तो सर्वप्रथम कर्मबन्ध के कारणो-मिथ्यात्वादि-को पहले सर्वथा नष्ट कर दो। जब कर्मबन्ध के कारण नष्ट हो जायेंगे तो नये कर्मो का बन्ध नही होगा, तथापि पुराने कर्म, जो सत्ता मे पड़े है, वे एक न एक दिन अपने-अपने विपाक (परिपाक) का फल दे कर अवश्य नष्ट हो जायेंगे। अत अगर तुमने इतनी सावधानी रखी कि जब कर्म फल देने आवे तब (फलोपभोग के समय) समत्व-भाव- आत्मभाव- मे स्थिर रहोगे तो तुम्हारे पुराने कृतकर्म नष्ट हो जायेंगे, और नये सिरे से नये कर्म आते हुए पहले से ही रुक जायेंगे। इस प्रकार कर्मो के समभावपूर्वक फलभोग होने से ही तुम्हारी आत्मा और परमात्मा के बीच मे जो अन्तर है, वह नही रहेगा। तुम और परमात्मा एकमेक हो जाओगे। तुम्हारी आत्मा ही शुद्ध हो कर परमात्मा बन जायेगी। फिर पर-मात्मा और तुम्हारी आत्मा के बीच मे न क्षेत्रकृत दूरी रहेगी, न कालकृत, और न ही द्रव्यकृत अन्तर रहेगा, न भावकृत कोई अन्तर रहेगा। तात्पर्य यह है कि कर्मो को काट देने पर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नही रहेगा।[1]

कई ईश्वरकर्तृत्ववादी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा मानते है कि परमात्मा की कृपा होगी तो कर्म स्वयमेव कट जायेंगे अथवा कर्मफल देने वाले तो भगवान् है, उनसे माफी माग लो, उनकी सेवाभक्ति (केवल गुणगान, चापलूसी आदि) करके उन्हे रिझा लो। वे प्रसन्न हो कर पाप माफ कर देंगे, तुम्हारे पापकर्म धो देंगे, उन सबका खण्डन इस गाथा से हो जाता है।

जब शुद्धबुद्धियुक्त गुरुदेव या ज्ञानी पुरुष से यह स्पष्ट उत्तर मिल गया कि परमात्मा के और तुम्हारी आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का अचूक उपाय कर्मो को समभाव से भोग कर काटना है। तब श्रीआनन्दघनजी के मन

---

१. देखिए उन्ही के धर्मग्रन्थ भगवद्गीता मे-

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलसयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

मे सहसा प्रश्न उठना है कि वे कर्म कितनी किस्म के है ? वे कैसे-कैसे बधते हैं ? कितने-कितने काल तक वे ज्यादा से ज्यादा आत्मा के साथ ठहर सकते है ? उन कर्मो मे तीव्रता-मन्दता आदि कैसे होती है ? जिससे उन्हे भोगते समय अधिक या कम दु ख महसूस हो ? ये और ऐसे अन्तर्मानस उठे हुए प्रश्नो का वे अगली गाथा द्वारा सक्षेप मे समाधान करते है —

पयई-ठिई अणु भाग-प्रदेशथी रे, मूल-उत्तर बहुभेद ।
घाती-अघाती हो, बन्धोदय-उदीरणा रे, सत्ता कर्मविच्छेद ॥
पद्मप्रभजिन० ॥२॥

अर्थ

प्रकृति (निश्चित स्वरूप के फल देने के कर्मों का स्वभावरूप बन्ध), स्थिति (कर्मों का आत्मा के साथ कर्मत्वरूप मे रहने का कालसीमारूप बंध) अनुभाग (कर्मों की फल देने की न्यूनाधिक शक्ति) (रसरूप) बन्ध और प्रदेश (कार्माण-वर्गणानुसार कर्मपुद्‌लो के न्यूनाधिक जत्थो का नियमनरूप बन्ध) इन चारो प्रकार के बन्धो से, फिर कर्मों की मूल (मुख्य) तथा उत्तर (अवान्तर) प्रकृतियाँ अनेक भेदो वाली हैं, फिर कर्म भी दो प्रकार के है— घातीकर्म, और अघाती कर्म तथा कर्मो के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारो को समझ कर इन सभी का विच्छेद (विनाश) कर देना ही परमात्मा के और आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का उपाय है।

भाष्य

चार प्रकार से कर्मों के बन्ध

आत्मा के साथ कर्मो के लगने का सारा तत्वज्ञान जब तक न समझ लिया जाय, तब तक साधक न तो कर्म-सयोगो को आत्मा से अलग करने की बात सोच सकता है और न ही वह परमात्मा और अपने बीच के अन्तर को तोडने का सही पुरुषार्थ कर सकता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम कर्म के लगने के ५ मुख्य कारण बताए हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके अवान्तर भेद ५७ हैं, इन सबको बन्धहेतु कहते हैं। आत्मा के साथ कर्मो का सयोग इन ५७ बन्धहेतुओ मे से एक या अनेक हेतुओ की

उपस्थिति होने पर होता है। सबप्रथम तो बन्ध के हेतुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। जब किसी कर्म का बन्धन होने लगता है, तब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, ये चार बातें मुकर्रर हो जाती हैं। आइए, शास्त्र-प्रसिद्ध मोदक के दृष्टान्त पर से इसे समझ लें—

प्रकृतिबन्ध—जैसे कोई मोदक वातरोगहर्ता होता है, कोई पित्तनाशक, तो कोई कफविनाशक होता है, और वे उन-उन द्रव्यों से बनाये जाते हैं, इसी प्रकार कर्म भी विभिन्न स्वभाव के होते हैं, वे विभिन्न कारणों से अलग-अलग प्रकृति के होते हैं, कई कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को रोकते हैं, कई दर्शन की शक्ति को, कई सुख या दुःख पैदा करने वाले हैं, कई मोहमाया में फँसाने वाले होते हैं, कई शरीर की आयु प्रदर्शित करने वाले, कई शरीर की आकृति बनाने वाले, कई जाति में न्यूनाधिकता करने वाले हैं, कई लाभ, शक्ति आदि को रोकने वाले होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म की प्रकृति (स्वभाव) नियत करने व बताने वाला बन्ध प्रकृतिबन्ध होता है।

स्थितिबन्ध—जैसे विभिन्न मादकों के अच्छे रहने, बिगड़ने लगने या बिगड़ जाने की अवधि होती है, वैसे ही विभिन्न कर्मों की आत्मा के साथ स्थिति (टिके रहने की कालमर्यादा) को स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मों की स्थिति भी शुभ-अशुभ आदि अनेक अध्यवसायों के अनुसार बँधती है। स्थितिबन्ध से यह मुकर्रर होता है कि अमुक कर्म कब फल देगा, फल देने लगने के बाद कितने समय तक वह फल देगा, अथवा कितने समय तक अमुक कर्म किसी प्रकार का फल दिये बिना आत्मा के साथ जुड़ा रहता है?

रस (अनुभाग) बन्ध - जिस प्रकार लड्डुओं के रसों में भी कोई मीठा, कोई फीका, कोई तीखा, कोई कसैला या स्निग्ध होता है तथा कोई एक गुना मीठा, कोई दो गुना, कोई तीन गुना मीठा, चरपरा आदि होता है। इसी प्रकार कर्मों के रसों में भी विभिन्नता होती है। रसबन्ध भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम आदि अनेकविध अध्यवसायपूर्वक की गई क्रिया के अनुसार नियत होता है। किस कर्म की मन्दता या गाढता कितनी है, यह रस (अनुभाग) बन्ध में ही मुकर्रर होता है।

प्रदेशबन्ध—जिस प्रकार लड्डू बाँधते समय कोई आधा पाव का, कोई पावभर का, कोई आधा सेर और कोई सेरभर का भी बाँधा जाता है, कई

कई लड्डू छोटे होते है, कई बड़े होते है। इसी प्रकार कर्मों की वर्गणा (संख्या) जिसमे नियत होती है, कि अमुक कर्म कितनी कर्मवर्गणा का बना हुआ है। तदनुसार एक-दो हजार-लाख वगैरह की संख्या नियत की जाती है। तथा अमुक-अमुक (कर्मप्रदेशो) कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धो के जत्थो का नियमन भी प्रदेशबन्ध मे होता है।[1]

उक्त दृष्टि से प्रत्येक कर्मबन्ध चार-चार प्रकार का समझना चाहिए। **प्रकृति**—कर्मों की मूल प्रकृतियाँ ८ है—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। इन आठो की उत्तर-प्रकृतियाँ १५८ हैं[2]—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य की-४, नामकर्म की १०३, गोत्रकर्म की २, और अन्तरायकर्म की ५।

घाती-अघाती कर्म—इन आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियो मे से ४ घातीकर्म है और ४ अघातीकर्म है।

बन्ध—आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसायो अर्थात् भावकर्मों के निमित्त से आत्म-प्रदेशो के साथ कर्मपुद्गलो का क्षीरनीर-न्याय से जुड जाने से द्रव्यकर्म-दल का ग्रहण होता है और प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप मे बन्धने यानी कर्मो के आत्मप्रदेश के साथ जुड जाने के कारण बन्ध (कर्मबन्ध) कहलाता है। १ से ले कर १४ गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे कितने कर्मो का बन्ध होता है, इसका विचार भी बन्ध के अन्तर्गत किया जाता है।

उदय—जो शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ बन्धे (लगे) है, उनका काल जब परिपक्व हो कर कर्मफल देने को तैयार होता है, उस उदयकाल को उदय कहते हैं। किस गुणस्थान मे कितने-कितने कर्म उदय मे आते है, जब कर्म

---

१. चारो बन्धो का लक्षण श्लोक मे देखिए—

'प्रकृति समुदाय स्यात्, स्थिति. कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय., प्रदेशो दलसंचय.।

२ इसका विशेष विस्तार कर्मग्रन्थ आदि से समझ लेना चाहिए।

किसी योग्य समय पर फल देते हैं, तब समझा जाता है कि अमुक कर्म का उदय हुआ। कर्मोदय के कारण कैसे-कैसे फल भोगने पड़ते हैं ? इसका भी पता उदय से लगता है।

उदीरणा—जिन कर्मों का उदयकाल अभी तक नही आया, उन उदीरणा-योग्य कर्मो को किसी अनुष्ठानविशेष या प्रसंगविशेष के निमित्त से कर्म-फल शीघ्र भोगे जाने की योग्यता पैदा हो जाना और फलाभिमुख होने पर उनका भोगा जाना तथा फल दे कर निवृत्त हो जाना कर्मों की उदीरणा कहलाती है। उदीरणा से देर से फल देने वाले कर्म बहुत ही जल्दी फल देने योग्य बन जाते हैं। कौन-से गुणस्थान में कितने कर्मो की उदीरणा होती है इसका विचार कर्मग्रन्थ आदि मे इसी के अन्तर्गत बताया गया है।

सत्ता—उदयकाल से पहले जो कर्म आत्मा के साथ लगे रहते है, भोगे नही जाते, जो कर्मफल देने के लिए सम्मुख नहीं आए। फिर भी उनमे फल देने की शक्ति है, वे अभी स्टॉक में पड़े हैं उन्हे सत्ता कहते है। किस गुण-स्थान में कितने कर्मो की सत्ता है, इसका भी विचार इसी के अन्तर्गत है।

इस प्रकार कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता कब, कौन-से गुणस्थान मे, और कैसे होते है ? इस विषय मे भलीभांति समझना चाहिए।

प्रकृतिबन्ध आदि से ले कर सत्ता तक की जो बातें कर्म के सम्बन्ध मे यहाँ बताई गई है, वे इसलिए कि साधक इस बात को भलीभांति दिल मे बिठा ले कि कि इन कर्मों के कारण ही उसके और परमात्मा के बीच में जुदाई है, अलगाव है। अत अब वह आत्मसाक्षी से सीधा पुरुषार्थ करने लग जाय, उसी से उसके उक्त कर्मबन्धों, मूल-उत्तर कर्मप्रकृतियो, घाती-अघाती कर्मो, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तारूप कर्मो को काटने का पुरुषार्थ सफल होगा। और

---

१ बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारो के विषय मे दूसरे कर्मग्रन्थ, प्रज्ञापनासूत्र, कम्मपयडी, गोमटसार आदि मे विस्तृत चर्चा है। पाठक वही से देख लें।

तभी उसके कर्मो का विच्छेद होगा और वह परमात्मा के निकट पहुँचेगा। अव तक वह आत्मभाव की उपेक्षा करके विभाव-भाव मे मग्न हो कर उलटा पुरुपार्थ करता रहा, इसी से कर्मवन्ध हुआ, जिससे परमात्मा से उसका अन्तर पडा। कर्म बाँधने का पुरुपार्थ करने वाला भी तू है, तो कर्मों को क्षय करने का पुरुपार्थ करने वाला भी तू ही है।

पूर्वोक्त गाथा से यह स्पष्ट हो गया कि जीव के साथ लगे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति तथा घाती व अघाती के रूप मे जो वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के रूप मे स्थित कर्म है उन्ही के कारण ही परमात्मा और जीवात्मा मे अन्तर है। अत कर्मो का विच्छेद होने पर ही जीवात्मा-परमात्मा के वीच का अन्तर टूट सकता है। इतना स्पष्ट कर देने के वावजूद भी यह शका होती है कि आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप है, उस पर कर्म आए ही क्यो? आए है तो वे कव से आए है? कर्मपुद्गलो के साथ आत्मा का सयोग कव से है? पहले कर्म था या पहले आत्मा? यहाँ आत्मा ससारी कव से वनी, कव तक रहेगी? आत्मा के साथ कर्मों का सम्वन्ध किस प्रकार का है? इन दोनो का सम्बन्ध कौन जोडता है? इन सब शकाओं का समाधान श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे करते है—

कनकोपलवत्, पयड़ी पुरुषतणी रे, जोड़ी अनादि स्वभाव,
अन्यसंजोगी जिहाँ लगी आतमा रे, ससारी कहेवाय ॥
पद्म० ॥३॥

अर्थ

अनादिकाल से अपने स्वभाव से जैसे सोने का टुकड़ा और मिट्टी दोनो जुड़े (मिले) रहते है, वैसे ही सोने सरीखी आत्मा जव तक दूसरे (कर्मआदि) के साथ जुड़ी हुई है, तब तक वह संसारी कहलाती है।

भाष्य

यहाँ मुख्यतया यह वताने का प्रयास किया है कि आत्मा अपने आप मे शुद्ध वुद्ध होते हुए भी जव तक शरीर के साथ सम्वद्ध है, तव तक उसका परमात्मा के साथ मिलना दुष्कर हे। दूसरी वात यह वताई गई है कि कर्म और आत्मा का यह सब सम्वन्ध ऐसा नही हे कि आत्मा कर्मो के साथ तद्रूप वन गई हो, ऐसा होने पर तो कर्मों का आत्मा मे अलग होना ही असम्भव हो

जायगा। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इन दोनों के सम्बन्ध को कनक और उपल यानी सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की उपमा दी है। सोना मिट्टी में मिला है, परन्तु वह कब से उसके साथ मिला हुआ है? इसे ठीक से कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि मिट्टी मिला हुआ सोना मिट्टी से एक दिन अलग किया जा सकता है, भले ही वह अनादिकाल से हो—उसका काल निश्चित न हो। मिट्टी से सोना अलग होने पर ही वह अपने पूर्ण शुद्ध रूप में आता है इसलिए मिट्टी और सोने का सम्बन्ध संयोगसम्बन्ध है। किन्तु मिट्टी का सोने के साथ संयोग किसने किया? कब किया? मिट्टी पहले मिली थी या सोना पहले मिला था? इन प्रश्नों का जैसे कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, वैसे ही जीवात्मा का कर्मों के साथ संयोग के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्वयं आत्मा के द्वारा कृत होता है, दूसरा कोई जीव या ईश्वर आत्मा के साथ कर्मों का संयोग मिलाता है, यह बात असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि यदि ईश्वर ही कर्मका संयोग कराता है, तो ईश्वर ही कर्म से वियोग (मुक्ति) करा सकता है। यदि ईश्वर के हाथ में ही जीवों के कर्मों की मुक्ति हो तो किसी भी जीव को कर्मक्षय करने और कर्मों से मुक्त होने के लिए कोई पुरुषार्थ करने की जरूरत नहीं रहेगी, न व्रत या महाव्रतादि धारण करने की आवश्यकता रहेगी। परन्तु यह बात मानने पर ईश्वर प्रपंची, रागी, द्वेषी, अन्यायी आदि ठहरेगा, जैसे कि उसका स्वरूप कतई नहीं है। अत आत्मा का कर्मों के साथ संयोग-सम्बन्ध स्वयकृत है। परन्तु यह संयोग कबसे है? एक आत्मा की दृष्टि से प्रवाहरूप से आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बन्ध अनादि है। आत्मा पहले कर्मों से मिली थी या कर्म आत्मा से मिले थे? यह अतिप्रश्न है, जिसका समाधान बीजवृक्ष-न्याय से दिया जाता है कि बीज पहले था या वृक्ष पहले था? मुर्गी पहले थी या अंडा पहले था? दोनों की प्राथमिकता सापेक्ष है। इसलिए इस पर ज्यादा गौर न करके यही सोचा जाय कि आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध प्रवाहरूप से भले ही अनादिकालीन हो, मगर एक न एक दिन उसका अन्त आ सकता है, जिन कारणों से उसका संयोग हुआ है, उन कारणों को मिटा देने पर आत्मा स्वर्ण-वत् शुद्ध कर्ममलरहित बन सकती है। जैसे कर्मबन्ध का पुरुषार्थ व्यवहारदृष्टि से आत्मकृत है, वैसे ही कर्ममुक्ति का पुरुषार्थ भी आत्मकृत है। यहाँ कर्म के

वदले 'अन्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है, इसलिए कर्म के अतिरिक्त जो भी परभाव (आत्मा से भिन्न भाव) है, उनके साथ सयोग-विच्छेद का पुरुषार्थ होने पर एक दिन उनसे मुक्ति हो सकती है और आत्मा अपने आप मे शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो जाएगी और तव आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर खत्म हो जाएगा, वह परमात्मरूप बन जाएगी ।

जैसे सोने को मिट्टी से अलग होने के लिए अमुक अमुक प्रक्रियाओ मे से गुजरना पड़ता है, वैसे ही आत्मा को कर्मों या परभावो से अलग होने के लिए भी धर्मध्यान आदि प्रक्रियाओ मे से उसे गुजरना आवश्यक है ।

जव तक आत्मा का कर्मो या परभावो के साथ वदस्तूर सम्वन्ध न्यूनाधिकरूप मे चलता रहेगा, तव तक वह [जीवात्मा] ससारी कहलाएगा, वह परमात्मा-[शुद्ध] रूप तभी कहलाएगा, जव कर्मों [परभावो] से सर्वथा रहित हो कर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हो जाएगा ।

जीव [आत्मा] के मुख्यतया दो भेद है-सिद्ध और संसारी । जव तक प्राणी ससारी होता है, तव तक एक गति से दूसरी गति मे और एक योनि से दूसरी योनि मे वारवार भटकता रहता है । ससार मे भी चारगतियो और चौरासी लाख जीवयोनियो मे से वह किस गति और किस योनि मे जा कर पैदा होगा, यह भी शुभाशुभ कर्मों के अधीन है। यद्यपि कर्मवन्ध मनुष्य द्वारा स्वयमेव होता है, जिसका कर्मफल भी स्वयमेव भोगना होता है । कई लोग यह कह देते है कि कोई भी प्राणी अपने कृत कर्मो का अशुभ फल स्वय भोगना नही चाहता, इसलिए तथाकथित ईश्वर को वीच मे कर्मफल भुगवाने के लिए माध्यम माना गया । मगर जैनदर्शन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ईश्वर को वीच मे नही डालता, वह कहता है कि कोई प्राणी चाहे या न चाहे, कर्मों मे स्वत तद्रूप परिणमन की तथा फल देने की शक्ति है । जैसे मिर्च खाने पर मुँह अपने आप जल जाता है, उसके लिए किसी दूसरे को माध्यम वनाने की जरूरत ही नही होती । कर्म स्वत ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप मे वर्गीकृत हो कर वध जाते है । समय पर स्वयमेव फल दे देते है , जिसे प्राणी को भुगतना पडता है । कर्म अपना फल प्राप्त कराने देने मे स्वतत्र है । वे अन्य किसी फलदाता या माध्यम की अपेक्षा नहीं रखते । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—"जहाँ तक आत्मा कर्मों से

लिप्त—कर्मों से संयुक्त है, तब तक वह संसारी है, सिद्ध या मुक्त नहीं। अतः यदि आत्मा से परमात्मा तक का अन्तर दूर करना हो तो कर्मों से सर्वथा मुक्त शुद्ध, और स्वरूपनिष्ठ होना आवश्यक है। तभी वह संसारी मिट कर सिद्ध (मुक्त) कहलाएगा। फिर उसके जन्ममरण का चक्र भी मिट जाएगा। यहाँ फिर एक सवाल पैदा होता है कि यह तो समझ में आ गया कि कर्म आदि अन्य के साथ जब तक आत्मा का संयोग है, तब तक वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती, परन्तु पृथक् पृथक् कर्मों के साथ संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध करने वाला यानी कर्मों का वर्गीकरण (Classification) करने वाला कौन है? जिससे उनके फल में अन्तर पड़ जाता है और क्या उन कर्मों के साथ संयोग होने से आत्मा को रोका जा सकता है? यदि रोका जा सकता है तो कैसे? और किनके द्वारा? इन सबके समाधान-हेतु अगली गाथा प्रस्तुत है—

कारण जोगे हो बांधे बंधने रे, कारणे मुगति मुकाय।
आश्रव-संवर नाम अनुक्रमे रे, हेय-उपादेय गणाय॥

पद्मप्रभजिन०॥४॥

अर्थ

अमुक-अमुक कारणों के मिलने पर अमुक-अमुक कर्मों का बन्ध होता है, अमुक-अमुक करणों के मिलने पर कर्मों से मुक्त हो कर आत्मा मुक्त भी हो सकती है। आत्मा जब कर्मबन्धन करती है, तब कर्मों के उक्त प्रवाह के आगमन को आश्रव और नये कर्मों के निरोध (रोकने) को संवर कहते हैं, जो क्रमशः हेय और उपादेय कहलाते हैं।

भाष्य

कारणों से बंध और कारणों से मोक्ष

आत्मा और परमात्मा के बीच में दुई डालने वाले कर्म हैं, यह बात निश्चित हो जाने पर सवाल उठता है कि कर्म किन-किन कारणों से बंधते हैं, और किन कारणों से छूटते हैं? पहले संभवदेव परमात्मा की स्तुति में स्पष्ट बताया जा चुका है कि कोई भी कर्म बिना कारण के कदापि सम्भव नहीं है। कर्त्ता द्वारा कार्य होगा तो उसके कारण होंगे ही। प्रत्येक कार्य में कई कारण होते हैं। यहाँ यह भी बताना अभीष्ट है कि कर्मबन्धनरूप कार्य भी किन्हीं

कारणो मे होता है, और कर्ममोक्ष भी किन्ही कारणो से। सामान्यरूप से कर्मबन्धन के मुख्यतया ५ कारण शास्त्र मे बताये हैं— १मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्ही पाँचो कारणो को आश्रव कहा गया है। और इन्ही कारणो से मुक्त होने पर आत्मा कर्मों से मुक्त होती है। कर्ममुक्त होने के भी ६ कारण बताये है— ५ समिति, ३ गुप्ति १० श्रमणधर्म, २२ परीषहजय, तथा चारित्र-पालन एव १२ प्रकार के तप। इन्हे ही एक शब्द मे सवर कहा गया है।

आश्रव और सवर हेय-उपादेय क्यो ?

इन दोनो मे आश्रव त्याज्य है। यद्यपि कई लोग व्यवहारनय की दृष्टि से ऐसा मान लेते है कि शुभ-आश्रव (पुण्य) कथञ्चित् उपादेय है, जब तक कर्मों से सर्वथा मुक्ति न हो, तब तक उसे छोडा नही जा सकता, छोडना नही चाहिए। परन्तु निश्चयनय की दृष्टि मे यह बात वास्तविक नही जचती है। निश्चयनय की भाषा मे यो कहा जा सकता है कि शुभाश्रव (पुण्य) छोडने योग्य ही है। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर उसे छोडना नही पडता, वह स्वय छूट जाता है। इसी प्रकार शुभकर्मो को ग्रहण करना नही पडता, और न ही आत्मा अपने गुणस्वभावो के सिवाय किसी को खीचता है। शुभकर्मो को लाचारी से छोड नही सके, यह अलग बात है। क्योकि अशुभ आश्रव (पाप) से तो सदैव बचना चाहिए। इसलिए अशुभकर्मो (आश्रवो) को छोडने या उनसे बचने के लिए मुख्यतया शुद्ध भावो (स्वगुणस्वभाव) मे प्रवृति हो, अगर शुद्धभावो मे सतत प्रवृत्त न रह सके तो कम से कम शुभभावो (शुभाश्रवो) मे तो प्रवृत्त रहना उचित है। इसी दृष्टि को ले कर व्यवहारदृष्टि से शुभाश्रव कथञ्चित् उपादेय माना जाता है, किन्तु मुमुक्षु के लिए है वह हेय ही। क्योकि उससे कर्ममुक्ति तो होती नही, कर्मबन्धन ही होता है, जन्म-मरण की परम्परा ही बढती है।

इसी प्रकार कर्ममुक्ति के जो कारण बताये गए है, या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को जो मोक्ष के कारण बताये गये है, वे व्यवहारनय

---

१ मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाययोगा बन्धहेतव। स आश्रव.।

२- स समिति-गुप्ति-धर्मानुपेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः, तपसा निर्जरा च ॥

—तत्वार्थसूत्र

की दृष्टि से बताये गये हैं। निश्चयनय की दृष्टि से तो स्वभाव, स्वगुणों या स्वस्वरूप में रमणता ही कर्ममुक्ति का यथार्थ उपाय है। यही निश्चयदृष्टि से संवर और निर्जरा है, जो उपादेय है। आश्रव को इसलिए हेय बताया गया कि इससे आत्मा कर्मों के बंधन में जकड़ कर चिरकाल तक संसार के जन्ममरण के चक्र में परिभ्रमण करती रहती है। संवर को इसलिए उपादेय बताया कि यह आत्मा को कर्मों के बन्धन में पड़ने से रोक कर अपने स्वरूप में स्थिर करता है और चिरकालीन जन्ममरण के चक्र से मुक्त कराता है।

आश्रव और संवर के लक्षण

जिस कारण से प्राणी कर्मों के बन्धन में बंध जाता है, उसे बंध कहते हैं। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी जल का आना आश्रव है। आश्रव में कर्मों के आगमन के स्रोत (द्वार) खुले होते है, जबकि संवर में कर्मो के आगमन के स्रोत (द्वार) बंद होते है। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी जल का आना बन्द हो(रुक) जाय, उसे संवर कहते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धभावों के सिवाय आत्मा का शुभ या अशुभ भावों में बहना या प्रवृत्त होना, आश्रव कहलाता है और आत्मा का शुभ-अशुभ भावों से हट कर शुद्ध भावों—आत्मगुणों या स्वस्वरूप में प्रवृत्त होना या स्थिर होना, लीन होना संवर कहलाता है। जिसके सम्यग्-दर्शन, विरति, अकषाय, अयोग, महाव्रत, अणुव्रत आदि अनेक भेद है।

अलग अलग स्वभाव के कर्मों के अलग-अलग कारण

सामान्यतया कर्मबन्ध का कारण आश्रव और आश्रव के मुख्य ५ कारण बताये गये है, लेकिन शास्त्रो में पूर्वोक्त ८ कर्मों की प्रकृति के रूप में बन्धने वाले ८ कर्मों में से प्रत्येक के बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण भी बताये गये हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के ५ कारण मुख्य है—ज्ञान या ज्ञानी के दोष देखना, ज्ञान या ज्ञानी का नाम छिपाना, ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष करना, ज्ञान ग्रहण करने में या ज्ञानी के ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न डालना, ज्ञान या ज्ञानी की आशातना-अविनय करना। इसी प्रकार के ५ कारण दर्शनावरणीय कर्म के हैं। तथा वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों के बन्ध के अलग-अलग कारण शास्त्रों में बता रखे है।

निष्कर्ष : प्रभुमय बनने के लिए संवर का स्वीकार

यहाँ आश्रव और संवर दोनों का स्वरूप बता कर, दोनों को क्रमशः हेय

और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बताने का प्रयोजन यह है कि अगर तुम्हे वीतराग परमात्मा और तुम्हारे बीच का अन्तर मिटाना हो तो कर्मबन्ध के कारणभूत आश्रव को हेय समझ कर छोडना चाहिए और सवर को उपादेय समझ कर स्वीकारना चाहिए । तभी तुम्हारा मानवदेह सफल होगा और तुम्हारा परमात्म-मिलन का शुभमनोरथ पूर्ण होगा। यही मुक्ति प्राप्त करने का सच्चा उपाय है, यही सिद्धत्व का मार्ग है और यही परमात्ममिलन का सत्पथ है। और कर्मबन्धन के कारणो का स्वीकार और इन्कार तुम्हारे ही हाथ मे है। यदि हाथ मे आई हुई इस बाजी को हार गए तो फिर चिरकाल तक ससार मे परिभ्रमण करना पडेगा ।

'कर्मों के बन्ध और मोक्ष का स्वरूप जानते हुए भी आत्मा बार-बार कर्मों से जुड जाता है, उसमे न जुडने का क्या कोई उपाय है ?' इस जिज्ञासा के समाधान-हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली, गाथा मे कहते है—

युजनकरणे हो अन्तर तुझ पड्यो रे, गुणकरणे करी भंग ।
ग्रन्थ उक्ते करी पंडितजन कह्यो रे, अन्तरभग सुभंग ।। पद्मप्र०।५।

अर्थ

हे भव्य ! युजनकरण (कर्म के साथ जुड़ने की क्रिया) के कारण तेरा परमात्मा से अन्तर (फासला) पडा है,जो गुणकरण (आत्मगुणो मे रमण करने की क्रिया) के द्वारा भग हो (छूट) सकता है। आगमादि धर्मग्रन्थो के कथन से आगम के अनुभवी पण्डितो ने परमात्मा से आत्मा के बीच की दूरी मिटाने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है ।

भाष्य

तीन करण और उनका स्वरूप

पूर्वगाथा मे कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति के कारण क्रमश आश्रव और सवर को हेय और उपादेय बताया, किन्तु केवल कारणो के बताने मात्र से हेय त्यागा नही जा सकता और उपादेय को ग्रहण नही किया जा सकता । मतलब यह

---

१. 'तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायाशादनोपघाता . ज्ञानदर्शनावरणयो '
—तत्त्वार्थसूत्र

है कि जब तक किसी चीज को छोड़ने और ग्रहण करने की प्रक्रिया मालूम न हो, तब तक छोड़ने योग्य को छोड़ने और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसी कारण इस गाथा में परमात्मा और आत्मा के बीच में पड़े हुए अन्तर के कारणरूप युंजनकरण की प्रक्रिया को बताया है, जबकि उस अन्तर के दूर करने के कारणरूप गुणकरण की प्रक्रिया को बताया है।

सवाल यह होता है कि युंजनकरण और गुणकरण की प्रक्रिया कोई हठयोग की प्रक्रिया है या सहजयोग की? कठिनतम क्रिया है या सरलतम? इसके समाधान में इतना ही कहा जा सकता है कि योगीश्वर श्रीआनन्दघनजी स्वयं जैनधर्म और जैनयोग के पुरस्कर्ता हैं, इसलिए उन्होंने जैनधर्ममान्य सहजयोग की ही प्रक्रिया प्रस्तुत की है, हठयोग की नहीं। ये करण-प्रक्रियाएँ उन्होंने अपनी मनःकल्पित नहीं बनाई हैं परन्तु आगमों और धर्म-ग्रन्थों के आधार पर अनुभवी विद्वानों द्वारा बताई गई प्रक्रियाएँ हैं। जैन-आगमों के अनुसार आत्मा की यह सहज प्रक्रिया तीन करणों में वर्गीकृत की गई है—युंजनकरण, गुणकरण और ज्ञानकरण। आत्मा की कर्मों के साथ जुड़ने (संयोग) की प्रक्रिया को युंजनकरण कहते हैं। यह क्रिया आस्रवरूप है। इस क्रिया का कर्त्ता संसारी जीव है। सिद्ध परमात्मा के साथ संसारी जीव के मिलने में अन्तराय का कारण युंजनकरण की क्रिया है। दूसरा करण, जो ठीक इसके विपरीत है, गुणकरण है। जिसमें आत्मा अपने वास्तविक गुणों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रत या स्थिर हो कर क्रिया करता है, उस क्रिया को गुणकरण कहते हैं। इसी आत्म-क्रिया को संवर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा में रहे हुए कर्मबन्ध के कारणभूत संसार-योग्यता नामक स्वभाव का प्रगट होना युञ्जनकरण है, यही भाव-आस्रव है और आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाने वाले मुक्तियोग्य स्वभाव का प्रकट होना गुणकरण है, यही भावसंवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष है। ये दोनों स्वभाव[1] जीव में होते हैं, इनमें से एक

---

१ हरिभद्रसूरीय योगबिन्दु ग्रन्थ में कहा है—

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी, तद्वियोगतः।
स एव मुक्त एतौ च स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥६॥
अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्य-निबन्धनः ॥

स्वभाव जब प्रगट होता है तो दूसरा स्वभाव छिप जाता है। इस प्रकार आविर्भाव-तिरोभाव, के रूप मे ये दोनो पर्याये जीव मे पाई जाती है। अभव्य जीव मे सिर्फ एक ही ससारयोग्यता-स्वभाव होता है। ससारी भव्यजीवो मे दोनो स्वभाव मुख्य-गौणरूप मे होते है।

तीसरा करण ज्ञानकरण है, जिसका अर्थ है—वस्तु को वस्तुस्वरूप से जानने-पहिचानने की क्रिया। वस्तुत इसका समावेश गुणकरण मे ही हो जाता है।

गुण-करण मे प्रवृत्त होना ही अंतर-भग का श्रेष्ठ उपाय

पूर्वोक्त दोनो करणो को भलीभाँति जान कर गुणकरण मे प्रवृत्त होना ही आत्मा और परमात्मा के वीच मे पडे हुए अन्तर (दूरी) को भंग करने का सुअग-श्रेष्ठ उपाय है, रामवाण इलाज है। आत्मा और परमात्मा के वीच की दूरी मिटाने का उपाय आत्मा के सिवाय अन्य किसी का अनुग्रह नही है। क्योकि कर्मवन्ध के सयोग और वियोग दोनो आत्मा के स्वभाव के अनुसार होते है। यदि थोडी देर के लिए ईश्वरकृपा आदि को कारण मान भी लिया जाय, तव भी दोनो स्वगुण-स्वभाव के अनुसार ही होते है। मतलब यह है कि जव आत्मा सवर मे प्रवर्तमान होती है, यानी व्यवहारिक दृष्टि से वह अष्ट-प्रवचनमाता (समितिगुप्ति) का पालन करती हो, वारह अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म मे उद्युक्त हो, परिषह पर विजय प्राप्त करने मे प्रयत्नशील हो, पचमहाव्रत या पचाणुव्रत, नियम आदि मे पुरुषार्थ कर रहा हो, तव वह आश्रवरहित हो जाता है। इससे नवीन कर्मो को आते हुए रोक देता है। यह गुणकरण की प्रक्रिया है, जो आत्मा के स्वपुरुषार्थ से होती है, इस प्रक्रिया से ईश्वरादि का अनुग्रह स्वत प्राप्त हो जाता है। यु जनकरण को रोकने से ही ऐसा गुणकरण होता है, जो पूर्वोक्त अन्तर को मिटाने का सरलतम उपाय है।

योगविन्दु, योगशास्त्र, योगद्वात्रिंशिका अथवा योगदृष्टि-समुच्चय आदि किसी भी ग्रंथ को उठा कर देखे तो उसमे आत्मा और परमात्मा के वीच की दूरी मिटाने का सर्वोत्तम उपाय यु जनकरण को रोक कर गुणकरण को अपनाने का वताया गया है।

अनादिकाल से संसारभ्रमण करते हुए जीव के द्वारा अगर यह प्रयोग सफल हो जाय तो परमात्मा और उसकी आत्मा के बीच में पड़ा हुआ अन्तर मिट सकता है। अन्तिम गाथा में इसी आशा को ले कर उत्साहपूर्वक श्रीआनन्दघनजी आनन्द-रस-विभोर हो कर कह उठते हैं—

तुझ मुझ अंतर-अंतर भाजशे रे, वाजशे मंगलतूर ।
जीवसरोवर अतिशय वाधशे रे, 'आनन्दघन' रसपूर ।।
पद्मप्रभजिन ० ।।६।।

अर्थ

मेरे और आपके अन्दर का (आन्तरिक) जो अन्तर है, वह अन्त में अवश्य मिटेगा अथवा मेरा अन्तर (गुणकरण द्वारा) उक्त अन्तर को तोड़ कर रहेगा। तब मंगलवाद्य बज उठेंगे और मेरा जीवसरोवर प्रफुल्लित हो कर अत्यन्त वृद्धिगत हो जायगा एवं वह उस आनन्द-समूह के रस से लबालब भर जायगा अथवा यह जीव परम-आनन्दरूपी घन (बादल) बन कर रस की वर्षा करता रहेगा।

भाष्य

अन्तरभंग होने का परिणाम

श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त गाथाओं में प्रतिपादित बातों द्वारा इस बात को भलीभाँति हृदयंगम कर चुके हैं कि परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच में जो अन्तर है, वह कर्मों के कारण है और कर्मबन्धन से छुटकारा पाना तथा आश्रवत्याग व संवरग्रहण करना भी मेरी आत्मा के ही हाथ में है। मेरी आत्मा जब यह कतई नहीं चाहेगी कि वह कर्मबन्धन में पड़े, तब वह प्रतिक्षण सावधान और जाग्रत हो कर कर्मबन्धन के कारणों को मिटायेगी, नये कर्मों को आने से रोकेगी, उदय में आए हुए पुराने कर्मों का फल समभाव से भोग कर अथवा उदयाभिमुख न हुए हों, उन्हें उदीरणा करके उनको क्षीण करने का पुरुषार्थ करेगी। इस प्रकार गुणकरण द्वारा यानी प्रतिक्षण आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में स्थिर रह कर युंजनकरण के कारण से परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच बढ़ते जाने वाले अन्तर को मैं एकदम काट दूंगा। इस युंजनकरण के कारण मैं संसारी कहलाता था, लेकिन जैसे आप युंजनकरण का त्याग करके गुणकरण अपना कर संसारी से सिद्ध-बुद्ध-शुद्ध-मुक्त बने, वैसे मैं भी युंजनकरण का त्याग करके गुणकरण को अपनाऊँगा, जिससे

मैं भी एक दिन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा बन जाऊँगा। मेरी यह आशा अवश्य ही फलित हो कर रहेगी। जिस दिन यह अन्तर टूटेगा, उस दिन मेरा ह वर्षों का सजोया हुआ स्वप्न साकार होगा। और तब ध्यान करने वाला ध्याता, उसका ध्येय—आप परमात्मा, और उसका परमात्मसम बनने का ध्यान तीनो एकाकार हो जायेंगे। इन तीनो मे जिस दिन ऐक्य-अभिन्नत्व सम्पन्न होगा, उस दिन आपके और मेरे बीच मे पडा हुआ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावगत सारा अन्तर दूर हो जायगा, मैं प्रभुमय हो जाऊँगा।

जैनतत्वज्ञान मे यह विशेषता है कि उसके अनुसार योग्य प्रयत्न करने से बहिरात्मा अन्तरात्मा बन कर एक दिन परमात्मस्वरूप प्राप्त कर सकता है। उसके जन्म-मरण के चक्कर मिट जाते हैं, स्वय उसमे परमात्मरूप बन जाने की शक्ति आ जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी उत्साह मे आ कर प्रसन्नता से कह उठते हैं—'प्रभो! मुझे उस गुणकरण के प्रयोग द्वारा अपनी आत्मिक शक्ति अजमा कर मेरा अनादिकालीन ससारीपन मिटाना है। जिस दिन यह ससारीपन मिट जायगा, उस दिन मैं और आप एकमेक हो जायेंगे, मैं परमात्ममय हो जाऊँगा और आपके और मेरे बीच मे रही हुई भेद की दीवार ढह जाएगी।'

जिस दिन ध्याता, ध्येय और ध्यान की इस प्रकार की एकता हो जाए उस दिन उक्त ऐक्य के फलस्वरूप अन्तर मे अनहद मगलवाद्य बज उठेंगे जिनसे उस आनन्द को द्योतित करने वाले अनाहत-निनाद (शब्द-ध्वनि) सतत सुनाई देगा। जैसे दुनियादार लोग अपनी इच्छितवस्तु का प्राप्ति की खुशी मे मगल बाजे बजाते हैं, वैसे ही साधक को भी जब अपने ईष्ट साध्य की प्राप्ति हो जाती है, तो उस खुशी को प्रगट करने से लिए आनन्द के अनाहत मगल-ध्वनिमय वाद्य उसके अन्तर मे बज उठते है। परमात्मा और आत्म की एकता के उस रूप की महिमा गाने मे तीनो लोक मे कोई समर्थ नही है और न उसे शब्दो से प्रकट करने मे कोई समर्थ है।

नेति-नेति' (इसके आगे कुछ नही कहा जा सकता) कह कर वाणी भी उस अभूतपूर्व आनन्द का वर्णन करने मे असमर्थ हो जाती है। इसीलिए श्रीआनन्द-घनजी जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य के उस नजारे को अपने शब्दो मे सकेत के

रूप मे अभिव्यक्त करते है कि परमात्मा और आत्मा के बीच मे दूरी डालने वाले कर्मरज का जब एक कण-भी नहीं रहेगा, तब यह आनन्दमय आत्मा-सरोवर परमशान्त सुधारस से लबालब भर जायगा। क्योंकि अब तक आत्मा को अतृप्ति थी, वह सदा के लिए समाप्त हो कर शाश्वत परमतृप्ति प्राप्त हो जायगी। उसके आनन्द का क्या ठिकाना !

जब जीव गुणकरण की प्रक्रिया द्वारा संवरधर्म के कारण क्रमशः घाती-कर्मों का क्षय कर देता है, तब केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और आत्मानन्द का बल प्राप्त कर ही लेता है। तब उसके केवल नाम-गोत्रादि चार कर्म बाकी रह जाते हैं, अगर आयुकर्म से नाम-गोत्र के कर्मदल अधिक हो तो उन्हे आयुष्य के बराबर करने के लिए वह केवली-समुद्घात करता है, जिससे जो जीव एक समय अगुल के असख्यातवे भाग के शरीर मे कैद था, वह अब लोकव्याप्त हो जाता है। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को कहना कहना पड़ा—जीव-सरोवर अतिशय वाधशे रे आनन्दघन-रसपूर'।

सरोवर मे कमल खिले हुए होते है, उनका स्वभाव जल की सतह से ऊपर रहने का होता है। जब सरोवर मे पानी बढ जाता है तो कमल भी बढ जाते है, फूल जाते है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि ज्यो-ज्यो सरोवर मे पानी बढ़ता जाता है, त्यो-त्यो कमल अपने रूप, रस और रग को न बिगडने दे कर बढ़ता जाता है। इसी प्रकार ज्यो-ज्यों गुणकरण द्वारा संवरधर्म-सेवन से परमात्मा और आत्मा के बीच का अन्तर टूटता जाता है, त्यो-त्यो जीवसरोवर मे आत्मज्ञानरूपी जल बढ़ता जाता है और आत्मज्ञानरूपी जल के वृद्धिगत होने के साथ-साथ आत्मानन्द-कमल मे भी वृद्धि होती जाती है। गुणकरण की अधिकता से वही जीवात्मा अपने ज्ञान को लोकालोक मे व्याप्त कर देता है और वह आत्मा परमात्मा मे लीन हो कर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर जा कर विराजमान हो जाती है। और तब वह आत्मा सदैव निजानन्दसमूह के रस से परिपूर्ण हो कर परम तृप्त हो जाती है।

सारांश

इस स्तुति के आरम्भ मे श्रीआनन्दघनजी ने दो प्रश्न उठाए थे— पर-

मात्मा और मेरी आत्मा के बीच मे अन्तर क्यो पडा ? उस अन्तर को मिटाने का क्या उपाय है ? उनके समाधान के रूप मे उन्हे ज्ञात हुआ कि अपनी आत्मा का पर (कर्म आदि) के साथ युजनकरण के कारण जो सयोगसम्बन्ध है अथवा हो रहा है, उसे गुणकरण द्वारा मिटाना ही परमात्मा और आत्मा के बीच अनादि कर्मों के सयोग के कारण पडे हुए अन्तर को मिटाना है। अत वे उक्त उपाय को अजमाने के लिए उद्यत हो गए और उसके शुभपरिणामो का दिग्दर्शन करा कर परमात्मा से अपनी आत्मा की एकता स्थापित करने की आशा मे प्रतीक्षारत है।

वास्तव मे, परमात्मा से आत्मा की इस प्रकार की एकता होगी, तभी सच्ची भक्ति, यथार्थ प्रीति, यथार्थ सेवा-उपासना, सत्यदर्शन, आदि सिद्ध होगे।

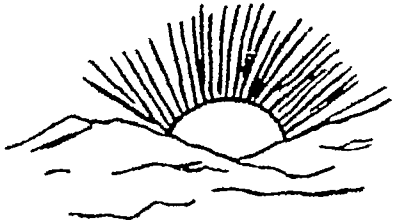

७ : श्री सुपार्श्वजिन-स्तुति—

अनेक नामों से परमात्मा की वन्दना

(तर्ज-राग सारग, मल्हार, ललना की देशी)

श्रीसुपार्श्वजिन, वंदिए सुखसम्पत्तिनो हेतु, ललना।
शान्त-सुधारस-जलनिधि, भवसागरमां सेतु, ललना ॥१॥

अर्थ

हे अन्तरात्मारूपी ललना ! (सखी !) आओ, हम श्रीयुत् सुपार्श्वनाथ जिन (सातवें तीर्थंकर) परमात्मा को वन्दन करें, क्योकि वे समस्त प्रकार के सुख और सम्पत्ति के कारण हैं, अपने स्वरूप मे स्थिर शान्त अमृतरस के समुद्र हैं और संसारसागर को पार करने मे हमारे लिए पुल के समान हैं।

भाष्य

परमात्मा को वन्दना क्यो ?

पूर्वोक्त स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा और आत्मा के बीच अन्तर के कारण और उनको मिटाने के लिए निवारणोपाय बताए थे। कर्म-बन्धनरूप उन कारणो को मिटाने के लिए तथा परमात्मा और आत्मा के बीच सामीप्य स्थापित करने के लिए इस स्तुति मे परमात्म-वन्दना आवश्यक बताई है। श्री सुपार्श्वनाथ वीतराग परमात्मा के माध्यम से इसमे परमात्म-वन्दना का रहस्य बताते हुए तीन बाते उन्होंने अभिव्यक्त की हैं— परमात्मवन्दना क्या है ? और किस नाम से, किस स्वरूप वाले परमात्मा को वन्दना की जाय ?

सर्वप्रथम परमात्मवन्दना क्यो की जाय ? इसका रहस्योद्घाटन श्रीआनन्दघनजी अन्तरात्मारूपी ललना (स्त्री=सखी) को सम्बोधित करते हुए कहते हैं— हे अन्तरात्मा-सखी, परमात्मा के पास तो अनन्तज्ञान-दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्तवीर्य सुरक्षित है, परन्तु मोह, अज्ञान और अशुभकर्मों के कारण मेरा ज्ञानधन अभी तक लुट रहा है। मैं मोहवश एव असातावेदनीय के परि-

णामस्वरूप जगत् के तथा जन्ममरण के अनेक दु खो से ओतप्रोत रहा, अभी तक मैंने इतने-इतने भयंकर दु ख सहे, फिर भी ससार-समुद्र के किनारे का पता नही लग रहा है और नये-नये अनेको दुख और आ रहे हैं। तथा मैंने मोहकर्मवश तथा वीर्यान्तरायकर्म के फलस्वरूप अपनी शक्ति आत्मा के शुद्धस्वरूप को देखने, जानने और उसमे रमण करने मे नही लगाई, यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना मे अपनी शक्ति न लगा सका, और प्राय' विषयों के पोषण बढाने मे और राग-द्वेष-मोह आदि की लीलाएँ करने मे ही लगाई। अत सुबुद्धिरूपी सखी! अब तू इन सबसे हट कर वीतराग परमात्मा के के वन्दन करने मे लग जा।

क्योंकि प्रथम तो परमात्मा का नाम सुपार्श्व है। लौकिक लोग लोहे से सोना बनाने के लिए पारसमणि का उपयोग करते हैं, परन्तु हमे तो अपनी आत्मा, जो विषय-कषायो मे, रागद्वेष मे रत हो कर वर्तमान मे जग लगे हुए लोहे के समान बन रही है, उसे सोना बनाना है, इसके लिए सुपार्श्व नामक चेतनपार्श्वमणि का अवलम्बन लेना चाहिए। वन्दना के रूप मे इनके पास आने से यानी इनके अभिमुख होने से आत्मा मे खोई हुई या सोई हुई ज्ञानशक्ति एव दर्शनशक्ति प्रकट हो सकती है। वह पारस तो लोहे के साथ स्पर्श होने पर केवल सोना बनाता है, परन्तु ये सुपार्श्व आत्मा को सोने के समान शुद्ध ही नही, अपने समान बुद्ध और मुक्त (सिद्ध) भी बना देते है।

मतलब यह है, हमारी आत्मा मे सोई हुई ज्ञान-दर्शन की विपुलशक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए हमे वीतराग परमात्मा की वन्दना करके उनका सामीप्य प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि वन्दना करने वाले को वन्दनीय पुरुष के अभिमुख=सम्मुख होना आवश्यक होता है। जब वन्दक आत्मा वन्दनीय परमात्मा के सम्मुख होगी तो स्वभावत उसमे निहित ज्ञान-दर्शन की शक्ति के रोधक कर्मों का पलायन होने लगेगा, ज्ञानदर्शन की शक्ति को रोकने वाले राग-द्वेष-मोहादि विकारो की भगदड शुरू हो जायगी और आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति निर्मलतर और निर्विकार होती जायगी। परमात्म-वन्दना का सबसे बडा लाभ यह है कि वन्दना मे चित्त एकाग्र होने पर साधक विषयविकारो से हट कर स्वस्वरूप के दर्शन एव ज्ञान मे लीन हो जाएगा। वन्दना से सर्वोत्तम

उपलब्धि आत्मऋद्धि की प्राप्ति होगी। भौतिक ऋद्धि की उपलब्धि के लिए दुनियादार लोग अनेक व्यक्तियों के पास भटकते फिरते हैं, जो ऋद्धि नाशवान है, तब फिर आत्मिक ऋद्धि के उपदेष्टा, निर्देशक, दाता परमात्मा की वन्दना करने में आपत्ति ही क्या है? क्योंकि अगर यह आत्मऋद्धि एक बार भी प्राप्त हो गई तो साधक सदा के लिए अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त कर आत्मसमाधि में लीन हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि परमात्मा अनन्तसुख और अनन्त-अक्षयज्ञानादि सम्पत्ति [लक्ष्मी] की उपलब्धि के कारण है, इसलिए इनको वन्दन करने से साधक अपने आपका अन्तर्दर्शन कर सकेगा। अपनी आत्मा पर मनन-चिन्तन कर सकेगा कि वह जिनको वन्दन कर रहा है, वे परमात्मा तो उस अनन्त-अव्याबाध सुख के धनी बने हुए हैं, और वह अभी तक वैषयिक सुखों को, अथवा वस्तुनिष्ठ सुख को ही सुख मानता रहा। परिणामस्वरूप उस क्षणिक सुखाभास के चक्कर में पड़ कर उसने अनन्त-अनन्त जन्म खो दिए, अनेक जन्ममरण के दुःख और उन उन जन्मों में होने वाले अनेकानेक दुःख लाचारी में सहे, अब संभल जा, और अनन्तसुखी परमात्मा की वन्दना के माध्यम से उसे अपनी आत्मा में निहित उस अनन्त स्वाधीन-सुख के खजाने को प्राप्त करना है। उसके लिए तुझे ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय की [अथवा] निश्चयदृष्टि से स्वरूपरमणरूप चारित्र की आराधना करनी लाजिमी है, उसके लिए जो सुखबीजरूप दुःख—क्षणिक दुःख पूर्वकर्मों के फलस्वरूप सहने पड़ें, उन्हें समभाव से सह कर असातावेदनीय कर्म के जाल को काट दे, और परमात्म-वन्दना के द्वारा ज्ञानादि अक्षय सम्पत्ति को प्राप्त करना है। इसीलिए परमात्म-वन्दना का दूसरा कारण श्रीआनन्दघनजी बतलाते हैं—'सुख-सम्पत्तिनो हेतु।'

परमात्म-वन्दना का एक तीसरा कारण और है, वह है—शान्तस्वरूपमय शान्तसुधारस को प्राप्त करना। अब तक आत्मा अपने को भूल कर नदी, पर्वत, गुफा, जंगल, तीर्थस्थान, या परिवार, संतान, स्त्री, विषयवासना या भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में शांति मान रहा था, वह अपने शुद्धस्वरूप के आसपास जलती हुई क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सर रूपी कषायाग्नि को नहीं देख रहा था, परन्तु परमात्म-वन्दना के समय वन्दनीय परमात्मा का रूप देख कर अन्तरात्मा में अवश्य ही विचार करेगा कि

परमात्मा की आत्मा भी मेरे ही समान है, फिर ये तो अपने स्वरूप मे स्थिर होने से शात अमृतरस के समुद्र बने हुए है और मैं अशाति के महासागर मे गोते लगा रहा हूँ। अत इस प्रकार की मेरी शाति को लुप्त करने या दबाने वाले कषायो, वासनाओ तथा राग-द्वेषो और तज्जनित होने वाले मोह या अतरायकर्मों के बन्धन मे दूर रहूँ, मैं प्रतिक्षण सावधान रह कर नवीन कर्मों के के प्रवेश को रोकूँ और पुराने कर्मो के उदय मे आने पर उन्हे समभाव से सहूँ। और इस प्रकार मैं भी शान्तसुधारस-समुद्र परमात्मा के समीप पहुँच जाऊँ अथवा स्वय भी शातसुधारस का सागर बन जाऊँ।

चौथा परमात्मवन्दना का कारण यह बताया है कि वह आत्मा और परमात्मा के बीच मे पडा हुआ जो अथाह ससारसमुद्र है, उसे पार करने के लिए पुल के समान है।

किसी नदी या समुद्र को पार करने के लिए पुल का सहारा लिया जाता है। पुल के सहारे से व्यक्ति अनायास ही उससे पार हो जाता है। परन्तु ससार समुद्र इतना लम्बा-चौडा है कि इस पर पुल बनाने वाले बहुत ही ही विरले लोग होते है। हर एक के वश की बात नही है यह। परन्तु वीतराग परमात्मा ने तीर्थंकर-अवस्था मे ससारी जीवो के तिरने और ससारसमुद्र पार होने के लिए तीर्थ (चतुर्विध सघ-साधु-साध्वी-श्रावक श्राविकारूप) की स्थापना की थी। उस तीर्थरूपी पुल के सहारे मे अनेक भव्यजीव इस ससार-समुद्र को पार कर गए और अब भी कर सकते है। इसलिए परमात्मवन्दना करने से भव्यजीव सहसा परमात्मा के अभिमुख होगा ही और उनके द्वारा किये हुए कार्यकलापो पर—उनके चारित्राराधन पर तथा तीर्थस्थापन पर अवश्य विचार करेगा। वन्दना के माध्यम मे यह स्मरण ही उसे तीर्थ का सहारा ले कर ससारसमुद्र को पार करने मे सहायक होगा। अथवा परमात्मवदना ही एक प्रकार से ससारसागर को पार करने मे पुल का काम करती है। क्योकि परमात्मवदना करते समय सहसा विचार होगा कि परमात्मा ससार-सागर से कैसे पार हो गए और मैं क्यो पीछे रह गया? इस प्रकार ऊहापोह करने से वह ससारसमुद्र को पार करने के लिए परमात्मा द्वारा तीर्थंकर-अवस्था मे स्थापित तीर्थ का सहारा ले कर ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना

करने मे प्रवृत्त होना सम्भव है। इसीलिए श्रीआनदघनजी परमात्मवदना का अन्तिम कारण बताते हैं—'भवसागरमां सेतु'।

कोई कह सकता है कि यह तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उन्हे वदना करना हुआ, वदना निःस्वार्थ होनी चाहिए। परन्तु यह बात तो माननी होगी कि उच्च से उच्च स्वार्थ अंत मे परमार्थ बन जाता है। उत्तम मार्ग पर चलने के लिए किसी उत्तम मार्गदर्शक से मालूम करने मे एक प्रकार का परमार्थ ही है। स्वर्गादि सुख या इहलौकिक भौतिक सुखों को पाने की अभिलाषा वन्दना का कारण होती तो अवश्य कहा जाता कि यह स्वार्थयुक्त वन्दना है।

परमात्म-वन्दना क्या है ?

सस्कृतव्याकरण के अनुसार 'वदि अभिवादन-स्तुत्यो' वन्दनक्रिया अभिवादन-अभिमुख हो कर नमन करने तथा स्तुति करने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। वंदना मे अपने आराध्य या वन्दनीय प्रभु के प्रति हृदय (मन) मे गुणाकर्षण हो कर प्रसन्नता की उर्मियाँ उछलने लगती हैं, यानी हृदय और बुद्धि वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जाते है। वाणी अन्यप्रशंसा या अन्यों के गुणगान से हट कर परमात्मा की स्तुति, प्रशंसा अथवा गुणगान मे एकाग्र हो जाती है तथा काया अन्यविषयों से सर्वथा हट कर वन्दनीय परमात्मा के अभिमुख हो कर सभी अगों-सहित सर्वथा झुक जाती है, उन्ही के ध्यान, नामजप या स्वरूपचिन्तन मे इन्द्रियोंसहित वह एकाग्र हो जाती है। सामान्यतया वन्दना करने वाला जब वन्दनीय पुरुष के सम्मुख होता है तो अपना नाम भी प्रगट करता है कि मैं (अमुक नाम वाला) आपको वन्दन कर रहा हूँ। इसी प्रकार परमात्मा को वन्दना करने वाला भी जब अपना नाम पुकार कर प्रभु के प्रति वन्दन-नमन करेगा, तब सहसा ही उसे अपने स्वरूप का भान होगा।

निष्कर्ष यह है कि परमात्मवन्दना वह है, जिसमे मन, बुद्धि, हृदय, वाणी, शरीर, इन्द्रियाँ तथा समस्त अगोपाग वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जाय, उन्ही के गुणचिंतन, गुणगान, गुणाराधन और गुणो मे तन्मयतापूर्वक लग जाय। निश्चयदृष्टि से परमात्मवन्दना का अर्थ है—आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप

मे सर्वतोभावेन झुक जाना, नम जाना, उसी की स्तुति, गुणगान, गुणध्यान एव गुणचिंतन मे लीन हो जाना। वास्तव मे वन्दना वन्दनकर्ता को वन्दनीय पुरुष के पास ला कर बिठा देती है, उसे वन्द्य के निकटवर्ती बना देती है।

वन्दना किस परमात्मा को ?

वन्दना किसे की जाय ? वन्दनीय परमात्मा कौन हो सकते है ? इसका रहस्योद्घाटन इस स्तुति की प्रथम गाथा मे तो किया ही है। बाकी की सभी गाथाओ मे वन्दनीय परमात्मा का स्वरूप ही बताया है। प्रथम गाथा मे श्रीसुपार्श्वजिन, सुख सम्पत्ति का हेतु, शान्तसुधारस-जलनिधि और भवसागर मे सेतु (पुल) ये चार विशेषताएँ वन्दनीय परमात्मा की बताई है। ये चारो विशेषताएँ वीतरागता, अनन्तसुखप्राप्ति, अनन्तज्ञानादिसम्पत्ति, परम शाति के अमृतसागर (निर्वाणप्राप्त) इन परमात्मा के चार गुणो से अभिव्यक्त की जा सकती हैं। वास्तव मे वन्दनीय आदर्श भी जब उक्त परमगुणो से सम्पन्न हो, तभी उससे लाभ उठाया जा सकता है, अन्यथा हीनगुणो वाले एव रागी-द्वेषी सासारिक सुखसम्पत्ति या पारसमणि वाले व्यक्तियो को वदना करने से गुणवृद्धि नही हो सकती। हीन आदर्श के प्रति वदना हीन गुणो को प्रगट कर सकती है, सर्वोच्च परमगुणो को नही।

यो तो वीतराग परमात्मा के नामो और गुणो का कोई पार नही है, किंतु फिर भी सकेत के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथाओ मे वदनीय परमात्मा के कुछ विशिष्ट गुणो और नामो का निर्देश करते हैं—

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना !
सावधान मनसा करी, धारो जिनपद-सेव, ललना ॥
श्रीसुपार्श्व ॥२॥
शिव, शंकर, जगदीश्वरु, चिदानन्द भगवान, ललना !
जिन्न, अरिहा, तीर्थंकरु, ज्योतिस्वरूप असमान, ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥३॥
अलख, निरंजन, वच्छलु, सकलजन्तु-विसराम, ललना !
अभयदानदाता सदा, पूरण आतमराम, ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥४॥

वीतराग-मदकल्पना-रति-अरति-भय-सोग; ललना !
निद्रा-तन्द्रा-दुरंदशा-रहित अबाधित योग ; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥५॥

परमपुरुष, परमातमा, परमेश्वर, परधान; ललना !
परमपदारथ, परमेष्ठी, परमदेव, परमान; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥६॥

विधि, विरंचि, विश्वम्भरू हृषीकेश, जगनाथ, ललना !
अघहर, अघमोचन, धणी, मुक्ति-परमपद-साथ; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥७॥

एम अनेक अभिधा धरे, अनुभवगम्य विचार; ललना !
जे जाणे तेहने करे, 'आनन्दघन' अवतार; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥८॥

अर्थ

यह सप्तम तीर्थंकर सात महाभयों का निवारण करने वाले हैं, इसलिए हे अन्तरात्मारूपीसखी ! अप्रमत्तमन से वीतरागपरमात्मा के चरणकमल की सेवा करो , अथवा चित्त को एकाग्र करके सावधान हो कर उसमे वीतराग परमात्मपद का ध्यान करो। वीतरागपरमात्मा के नाम शिव (कल्याणकारी या उपद्रवरहित), शकर (सुखकर्ता), जगदीश्वर (जगत् के ईश्वर=पति), चिदानंद (अनंतज्ञान और आनंद से युक्त), भगवान् (समग्र ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य आदि से युक्त), जिन (राग-द्वेषादि के विजेता), अरिहा (कर्मशत्रुओ का विनाश करके वाले), तीर्थंकर (धर्मतीर्थ=संघ की स्थापना करने वाले), ज्योतिस्वरूप (आत्मज्योतिर्मय) एवं असमान (ससार में अद्वितीय—अप्रतिम हैं।

आप अलक्ष (बहिरात्मा द्वारा अगम्य), निरंजन कर्मो के लेप से रहित), वत्सल (प्राणिमात्र के प्रति निष्काम वात्सल्य रखने वाले), समस्त जीवो के लिए विश्रामरूप, अभयदानदाता, समग्ररूप मे पूर्णता को प्राप्त, और एकमात्र आत्मा मे ही रमण करने वाले हे ।

आप राग, द्वेष, समस्त मदो, विकल्पो, प्रीति-अप्रीति (रुचि-अरुचि), भय

शोक, निद्रा, तन्द्रा (एक प्रकार के आलस्य), दुर्दशा (दुष्ट अवस्था) से बिलकुल रहित हैं।

आप पुरुषो मे उत्कृष्ट पुरुष है, उत्कृष्ट आत्मा है, परम ईश्वर है, सर्वोत्कृष्ट हैं, संसार के समस्त पदार्थों मे उत्तम पदार्थ है, परमेष्ठी (सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित) हैं, देवो मे उत्कृष्ट देव (देवाधिदेव) हैं, उच्च से उच्च सम्मान के योग्य हे अथवा समस्त साधको के लिए प्रमाणस्वरूप है।

आप विधि (मोक्षमार्ग के विधाता) हैं, ब्रह्मा (आत्मगुणो की रचना करने वाले) हैं, विश्व के आत्मगुणपोषक अथवा विश्व मे व्याप्त विष्णु हैं, इन्द्रियो के वशीकर्ता हैं, तीनो लोको के रक्षक होने से नाथ है, पापनाशक हैं, पाप से मुक्त कराने वाले हैं, स्वामी (अपने आपके मालिक अथवा विश्व के स्वामी) है, मुक्तिरूपी परमपद को प्राप्त कराने मे सार्थवाह (साथी) है।

इस प्रकार आप अनेक नामो के धारक हैं, आपके गुणनिष्पन्न अनेक नाम हैं, जो स्वानुभव—स्वज्ञान से विचार करके जाने जा सकते हैं। इस तथ्य को जो जान लेता है (जो भव्यात्मा इस तरह से स्वरूप समझबूझ कर परमात्मवदन करता है) उन्हे वे आनन्द के समूह का अवतार (सच्चिदानन्दघनमय) बना देते हैं। इसलिए ऐसे परमात्मा की हम वन्दना-प्रणति-स्तुति-भक्ति करें।

भाष्य

वन्दनीय परमात्मा के अनेक गुणनिष्पन्न नाम

इन गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी ने सप्तम जिनवर श्रीसुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम मे परमात्म-वन्दना के सिलसिले मे कौन-से, किन-किन मुख्य गुणो वाले परमात्मा वन्दनीय हैं, इस सम्बन्ध मे उनके सार्थक नामो का उल्लेख किया है। ये सभी नाम गुणनिष्पन्न हैं। इन कुछ परिगणित नामो के अतिरिक्त और भी अनेक नाम हो सकते है, यह भी उन्होने 'एम अनेक अभिधा धरे' कह कर बता दिया है। 'जिनसहस्रनाम' मे परमात्मा के हजार नामो का उल्लेख किया है, इसीलिए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वन्दनीय परमात्मा की पहिचान के लिए एक श्लोक मे निर्देश कर दिया—
"जिस जिस समय (युग) मे, जो-जो, जिस किसी भी नाम से पुकारे जाते हो, वे एक ही है, उन महापुरुष वीतराग भगवान् को नमन-वन्दन हो, बशर्ते कि

वे समस्त दोषों से रहित हो।[1]

जैनधर्म किसी विशेष नाम का पक्षपात नहीं करता और न अपने ही माने हुए किसी नाम को वन्दनीय मानने का आग्रह रखता है। उसकी किसी भी महान् आत्मा को वन्दनीय मानने की गुणनिष्पन्न एक ही मर्यादा है, और वह है—"राग-द्वेषादि भवभ्रमणकारक दोषों का जिनमें अस्तित्व न हो। इसी दृष्टिकोण को ले कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामों का क्रमशः उल्लेख करते हैं।

सात महाभय के निवारक

जगत् के समस्त प्राणी अपने शरीर, इन्द्रियों, मन और प्राणों की तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों की रक्षा की चिन्ता में लगे रहते हैं, वे मुख्यतया सात महाभय हैं। वे सात महाभय इस प्रकार हैं—(१) **इहलोकभय**—इस लोक में मेरा क्या होगा? कौन मुझे संकटों से बचाएगा? कौन खाने-पीने को देगा? अथवा इस लोक में मेरी इच्छाओं की पूर्ति होगी या नहीं? मुकद्दमे, व्यापार-धंधे, परीक्षा आदि में मुझे सफलता मिलेगी या नहीं? इस प्रकार की अहर्निश चिन्ता। (२) **परलोकभय**—पता नहीं, अगले जन्म में मुझे नरकलोक मिलेगा या तिर्यञ्चलोक मिलेगा? अथवा मनुष्यलोक मिलेगा? और परलोक में पता नहीं, कितनी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी? मनुष्यलोक मिल जाने पर भी शायद मुझे खराब वातावरण व अनेक संकटों से घिरा रहना पड़े, इस प्रकार की नाना चिन्ताएँ। (३) **आदानभय** (अत्राणभय)—अपनी धन-सम्पत्ति, या अन्य किसी ममत्वग्रस्त वस्तु के छीन जाने का डर, अथवा आदान यानी किसी से कोई वस्तु लेने जाने पर मिलेगी या नहीं? इस प्रकार की फिक्र, या किसी भी प्रकार का संकट अथवा पीड़ा से बचने की चिन्ता, अथवा किसी संकट के आ पड़ने पर अपनी या अपनी मानी हुई वस्तु की रक्षा का भय। (४) **अकस्मात्भय**=आकस्मिक संकट या दुर्घटना के उपस्थित हो जाने की भीति, (५) **आजीविकाभय**—अपनी जीविका या रोजी

---

१ यत्र तत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोष-कलुषः स चेद्, एक एव भगवन् नमोऽस्तु ते ॥

छूट जाने का डर अथवा मेरा रोजगार-धंधा चलेगा या नही, अथवा व्यवसाय नही चला तो क्या होगा ? इस प्रकार की रातदिन चिन्ता करना (६) **अपयश-भय**—अपनी या अपनो की अपकीर्ति, अपयश, बदनामी, बेइज्जती या अप्रतिष्ठा होने का डर। फलां जगह लोग मेरा अपमान करेंगे या मेरे पर झूठा कलंक लगा देंगे तो क्या होगा ? इस प्रकार की चिन्ता। और (७) **मरणभय**—अपने अथवा अपने माने हुए लोगो के प्राणो का वियोग हो जाने का डर। उसके मर जाने पर मेरा क्या हाल होगा ? अथवा मेरे मर जाने पर मेरे परिवार आदि का क्या हाल होगा ? हाय ! मैं इतनी जल्दी मर जाऊँगा ? मुझे मौत न आ जाय ? इस प्रकार मृत्यु का नाम सुनते ही कांप उठना। एक और प्रकार से भय तीन प्रकार के है—आध्यात्मिकभय, कर्मजन्यभय और भौतिक (पौद्गलिक) भय। निम्नलिखित सातों भय **आध्यात्मिकभय** के अन्तर्गत हैं—काम, क्रोध, मद हर्ष, राग, द्वेष और मिथ्यात्व। ये आत्मा के साथ रह कर आत्मगुणो की हानि करने वाले हैं। **कर्मजन्यभय** शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त (इहलोकभय आदि) सातो भय कर्मजन्यभय के अन्तर्गत है। **भौतिकभय**—ये भय पुद्गलो की विकृति के कारण जीवात्मा को होते हैं। ये भौतिक भय सात प्रकार के हैं—रोग, महामारी, वैर, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, स्वचक्रभय, और परचक्रभय। ये भय मोहनीयकर्म के उदय वालो को अत्यन्त भयभीत करते रहते हैं और उन्हे वास्तविक सुखों से वंचित कर देते है। इनके निवारण के लिए वे विविध उपाय करते हैं, इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र आदि की सेवा करते है, फिर भी ये उपाय उन्हे भयरहित नही बना सकते।

वीतराग-परमात्मा इन सभी भयो से रहित निर्भय होते हैं। उन्हे बडे से बडा भय भी विचलित नही कर सकता और न किसी प्रकार का भय उन्हे अपने स्वरूप से च्युत कर सकता है। बडे से बडे संकटो का सामना करने मे वे जरा भी नही घबराए। अपनी साधना के दौरान बडे से बडे विघ्न, परिषह या उपसर्ग आए, फिर भी वे तनिक भी नही डिगे।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है—भयाकुल आत्मा को पूर्ण निर्भय सुपार्श्वनाथ (वीतराग) परमात्मा की वन्दना और शरण ले कर भयरहित होना आवश्यक है। केवल शरीर और मस्तक को झुका लेना ही वन्दना नही है, किन्तु सावधान मन से अप्रमत्त हो कर मन-वचन-काया को एकाग्र करके वीत-

रागपरमात्मा की चरणसेवा (अथवा परमात्मपद का आराधन) करना ही सच्चे माने मे वन्दना है।

इससे आगे की गाथाओ मे वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामों का उल्लेख करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है—शिवशंकर जगदीश्वर.... । परमात्मा शिव है। यानी वे किसी प्रकार का उपद्रव मचाने वाले या संहार मे प्रलय का ताण्डव करने वाले नही है, वे सच्चे अर्थों मे शिव—निरुपद्रव है। अथवा कल्याणरूप है, या विश्वहित करने वाले है। अथवा वे कर्मों के उपद्रव के निवारक है। वे किसी का संहार करने वाले नही है, अपितु संहार को रोक कर कल्याण करने वाले है। परमात्मा शंकर है, यानी प्रतिदिन सुख के करने वाले आत्मसुखरूप है। परमात्मा स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक तीनो लोको मे ऊपर होने के कारण, अथवा तीनो लोकों मे उनका आध्यात्मिक आदेश प्रचलित होने से वे जगदीश्वर है। उनका ऐश्वर्य भी ईश्वर के समान होने से वे सच्चे अर्थ मे जगदीश्वर हैं। वे ज्ञानानन्दमय होने से चिदानन्द है। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य, यश, श्री, मोक्ष इन छह बातो से परिपूर्ण होने के कारण वे भगवान् है। अथवा भव (जन्ममरणरूप संसार) का अन्त किया है, इसलिए भगवान् हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वे जिन (विजेता) है, आपने कर्म-शत्रुओ को दबा दिये है, यानी इन्हे जीत लिये है, इसलिए अरिहा (अरिहन्त) कहलाते हैं। धर्मतीर्थ (श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ) की स्थापना करने के कारण आप तीर्थंकर हैं। इसी प्रकार आप मुक्त (सिद्ध) हो जाने पर केवल शुद्ध चैतन्य (आत्मा) से सदा ज्योतिर्मय (प्रकाशित) होने से ज्योतिस्वरूप है। आत्मा-परमात्मा की तुलना धर्मास्तिकायादि पाच द्रव्य नही कर सकते, इसलिए आप असमान हैं, अथवा दुनिया मे परमात्मा के सिवाय कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जिसके साथ आपकी समानता की जा सके, इसलिए आप (परमात्मा) असमान हैं, अनन्य हैं अथवा फारसी भाषा मे असमान आकाश को कहते है, अत आकाश की तरह परमात्मा ज्ञानरूप से व्यापक या अव्यक्त है।

इसी तरह आप अलक्ष्य हैं, अर्थात् मन या बुद्धि से अगम्य हैं, वाणी से

अनिर्वचनीय हैं, अक्षर से लिखे नही जा सकते, कोई भी अल्पज्ञ प्राणी आपको जान-देख या समझ नही सका। आप ससार की मोहमाया से, कर्म, काया आदि मे बिलकुल निर्लेप होने के कारण निरजन है। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर निराकार होते हुए भी जगत् के दु खो को देख कर दुनिया मे पुन आ कर जन्म धारण करते है, इस मत का इससे खण्डन हो जाता है। क्योकि परमात्मा को निरजन-निराकार, अजर-अमर हो जाने के बाद पुन जन्म धारण करने या ससार के प्रपचो मे पडने की क्या आवश्यकता है ? और जब उनके शरीर ही नही है, तब वे कैसे तो जन्म लेंगे, कैसे वाणी बोलेंगे, कैसे कोई कार्य करेंगे ? अत मुक्त अशरीरी परमात्मा निरजन होने से किसी भी सासारिक मोहमाया मे पडते नही।

वे विश्ववत्सल भी है। इसका मतलब यह नही है कि वे जगत् के प्रति किसी कामना, राग या मोह से प्रेरित हैं। समभावपूर्वक समस्तप्राणियो का निष्कारण परमहित उनसे होता रहता है। वे जगत् के एकान्त निष्कारण परमहितैषी है, आत्मीय है, विश्वमित्र हैं। इसलिए जगत्वत्सल है। जगत् के माता-पिता समान है।

साथ ही वे चार गतियो व चौरासी लक्ष जीवयोनियो मे बारबार भटकने के कारण थके हुए जीवो के लिए विश्रामस्थान है, आश्रयस्थान है, पापी से पापी जीव को भी उनके पास बैठने मे कोई भय या खतरा नही है, बल्कि उनके पास बैठने से क्रूर प्राणी भी शान्त और सौम्य बन जाता है। इसलिए प्रभु समस्त जन्तुओ के लिए विश्रामरूप है तथा क्रूरातिक्रूर प्राणी परमात्मा के पास निर्भयतापूर्वक आ-जा व बैठ सकते है, इसलिए उनका सदा अभयदानदाता नाम भी सार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बलवीर्य, सुख आदि आत्मा के अनुजीवी गुणो से परिपूर्ण होने के कारण परमात्मा पूरण हैं तथा प्रभु स्वय आत्मा मे ही स्थिर रहते हैं, आत्मा मे ही रमण करते हैं, इसलिए आत्माराम भी हैं।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के और भी अनेको गुणनिष्पन्न नाम हैं। वे राग (मोह), मद (अष्टमद), सकल्पविकल्प, रति (रुचि), अरति (अरुचि), भय, शोक, निन्द्रा, तन्द्रा, (आलस्य), दुरवस्था आदि दोषो (जो कि छद्मस्थ मे

होते हैं) से रहित है। उन्हे मन-वचन-काया के योग कोई बाधा (कष्ट) मदद वीतराग-अवस्था मे नही पहुँचाते। विदेह (देहमुक्त) अवस्था मे तो उनके उक्त योग होते ही नही। मतलब यह है कि ससारी जीवो को अपने और अपनो के लिए बात-बात मे राग (मोह), ममता हो जाती है। धन, बल, जाति, कुल, प्रभुत्व, (सत्ता, पद आदि), रूप, किसी वस्तु का लाभ आदि पा कर उन्हें अभिमान (गर्व) हो जाता है, जरा-जरा-सी बात मे वे सकल्पविकल्प मे डूबने-उतराते रहते है, ईष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट के सयोग मे अरति (अरुचि=घृणा) हो जाती है तथा अनिष्ट वस्तु के वियोग और ईष्ट के सयोग मे रति (रुचि=हर्ष) पैदा हो जाती है, बात-बात मे आर्त-रौद्रध्यान के विकल्पजाल गूथने लग जाते है। थोडी-थोडी-सी बात को ले कर या जरा-सी अप्रिय घटना की सुराग मिलते ही भय पैदा हो जाता है, प्रियजन या प्रियवस्तु के वियोग और अप्रियजन या अप्रियवस्तु के सयोग मे शोक पैदा हो जाता है, वे हाहाकार या हायतोबा मचा उठते हैं, अथवा रोने-पीटना या विलाप करने लगते हैं। दुनियादार लोगो को चिन्ता के कारण भले ही नींद न आती हो, वैसे वे द्रव्यनिद्रा मे भी बेसुध पडे रहते है, भावनिद्रा मे तो प्राय मग्न रहते ही है, क्योकि वे आत्मस्वरूप मे जागृत नही रहते हैं। साथ ही वे आत्मस्वरूप मे रमण करने मे आलसी (तन्द्रापरायण) होते हैं, उन्हे योगो की चपलता प्रतिक्षण खिन्न-क्षुब्ध बना देती है।' उन्हे सासारिक विषयवासनाओ मे प्रवृत्त करती है।

इसके विपरीत पूर्वोक्त कथानानुसार परमात्मा इन सब दोषो से बिलकुल रहित है। वे दुनियादारी के इन दोषो से बिलकुल अछूते है। क्योकि वे इन तमाम दोषो को नष्ट करके ही वीतराग बने है। राग, द्वेष, मद, कल्पना, रति, अरति, भय, शोक और दुर्दशा, ये सब मानसिक योग है और निद्रा तथा तन्द्रा ये दोनो शारीरिक योग हैं, ये सब योग प्रभु मे न होने से उनका अबाधित-योगी नाम सार्थक हैं।

इन सब दोषो से रहित होने से वे स्वय पुरुषो मे सर्वथा उत्कृष्ट (Superman) हैं, आत्मिकदृष्टि से महापराक्रमी होने से वे परम पुरुष कहलाने योग्य है। उनकी आत्मा परमात्मत्वपद को प्राप्त होने से वे परम आत्मा=परमात्मा है। तथा सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति मे परमात्मा के बताये हुए लक्षण के अनुसार वे बहिरात्मा और अन्तरात्मा से आगे बढ़े हुए

परमात्मा हैं। तथा प्रभु का परमेश्वर नाम भी सार्थक है, क्योकि तीर्थंकर अवस्था मे थे, तब वे सर्वोच्च ऐश्वर्यसम्पन्न थे, सब पर आध्यात्मिक दृष्टि से धर्मशासन करते थे। इसके अतिरिक्त प्रभु पुरुषो मे प्रधान=मुख्य भी हैं; क्योकि आपके नाम की सर्वत्र महिमा है। दुनिया के सर्वोत्कृष्ट पदार्थ होने से अथवा मोक्षरूप उच्चपद ही आपका अर्थ (साध्य) होने से आप परमपदार्थ-रूप है। इसी तरह आप सबके लिए मनोज्ञ=ईष्ट वस्तु को प्राप्त किये हुए होने से परमेष्टी हैं, अथवा आप परम-उत्कृष्ट ईष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त है, इसलिए परमेष्ठी हैं। आपका एक नाम परमदेव भी है। आप परम-देव या महादेव इसलिए हैं, कि दूसरे देव तो रागी-द्वेषी आदि भी हो सकते है, परन्तु आप तो वीतराग हैं, राग-द्वेषरूपी महामल्लो को आपने जीत लिया है। इसलिए आपका परमदेव नाम सार्थक है। आप ससार के समस्त साधको के लिए प्रमाणरूप हैं। अथवा प्रभु स्वय प्रमाणभूत हैं, उनके साथ किसी की तुलना नही हो सकती ?

इसके अतिरिक्त परमात्मा विधि हैं—मुमुक्षु (मोक्षार्थी) के लिए विधि-मार्ग कौन-सा है, निषेधमार्ग कौन सा है ? इसका यथार्थ विधान करने वाले है अथवा अपनी आत्मा को शुद्धरूप मे स्थापन करने मे विधाता है। द्वादशागी आगमो की अर्थरूप से रचना (निर्माण) करते हैं—प्ररूपणा करते हैं, इसलिए आप विरचि=ब्रह्मा हैं। अथवा अपने आत्मगुणो की स्वय रचना करने वाले होने से विरचि=ब्रह्मा हैं। आपका आदेश—उपदेश ससार के लिए आत्मगुण-पोषक होने से आप विश्वभर हैं। अथवा आपकी आत्मा मे सारे जगत् की रक्षा बसी हुई होने से भी आप विश्वम्भर हैं--विश्व-परिपूर्ण है। प्रभु इन्द्रियो के ईश=स्वामी होने से अथवा प्रभु के किसी प्रकार की इच्छा नही है, वे समस्त इच्छाओ के स्वामी होने से हृषीकेश कहलाते हैं। ज्ञान द्वारा प्राणि-मात्र की रक्षा करने मे कारणभूत होने से आप जगत् के नाथ (रक्षक) है। आप अघ यानी पाप के हरने वाले है अथवा आपको वन्दन करने से पाप पलायित हो जाते हैं, इसलिए आप अघहर हैं। आपमे एकाग्र होने वाले तथा आपका नाम-स्मरण करने वाले पाप से छूट जाते है, अथवा पापी से पापी व्यक्ति के पाप आपके पास आते ही छूट जाते है, इसलिए आप अघमोचन भी हैं। अथवा स्व-आत्मा को शुभाशुभ अघ=आश्रव से मुक्त करते-कराते है, इसलिए आप

अघहर एवं अघमोचन हैं। आप अपने अनन्त आत्मगुणों के धनी हैं, अथवा जगत् के धणी=स्वामी हैं, मालिक हैं। तीर्थंकरों को सभी लोग स्वामी मानते हैं। आप मुक्तिरूप परमपद के सार्थवाह हैं। संसार के समस्त ताप का शमन करने वाला, एकान्तसुख का धाम मोक्ष है, जहाँ जन्म-जरा-मरण नहीं, आधि-व्याधि-उपाधि नहीं है, उस परमसुखरूप मोक्ष को प्राप्त करने में आप-सार्थवाह की तरह साथ देने वाले=सहायक हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त गाथाओं में वीतराग परमात्मा के 'शिव' से लेकर 'मुक्तिपरमपदसाथ' तक कुल ४५ मुख्य-मुख्य सार्थक नाम बताए हैं, और भी अनेकों नाम उनके हो सकते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—'एम अनेक अभिधा धरे' यानी हम परमात्मा के नाम कहाँ तक गिनाएँ ? उनके अनेकों नाम हो सकते हैं। जो साधक जिस गुण का अपनी आत्मा में अनुभव करना चाहता है, वह उस गुण से युक्त नाम को ले कर प्रभु का स्मरण करता है—उस गुण पर विचार करता है तो उसके लिए वह नाम अनुभवगम्य हो जाता है। अथवा परमात्मा का रूप विचारपूर्वक अनुभव से ही जाना जा सकता है। जिस गुण का अनुभव जिसे हो गया है, वह यदि उसे अपना ध्येय बना कर विचारपूर्वक ध्यान करता है तो वह ध्याता आनन्दघनरूप हो जाता है, वह अपने जीवन का अवतरण आनन्दमय बना लेता है, अथवा अपनी आत्मा को आनन्दघनरूप साँचे में ढाल लेता है। मतलब यह है कि उपर्युक्त गुणों से परिपूर्ण प्रभु को जो भलीभाँति जानता है, उनका ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है, सच्चिदानन्दमय बन जाता है।

सारांश

इस प्रकार इस स्तुति में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नाम बताने के साथ-साथ अन्त में परमात्म-वन्दना का फल भी बतला दिया है, जिसे भली-भाँति जान कर प्रभु की वन्दना-नमन-स्तुति-भक्ति-सेवा करके अपना जीवन सफल करना चाहिए।

८ श्रीचन्द्रप्रभजिन-स्तुति

परमात्मा का मुखदर्शन

(तर्ज-कुमारी रोवे, आक्रन्द करे, मुने कोई मुकावे, राग-केदारो या गौड़ी)

देखण दे रे, सखी मुने देखण दे! चन्द्रप्रभु मुखचन्द, सखी।
उपशमरसनो कंद, सखी, गतकलिमल-दु खद्वन्द, सखी० ॥ १ ॥

अर्थ

आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना अशुद्ध चेतना-सखी से कह रही है— हे सखी! मुझे इस अवसर्पिणीकाल के आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभु [वीतराग-परमात्मा] के मुखरूपीचन्द्र के दर्शन कर लेने दे, क्योकि परमात्मा का मुख-चन्द्र शान्त (उपशम) रस का मूल है, और वह क्लेश, रागद्वेषरूपी मैल (विकार) व समस्त दु:ख; से दूर है।

भाष्य

परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन क्यो ?

पिछली स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-वन्दना के सम्बन्ध मे सागोपागरूप मे बताया था, परन्तु वन्दना मे जो अभिमुखता होनी चाहिये, वह तो केवल अमुक गुणनिष्पन्न नाम ले लेने या तदनुसार जप कर लेने से नही हो सकती, वह तो प्रभु के शान्त- अमृतरसपूर्ण, समस्त कलको व मलिनताओ से रहित पूर्णचन्द्र की तरह मुखचन्द्र के दिखाई देने पर ही भलीभाँति हो सकती है, इसलिए श्री आनन्दघनजी श्रीचन्द्रप्रभु तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के शान्त, निर्मल मुखचन्द्र का दर्शन करने को उत्कण्ठित—परम-उत्सुक हो कर आत्मा की एकान्तहितैषी शुद्धचेतना द्वारा अपनी अज्ञानचेतना-रूपी सखी से कहलाते है कि 'तू प्रभु के मुखचन्द्र को देखने दे।'

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने सखी को सम्बोधन करते हुए प्रभुमुख के दर्शन की जो बात कही, उस पर से प्रश्न होता है कि क्या अब तक आत्मा की ज्ञान-

चेतना (शक्ति) प्रभु का मुखचन्द्र देखने में रुकावट डाल रही थी कि उसे सम्बोधन करके कहना पड़ा—सखी, मुझे देखण दे।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मा अब तक अनेक गतियों और योनियों में अनन्तबार परिभ्रमण कर आई, पर वहाँ तो आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना पर इतना गाढ़ आवरण आ गया था कि प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन तो दूर रहा, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी, कहीं कल्पना तो हो सकती थी, पर उस पर भी आवरण था। कहीं थोड़ा आवरण था, तो भी मिथ्यात्व के गाढ़ तिमिर के कारण आत्मा दर्शन नहीं कर सकी। यही कारण है कि अब तक आत्मा की चेतना ही प्रभुमुख के दर्शन करने में बाधक बनी रही। अब मनुष्यजन्म में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर बहुत-अंशों में वह अनुकूल बनी है, इसीलिए श्रीआनन्दघनजी आत्मा की हितैषिणी शुद्ध (ज्ञान) चेतनारूपी सखी द्वारा अशुद्ध-चेतनासखी से कहलाते हैं—अब तो मुझे चन्द्र-प्रभु (परमात्मा) के मुखचन्द्र का दर्शन कर लेने दे। अब तो दर्शन में अन्तराय मत डाल! बहुत जन्मों तक तूने मेरी आत्मा को अंधेरे में रखा, उसके ज्ञान नेत्रों पर पर्दा डाल दिया, जिससे वह परमात्मा के उज्ज्वल-मुखचन्द्र को देख न सकी। अब वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र को देखने की मेरी इच्छा तीव्र बनी है, और प्रभु के वास्तविक मुखचन्द्र का भलीभांति दर्शन करने में तू ही बाधक हो रही है। तेरी बाधकता के कारण इन बाह्यनेत्रों से मैं अब तक प्रभुमुख देखने का प्रयत्न करती रही, परन्तु परमात्मा के असली मुखचन्द्र के दर्शन नहीं कर सकी। अगर मैं इस मनुष्यजन्म में और इतने उत्तमधर्म, सम्यग्दर्शन एवं समस्त उत्तम निमित्त एवं अवसर को पा कर भी परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र को नहीं देख सकी, तो मेरा जन्म वृथा हो जायगा। पता नहीं, फिर ऐसा शुभ अवसर मिलेगा या नहीं! अतः तू मुझे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन इस जन्म में तो अवश्य करने दे।"

यहाँ बार-बार 'देखण दे' शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्तिदोष न हो कर कविता का गुण है, यहाँ बार-बार 'देखण दे' शब्द का प्रयोग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन की आतुरता, या तीव्रेच्छा को सूचित करता है।

परमात्म-मुखदर्शन की आतुरता क्यों?

सवाल यह होता है कि जगत् में मातापिता, भाई, परिवार में अपने से

ज्येष्ठ, अथवा अध्यापक, राष्ट्रनेता या समाजमान्य पुरुप अथवा अन्य किसी वडे माने जाने वाले व्यक्ति के मुखदर्शन की आतुरता न हो कर परमात्मा के मुख-दर्शन की ही आतुरता क्यो है ? इसका समाधान श्री आनन्दघनजी प्रभुमुख की दो विशेपताओ द्वारा प्रगट करते हैं--'उपशमरसनो कद तथा 'गतकलिमल-दुःख द्वन्द । तात्पर्य यह है कि सासारिक व्यक्ति, फिर वे चाहे कितने ही महान् क्यो न हो, जव तक छद्मस्थ हैं, तव तक रागद्वेप आदि विकारो या कर्मरूपी कीचड से मलिन वने हुए हैं, उनके जीवन मे कषायो की आग सुलगती रहती है, चाहे वह धीमी आच मे ही हो । इसलिए उनका मुखचन्द्र अनेक कपायो से सतप्त होने से अशात वना हुआ, कामादि अनेक विकारो या कर्मों व रागद्वेपादि से मलिन व दु खो से युक्त वना हुआ है, इसलिए उनका मुखचन्द्र भौतिक दृष्टि से भले ही सुन्दर या दर्शनीय हो, आध्यात्मिक दृष्टि से या आत्म-विकास की दृष्टि से उनका मुख दर्शनीय नही कहा जा सकता, जवकि परमात्मा का मुख पूर्णिमा के चद्रमा की तरह निष्कलक एव परिपूर्ण है, वह कपायो से रहित होने के कारण शान्त-रस का मूल है, उसमे से शान्तसुधारस टपक रहा है। और उसमे रागद्वेप, कामक्रोध आदि विकारो या कर्मों का मैल विलकुल न होने से वह सभी प्रकार के कलक, क्लेश के मैल, या विकारो की मलिनता से सर्वथा रहित है । चन्द्रमा मे तो फिर भी कलक रह सकता है या उसकी कला मे घट-वढ हो सकती है, लेकिन प्रभु-मुखचन्द्र मे न तो कोई कलक रह सकता है और न ही उनके गुणो मे कोई घट-वढ हो सकती है । यही कारण है कि अन्य सासारिक मुखचन्द्रो को छोड कर यहाँ परमात्मा के शान्त, निर्मल, निर्विकार मुखचन्द्र के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा प्रदर्शित की है ।

परमात्म-मुखचन्द्र से तात्पर्य

यह कहा जा सकता है कि परमात्मा जव निरजन, निराकार एव अशरीरी सिद्ध हो गए, तव उनके मुख ही नही रहा, फिर उनके मुख-दर्शन की वात कैसे सगत हो सकती है? वास्तव मे व्यवहार की दृष्टि से १३वे गुणस्थान—सयोगीकेवली वीतरागप्रभु शरीरधारी होते हैं , उनके मुखचन्द्र के दर्शन का विधान यहाँ भूतनैगमनय की दृष्टि से समझना चाहिए ।

निश्चयनय की दृष्टि से तो शुद्ध-सिद्ध-स्वरूप परमात्मा के शुद्धज्ञानरूप मुखचन्द्र का दर्शन समझना चाहिए। क्योकि दूसरे मुख तो सप्तधातु से वने

हुए, मुखचन्द्र हैं, और वे तो सदा मलयुक्त रहते हैं। 'असुई असुईसंभवे' इस शास्त्रवचनानुसार शरीर का प्रत्येक अवयव अशुचिमय है, मलिन है। मुक्त परमात्मा का ज्ञानरूपी मुखचन्द्र तो सदा पवित्र और शुद्ध रहता है, उसमे विकार या अशुद्धता को कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से यहाँ सिद्ध परमात्मा के ज्ञानरूप मुखचन्द्र का दर्शन ही अभीष्ट है।

व्यवहारदृष्टि से भी सोचा जाय तो वर्तमान मे श्रीचन्द्रप्रभु तीर्थंकर प्रत्यक्ष नही है, वे तो मुक्ति मे विराजमान है। अत परोक्ष मे उनके मुखचन्द्र के दर्शन कैसे किये जा सकते है? यह एक सवाल है। इसलिए यहाँ भी सयोगी-केवली शरीरधारी वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन से ज्ञानरूप मुखचन्द्र अथवा शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र के दर्शन ही अभीष्ट हैं, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि वही मुखचन्द्र उपशमरस का कद एव समस्त क्लेश, मालिन्य एव दु ख-द्वन्द्वो से रहित है।

साथ ही ऐसे परमात्म-मुखचन्द्र के दर्शन करने का अधिकारी भी ज्ञान-चेतनायुक्त सम्यग्दृष्टि आत्मा होना चाहिए, तभी वह परमात्मा के मुखचन्द्र पर छिटकती हुई उपशमरस की चाँदनी देख सकेगा तथा रागद्वेषादि कलिमल और दु ख-द्वन्द्व से रहित निर्मलता का निरीक्षण कर सकेगा।

इस प्रकार से दर्शन करने वाले को ही सवर-निर्जरारूप महान् धर्म का लाभ मिल सकता है। अन्यथा, शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र या शुद्धज्ञानमय मुखचन्द्र की उपेक्षा करके केवल मुखचन्द्र के सम्यग्भावनाहीन दर्शन से इस महान् धर्म का लाभ नही हो सकता।

इसी दृष्टिकोण से अगली कुछ गाथाओ मे किस-किस गति और जीवयोनि मे कहाँ-कहाँ परमात्मा के उक्त मुखचन्द्र के दर्शन नही हो सके, इसका वर्णन श्रीआनन्दघनजी मार्मिक शब्दो मे करते हैं—

सुहुम निगोदे न देखियो, सखि! बादर अति हि विशेष ॥ स० ॥
पुढवी आऊ न लेखियो सखि! तेऊ वाऊ न लेश ॥ सखी० ॥ २ ॥
वनस्पति, अतिघणदिहा, स०; दीठो नहि दीदार ॥ स० ॥
बि-ति- चउरिंदिय-जललीहा, स० ; गतसन्निपण धार ॥स०॥३॥

सुर-तिरि- निरय-निवासमां, स०; मनुज-अनारज साथ । स० ।
अपज्जत्ता प्रतिभासमां, सखि०, चतुर न चढ़ियो हाथ ॥ सखी० ॥४॥
इम अनेक थल जाणीए, स०; दर्शन-विणु जिनदेव; स० ।
आगमथी मत जाणीए, स०; कीजे निर्मल-सेव ॥ स०॥५॥

अर्थ

हे सखी ! मैंने सूक्ष्म निगोद (साधारण वनस्पतिकाय) मे परमात्मा के मुखचन्द्र को नहीं देखा, और बादरनिगोद (साधारण वनस्पतिकाय के बादर निगोद) मे भी खासतौर से उनका मुख नहीं देखा । तथा पृथ्वीकाय और अप्काय नामक एकेन्द्रियजीव के रूप मे भी प्रभुमुख के दर्शन नहीं किये; और तेजस्काय (अग्निकाय) और वायुकाय के भव मे भी मुझे लेशमात्र दर्शन नहीं हुए । ॥२॥

प्रत्येक वनस्पतिकाय (वृक्ष आदि) के रूप मे बहुत लम्बे काल (दीर्घकाल) तक रहा, लेकिन हे ज्ञानचेतनारूपी सखी ! मैंने प्रभु का दीदार नहीं देखा । इसी प्रकार द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियो वाले जीव), त्रीन्द्रिय (तीन इन्द्रियो वाले जीव, और चतुरिन्द्रिय (चार इन्द्रियो वाले जीव) मे भी रहा, लेकिन वहाँ भी पानी पर खींची हुई लकीर की तरह (दर्शन के बिना) वृथा समय खोया, कुछ भी दर्शन पल्ले नहीं पडा । असञ्ज्ञी (द्रव्यमन से रहित) पञ्चेन्द्रिय जीव के रूप मे जन्म धारण करने पर भी यही हाल रहा । ॥३॥

सञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अवस्था में भी मैं सुरगति (भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो की योनि) मे रहा, तिर्यञ्चगति (कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोडे आदि सञ्ज्ञी, तिर्यंचपचेन्द्रिय जीवयोनि) मे रहा, तथा निरय (नरक) गति (सातो ही नरको की नारकभूमियो) मे निवास किया; इसी प्रकार मनुष्यगति, प्रभुमुखदर्शन के योग्य सञ्ज्ञीपचेन्द्रिय मनुष्ययोनि) मे आया, लेकिन यहा अनार्यमनुष्यो का सहवास (सम्पर्क) मिला, तथा अपर्याप्त (सातो पर्याप्तियो की पूर्णता से हीन) अवस्था मे एव प्रतिभासरूप पर्याप्त-अवस्था मे भी रहा, लेकिन चतुर परमात्मा मेरे हाथ नहीं आए, यानी सञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय की इन जीव-योनियो मे भी प्रभु-मुख के दर्शन से मैं वचित ही रहा । ॥४॥

इस प्रकार समझ लो कि मैं पूर्वोक्त अनेक स्थानों में श्री वीतराग परमात्मदेव के (मुख) दर्शन के बिना ही रहा। यह समस्त (पूर्वोक्त) अभिप्राय [विचार] वीतरागप्ररूपित आगमो [शास्त्रो] मे हम जान सकते हैं। अतः हे ज्ञानचेतनारूपी सखी ! अब तो मुझे [जबकि मैं प्रभुमुखदर्शन की योग्यता के लिए सम्यग्दृष्टि पा गया हूँ] प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन करने दे, और आगमो के वर्णन से समझ कर निर्मल [निर्बन्ध हो कर] मन-वचन-काया को एकाग्र करके प्रभु की सेवा-भक्ति कर लेने दे। ॥५॥

भाष्य

विविध गतियो और योनियो मे प्रभु-मुखदर्शन से वचित रहा

इस स्तुति की प्रथम गाथा मे परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप, उसके दर्शन का महत्त्व और दर्शन की तीव्रता बतलाई। परन्तु प्रभुमुख के दर्शन इतने समय तक साधक की आत्मा क्यो नही कर सकी ? क्या कारण था दर्शन के लाभ से वचित रहने का ? यह बात नही बताई गई थी। अत. इसी बात को चार गाथाओ द्वारा श्रीआनन्दघनजी अभिव्यक्त करते हैं।

वास्तव मे पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार सही माने मे वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन सम्यग्दृष्टि आत्मा ही कर सकता है। इसके सिवाय जितनी भी गतियो और योनियो मे जीव जाता है, वहाँ प्रभुमुख का दर्शन तो दूर रहा, उसकी जरा-सी कल्पना भी नही होती, ऐसा विचार ही नही उठता। इसी बात को श्री आनन्दघनजी क्रमश कहते हैं—

मेरी आत्मा सूक्ष्मनिगोद नामक साधारण वनस्पतिकाय में रही, जहाँ अगुल के असख्यातवें भाग जितने एक ही शरीर मे (अनन्तजीवो के लिए एक ही शरीर मे, एक ही साथ श्वासोच्छ्वास और जन्म-मरण करते हुए) अनन्तकाल तक रही, परन्तु वहाँ तो अपने ही अस्तित्व का भान न था, बेसुध चेतना थी, वहाँ भला प्रभुमुखदर्शन कहाँ हो सकता था ? और बादर निगोद वनस्पतिकाय मे भी अनन्तकाल तक रहा, मगर वहाँ भी सूक्ष्मज्ञान-चेतना न होने से दर्शन न हो सका। यही हाल पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवो के रूप मे रहते हुए रहा। वहाँ स्पर्शेन्द्रिय ही थी, द्रव्यमन था नही, जिससे मैं चिन्तन कर सकता, और प्रभु-

मुखदर्शन कर सकता। प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के रूप मे वहुत दीर्घकाल तक (उसकी स्थिति वहुत लम्वी होने के कारण) रहा, लेकिन वहाँ भी प्रभु के मनोरम शान्त दीदार को व सूक्ष्मज्ञानचेतना और विचार करने के लिए द्रव्यमन न होने के कारण नही देख सका।

इसी प्रकार वहाँ से आगे बढ कर मेरा जीव दो इन्द्रियो (स्पर्शन एव रसना) वाले जीवो मे गया, जहाँ मैं स्वाद तो लेने लगा, परन्तु आँख के अभाव मे प्रभु को देख कैसे सकता था, यही हाल तीन इन्द्रियो (स्पर्शन, रसना एव घ्राण इन्द्रिय) वाले जीवो मे उत्पन्न होने पर हुआ। उसके आगे प्रगति करके मेरा जीव चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियो वाले) जीवो मे पैदा हुआ, वहाँ भी प्रभुदर्शन के लिए आँख तो मिली, परन्तु अन्तर की आँख न मिलने मे वहाँ भी दर्शन न हो सके। यहाँ तक आ कर भी मैंने पानी पर लकीर खीचने की तरह व्यर्थ ही जन्म खोए। मुझे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ भी मिली, लेकिन द्रव्यमन नही मिलने के कारण वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप मे जाना-समझा भी नही, विचार भी न कर सका। इसलिए असज्ञी-पचेन्द्रिय जीव के रूप मे जन्म लेना भी व्यर्थ गया।

इसके वाद मेरा जीव पर्वतीय नदी मे इधर-उधर लुढकने से चमकीले वने हुए गोलमटोल पत्थर की तरह विविध योनियो मे भटकता-भटकता किसी तरह चार प्रकार के देवनिकायो मे से अनेक देवयोनियो मे पहुँचा। वहाँ पाँचो इन्द्रियाँ, मन आदि मिले, भोगसामग्री भी पर्याप्त मिली, वैषयिक सुख भी पर्याप्त मिला, वैक्रिय शरीर मिला, लेकिन वहाँ भी मैंने अपना समय प्रभुमुखदर्शन मे न विता कर राग रग, भोगविलास और वैषयिक सुखो और कषायो मे ही विताया। अत वहाँ वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप मे जानने-समझने का प्रयास भी न किया। कई वार मैं तिर्यंच-पचेन्द्रिय की विविध योनियो मे गया। वहाँ मैं जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के रूप मे विविध स्थानो मे पैदा हुआ, वहा मुझे मन भी मिला, लेकिन विवेक-विकल होने से उसका उपयोग अन्यान्य विषय-कषायो मे ही हुआ, परमात्मा के मुख को देखने का विचार तक मेरे मन मे नही

आया। हालांकि चाहता तो मैं वैसा विचार कर सकता था। इसके अतिरिक्त सातो नरकों में मैं अनेक बार जन्मा, बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहा। वहाँ वैक्रिय शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ और मन भी मिले, विभगज्ञान भी जन्म से ही मिला। लेकिन नरकों मे अनेक दु खो और यातनाओं को सहते-सहते मैं इतना अधीर और बेचैन हो गया कि दुःखों और भयों से आक्रान्त मेरे दिमाग मे कभी यह विचार भी नहीं आता था कि मैं परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करूँ।

इन सब घाटियों को पार करके मैं विशेष पुण्य के कारण सज्ञी-पञ्चेन्द्रिय मनुष्य बना। पाँचों इन्द्रियाँ, उन्नत विचारशील मन तथा विविध साधन भी मिले, यहाँ प्रभुमुखदर्शन करने के योग्य शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, साधन आदि भी मिले, लेकिन अनार्यक्षेत्र, अनार्यकुल, अनार्यजाति, अनार्यकर्म एवं अनार्यवातावरण मिला। अनार्य मनुष्यों के सहवास मे रात-दिन रहने वाले व्यक्ति के मन मे आर्यकर्म की प्रेरणा कैसे हो सकती थी? और आर्य-कर्म की प्रेरणा अन्तर्मन मे जागे बिना वीतरागमुखदर्शन की लगन कैसे पैदा हो सकती थी? यही कारण है कि इतना उत्तम मनुष्यजन्म पा कर भी मैंने व्यर्थ खो दिया। यहाँ भी सूक्ष्मज्ञानचेतना-शून्य होने से मैं प्रभुमुखदर्शन से वचित ही रहा। यहाँ मुझे कभी छहों पर्याप्तियाँ पूरी नहीं मिलीं, कभी छहों पर्याप्तियाँ पूरी मिली तो भी शुद्धज्ञानचेतना न होने से चतुर प्रभु मेरे हाथ मे आए ही नहीं। मैं टुकुर-टुकुर देखता ही रह गया, मगर प्रभुमुखदर्शन न हो सके।

इस प्रकार श्रीआनदघनजी अपनी लबी आत्मयात्रा का इतिहास कहते-कहते उपसहार करते हैं— मैं एकेन्द्रिय से ले कर पञ्चेन्द्रिय तक के अनेक स्थानों मे भटका और दीर्घकाल तक रहा। चार गतियो मे से कोई भी ऐसी गति, ८४ लाख योनियो मे से कोई भी ऐसी योनि, तथा पांच जातियों मे से कोई भी ऐसी जाति; सक्षेप मे ससारी जीव के सभी प्रकारो मे से कोई भी ऐसा प्रकार नही छोडा, जहाँ मैंने जन्म न लिया हो,[1] मगर किसी भी जगह मैंने

१ न सा जाई, न सा जोणी, न त ठाणं, न त कुलं।
न जाया, न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणतसो ॥ —उत्तराध्ययन-सूत्र

प्रभुमुखदर्शन नही किये। मैं इन सब जगहो मे मारा-मारा भटकता फिरा, लेकिन प्रभु-मुख दर्शन से विहीन ही रहा।

कोई कह सकता है कि श्रीआनन्दघनजी अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी, अथवा जातिस्मरणज्ञानी तो थे नही, उन्हे यह सब कैसे मालूम हुआ कि "मैं अमुक-अमुक जगह एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक मे गया, लेकिन कही भी प्रभु-मुख-दर्शन नही कर सका ?" इसी शका का समाधान करने हेतु श्री आनन्दघनजी नम्रतापूर्वक कहते है—'**आगमथी मत जाणीए**…" यह बात मैं अपने किसी प्रत्यक्षज्ञान या जातिस्मरणज्ञान के बल पर या कपोलकल्पित व मनगढत नही कह रहा हूँ, अपितु आगम (आप्त वीतरागपुरुषो के वचन) के आधार पर कह रहा हूँ। कोई भी सुविहित सुदृष्टि पुरुष जिनप्ररूपित आगमो से इस (उक्त) मान्यता का मिलान कर सकता है, क्योकि साधु के लिए[२] आगम ही नेत्र है।

परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता

श्रीआनन्दघनजी अपनी अन्तर्व्यथा के साथ परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता व्यक्त करते हुए कहते है—"इस प्रकार मैं अनन्तकाल तक विविध गतियो और योनियो मे यात्रा करता रहा, लेकिन प्रभुमुखदर्शन नही कर सका। मुझे पुन मनुष्यशरीर, उत्तम कुल, आर्यक्षेत्र-जाति-कुल-कर्मादि मिले हैं, शुभकर्मो के फलस्वरूप अच्छा वातावरण और उत्तम सत्सग भी मिला, और सम्यग्दर्शनरूपी रत्न भी मिला है, अत अब इसे व्यर्थ ही नही खोना चाहिए। अगर इस जन्म मे प्रभुमुखदर्शन का अवसर चूक गया और शुद्धात्मा के दर्शन नही कर सका तो पहले की तरह फिर विभिन्न गतियो और योनियो मे भटकने के सिवाय कोई चारा नही है। इतना सारा काता पीजा पुन कपास हो जायगा। इसीलिए शुद्धचेतनारूपी आत्मा अपनी अशुद्धचेतनरूपी सखी से पुन-पुन कहती है—"**देखण दे, सखी ! मुने देखण दे।**"

अत परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करके अपना मनुष्य-जन्म सार्थक कर लेना चाहिए। पर परमात्म-मुखदर्शन कैसे किया जाय ? इसकी विधि

---

२. **'आगमचक्खू साहू'—प्रवचनसार**

क्या है ? इसके लिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—जिनभाषित आगमों से प्रभु का सच्चा स्वरूप समझ कर शुद्ध निर्मल (निःस्वार्थ, निष्काम, निर्दम्भ) चित्त से परमात्मा की सेवा करो, उनमें ओतप्रोत हो जाओ, यानी तुम्हारी आत्मा को निर्मल बना कर परमात्मा में लीन करो अथवा परमात्मभाव में रमण करो, जिससे परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र का दर्शन हो जाएगा। जो लोग परमात्मदेव का सच्चा स्वरूप नहीं समझ कर संसार में प्रचलित विविध नामों वाले रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी या विकारी किसी देवी, देव को या भौतिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति को भगवान् प्रभु या परमात्मा मान कर उसके मुखदर्शन को ही यथार्थ मुखदर्शन मानते हैं, उनके उक्त मत का खण्डन भी प्रकारान्तर से इसके द्वारा हो गया।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन यानी परमात्मा=शुद्धात्मा के सत्स्वरूप के साक्षात्कार का उपाय अगली गाथा में बताते हैं—

निर्मल साधुभगति लही, स०; योग-अवंचक होय। सखी०।
क्रिया-अवचक तिम सही, स०; फल-अवंचक जोय॥
स० ॥६॥

अर्थ

आत्मा निर्मल साधु-साध्वियों की भक्ति प्राप्त करके जब योग-अवंचक बनती है, उसके बाद वह क्रिया-अवचक हो जाती है और अन्त में फल-अवंचक बनती है, यानी जब योग, क्रिया और फल तीनों में आत्मा अवंचक हो जाती है, तब परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन वह बेखटके कर सकती है।

भाष्य

परमात्म मुखदर्शन का यथार्थ उपाय

यथार्थ परमात्ममुखदर्शन के हेतु इस गाथा में साधक के लिए तीन बातें बताई गई हैं—योगाऽवंचकता, क्रियाऽवंचकता, और फलाऽवंचकता। इन तीनों के होने पर ही साधक परमात्मा का सच्चे माने में दर्शन कर सकता है। वस्तुतः आत्मस्वभावरूप मोक्ष—(परमात्म-पद) के साथ अनुबन्ध होना योग कहलाता है।

पूर्वगाथा मे योगावञ्चकता के लिए सच्चे देव की निर्मलसेवा की बात कही थी, उसी सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघनजी इस गाथा मे सच्चे गुरु (निर्मल साधुसाध्वी) की भक्ति की बात कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सद्धर्म के योग (निमित्त) से कदापि वचित न हो, ऐसे अमोघ, या अचूक अवसरो को कदापि न चूके, साथ ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक मोक्ष के अनुकूल धर्मक्रिया करने मे जरा भी गफलत न करे तथा मोक्षरूपी फल प्राप्त करने से न चूके। [रागद्वेप, कपाय, कर्म आदि से मुक्ति के जब-जब प्रसग आएँ, उन्हे न चूके, उन अवसरो से आत्मा को कदापि वचित न करे।] यानी योग, क्रिया और फल के अवसरो से वचित न हो। दूसरे शब्दो मे यो भी कहा जा सकता है, अपनी आत्मा के प्रति वफादार रह कर परमात्मा की साक्षी से अपनी पूरी ताकत लगा कर (भरसक) योग, क्रिया और फल की आराधना से वचित न होने का प्रयत्न करे। अपनी आत्मा को ठगे नही। योग के नाम पर मिथ्यायोगो से न ठगा जाय, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य चूके नही। क्रिया के नाम पर झूठी, दभवर्द्धक, विकासघातक, परवचक क्रियाओ से ठगा न जाय, इसी प्रकार मोक्षरूपी फल के नाम पर अपने ध्येय को छोटा बना कर इहलौकिक या पारलौकिक सुख-साधनादि-प्राप्तिरूप फल से प्रभावित हो कर ठगा न जाय। मोक्ष के नाम पर विविध आडम्बरो या जन्ममरणवर्द्धक फलो मे लुभा कर आत्मवचना न कर बैठे।[1] योगदृष्टिसमुच्चय मे इन तीनो योगो का स्वरूप इस प्रकार बताया है—"दर्शनमात्र से पवित्र हो जाय, ऐसी कल्याणकारिणी सम्पत्ति से युक्त सत्पुरुषो के सत्सग से, तथा दर्शन से योग (मिलन) होना योगाऽवचक योग कहलाता है। ऐसे सद्गुरुओ, सद्देवो आदि को प्रणाम करना तथा अन्य मोक्षदायक अनेक सद्धर्मक्रियाओ या

---

१. सद्भि. कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनै ।
तथा दर्शनतो योग आद्याऽवचक उच्यते ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया-नियम इत्यलम् ।
क्रियावचकयोग स्यान्महापापक्षयोदय. ॥
फलावञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगत ।
साऽनुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सता मता ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय २१७,२१८,२१९

नियमो मे भरसक शक्ति लगाना क्रियावञ्चकयोग है, जो महापापो के क्षय मे जागता है। तथा सद्गुरुओं के निमित्त (सहयोग) से निर्वाणात्मक धर्म की प्राप्ति करता है। सतो द्वारा सम्मत इस प्रकार के मोक्षानुबन्धी फल की प्राप्ति होते रहना फलावञ्चकयोग है। निष्कर्ष यह है कि इन तीनो के खोटे योगो से बच कर प्रलोभन, भय, स्वार्थ या कामना के भावो को छोड कर सद्देव, सद्गुरु एव सद्धर्म की कपटरहित हो कर त्रिकरणशुद्ध सेवाभक्ति करने से परमात्मा के यथार्थस्वरूपदर्शन की प्रतीति हो जाती है, जो वास्तव मे प्रभु-मुखचन्द्रदर्शन है। तथा पूर्वोक्त विधि से निष्कामभाव से सम्यग्ज्ञान-पूर्वक मन-वचन-काया की एकाग्रतापूर्वक मोक्षदायिनी धर्मक्रिया की जाती है तो वह क्रिया अवचक हो जाती है। और उसका फल भी शुद्ध मिलता है, कर्ममुक्तिरूप फल को छोड कर जो किसी सांसारिक प्रतिष्ठा, नामवरी, दम्भ, ईर्ष्या, स्वार्थ या प्रलोभन को ले कर क्रिया करता है, उसका फल भी सांसारिक एषणा से लिप्त होने के कारण वचक है, अवंचक नहीं। अतः अवचकभाव से अवचकक्रिया करके अवंचकफल के रूप मे वीतराग-परमात्मा का साक्षात्कार सम्यग्दृष्टि आत्मा कर सकती है।

निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो जब निमित्तों को गौण मान कर अपने समक्ष शुद्ध-आत्मभाव मे रमण के योगो के उपस्थित होने पर जब आत्मा से उनका सही शुद्धभाव म उपयोग, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य होता है, तदनुसार शुद्ध स्वभावरमणरूप क्रिया होती है तथा शुद्धस्वभाव मे आत्मा स्थिर होने के योगो को नही चूकती, तभी वह परमात्मा के शुद्धात्म-चेतनरूपी मुखचन्द्र के दर्शन कर सकती है। अन्यथा शुभ-अशुभभावो मे या परभावों मे रमणता और स्थिरता तो अनेक जन्मो और गतियो में की, मगर उससे जरा भी कार्य सिद्ध नही हुआ।

किन्तु उक्त तीनो योगो की अवचकता यानी तीनो योगो का अवसर न चूकने की बात प्रमादी व्यक्ति या प्रमत्त साधक से कैसे सिध सकती है? इसके लिए प्रबल आशावान श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते है—

प्रेरक अवसर जिनवरु, स०; मोहनीय क्षय जाय ।सखी०।
कामितपूरण सुरतरू, स०; आनन्दघन-प्रभु पाय ।सखी०।।७।।

अर्थ

जव प्रेरक (उक्त तीनो योगो मे प्रवृत्त करने का) अवसर आएगा, तव श्रीजिनवर (वीतराग परमात्मा) ही प्रेरणा करेंगे। और साधक क्रमशः अप्रमत्त-गुणस्थान से आगे वढ कर निवृत्तिवादर, अनिवृत्तिवादर, और सूक्ष्म-संपराय आदि गुणस्थानो को लाघ कर १२वें क्षीणमोहगुणस्थान पर पहुँच जायगा, जहाँ उसका सवसे वडा घातीकर्म—मोहनीय सर्वथा नष्ट हो जायगा। और अपने (परमात्मदर्शन के) मनोरथ को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान सच्चिदानन्दमय प्रभु को पा जायगा। यानी उसका परमात्मदशन का मनोरथ पूर्ण हो जायगा। अथवा उस आनन्दमय परमात्मपद को साधक स्वय पा जायगा।

भाष्य

परमात्ममुखदर्शन के मनोरथ मे सफलता

इस अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त तीनो अवचक-योगो की प्राप्ति के अवसरो को प्रमत्तसाधक न चूक सके, इसके लिए अवसर-प्रेरक वीतराग परमात्मा को ही वता कर उनके चरण-शरण मे जाने की वात पर जोर देते हैं। सचमुच साधक की आत्मा परमात्मा के प्रति पूर्ण वफादार रह कर प्रवृत्ति करे तो उसकी शुद्ध आत्मा ही प्रेरणादायक अवसरो को न चूकने की प्रेरणा दे देती है। शुद्ध आत्मा की आवाज ही परमात्मा की सच्ची प्रेरणा है। परन्तु वहुत-से साधक श्रेयमार्ग को कठिन और दु खमय समझ कर उससे अपने आपको वचित कर देते हैं, प्रेयमार्ग को ही सर्वस्व समझ लेते है, क्योंकि उसमे प्राय तात्कालिक फल मिलता है। निश्चयनय की भाषा मे कहे तो शुद्ध आत्मा की आत्मभाव मे रमण की अथवा स्वभाव की प्रेरणा को ऊवा देने या थका देने वाली समझ कर साधक की आत्मा भय-प्रलोभनपूर्ण परभावो या भौतिक भावो अथवा वैभाविक भावो मे रमण की ओर मुड़ जाती है और स्वभावरमण मे प्रमाद कर वैठती है। अत शुद्ध-आत्मभावो मे रमण के अवसरो की सतत प्रेरणा दने वाले परमात्मा—शुद्धात्मा हैं। उसी प्रेरणा को मजवूती से पकड लेने पर तीनो योगों मे अवचकता से साधक क्रमश उत्तरोत्तर गुणस्थानो को पार करके वारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ समस्त कर्मो के मूल

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। यही प्रभुदर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धि है, साधक के जीवन में। श्री आनन्दघनजी इसी आशा से परमात्मा के विशुद्ध मुखचन्द्र का दर्शन करने के लिए उत्सुक हैं। उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती है कि मोहनीय कर्म के क्षय होते ही साधक मनोवांछित (मोक्षरूपी फल पाने का) पूर्ण मनोरथ करने वाले, कल्पवृक्षरूप आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। अथवा प्रभुदर्शन का मनोरथ पूर्णरूप से सफल करने वाले वीतराग-परमात्मा के चरण ही मनोरथपूरक हैं, वे ही कल्पवृक्षरूप हैं, सच्चिदानन्दमय हैं।

मतलब यह है कि परमात्ममुखचन्द्र का दर्शन करने की तमन्ना जिस साधक में होगी, वह तीनों योगों की पूर्ण अवंचक आराधना करने में वीतराग परमात्मा की प्रेरणा उस-उस अवसर पर पा ही लेगा, और आगे बढ़ते-बढ़ते क्षीणमोह-गुणस्थान पर जा पहुँचेगा, जहाँ इसके उक्त मनोरथ के सफल होने में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि इतनी उच्च-भूमिका पर पहुँचने के बाद तो वह स्वयमेव पूर्ण शुद्धात्मा बन कर परमात्ममय हो जाता है, स्वयं कामनापूरक कल्पवृक्षरूप व आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

सारांश

इस स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप एवं उसके दर्शन की तीव्रता बता कर अब तक विभिन्न गतियों और योनियों में प्रभुदर्शन न मिलने का इतिहास बता कर अन्त में प्रभुमुखदर्शन पाने के लिए आत्मा की अवंचकत्रय-साधना बताई तथा अवंचकता के अवसर के लिए वीतराग प्रभु को ही प्रेरक मान कर क्षीणमोह-गुणस्थान श्रेणी तक पहुँच कर पूर्ण सच्चिदानन्दमय परमात्मपद को प्राप्त करने की आशा व्यक्त की है।

९ : श्रीसुविधिनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा

(तर्ज-राग केदारो, एम धन्नो धणीने परचावे)

सुविधिजिनेसर पाय नमी ने, शुभकरणी एम कीजे रे ।
अतिघणो उलट अंग धरी ने, प्रह उठी पूजीजे रे ।। सुविधि ०।।१।।

अर्थ

इस अवसर्पिणीकाल के नौवें तीर्थंकर रागद्वेषविजेता श्रीसुविधिनाथ (परमात्मा) के चरणो मे नमन करके पुण्य-उपार्जनरूप शुभक्रिया आगे बताई हुई विधि से करनी चाहिये। वह शुभ-क्रिया यह है कि हृदय मे अत्यन्त उमग (उत्साह) धारण करके सुबह उठ कर परमात्मापूजा करनी चाहिए।

भाष्य

परमात्मा की पूजा का रहस्य

पूर्वस्तुति मे जैसे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन का रहस्य बताया गया था कि सच्चे माने मे अपनी आत्मा मे परमात्मभाव देखना ही परमात्ममुख-दर्शन है, वैसे ही परमात्मा की पूजा भी सच्चे माने मे तो अपनी आत्मा को शुद्ध स्वभाव मे स्थिर रखना है।

परन्तु यह आत्मा जब तक छद्मस्थ है, प्रमादी है, प्रमत्तसाधक-अवस्था में है, तब तक वह निरतर शुद्धस्वभाव मे स्थिर रह नही सकती, वह किसी न किसी बाह्य निमित्त का अवलम्बन ले कर शुद्धात्मभाव मे सदा के लिए स्थिर परमात्मा का स्मरण करना चाहती है और उनके आश्रय से अपने आत्मगुणो का स्मरण करती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि आत्मजागृति या आत्मलक्ष्य के बिना केवल बाह्यनिमित्त सुखप्रद नही होते। इसलिए परमात्मा की पूजा का अवलम्बन भी आत्मजागृति की दृष्टि से लेना आवश्यक बताया गया है।

वीतराग-परमात्मा की भावपूजा या द्रव्यपूजा करने से उन्हे तो कोई लाभ

(भौतिक या आध्यात्मिक) नहीं होता, पूजा करने वाला अपने आत्मिक लाभ की दृष्टि से ही उनकी पूजा के माध्यम से अपने आत्मगुणों का स्मरण करके अपनी आत्मा को जगाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा की द्रव्य-पूजा भी भावानुलक्षी या भावपूर्वक हो, तभी फलदायिनी होती है। अगर भावना न हो तो वह उक्त उद्देश्य को सिद्ध नहीं करती। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली द्रव्यपूजा भावपूजा के बिना मुक्ति-फलदायक अथवा आत्मगुणों या आत्मगुणों में स्थिरताप्रदायक नहीं होती।

अगर परमात्मा की पूजा भी किसी लौकिक स्वार्थ, भौतिक पदार्थ-प्राप्ति की लालसा, या यशकीर्ति की इच्छा से की जाती है तो उपर्युक्त उद्देश्य-आत्मजागृति का प्रयोजन-पूरा नहीं होता। वह तभी पूरा हो सकता है, जब परमात्म-पूजा के साथ आत्मजागृति की दृष्टि से निम्नोक्त बातों का विवेक हो—(१) जिसकी पूजा की जा रही है, वह सच्चे माने में वीतराग-परमात्मा के रूप में पूजायोग्य या पूज्य है या नहीं ? (२) परमात्मा की पूजा किसी भौतिक लालसा, कामना, प्रसिद्धि, स्वार्थ या पदलिप्सा अथवा किसी पौद्‌गलिक लाभ की दृष्टि से की जा रही है या सिर्फ आत्मविकास अथवा आत्मगुणों की प्रेरणा या आत्मजागृति की दृष्टि से की जा रही है ? (३) परमात्मपूजा का रहस्य या उसका खास प्रयोजन क्या है ? (४) परमात्मा की भावपूर्वक पूजा या भावना से ही पूजा हो सकती है या दुर्बल आत्मा के लिए और भी कोई पूजा का प्रकार है ? अगर है तो वह कौन-सा है? उसकी पूजा के साथ भावशुद्धि कैसे रह सकती है? परमात्मपूजा के सम्बन्ध में इन और ऐसी ही कुछ बातों पर विचार किये बिना परमात्मा की केवल स्थूलपूजा (जो कि वर्तमानकाल में अन्यधर्मों की भक्तिमार्गीय शाखाओं में अपनाई जाती है) को अपना लेना, अथवा अविवेकपूर्वक पड़ोसी सम्प्रदायों की बाह्यपूजा व बाह्यभक्ति का अन्धानुकरण करना आत्मगुणविकास की दृष्टि से लाभदायक नहीं हो सकता।

उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ प्रकाश डालेंगे। यह तो पहले भी कई बार कहा जा चुका है कि पूजनीय व्यक्ति का नाम चाहे जो कुछ हो, अगर उसमें वीतरागता, समता, आत्मस्वरूप में सतत स्थिरता व अनन्तज्ञानादि गुण हों तो वह परमात्मा है, वन्दनीय, दर्शनीय, सेवनीय और पूजनीय है। परन्तु इसके विपरीत जिसमें वीतरागता आदि गुण न हों, सिर्फ बाह्य आडम्बर,

जनता की भीड़, बाह्य रागरंग तथा आकर्षक आभूषण, पोशाक आदि पहनने वाले, बाह्य भोगों व वैभवों की चकाचौंध में डूबे हुए व्यक्ति को वन्दनीय, दर्श-नीय, सेवनीय और पूजनीय (आध्यात्मिकदृष्टि से) नहीं माना जा सकता। परन्तु अगर सच्चे अर्थों में यथोक्तगुणसम्पन्न परमात्मा की पूजा भी अगर भौतिक स्वार्थ आदि किसी दृष्टि से भी की जायगी तो वह भी सच्चे माने में परमात्मपूजा नहीं होगी। सच्चे अर्थों में परमात्मपूजा वही होगी, जहाँ उसे आत्मगुणों के विकास या स्वस्वरूप में स्थिरता की दृष्टि से आत्मजागृति पूर्वक अपनाया जायगा। वास्तव में परमात्मा (वीतराग हैं, इसलिए उन) को हमारे द्वारा की गई पूजा से कोई मतलब या लाभ नहीं, लेकिन हमें अपनी आत्मा को आत्मगुणों के विकास की पूर्णता की ओर ले जाने के लिए परिपूर्णता के प्रतीक परमात्मा की पूजा करना है। मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसा आदर्श उसे अपनाना जरूरी होता है। अगर साधक को अपने आत्म-विकास के अन्तिम शिखर तक पहुँचना हो तो उसे आत्मविकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए आदर्शपुरुष परमात्मा की पूजा — आदर्शरूप की पूजा करना नितांत आवश्यक है। परमात्मा के तुल्य बनने के लिए उसे परमात्मा के आदर्श अपनाने तथा अपने उस निर्णय पर दृढ रहने के लिए परमात्मपूजा अनिवार्य है। परमात्मपूजा का रहस्य भी यही है कि आत्मा परमात्मा की पूजा द्वारा अपने आपको पर-मात्मा बनने के पथ पर टिकाए रखे, जहाँ आत्मगुणों या आत्मविकास के विप-रीत अथवा स्वरूप या स्वभाव के विपरीत पथ या बात हो, यानि परमात्मपूजा के विपरीत भौतिक या आत्मगुणातिरिक्त विकारों या विभावों की पूजा का का प्रश्न सामने आए, फिर वह सिर्फ धन, यश, बल, रूप, वैभव, कुल, जाति आदि की पूजा का ही प्रश्न क्यों न हो, सम्यग्दृष्टि साधक उसमें नहीं फँसेगा, परमात्मपूजा के असली पथ से विचलित नहीं होगा। परमात्मपूजा से विपरीत स्वार्थपूजा या भौतिकपूजा के चक्कर में वह नहीं आएगा। परमात्मपूजा पर-मात्मा को खुश करने के लिए या पापों से माफी के लिए अथवा पापों पर पर्दा डाल कर धर्मात्मा या भक्त कहलाने के लिए नहीं, अपितु अपनी आत्मा को सर्वांगपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न बनाने के लिए है। इस प्रयोजन या उद्देश्य को न समझ कर जो लोग परमात्मा के प्रतीक (मूर्ति) के सामने नाच-गा कर केवल उनको रिझाने का प्रयत्न करते हैं, उनके प्रतीक के सामने चढावा चढा कर अथवा अमुक लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए उनकी मनौती करते हैं, अथवा उनके

बिम्ब के आगे बकरे आदि पशु-पक्षी की बलि चढ़ाते हैं, शराब, मांस आदि अपेय या अभक्ष्य द्रव्य चढ़ाते हैं, वे भी परमात्मपूजा के वास्तविक प्रयोजन से अनभिज्ञ हैं।

वास्तव में परमात्मा की पूजा भावों से ही हो सकती है, उनकी स्तुति या गुणगान के पीछे भी परमात्ममय बनने या आत्म-गुणविकास की पराकाष्ठा पर पहुँचने का लक्ष्य होता है। यह भी एक प्रकार की भावपूजा ही है। अथवा पूर्णत्यागी परमात्मा के समक्ष हिंसादि-त्याग की पुष्पांजलि चढ़ाना ही उनकी पूजा है, जो भावमय है। परन्तु कुछ दुर्बल आत्माओं को ज्ञानयोग का यह मार्ग बहुत कठिन प्रतीत होता है। साधारणतया लोग कठोरमार्ग को छोड़ कर आसान मार्ग पकड़ते हैं, क्योंकि परमात्मा की केवल भावपूजा करने में ज्ञान, बुद्धि-वैभव, या मानसिक चिन्तन, ध्यान आदि की आवश्यकता होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। आम आदमी सतत स्वरूपलक्ष्य या आत्मगुणों के विकास या स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए श्री आनन्दघनजी ने सम्भव है, उस युग में आम आदमियों के [1]द्रव्यपूजा की ओर बढ़ते हुए लोक-प्रवाह को नया मोड़ देने अथवा उसमें भावपूजानुलक्षिता का नया दौर लाने अथवा भावपूजा के साथ उस समय के लोकमानस में प्रचलित द्रव्यपूजा का समन्वय करने की दृष्टि से कह दिया हो—'शुभकरणी एम कीजे रे'। तात्पर्य यह है कि या तो अशुभ प्रवृत्ति की ओर बढ़ते हुए लोकमानस को कम से कम

---

१ ऐतिहासिक दृष्टि से निर्विवाद है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग १७० वर्ष में आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए। उन्होंने चन्द्रगुप्त राजा को उसके १६ स्वप्नों का अर्थबोध देते हुए ५वें स्वप्न में चैत्य-स्थापना तथा उससे होने वाली हानि का संकेत किया है। देखिये व्यवहारसूत्र की चूलिका—

"पंचमए दुवालसफणि सजुत्तो कण्ह अहि दिट्ठो, तस्स फल दुवालसवासपरिमाणो दुक्कालो भविस्सई। तत्थ कालियसूयप्पमुहाणि सुत्ताणि वोच्छिज्जिसंति। चेइय ठवावेइ "लोभेण मालारोहण-देवल-उवहाण-उज्जमण-जिणविंवपइट्ठावणविहि पगासिस्संति, अविहे पये पडिस्सई।... ...
इससे योगी श्रीआनन्दघनजी की, उस समय की भावना समझी जा सकती है।

शुभ प्रवृत्ति मे टिके रहने के लिए परमात्मपूजा के स्थूलरूप का श्रीआनन्दघनजी ने समर्थन किया हो, अथवा उन्होंने भक्तिमार्गीय धर्म-सम्प्रदायो मे उस युग मे प्रचलित लक्ष्यहीन, भावहीन, वाह्यचमत्कारपरक, स्वार्थलक्ष्यी, आडम्वरयुक्त भक्तिवाद के रूप मे प्रचलित तथाकथित भगवत्पूजा को देख कर या परमात्मपूजा के नाम पर विकृतियाँ, आडम्वर, अन्धविश्वास, चमत्कार या रूढिवाद आदि घुसे हुए देख कर उन्हे हटा कर जैनत्व की दृष्टि से अनेकान्तसिद्धान्त के जरिये भावपूजानुलक्ष्यी द्रव्यपूजा का समर्थन किया हो। यही कारण है कि उन्होंने इस स्तुति की प्रथम गाथा मे इस वात को स्पष्ट कर दिया है—**'अतिघणो उलट अग धरी ने, 'प्रह उठी पूजीजे रे'** अर्थात् परमात्मपूजा करो, पर कव और कैसे ? इस वात का पूर्ण विवेक करके करो। **'उलट अग धरी ने'** का मतलव है—मन-वचन-काया मे पूर्णउत्साह, उत्कट भावना, शरीर के अग-अग मे पूर्ण स्फूर्ति धारण करके। तथा **'प्रह उठी पूजीजे रे'** कहने का यह मतलव है कि प्रात काल उठते ही या सवेरे उठ कर सर्वप्रथम और सव कामो को गौण करके परमात्मपूजा करो। यद्यपि परमात्मा की भावपूजा के लिए कोई विशेप समय नियत नही होता, जिस समय साधक की इच्छा हो, उस समय वह की जा सकती है। फिर भी प्रात काल का समय ब्राह्ममुहूर्त या अमृतवेला कहलाता है, उस समय तन, मन, वातावरण सव शान्त रहता है, चित्त एकाग्र रहता है, मन अन्यमनस्क नही रहता, दिमाग भी ऊलजलूल विचारो से रहित होता है, तन-मन मे स्फूर्ति रहती है। एक लौकिक स्वर्णसूत्र भी है—

"Early to bed, early to rise,
Makes man healthy, wealthy and wise"

जो व्यक्ति जल्दी सो जाता है और प्रात जल्दी उठता है, वह मनुष्य स्वस्थ, धनाढ्य और वुद्धिमान वनता है। इसलिए आत्मिक दृष्टि से भी प्रात काल परमात्मा की पर्युपासना के लिए वहुत उत्तम है। परमात्मा के नामजप, भजन, गुणगान, वन्दना, स्तुति, आदि के द्वारा परमात्मपूजा के लिए भी प्रभातकाल सर्वोत्तम रहता है। किन्तु इसके पूर्व एक वात प्रभातकाल मे सर्वप्रथम करणीय और वता दी है—**'सुविधि जिनेसर पाय नमीने'** सुविधि (जिन्होंने मोक्षमार्ग का स्पष्ट विधान किया है ऐसे) वीतरागपरमात्मा के चरणो को नमन करके। इसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं—एक तो यह है कि वीतराग-परमात्मा के चरण

से नमन करके उनकी पूजा करना। दूसरा अर्थ यह है कि परमात्मा के पद (चरण या चारित्र) को नमन करके अर्थात् जिस चारित्र से सुविधिनाथ प्रभु मोक्ष गए हैं, उस चारित्रवान् आत्मा के शुद्ध पद को नमन करके।

निष्कर्ष यह है कि तीर्थंकर भगवान् के स्थूल प्रतीक के रूप में स्थापित उनकी मूर्ति का आलम्बन ले कर उसमें परमात्मा का आरोपण करके 'मूर्ति की नहीं, मूर्तिमान—परमात्मा की पूजा कर रहा हूँ' इस भावना से उस युग में जोर-शोर से प्रचलित मूर्तिपूजा में आए हुए विकारों को दूर करने और भाव-पूजा के लक्ष्य से द्रव्यपूजा करने का श्रीआनन्दघनजी जैसे आध्यात्मिक और निःस्पृह सन्त ने विवेक किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी आशय को ले कर वे अगली गाथा में कहते हैं—

द्रव्यभाव शुचिभाव धरी ने, हरखे देहरे जइए रे।
दह-तिग-पण अहिगम साचवता, एकमना धुरि थइए रे॥
सुविधि० ॥२॥

अर्थ

द्रव्य से यानी बाह्यरूप से और भाव से यानी आन्तरिकरूप से शुद्ध—(पवित्र—दोषरहित) भाव धारण करके (रख कर) हर्षपूर्वक देवालय (मन्दिर) में जाएँ और द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की पूजा करें। मन्दिर में दस त्रिकों और ५ अभिगमों का विधिपूर्वक पालन करते हुए सर्वप्रथम एकाग्रचित्त हो जाएँ।

भाष्य

द्रव्य और भाव से शुचितापूर्वक द्रव्यपूजा और भावपूजा

इस गाथा में श्री आनन्दघनजी द्रव्यपूजा[1] और भावपूजा दोनों में शुचि-भाव शुद्धभाव, दोषरहित भाव की अनिवार्यता बताते हैं। इस गाथा के दो अर्थ निकलते हैं। एक तो यह है कि द्रव्यपूजा में द्रव्य से और भाव से दोनों प्रकार से शुचिता = शुद्धता रखी जाय। दूसरा अर्थ यह है कि द्रव्यपूजा और भावपूजा दोनों में शुद्धभाव, दोषरहित भाव रखे जाय।

---

1 श्री आनन्दघनजी स्वयं निःस्पृह होते हुए भी मूर्तिपूजक-परम्परा के मत थे। इसलिए उन्होंने अपनी परम्परा और धारणा के अनुसार द्रव्यपूजा का समर्थन किया है। यह उनका अपना मत है। उनके द्रव्यपूजा के इस मत से भाष्यकार का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

द्रव्यपूजा की दृष्टि से द्रव्यत शुचिभाव का अर्थ है—[1]शरीर और शरीर के अगोपाग स्वच्छ करके परमात्मपूजा के योग्य बिना मैले शुद्ध साफ वस्त्र पहिन कर तथा परमात्मपूजा के योग्य जो शुद्ध द्रव्य है, उन्हे भी शुद्धरूप मे लेना। मतलब यह है कि ऐसे द्रव्य न लिए जाय, जो वीतरागप्रभु की पूजा के योग्य न हों। जैसे शराव, मास आदि घिनौने द्रव्य या वलि चढाने के लिए कोई पशु या पक्षी आदि जीव ले कर जाय। अथवा वीतराग एव त्यागी महापुरुषो की पूजा के लिए भोग-विलास की सामग्री ले कर कोई जाय तो वास्तव मे वीतरागपूजा के लिए ये चीजें उचित द्रव्य नही हैं। जो भी द्रव्य ले कर जाय, वह भी ठीक तरह से उचितरूप मे ले कर जाय। जैसे कई लोग पूजा की सामग्री इधर-उधर बिखरते हुए, या बारबार जमीन पर या गदे स्थान पर गिराते हुए अथवा कपडे आदि अस्तव्यस्तरूप मे पहन कर या शरीर मे शौचक्रिया (मल-मूत्र आदि की क्रिया) की हाजत रख कर जाते है या शराव आदि नशीली चीजें पी कर अथवा मासादि अभक्ष्य वस्तुएँ खा कर अथवा किसी व्यक्ति से लडझगड कर किसी की हत्या, मारपीट आदि करके, किसी पर अत्याचार-अन्याय करके, प्रभु-पूजा के लिए खून से रगे हाथो, अथवा गदे शरीर को ले कर जाना भी द्रव्यत अशुचिभाव है। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की द्रव्यपूजा करने के लिए वाह्य आडवर रचना, या लोकदिखावा करना, जोर-जोर मे चिल्ला कर दूसरे व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली पूजा मे खलल डालना, आदि सव द्रव्यत अशुचिभाव है। क्योकि परमात्मपूजा दिखावे या प्रदर्शन की चीज नही है। वह तो आत्मगुणविकास या स्वस्वरूप मे स्थिर रहने के लिए होती है। इसी तरह द्रव्यपूजा की दृष्टि मे भावत शुचिभाव का अर्थ है—चित्त मे किसी प्रकार का कालुष्यभाव, किसी के साथ वैरविरोध, होड (प्रतियोगिता), सघर्ष, अथवा जय-पराजय का भाव ले कर परमात्मपूजा के लिए नही पहुँचना, अथवा पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा, पद, मुकद्दमे मे जीत, प्रसिद्धि आदि किसी सासारिक कामना से

---

१ ण्हाए सुद्धपावेसाइ वत्थाइ पवर-परिहिए' -उपासकदशाग सूत्र
भ० महावीर के पास आनन्द श्रमणोपासक के जाने के समय का वर्णन। आनन्द श्रमणोपासक ने स्नान किया, शुद्ध और सभा मे प्रवेश के योग्य वस्त्रो को ठीक रूप मे पहने।

परमात्मपूजा के लिए नहीं जाना। लोकप्रवाह की दृष्टि से पूजा या पूजाभक्ति का स्वरूप या यथार्थ पूजाविधि समझे बिना अथवा शरीर और कहीं हो, मन और कहीं भटक रहा हो, ऐसी स्थिति में द्रव्यपूजा के लिए प्रवृत्त होना भी भावतः अशुचिभाव है। वास्तव में परमात्मपूजा का अर्थ, उद्देश्य, स्वरूप, विधि आदि समझ कर निष्काम एवं दोषरहित भावों से तन-मन की एकाग्रतापूर्वक उत्साहपूर्वक परमात्मपूजा के लिए जाना परमात्मा की द्रव्यपूजा में भावतः शुचिभाव धारण करना है।

क्योंकि आचार्य नमि और आचार्य अमितगति ने द्रव्यभाव-संकोच को परमात्म-पूजा और वचनसंयम को व हाथ-पैर को, मस्तक आदि अंगों के सम्यक् विधिपूर्वक रखने को द्रव्यसंकोच तथा विशुद्ध मन प्रभु में जोड़ने को भावसंकोच कहा है। यही क्रमशः द्रव्यपूजा और भावपूजा है।[1]

अब आइए परमात्मा की भावपूजा करते समय द्रव्यतः एवं भावतः शुचिभाव की ओर। भावपूजा के कुछ प्रकार आगे इसी स्तुति में बताए जायेंगे। तदनुसार भावपूजा में प्रवृत्त होते समय अपने शरीर, अंगोपांग तथा बैठने के आसन, पहिनने के वस्त्रों आदि का शुद्ध होना आवश्यक है। उस समय की जाने वाली शारीरिक चेष्टाएँ भी ठीक हों, उनमें चञ्चलता या अभिमान न हो, व्यग्रता न हो। उस समय गंदे स्थान में या अत्यन्त कोलाहलभरी भीड़भड़क्के वाली अशान्त जगह में बैठना अथवा गंदे वातावरण में, शारीरिक हाजतों को रख कर या उग्र बीमारी या घर में कोई बीमार या अशक्त की सेवा की जिम्मेदारी के समय उसी हालत में परमात्मा की भावपूजा के लिये बैठना ठीक नहीं होता। क्योंकि उस समय शरीर और कहीं होगा, मन और कहीं। दोनों का तार जुड़ेगा नहीं, परमात्म-पूजा में। इसी तरह माला के मनके फिराने के साथ शरीर और मन को भी एकाग्र करना द्रव्य-

---

१. वचोनिग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा हि पुरातनैः॥

—अमितगति-श्रावकाचार

पूजा च द्रव्यभावसंकोचः। तत्र करशिरःपादादिसन्यासो द्रव्यसंकोचः। भावसंकोचस्तु विशुद्धमनसो नियोगः। —षडावश्यकवृत्ति, प्रणिपातदण्डक

शुचि मे शुमार है। यह तो हुई द्रव्यशुद्धि की बात। भावपूजा मे भावशुद्धि के लिए पूर्वोक्त प्रकार से लक्ष्यपूर्वक चित्त की प्रसन्नता, उत्साह और आत्मसमर्पणता रखना है। उस समय चित्त मे किसी प्रकार का शोक, विषाद, घृणा या चपलता नहीं होनी चाहिए। तभी भावपूजा मे भावतः शुचिभाव आ सकता है। अगर भावपूजा भी किसी सौदेबाजी, स्वार्थसिद्धि या लौकिक कामना के अशुद्धभावो को ले कर की जाय, तो वह दूषित हो जाती है, वह पवित्र, निष्काम, निष्कलुष एवं विशुद्ध निर्जरालक्षी या, आत्मगुणविकासलक्षी नही रहती।

द्रव्यपूजा और भावपूजा कहाँ की जाय ?

यद्यपि परमात्मा की पूजा के लिए कोई स्थानविशेष नियत नही होता, तथापि सामाजिक दृष्टिकोण से समाज के आम आदमी को वीतरागपूजा की ओर प्रवृत्त करने के लिए श्रीभद्रबाहु स्वामी के बाद के आचार्यगण तात्कालिक परिस्थितियो को मद्देनजर रख कर शुभ उद्देश्य से जैनमन्दिर, चैत्यालय या जिनालय के लिए प्रेरणा देने लगे। इसी परम्परा के सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघनजी कहते है—'**हरखे देहरे जइए रे**' अर्थात् परमात्मा-पूजा के लिए हर्षपूर्वक देवालय मे जाना चाहिए। देहरा या देरासर-शब्द देवगृह, देवाश्रय आदि शब्दो का अपभ्रंश है। जहाँ वीतरागपरमात्मा की मूर्ति (प्रतिमा या बिम्ब) की स्थापना की जाती है और जिनभगवान् का आरोपण करके द्रव्यपूजा भावपूजानुलक्ष्यी की जाती है। द्रव्यपूजा की दृष्टि मे यह अवलम्बन है। परन्तु जिसे द्रव्यपूजा न करके परमात्मा की सीधी भावपूजा ही करनी हो, उसके लिए देवालय देह या हृदय हो सकता है, वही आत्मदेव विराजमान है। उसमे परमात्मदेव का आरोपण करके परमात्मा की भावपूजा करनी चाहिए। एक आचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि यह [1]देह ही देहरासर (देवालय) है। इसी मे विराजमान शुद्ध आत्मदेव को परमात्मदेव मानो और अज्ञानरूपी मैल दूर करके सोऽहभाव से उसकी पूजा करो।

अथवा देहराश्रय का मतलब हृदय-मन्दिर भी है। क्योंकि परमात्मदेव को

---

१ देहो देवालय प्रोक्त जीवो देव· सनातन ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्य, सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

भी स्वदेहस्थित हृदयमन्दिर मे स्थापित करके ही भावना से उनकी पूजा की जाती है। वेदान्त-ग्रन्थो मे दहराकाश का वर्णन आता है कि आत्मा हृदय मे स्थित दहराकाश मे विराजमान है। जो भी हो, भावपूजा के लिए हृदय-मन्दिर परमात्मदेव का आलय हो सकता है।

परमात्मपूजा के लिए विधि

परमात्मपूजा के लिए चैत्यवन्दन भाष्य, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थो मे परम्परागत कुछ विधियाँ, मर्यादाएँ बनाई गई है। श्रीआनन्दघनजी ने मूर्ति-पूजा की उसी चालू परिपाटी के अनुसार[२] दश प्रकार के त्रिक एवं पांच अभिगमो के पालन का उल्लेख यहाँ किया है, वह द्रव्यपूजा की दृष्टि से इस प्रकार है—

(१) निसीहित्रिक—देवालय (देहरासर) मे प्रवेश करते समय तीन बार नैषेधिकी क्रिया करनी चाहिए। यानी मैं सब प्रकार के गृहकार्यसम्बन्धी या व्यापारसबन्धी खटपट या चिन्ताएँ छोड़ (निषेध) करके प्रवेश कर रहा हूँ, मैं हिंसादि समस्त मानसिक विचारो, असत्यादि सब वचनों एवं अशुभकायादि चेष्टाओ को देवालय के बाहर छोड़ कर इसमे प्रवेश कर रहा हूँ पूजा में प्रवृत्त हो रहा हूँ,वन्दन कर रहा हूँ। इस प्रकार तीन बार निसीहि, निसीहि, निसीहि शब्द का उच्चारण करे।

(२) प्रदक्षिणात्रिक- पूज्य को दाहिनी ओर रख कर उनके चारो ओर प्रदक्षिणा-परिक्रमा देना। यह पूज्यपुरुष के प्रति बहुमान का सूचक है।

(३) प्रणामत्रिक—तीन प्रकार का तीन बार नमन प्रणामत्रिक कहलाता है। (१) अंजलिबद्धप्रणाम,—दो हाथ जोड कर झुकना, (२) अर्धविनत प्रणाम —जिस प्रणाम के समय आधा झुका जाय। (३) पचाग प्रणाम-दो हाथ, दो घुटने और मस्तक ये पाँचो अग नमा कर झुकना।

---

२ मूर्ति मे परमात्मभाव का आरोपण करते समय लोगो की अश्रद्धा न हो, पूज्यभाव बना रहे, लोगों के लिए वह हसी का पात्र न हो, इस दृष्टि से सभव है, यह विधान हो।

(४) पूजात्रिक—अगपूजा (जल, चदन, पुष्प आदि से पूजा), अग्रपूजा (धूप, दीप, अक्षत, फल व नैवेद्य आदि से पूजा) और भावपूजा (गीत, सगीत, भजन, स्तवन आदि के द्वारा चित्त एकाग्र करके परमात्मा का ध्यान करना) अथवा प्रकारान्तर से विघ्न-उपशामिनी, निवृत्तिदायिनी और अभ्युदयसाधिनी ये तीन पूजाएँ भी हैं, जो पूजात्रिक कहलाती है।

(५) अवस्थात्रिक—परमात्मा के जीवन के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत इन तीनो अवस्थाओ की पूजा करते समय कल्पना करना अवस्थात्रिक है। तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त करें, उससे पहले की अवस्था को पिण्डस्थ, उनके सर्वज्ञसर्वदर्शी होने के बाद की अवस्था को पदस्थ और वे समस्त कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो जाय, उस समय की अवस्था को रूपातीत कहा जाता है।

(६) त्रिदिशिनिवृत्त-दृष्टित्रिक—परमात्मा (या प्रभुमूर्ति) के सामने ही दृष्टि स्थापित करना। ऊर्द्ध्व (ऊँची) दिशा, अधो (नीची) दिशा तथा तिर्यग्दिशा (तिरछी दिशा) की ओर दृष्टि (नजर) न करना अथवा अपनी पीठ पीछे की दिशा, अपने दाहिनी ओर की दिशा व अपने बाँई ओर की दिशा की ओर न देखना, नजर न फेरना—त्रिदिशिनिवृत्त-दृष्टित्रिक कहलाता है।

(७) भूमिप्रमार्जनत्रिक—प्रभु को पचाग प्रणाम करते समय, या वन्दन करते समय रजोहरण, प्रमार्जनिका या उत्तरासन से तीन वार भूमि का प्रमार्जन (शुद्धि) करना।

(८) आलम्बनत्रिक—प्रभु के समीप वन्दन करते समय जिन सूत्रपाठो का उच्चारण किया जाय, उनमे ह्रस्व, दीर्घ, पदसम्पदा आदि का ध्यान रखना वर्णालम्बन है, उक्त सूत्रपाठो के अर्थ पर विचार करना अर्थालम्बन है और परमात्मा या उनकी प्रतिकृति (प्रतिमा) मे—उनके गुणो का ध्यान करना प्रतिमालम्बन है, इस प्रकार के तीन आलम्बन है।

(९) मुद्रात्रिक—परमात्मपूजा करते समय तीन प्रकार की मुद्राएँ धारण की जाती है—(१) योगमुद्रा—हाथ की दसो उँगलियो को परस्पर एक दूसरे मे सलग्न करके कमल के डोडे की तरह दोनो हाथ रख कर, दोनो हाथ की

कुहनियों को पेट पर रखना। (२) जिनमुद्रा—पैरों के दोनों आगे के भागों में ४ अंगुल का फासला तथा पिछले भागों में उससे कुछ कम फासला रख कर खड़ा होना। (३) मुक्ताशुक्तिमुद्रा—हाथ की अंगुलियों को एक दूसरे में संलग्न किये बिना ही दोनों हाथ जोड़ करके ललाट पर रखना।

(१०) प्रणिधानत्रिक—मन, वचन, काया—इन तीनों योगों का प्रणिधान (एकाग्रता) करना। अथवा 'जावन्त चेइयाइं, जयंति के वि साहू' व जय वीयराय ('आभवमखंडा' तक) इन तीन पाठों के उच्चारण के समय सावधान रहना भी प्रणिधानत्रिक कहलाता है।

इन दसों त्रिकों का द्रव्यपूजा के समय पालन करने का अर्थ तो स्पष्ट है। भावपूजा के समय प्रभुमूर्ति के बजाय प्रभु की छवि को अन्तर्मन में कल्पना करके स्थापित करना तथा पूजात्रिक में अंगपूजा और अग्रपूजा को भी भावरूप ही कल्पना करना अभीष्ट है। जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूजाष्टक में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, मैथुनत्याग, मोह (ममत्व) वर्जन, गुरुपूजा, तप, और ज्ञान, इन्हें सत्पुष्प कहे हैं। इसी प्रकार धूप, दीप आदि के विषय में समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूजाविधि में देवगुरु के पास जाते समय ५ अभिगम (Rules of decent approach) (वीतराग-परमात्मा के अनुरूप विशिष्ट मर्यादा) का पालन भी आवश्यक है। वे ५ अभिगम [1]इस प्रकार हैं—(१) पूजा करने जाते समय पूजा करने वाले के पास फूल, फल या वनस्पति आदि सजीव (सचित्त) वस्तुओं का त्याग करना, (२) छत्र, जूते, तलवार, मुकुट या कोई शस्त्र-लाठी आदि अभिमान या [2]वैभव की सूचक या वैभव या मानव (जात्यादि) भेदभावसूचक चीजों का त्याग करना। वस्त्रालंकार आदि उचित

---

१ पंचविहेण अभिगमेण अभिगच्छति, तं जहा—"सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, उत्तरासंग-करणेणं, चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगत्तीकरणेणं। —भगवतीसूत्र

२ श्री ज्ञानविमलसूरि ने भी कहा है—देरासरजीमां प्रवेश करतां जोडा, (जूते) छत्र, चामर, मुकुट अने फूलहार विगेरे बहार मूकवा

वस्तुएँ पहनी हो तो वे साफ व सादी हो, (३) बिना मिले हुए एक अखड उत्तरीय वस्त्र (चादर) को मुख मे सयुक्त करना यानी उसे मुख पर लगाना, ताकि मुख का उच्छिष्ट पूज्य पर न पडे। (४) चाहे जितनी दूर से इष्टदेव या गुरु पर दृष्टि पडते ही तुरन्त दोनो हाथो को अजलिबद्ध (जोड) करके नमस्कार करना और (५) मन को इन्द्रियो के बाह्य विषयो मे हटा कर परमात्म देव या गुरु के प्रति एकाग्र करना।

इन पाचो अभिगमो का पालन द्रव्यपूजा की दृष्टि से तो मन्दिर मे प्रवेश करते समय करना आवश्यक है ही, भावपूजा की दृष्टि मे हृदयमन्दिर मे प्रभुपूजा के लिए प्रवृत्त होते समय भी ये पालनीय हैं। यानी प्रभुपूजा के लिए शुद्ध आसन पर बैठते समय भी पूर्वोक्त पाचो अभिगमो का आचरण करना आवश्यक है।[3]

सबसे मूल बात तो यह है कि परमात्मपूजा के समय मन एकाग्र होना चाहिए। इसी बात को श्रीआनन्दघनजी प्रकट करते हैं—"**एकमना धुरि थइए रे।**" सौ बात की एक बात है कि पूजा के समय सबसे पहले यह अवश्यकरणीय है कि मन को तमाम सासारिक बातो, चिंताओ, व्यापारो व ऊलजलूल विचारो मे हटा कर प्रभु के स्वरूप मे, उनके गुणो के चिन्तन मे जोड देना चाहिए। अगर मन कही और घूम रहा है और शरीर व वचन मे प्रभुपूजा हो रही है, तो उसमे आनन्द नही आएगा। वह एक प्रकार की बेगार होगी। उसमे आनन्द व मस्ती नही आएगी। जैसे-तैसे पूजाविधि पूरी कर लेना तो भाडैत लोगो का काम है, अथवा एक प्रकार का दिखावा है, उसमे दम्भ भी आ सकता है। इस प्रकार की अन्यमनस्क पूजाविधि से यथार्थ लाभ, या शुभकरणी का सम्पादन नही हो सकता। प्रभुभक्ति की मस्ती मे मन इतना तन्मय हो जाय कि बाहर की हलचलो का, यहाँ तक कि अपने शरीर, खानपान, नीद आदि का भान भी न रहे, दुनियादारी की चीजो का मन मे विचार ही न आए, तभी परमात्मपूजा मे एकाग्रता कही जा सकती है। परमात्मा के शुद्ध आत्मभावो,

३ सनातन या वैदिकादि धर्मो मे भी सन्ध्यावन्दन या उपासना के समय कुछ मर्यादाओ का पालन अनिवार्य होता है।

विशिष्ट गुणों आदि के चिन्तन में मग्न न होने से, वाणी से 'तूही तूही' के रूप में एकाग्रता न साधने से एवं शरीर की चर्म चेष्टाओं को न रोकने से परमात्म-पूजा प्रायः नाटकीय रूप ले लेती है। ऐसी मग्नतारहित एकाग्रतारहित केवल द्रव्य-पूजा पूजा के अटपटे विधिविधानों या क्रियाकाण्डों में ही अटक कर रह जाती है। पूजक का ध्यान उस समय प्रायः क्रियाकाण्ड को जैसे-तैसे पूरा करने की ओर ही रह जाता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के सम्बन्ध में अनेक खतरों से सावधान करने और इतनी बारीकी से द्रव्यपूजार्थी का मुख भावपूजा की ओर मोडने के बाद अगली गाथाओं में द्रव्यपूजा की प्रचलित परम्पराओं का उल्लेख करते हैं—

"कुसुम, अक्षत, वरवास-सुगन्धो, धूप, दीप मनसाखी रे।
अंगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख आगम भाखी रे॥
सुविधि० ॥३॥

अर्थ

पुष्प, अक्षत (अखण्डित चावल के दाने), उत्तम सुवास वाले सुगन्धित द्रव्य, धूप, दीपक, यो इन पाच द्रव्यो से मन की साक्षीपूर्वक या मन के भावों के साथ वीतराग-परमात्मा की प्रतिमा की अगस्पर्शी पूजा के पाच प्रकार हैं। ऐसी पंच-प्रकारी पूजा मैंने अपनी परम्परा के आदरणीय गुरुओ के मुखारविद से सुनी है तथा आगम (अर्थागम) मे कही है।

भाष्य

परमात्मा को पचप्रकारी द्रव्यत अंगपूजा

यद्यपि पूर्वोक्त गाथाओ के अनुसार द्रव्यपूजा भी भावो को उद्‌बुद्ध करने के लिए हैं, इसलिए अन्ततोगत्वा वह वर्तमान नैगमनय की दृष्टि से भावपूजा मे ही परिनिष्ठित होती है, फिर भी उस युग मे भक्तिमार्गीय शाखाओ मे प्रच-लित परम्पराओ के अनुसार श्रीआनन्दघनजी ने द्रव्यपूजा का उल्लेख इस गाथा मे किया है।

द्रव्यपूजा की दृष्टि मे वीतराग-प्रतिमा की अगपूजा के पांच प्रकार है—

फूल, [1]अक्षत (अखण्डित चावल) श्रेष्ठ, सुगन्धित पदार्थ, धूप और दीप। परन्तु इस अगपूजा के पाचो प्रकारो के साथ श्रीआनन्दघनजी ने **'मन-साखी रे'**[2] पद जोड़ा है। इसका मतलब यह है कि वीतराग-प्रतिमा मे वीतराग-प्रभु का आरोपण करके उसके आगे फूल चढाते समय मन मे विचार करना चाहिए कि मैं फूल की तरह कोमल और जीवन मे सुगन्ध भर कर प्रभु के चरणों मे अपने को न्योछावर करूँगा। अक्षतो की तरह बुराइयो, वासनाओ एव व्यसनो के सामने क्षत=ध्वस्त=पराजित नही होऊगा। मै उनसे दबूँगा नही। श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थों की तरह जीवन को सच्चारित्र मे सौरभमय बनाऊगा, धूप की तरह अपने आसपास के वातावरण को अपने बुरे विचारो से गदा न बना कर अच्छे विचारो, सम्यग्-दर्शन के प्रचार से सुगन्धित बनाऊगा, और दीपक की तरह अपनी आत्मा को ज्ञानज्योति से आलोकित करूगा। हे भगवन्! मैं अपने इन पाँचो अगो द्वारा आपकी परम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त श्रेष्ठ, आत्मा की पूजा करके अपनी आत्मा को राग-द्वेष, काम-क्रोध ममत्व, आदि बुराइयो या तज्जनित कर्मो से मुक्त, निष्कलक, अखण्डशुद्धतायुक्त, स्वरूपरमणरूप सच्चारित्र से सुगन्धित, सम्यग्दर्शन की निष्ठा से सुवासित और सम्यग्ज्ञान से प्रकाशित कर रहा हूँ।

श्रीआनन्दघनजी इस पचप्रकारी अगपूजा के सम्बन्ध मे स्वमतप्रतिपादन मे तटस्थ रहे है। यही कारण है कि वे अपने अन्तर की बात स्पष्ट कह देते है—**'अगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख, आगम-भाखी रे'** अर्थात् मैंने ऐसी पचप्रकारी अगपूजा अपनी परम्परा के महान् गुरुओ के मुख से और चैत्य-वन्दन भाष्य, प्रवचन सारोद्धार आदि अर्थागमो मे कही हुई सुनी है।

---

१ यद्यपि जिनेन्द्रभगवान् सचित्त पुष्प के त्यागी होते हैं, द्रव्यपूजा के समय कुछ मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को उन्हे सचित्त पुष्प चढाना असगत-सा लगता है, तथा सचित्तपुष्प की हिंसा होने की तर्क भी दी जाती है, परन्तु लाभालाभ की दृष्टि से सोच कर शुभभावो का पलडा भारी होने मे तथा गृहस्थ सचित्त पुष्पो का त्यागी नही होता, इस कारण से थोडे से सचित्त-पुष्पो की हिंसा की क्रिया मे पृथक् मानी जाने से मूर्तिपूजकपरम्परा के कुछ आचार्यों ने द्रव्यपूजा के लिए इसे तथा धूप-दीप आदि को क्षम्य माना है।

२ इसी दृष्टि से सावद्यत्यागी श्रीआनन्दघनजी ने पचप्रकारी अगपूजा के साथ मन के भावो का तार पूर्वोक्त पाचो द्रव्यो मे पूजन के समय जोडना आवश्यक बताया है। —भाष्यकार

पूर्वोक्त अगपूजा का यह वर्णन व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्यदृष्टि से हुआ।

अब निश्चयनय की अपेक्षा से भावपूजा की दृष्टि से जब हम अग-पूजा पर विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि वीतराग-परमात्मा की अगपूजा के लिए निश्चयनय की दृष्टि से ये वस्तुएँ गौण हैं। ये पाँचों चीजें जड़ हैं उनसे चेतना के महाप्रकाश की पूजा करना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा (निश्चय में) नहीं हो सकता। निश्चयनय की दृष्टि से पुष्प अक्षत धूप आदि पचद्रव्य परमात्मपूजा के लिए न भी लिये जाय तो भी मानसिक चिन्तन के द्वारा प्रकारान्तर से भावपुष्प-ज्ञानदीप आदि द्वारा भावपूजा की जा सकती है। अत. शुभभावो के उद्बोधन के लिए इन्हें प्रतीक मान कर अपनाये जाय तो भावपूजा की दृष्टि से अगपूजा सफल हो सकती है। जैसे पुष्प के सम्बन्ध में जैनजगत् के उद्भट् विद्वान् आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक में आठ सत्पुष्प बताए हैं—[1]अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असगता, गुरुभक्ति, तपस्या और ज्ञान। भगवान् के चरणों में ये फूल चढाइए। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की अगपूजा के लिए आत्मा के अखण्ड शुद्धस्वरूपमय शुक्लध्यान में मस्त हो जाइए। सुगन्धित पदार्थों से परमात्मा की पूजा करनी हो तो आत्मा के अनुजीवी गुणो रूपी सुगन्धित पदार्थों से कीजिए।

धर्मध्यान की धूप दे कर अपने और आसपास के जीवन और जगत् के वातावरण को सुवासित कर दीजिए।

सम्यग्ज्ञान में वृद्धि कीजिए, शास्त्रज्ञान, श्रुतज्ञान एव मतिज्ञान बढाइए। आत्मा को ज्ञानदीप से आलोकित कीजिए। यही दीपकपूजा का तात्पर्य है। आत्मा को स्वरूपज्ञान में स्थिर करने, स्वभाव में रमण कराने एव अपने शुद्धस्वरूप में श्रद्धा करने का प्रयत्न कीजिए यही निश्चयदृष्टि से पचप्रकारी अगपूजा है। श्रीआनन्दघनजी ने अगली गाथा में पूर्वोक्त पच प्रकारी अग-पूजा का फल बताया है—

---

१ अहिंसा-सत्यमस्तेय-ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥—हरिभद्रीय अष्टक

एहनुं फल दोय भेद सुणी जे, अनन्तर ने परस्पर रे।
आणापालन, चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमन्दिर रे ॥
सुविधि० ॥४॥

अर्थ

इसके दो फल सुनने मे आते हैं, एक अनन्तर [तात्कालिक सीधा Direct] फल और दूसरा पारस्परिक फल। अनन्तर फल तो वीतराग परमात्मा का सालम्बन ध्यान [साकार उपासना] करके क्रमश परमात्मभाव प्राप्त करने रूप परमात्मा की आज्ञा का पालन और परमात्मा की प्रतिमा को देख कर चित्त की प्रसन्नता=शुद्धात्मभाव मे चित्त की स्थिरता, है। इसका परम्पराफल है—मनुष्यभवरूप सद्‌गति अथवा देवलोक की प्राप्ति और अन्त मे मुक्ति की प्राप्ति ,

भाष्य

परमात्मपूजा का फल

वीतराग-परमात्मा की उपासना किसी लौकिक फलाकाक्षा से करना उचित नहीं। उनकी सेवा, पूजा, भक्ति और उपासना अपनी आत्मा को जगाने, अपनी आत्मा को अपने अनुजीवी गुणो की ओर मोड़ने और वासना, कामना, प्रसिद्धि, आसक्ति, ममता आदि बुराइयो से दूर रखने के लिए, सत्-असत् का विवेक करने और स्वस्वरूप मे निष्ठा बढाने के लिए है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त परमात्मपूजा के दोनो प्रकार के फल बताते हैं—अनन्तरफल और पारम्परिक फल। अनन्तरफल तो तात्कालिक कहलाता है, जो कार्य सम्पन्न होते ही व्यक्ति को मिलता है, जबकि परम्परागत फल दूरगामी होता है, वह कई बार तो इसी एक जन्म मे ही मिल जाता है, कई बार भवान्तर (दूसरे-तीसरे आदि जन्म) मे मिलता है।

यह तो निश्चित है कि[1] किसी भी क्रिया का फल तो अवश्य मिलता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि प्रत्येक क्रिया का फल कर्ता के भावो पर आश्रित है। एक समान क्रिया होने पर भी कर्ता के भाव अशुभ हो तो उसका फल भी अशुभ मिलेगा, और शुभ होंगे तो शुभ मिलेगा। तथा यदि

---

१. 'या या क्रिया सा सा फलवती।

उस क्रिया के करते समय निष्काम और निराकांक्ष भाव है, शुद्ध आत्मस्वरूप को ही प्राप्त करने का लक्ष्य है तो उन उन शुद्धभावों के फलस्वरूप उनके कर्ता को शुद्ध फल=कर्मों से मुक्ति [मोक्षफल] की प्राप्ति होगी। परमात्म-पूजा के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। यद्यपि आध्यात्मिक साधक को फल की इच्छा नहीं होती, तथापि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इस न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन के परमात्मपूजा की प्रवृत्ति भी कोई विचारवान साधक कैसे कर सकता है? इस दृष्टि से परमात्म-पूजा के प्रयोजन और उद्देश्य का कथन फल के रूप में श्रीआनन्दघनजी ने किया है। अतः इस प्रवृत्ति के प्रयोजन और उद्देश्य के रूप में ये दो फल स्पष्ट हैं।

यदि पूजाकर्ता परमात्मपूजा जैसी शुभप्रवृत्ति के साथ धोखेबाजी करता है, दूसरों को धोखा दे कर, ठगने से या कर अपने को भक्त या परमात्मपूजक कहलाने का दिखावा करता है, या दम्भ करता है, तो वह पूजा भी अशुभभावों के कारण अशुभफलदायिनी बनती है। यदि पूजाकर्ता शुभभावों के साथ परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तरफल पुण्य-प्राप्ति के परिणामस्वरूप चित्तप्रसन्नता, और परम्परा से मनुष्यगति या देवगति प्राप्त होती है। परन्तु यदि वह निष्काम एवं निष्कांक्ष भाव से अपनी आत्मशुद्धि, आत्महित या शुद्धात्मभाव या वीतरागभाव में रमणता की दृष्टि से परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तर फल आज्ञापालन और चित्त की शुद्धि [प्रसन्नता] है, तथा परम्परफल कर्मों से मुक्ति [मोक्ष] है।

वास्तव में, शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् की आज्ञा आश्रव में प्रवृत्ति करने की नहीं है। उनकी आज्ञा आश्रव से रहित संवर में या शुद्धस्वरूप में रमण करने—एकांत निर्जरा [आत्मशुद्धि] या आर्हन्त्यपदप्राप्ति की दृष्टि से कोई भी प्रवृत्ति करने की है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति में कहा है—[1] 'आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी पूजा है।' यही बात श्री आचारांगसूत्र में भी कही है—[2] "श्रीतीर्थंकर देव ने मोक्षसाधना के

---

१ 'तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्'—अयोगव्यवच्छेदिका।

२ आणाए मामग धम्मं, एस उत्तर वादे इह माणवाणं वियाहिए।

—आचा. श्रु. १ अ. ६ उ. २

लिए मनुष्यों को कहा है कि 'मेरा धर्म आज्ञापालन में है।' तीर्थंकरदेव ने दो प्रकार के धर्मों को आचरण करने की आज्ञा दी है—आगारधर्म और अनगारधर्म।[1] इस विनयमूलक-धर्म के आचरण से क्रमश ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की प्रकृति का क्षय करके मनुष्य लोकाग्र-प्रतिष्ठित सिद्धि [मुक्ति]-स्थान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह धर्माचरण न इस लोक के किसी स्वार्थ या वासना की दृष्टि से धर्म करे, न परलोक के किसी प्रयोजन से धर्माचरण करे, न कीर्ति, वाहवाही या प्रतिष्ठा की दृष्टि से धर्माचरण करे, किन्तु वीतरागप्राप्ति [शुद्धात्मभाव में स्थिरता] के उद्देश्य से धर्माचरण करे।[2]

निष्कर्ष यह है कि यदि कोई मुमुक्षु साधक वीतरागता-प्राप्ति की दृष्टि से धर्माचरणरूप आज्ञा का पालन करता है, तो वह वीतराग परमात्मा की पूजा ही है और उसका अनन्तर फल वीतराग की आज्ञा का परिपालन और चित्त की प्रसन्नता [निर्मलता] है। जबकि परम्परागत फल [अन्त में] सिद्धि [मुक्ति]-स्थान की प्राप्ति है।

जब साधक परमात्मा [पद्मासनस्थ जिनप्रतिमा] के सान्निध्य में पद्मासन से बैठ कर वीतरागपरमात्मा के ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय गुणों का ध्यान करता है तो उसके हृदयपटल में विकारभावों या वैभाविक गुणों का जाल हट कर परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव का आन्दोलन होता है। धीरे-धीरे परमात्मभाव संस्कारों में जम जाता है। यही परमात्मपूजा का फल है। सचमुच ऐसी परमात्मपूजा आज्ञापालन से शुरू हो कर चित्तप्रसन्नता तक पहुँच कर शुभगति और अन्ततोगत्वा मुक्ति तक पहुँचा देती है। शुद्ध का विवेक करने के लिए ही श्रीआनन्दघनजी ने प्रभुपूजा के द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के अनन्तर और परम्परागत फल बताये हैं, फलाकांक्षा करके पूजा करने की दृष्टि से नहीं।

---

१ इच्चेएणं विणयमूलएण धम्मेण अणुपुव्वेणं, अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणा भवंति।—ज्ञातासूत्र अ ५

२ न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक अ ९ उ ४

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी उन युग में प्रचलित अष्टप्रकारी अग्रपूजा के सम्बन्ध में भी भावों का तार प्रभु से जोड़ने के लिए कहते हैं—

फूल अक्षत वर धूप पईवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्रपूजा मली अडविध, भावे भविक शुभगति वरी रे॥
सुविधि० ॥५॥

अर्थ

फूल, जल, और गंध (केसर आदि सुगंधित पदार्थ) इन तीनों से पूजा करना अंगपूजा है, तथा अक्षत, श्रेष्ठ धूप, दीपक, नैवेद्य व फल इन पांचों से पूजा करना अग्रपूजा करना है, दोनों मिल कर आठ प्रकार की पूजा है। भव्यजीव शुभ हार्दिक भावों से उसकी आराधना करके सुगति प्राप्त करते हैं।

भाष्य

अंगपूजा और अग्रपूजा के साथ भी भावों का तार

पूर्वोक्त पंचप्रकारी पूजा का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने 'जैम मन साखी रे' कह कर मन के साक्षित्व से—मानसिक भावों का तार जोड़ कर परमात्मा की पूजा में ओतप्रोत होने का विधान किया था, उसी प्रकार यह भी अष्टप्रकारी पूजा में भी शुभभावों का तार जोड़ने की बात कही गई है। मतलब यह है कि यहां भी पहले की तरह आठ द्रव्यों से पूजा करते समय मन में उन द्रव्यों को शुद्ध आत्मस्वरूप या आत्मगुण की प्रेरणा के प्रतीक मान कर अंगपूजा और अग्रपूजा करने से शुभगति की प्राप्ति बताई है।

अंगपूजा का मतलब है—ऐसे द्रव्यों से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्म-प्रतिमा से हो तथा अग्रपूजा का मतलब है—उन द्रव्यों से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्मा की प्रतिमा से नहीं होता, सिर्फ प्रभु की प्रतिमा के समक्ष खड़े रह कर उन्हें चढ़ाना होता है। इसलिए कहा है—'अंग-अग्रपूजा मली अडविध' यानी फूल, जल और केसर आदि गन्ध, ये तीन अंगपूजायोग्य द्रव्य हैं, धूप, अक्षत, दीप, फल और नैवेद्य ये पांच अग्रपूजायोग्य द्रव्य हैं। वर्तमान में प्रचलित पूजा में द्रव्यों का क्रम यह है—सर्वप्रथम जल का अभिषेक, उसके बाद केसर व अन्य सुगन्धित द्रव्यों के चढ़ाने का रिवाज है। तत्पश्चात् पुष्प

चढाना, चौथी पूजा दशाग धूप की, पाचवी दीपक की, छठी पूजा चावल की सातवी फलो की और आठवी पक्वान्न आदि, नैवेद्य चढाने की प्रथा है।

परन्तु इन दोनो प्रकार की पूजा के साथ भावहीनता[१] हो तो उसका यथेष्ट और यथोचित फल नही मिलता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे स्पष्ट कह दिया है—'**भावे भविक शुभगति वरी रे**'। भविकजीव इस अष्ट-प्रकारी पूजा को भावो से ओतप्रोत हो कर करेगा, तभी सुगति प्राप्त करेगा।

पूजायोग्य द्रव्यो को भावो के धागे मे कैसे पिरोएँ?

यद्यपि यह अष्टप्रकारी पूजा भी द्रव्यो का आलम्बन ले कर की जाती है, तथापि इन सबको भावो के धागे मे पिरोने का अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा, न तो चित्त मे प्रसन्नता होगी, न पूज्यदेव के साथ आत्मीयता होगी और न ही पूजा का उद्देश्य सिद्ध होगा। ऐसी भाववाहिनी पूजा के अतिरिक्त कोरी द्रव्य-पूजा यान्त्रिक, रूढिग्रस्त एव कभी-कभी प्रदर्शन होनी सभव है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य के साथ-साथ हृदय के भावो का तार जुडना चाहिये।

जैसे पूर्वोक्त अष्टप्रकारी पूजा मे क्रमश जल से प्रभुप्रतिमा का अभिषेक करने या जल चढाने का रिवाज है। वैष्णवपूजाविधि मे पाद्य, अर्घ्य, आच-मन, और स्नान (अभिषेक) के लिए ४ चम्मच इसलिए चढाए जाते हैं कि हम अपना श्रम, मनोयोग, प्रभाव एव धन इन चारो उपलब्धियो का यथासम्भव अधिकाधिक भाग वीतराग-परमात्मीय प्रयोजन के लिए समर्पित करें। चूंकि जल शीतलता, शान्ति, नम्रता, विनय एव सज्जनता का प्रतीक है, । अत सत्प्रयोजनो के लिए मैं समय लगाऊँगा, श्रमबिन्दुओ का समर्पण करूँगा।

यह तो हुई व्यवहारनय की दृष्टि से बात। निश्चयनय की दृष्टि से जल चढाने के समय यह भाव आने चाहिए कि प्रभो! मैं अब तक यह नही अनु-भव कर पाया कि मैं शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन हूं, ये इन्द्रियो के मधुर विषय विषसम हैं, यह लावण्यमयी काचनकाया भी क्षणभगुर है, यह सब कुछ जड की क्रीडा है, चैतन्य का इससे क्या वास्ता? इस बात को और स्वय के आत्मवैभव को भूल कर मैं अहत्व-ममत्व मे फस गया था। परन्तु अब मै आपके सान्निध्य मे सम्यक्-जल ले कर उस मिथ्यामल को धोने आया हूं। इसके पश्चात् चन्दन,

---

१. 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या.'

केसर या अन्य सुगन्धित द्रव्य चढ़ाए जाते हैं। चन्दन की यह विशेषता है कि उस वृक्ष के कण-कण में सुगन्ध होती है, वह समीपवर्ती वृक्षों या झाड़-झंखाड़ों को भी सुगन्धित करता है। अपनी शीतलता से साप, बिच्छू जैसे विषदंश वाले प्राणियों तक को शान्ति प्रदान करता है। उसकी छाया में बैठने वाले भी सुगन्धभरी शीतलता प्राप्त करते हैं। उसकी लकड़ी काट कर बेचने या पत्थर पर घिसने वाले अपकारी भी बदले में प्रतिशोध नहीं, उपकार ही पाते हैं। नष्ट होते-होते भी चन्दन अपनी लकड़ी से भजन या जप करने की माला, हवन-सामग्री का चूरा वगैरह दे जाता है। इसी प्रकार पूजाकर्ता की यह भावना रहे कि मेरी शक्ति या सामर्थ्य का उपयोग भी जीवन के अन्त तक इसी प्रकार हो। निश्चयनयदृष्टि से चन्दन चढ़ाते समय यह भावना करे कि प्रभो! जड़ और चेतन की सभी परिणतियाँ अपने-अपने में होती हैं। आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बहुत से व्यक्ति चैतन्य के लिए जड़ को अनुकूल या प्रतिकूल बताते हैं, पर यह सब मन की झूठी कल्पना है। मैंने चन्दन के गुणों के विपरीत प्रतिकूल संयोगों में भी मन को क्रोधी, चिन्तित, व्यग्र या आर्तध्यानी बना कर जन्ममरण के चक्र को बढ़ाया है। अतः उक्त विकारों से संतप्त हृदय को चन्दन के समान शीतल बनाने के लिए आपके पास आया हूँ। चन्दन के बदले कई जगह केसर या कुंकुम वगैरह चढ़ाया जाता है। उस समय भी ऐसी भावना की जा सकती है।

इसी प्रकार अक्षत उपार्जित अन्न, धन, वैभव, बल आदि का प्रतीक है। उपार्जन को दूसरों में संविभाग न करके अपने आप ही खाते रहने वाले को 'चोर' कहा गया है। अतः उपार्जन को अपने एवं अपने परिवार तक के उपयोग में सीमित न रख कर उसमें देश, धर्म, समाज, संस्कृति आदि का भी भाग स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार अपनी कमाई का एक बड़ा अंश नियमित रूप से निकाला जाय, यह व्यवहारनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण की प्रेरणा है।

निश्चयनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण के साथ यह भावना हो कि प्रभो! मेरी आत्मा अक्षत है, उज्ज्वल है, धवल है; परद्रव्य के साथ किञ्चित् भी नहीं लगी हुई है, फिर भी मैं अनुकूल मनोज्ञ पदार्थों पर ममत्व और अभिमान

निरन्तर करता रहता हूँ। मेरा चैतन्य जड़ के सामने झुक जाता है, दब जाता है, वह अखण्डित नहीं रह पाता, अत अपने शाश्वत और अविनाशी (अक्षत) आत्मनिधि को पाने के लिए मैं आप (परमात्मा) के चरण-शरण में आया हूँ।

इसके पश्चात् पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करनी है कि जैसे पुष्प कोमल होता है, खिलता-खिलाता है, हलका-फुलका होता है, नम्रतापूर्वक समर्पित हो जाता है, वैसे ही हम भी कोमल (निरभिमान, मदरहित) हो कर खिले-खिलाएँ (आत्मविकास करें-कराएँ), बाह्य चिन्ताओं के बोझ से रहित हो कर अपनी जिन्दगी हलकी-फुलकी बिताएँ, विश्वोद्यान को शोभायमान बनाने के लिए अपना जीवन नम्रतापूर्वक कपटरहित हो कर समर्पित कर दें। फूल की तरह गर्दन नुचवा कर तथा मर्मभेदी सुई का-सा छेदन समभावपूर्वक स्वीकार करके परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जाय।

निश्चयदृष्टि से पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करे कि हमारी आत्मा कुटिलता (माया, मिथ्यादर्शन) से रहित हो कर पुष्प की तरह सुकोमल हो, स्वस्वरूप की सुवास में रमण करे। स्वस्वरूप का चिन्तन हो, वैसा ही सम्भाषण हो, वृत्ति में भेद न हो। निजगुणों में स्थिरता हो।

दीपक के समय भावोद्बोधन इस प्रकार करे कि दीपक स्नेह से —चिकनाई से भरापूरा है, वह स्वय जल कर दूसरो को प्रकाश देता है। इन्ही विशेषताओं के कारण उसे पूजा में स्थान मिला है। इसी प्रकार हम भी अपने अन्त करण में असीम स्नेह, सद्भाव भर कर परमार्थ के लिए बढ-चढ कर त्याग, बलिदान करे, कष्ट सहे, स्वय ज्ञान से जाज्वल्यमान हो कर दूसरो को ज्ञान का प्रकाश दे। जिनकी दृष्टि उत्कृष्ट आदर्शवादी, ऊर्ध्वगामी है, वे ही जीवन्त दीपज्योति कहे जा सकते हैं। हम भी परमात्मा के आदर्शपथ पर चल कर उनके कृपाभाजन बने। धूपबत्ती में अग्निस्थापना भी प्रकारान्तर से दीपक की आवश्यकता-पूर्ति करती है, उसकी भी यही प्रेरणा है।

निश्चयदृष्टि से दीपक-समर्पण के समय यह चिन्तन हो कि प्रभो! अब तक मैंने जग के जड-दीपक को ही उजाला समझा था, किन्तु वह तो आँधी के एक ही झोंके से घोर अधकार बन जाता है। अत प्रभो! इस नश्वरदीप

को समर्पित करके, आपके केवल-ज्ञानरूपी दीपक की लौ से अपने आत्मदीप को जलाने के लिए आया हूँ।

धूप देते समय अन्तर में यह भावना हो कि प्रभो ! मैं धूप (या अगरबत्ती) की तरह स्वयं जल कर दूसरों को सौरभ दूं। आपके चरणों में अपनी सुकृतियों की यश सौरभ चढा दूं। धूप की तरह निरभिमानभाव से परोपकार में अपने आपको लगा दूं। निश्चयदृष्टि से धूप देते समय विचार करे कि मेरी यह मिथ्या भ्रान्ति रही कि जडकर्म मुझे घुमाता है, मैं जड की परिणति के अनुरूप हो कर अपने को रागी-द्वेषी बना लेता हूँ। इस प्रकार मैं सदियों से भाव-कर्म या भावमरण करता आया। लेकिन अब आपके चरणों में आ कर इस धूप से यह सीख रहा हूँ कि अपनी आत्मा की स्वस्वरूपाचरणरूपी गन्ध को अपनाऊँ एवं परगन्ध (वैभाविक परिणति) को जला दूं।'

फल-समर्पण के समय विचार करे कि प्रभो ! मैं अपने प्रत्येक सत्कार्य का फल आपके चरणो मे न्योछावर कर रहा हूँ। मेरा अपना कुछ नही है, सब आपका ही है। मैं स्वयं-कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो कर फल की तरह समर्पित हो रहा हूँ। अथवा मुझे जो भी शुभ फल विश्व-उद्यान से मिले है, उन्हे मैं विश्व को बाँट दूं।

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो ! जिसे मैं अपना कहता हूँ, वह मुझे छोड कर चल देता है। मैं इससे व्यथित और व्याकुल हो जाता हूँ, जिसका फल व्याकुलता है। अत प्रभो ! मैं शान्त, निराकुल चेतन हूँ, मुक्ति मेरी सहचरी है। यह जो मोह-ममत्व है, वह फल की तरह पक कर आत्म-वृक्ष से टूट पडे और आपके चरणो मे समर्पित हो जाय। इसी मे मेरी सार्थकता है।

नैवेद्य (मिष्टान्न आदि पदार्थ) चढाते समय सोचे कि प्रभो ! मैं ससार की समस्त वस्तुओ को अपनी मान कर उनमें आसक्त रहता हूँ, पर अब पदार्थ के प्रति वह ममता और अहता आप के चरणो मे नैवेद्य के रूप मे समर्पित कर रहा हूँ।—

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो ! अब तक अगणित जडद्रव्यो (परभावो) से मेरी भूख नही मिटी, तृष्णा की खाई खाली की खाली रही, युग-युग से मै इच्छासागर मे गोते खाता आया, आत्मगुणो का अनुपम रस छोड कर पचेन्द्रिय-

विषयो का रस पीता रहा अत आपके चरणो मे आत्मकथा निवेदन करके इन मत्र परद्रव्यो का नैवेद्य चढाता हूँ।

इस प्रकार पूर्वोक्त अष्टद्रव्यो के साथ शुभ और शुद्ध भावो का पुट दे कर परमात्मा के गुणो मे तन्मय हो कर भक्तिपूर्वक परमात्मपूजा करके भव्यजीव शुभगति प्राप्त करते हैं। परम्परा मे वे मुक्ति भी प्राप्त कर सकते है।

उपर्युक्त भावनाओ मे अनुप्राणित विधि को छोड कर जो प्रभुपूजा के बहाने सिर्फ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श (गद्य-गीत के शब्दो, नर्तक-नर्तकी के रूपो, मिठाइयो, फलो या अन्य प्रसाद के रूप मे प्राप्त खाद्य-पेयवस्तु के रसो, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थो की सुगन्धो एव कोमल वस्तुओ के सस्पर्शो, मे आसक्त और मुग्ध हो कर इन्द्रियो और मन को उच्छृखल बना कर भोगो मे तन्मय होते हैं, विलासिता और रागरग मे मशगूल हो कर महफिल का मजा लूटने आते है, वे प्रभुपूजा मे कोसो दूर है। वे ऐसी प्रभुपूजा मे आत्मशुद्धि, चित्तप्रसन्नता और आत्मगुणो मे लीनता के बदले सासारिक विषयवासनाओ मे उलझ कर कभी-कभी आत्मपतन एव आत्मवचना कर लेते है। क्योकि [1] शब्दादि-विषय कामगुण है, और ससार के मूल कारण है। जन्ममरण के चक्र को गति देने वाले है। इसी कारण उस समय के लोकप्रवाह को उलटी दिशा मे बहते देख कर आनन्दघनजी को कहना पडा—**भावे भविक शुभगति वरी रे,**

पूजा के और भी अनेक प्रकार उस युग मे प्रचलित थे, जिनका जिक्र श्री-आनन्दघनजी छठी और सातवी गाथाओ मे करते है—

सत्तरभेद, एकवीस प्रकारे, अष्टोत्तरशत भेदे रे।
भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहगदुर्गतिछेदे रे॥ सुविधि० ६॥

अर्थ

परमात्मा की द्रव्यपूजा १७ प्रकार की है, २१ प्रकार की है और १०८ प्रकार की है। और भावपूजा अनेक प्रकार की निर्धारित (निर्दिष्ट) है। जो दुर्भाग्य और दुर्गति को मिटाती है।

---

१. "जे गुणे से मूलठाणेजे, मूलठाणे से गुणे"—आचाराग अ २ उ १

भाष्य

परमात्मापूजा के विविध प्रकार

परमात्मापूजा से अपनी आत्मा को जगाने के लिए और भी अनेकों प्रकार है। श्रीआनन्दघनजी ने इस युग में प्रचलित द्रव्यपूजा या साकारपूजा के १७, २१ और १०८ इन तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। परन्तु यह द्रव्यपूजा भी तभी सही अर्थ में सार्थक हो सकती है, जब पूर्वोक्त विधि से इन सबके साथ तदनुकूल शुभ या शुद्ध भावों का तार जुड़ा हो। अन्यथा, वह पूजा केवल स्थूलपूजा या यान्त्रिक क्रिया बन कर रह जायगी। सत्तरह प्रकार की पूजा इस परम्परा के आचार्यों ने इस प्रकार बताई है—१—स्नान (अभिषेक या स्नान), २-चंदनादि का विलेपन, ३—वस्त्रयुगल-परिधान,[1] ४—वासपूजा (वासक्षेप या सुगन्धित वस्तु, ५—पुष्पपूजा (चुने फूल चढ़ाना) ६— पुष्पमाला, ७—पुष्पों की आंगी-रचना, ८—चूर्णपूजा, [बरास का चूर्ण], ९—ध्वजपूजा, १०—आभूषणपूजा, ११—पुष्पगृहपूजा, १२—कुसुममेघ [पुष्पवृष्टि करना), १३—अष्टमंगलपूजा (तश्तरी या हाथ में अष्ट मांगलिक को थाम कर खड़े रहना), १४—धूप-दीप-पूजा, १५—गीतपूजा, (तालनयसहित प्रभु-गुणगान करना) १६ नृत्यपूजा (प्रभु की प्रतिमा के आगे नृत्य करना) १७—सर्ववाद्यपूजा।

इसी प्रकार २१ प्रकारी द्रव्यपूजा भी इस युग में प्रचलित थी। वह इस प्रकार है—१—जलपूजा, २—वस्त्रपूजा, ३—चन्दनपूजा, ४—पुष्पपूजा, ५—वासपूजा, ६—चूर्णाचूर्णपूजा (बरास के चूर्ण में चन्दन डालना), ७—पुष्पमाला, ८—अष्टमांगलिक-पूजा, ९—दीपकपूजा, १०—धूपपूजा, ११—अक्षतपूजा, १२—ध्वजपूजा, १३—चामरपूजा, १४—छत्रपूजा, १५—मुकुट-पूजा, १६—दर्पणपूजा, १७—नैवेद्यपूजा, १८—फूलपूजा, १९—गीतपूजा, २०—नाटकपूजा, २१—वाद्यपूजा।

इसी प्रकार प्रभुप्रतिमा के आगे सुन्दर फल व नैवेद्य चढ़ा कर १०८ प्रकार से द्रव्यपूजा करने की परम्परा भी इस परम्परा में प्रचलित है। इसी तरह अष्टोत्तरी, चौंसठ प्रकारी या ९९ प्रकारी द्रव्यपूजा भी कहीं-कहीं प्रचलित है।

---

१ वस्त्रयुगल के बदले कहीं-कहीं 'चक्षुयुगल' मिलता है।

परन्तु इन सबके साथ पूर्वोक्त प्रकार से तदनुकूल भावनाओ को जोडना आवश्यक है। क्योंकि इन सब द्रव्यपूजाओ का उपयोग इतना ही है कि ये सब भावपूजा का निमित्त बने। अकेली द्रव्यपूजा दुर्भाग्य और दुर्गति का नाश करने वाली नही है। इसी कारण आरम्भ-परिग्रह के त्यागी, अनगार (मुनि) या साधुसाध्विगण द्रव्यपूजा नही करते, वे सिर्फ भावपूजा ही करते है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भावपूजा पर जोर देते हुए कहा है—**भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहग्गदुर्गतिछेदे रे।**

भावपूजा क्या, कैसे और किसलिए?

वास्तव मे द्रव्यपूजा तो भावपूजा तक पहुँचाने हेतु गृहस्थसाधको (देशचारित्री) के लिए एक साधन हो सकती है। जैसे—नन्हे शिशु को खिलौने दे कर या चित्र बता कर उनके जरिये विविध पदार्थो का बोध कराया जाता है, परन्तु आगे की कक्षाओ मे पहुँचने पर उसे चित्रो या खिलौनो की जरूरत नही पडती, वह उन्हे छोड देता है और अपनी भावना और चिन्तनशक्ति के जरिये विविध अनुभव प्राप्त कर लेता है। सभव है, इसी प्रकार आचार्यों ने स्थूलबुद्धि प्राथमिक भूमिका के लोगो के लिए मूर्ति या किसी प्रतीक मे परमात्मा की छवि की कल्पना करके या उसमे परमात्मा का आरोपण करके विविध द्रव्यो से स्थूल पूजा करने का विधान किया हो, परन्तु उनका मूल लक्ष्य और मुख्य प्रयोजन तो भावपूजा तक प्रत्येक जिज्ञासु को पहुँचाने का रहा है। श्रीआनन्दघनजी ने भी इसलिए बारबार भावपूजा की ओर इगित किया है।

भावपूजा मे किसी बाह्य वस्तु का आलम्बन नही लिया जाता। उसमे अपने हृदय के तारो को भगवान के गुणो से जोडा जाता है। जहाँ किसी बाह्य द्रव्य का आश्रय न ले कर सिर्फ अपने मनोभावो द्वारा ही पूज्य की पूजा-भक्ति की जाती है, उनके चरणो मे त्याग, बलिदान एव सयम का नैवेद्य चढाया जाता है, उनके समक्ष प्रार्थना के रूप मे अपनी आलोचना, गर्हा, आत्म-निवेदन, आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) व्यक्त की जाती है, स्तोत्रो, भजनो, स्तवनो और स्तुतियो के माध्यम से या ध्यान, चिन्तन, मनन, आदि से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, वहाँ भावपूजा है।

इसलिए भावपूजा का कोई एक ही प्रकार न बता कर बहुविध प्रकार बताए हैं। चूंकि वीतरागपरमात्मा मे अनन्तगुण है, उन समस्त गुणो की

प्राप्ति के लिए विविध रूप से अध्यवसाय करना होता है। इसलिए भावपूजा भी असंख्य प्रकार की है। भव्यात्मा जब भी किसी गुण की प्राप्ति के लिए पूज्यचरणों में किसी भी प्रकार से निवेदन करता है, और तदनुसार सक्रिय होने का प्रयत्न करता है, तब उस भावपूजा से उसके दौर्भाग्य, दुःख और दुर्गति नष्ट हो जाते हैं।

जैसे कि एक जैनाचार्य ने कहा है—

[1]वीतराग-परमात्मा की पूजा करने से उपसर्गों का नाश हो जाता है, विघ्नरूपी बेलें कट जाती हैं, मन प्रसन्नता से भर जाता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य किसी चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट वातावरण में घिरा होता है, तब यदि किसी समर्थ व्यक्ति का उसे आश्वासन मिल जाता है, या वह किसी समर्थ व्यक्ति की सेवा में सलग्न हो जाता है अथवा किसी उच्चगुणी पर विश्वास रख कर उसकी आराधना करने में लग जाता है अथवा किसी विशिष्ट गुणी से गुणों को प्राप्त करने की उसे प्रेरणा मिल जाती है और उस पर विश्वास रख कर उसके आदेश-निर्देश में वह साधना करता है, तो स्वाभाविक ही उसकी वह चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट परिस्थिति समाप्त हो जाती है, उसको व्यथित करने वाले ऊलजलूल विचार समाप्त हो जाते हैं और उसका मन आश्वस्त, विश्वस्त और समाहित एवं समाधिस्थ हो जाता है। साथ ही परमविश्वस्तपुरुषों पर विश्वास रख कर अपने पापकर्मों का त्याग करने और और अहिंसा-सत्यादि धर्मों का आचरण करने से उसके दुर्गति के द्वार बंद हो जाते हैं, सद्गति और मुक्ति के द्वार खुल जाते है। यही बात परमआराध्य वीतरागपरमात्मा की सेवा, भक्ति, उपासना और भावपूजा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। इसी दृष्टि से परमात्मा की भावपूजा से दुर्भाग्य और दुर्गति के नष्ट हो जाने की बात कही गई है। क्योंकि कपटरहित हो कर परमात्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण करने से ही परमात्मा की अखण्ड भावपूजा होती है, जिसका तात्कालिक फल चित्त की प्रसन्नता है, यह प्रथम तीर्थंकर की स्तुति

---

१. उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥

मे कही गई है। अत भावपूजा मे चित्त के समस्त विकार, दुश्चिन्ता, दुर्ध्यान, आदि काफूर हो कर उसमे प्रसन्नता, स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता पैदा हो जाती है, जिससे दुर्भाग्य दूर हो कर सद्भाग्य मे परिणत हो जाता है, दु स्थिति, दुश्चिन्ता और दुर्गति मिट जाती है और सुस्थिति, निश्चिन्तता और सुगति प्राप्त हो जाती है, परम्परा से कर्मक्षय होने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त तथ्यो के प्रकाश मे सतरह प्रकार की भावपूजा का अर्थ है—१७ प्रकार का असयम छोड कर आत्मा के शुद्ध सयमगुणो को अपनाना। इक्कीस प्रकार की भावपूजा का अर्थ है—२१ प्रकार के सबलदोषो का त्याग करके आत्मा के अनुजीवी गुणो की आराधना करना। इसी तरह १०८ प्रकारी भावपूजा भी पचपरमेष्ठी के १०८ गुणो की आराधना करने से होती है। अथवा १७ प्रकार का सयम-पालन करने का पुरुषार्थ करना तथा बारह प्रकार के तप और नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यसमाधि मिल कर २१ गुणो की आराधना करने का पुरुषार्थ करना भी भावपूजा है।

पूर्वोक्त गाथाओ मे अगपूजा और अग्रपूजा, यो दो प्रकार की द्रव्यपूजा और अनेक प्रकार की भावपूजा, इस तरह पूजा के तीन प्रकारो का वर्णन किया गया, अब अगली गाथा मे चौथी प्रतिपत्तिपूजा का वर्णन करते हैं—

तुरियभेद पडिवत्तिपूजा, उपशम-क्षीण-सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तरज्झयणे, भाखी केवलभोगी रे।

सुविधि ॥ ७ ॥

अर्थ

परमात्मपूजा का चौथा प्रकार प्रतिपत्तिपूजा है। जो उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगीकेवली नामक ११वें १२वें और १३वें गुणस्थान मे होती है। यो चतुर्थ प्रकार की पूजा श्रीकेवलज्ञानी ने उत्तराध्ययनसूत्र मे बताई है।

भाष्य

परमात्मपूजा का चौथा प्रकार: प्रतिपत्तिपूजा

परमात्मपूजा के तीन प्रकारो का वर्णन पहले की गाथाओ मे कर चुके

है। यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने चौथे प्रकार की पूजा—प्रतिपत्तिपूजा बताई है।

यहाँ 'चउहा पूजा' का अर्थ चौथी (चतुर्थी) पूजा है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति मे प्रतिपत्ति का उल्लेख है। यहाँ अनाशातनाविनय को प्रतिपत्ति कहा गया है।

प्रतिपत्तिपूजा की व्याख्या इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति मे विनय के प्रसग मे प्रतिपत्ति का अर्थ अनाशातनाविनय बताया है।

ललितविस्तरा वृत्ति आदि मे प्रतिपत्ति का अर्थ **'प्रतिपत्ति अविकलाऽऽप्तोपदेशपालना'** किया है। यानि आप्तपुरुषो के उपदेश का अखण्ड (अविकल) रूप से पालन करना प्रतिपत्ति है। यह अर्थ व्यवहारनय की दृष्टि से सगत है। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से प्रतिपत्ति का अर्थ होता है—परमात्मा को आत्मभाव से अगीकार करना अथवा आत्मा के गुणो का समग्ररूप से अनुभव करना, परमात्मा से स्वस्वरूप का सवेदन यथार्थरूप से करना प्रतिपत्तिपूजा है।

प्रतिपत्तिपूजा के अधिकारी

प्रतिपत्तिपूजा भी भावपूजा का विशिष्ट अग है, किन्तु उसके अधिकारी ११ वे गुणस्थान मे स्थित उपशान्तमोही होते है, जिनके तमाम कषायभाव उपशान्त हो जाते है, अथवा १२ वे गुणस्थान मे स्थित क्षीणमोही है, जिनके तमाम कषायभाव क्षीण हो चुके होते है, अथवा तेरहवे गुणस्थान मे स्थित सयोगी-केवली भगवान् है, प्रथम दो कोटि के महान् आत्मा आत्मगुणो का यथार्थरूप से अनुभव कर लेते है, अथवा यथाख्यात-चारित्री होने के कारण वीतरागपरमात्मा के उपदेश का वे अविकलरूप से पालन करते है, अथवा वे पूर्णता के पथ पर होने से वीतरागपरमात्मा की जरा भी आशातना या आज्ञा की अवहेलना नही करते। अन्तिम सयोगी-केवली तो सदेहमुक्त वीत-राग हो जाते है, और वे आत्मा-परमात्मा के गुणो का साक्षात् अनुभव करते है और यथाख्यातचारित्री होने से वे अविकलरूप से आज्ञापालन करते है।

इस प्रकार परमात्मपूजा के चार प्रकार श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे बताए हैं—अगपूजा, अग्रपूजा, भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा। किन्तु

जैसा कि पूर्वोक्त गाथाओ के वर्णन मे बताया गया है, दो प्रकार की द्रव्यपूजा प्राथमिक भूमिका वालो के लिए है और बाद की दो प्रकार की भावपूजा उत्तरोत्तर उच्चभूमिका वालो के लिए है। इसी बात को ललितविस्तरावृत्ति मे स्पष्टरूप से बताया गया है कि पुष्पपूजा (अगपूजा), आमीषपूजा (अग्रपूजा) स्तुतिपूजा (वन्दना, कायोत्सर्ग, स्तुति, स्तव, नाम-स्मरण, जप, गुणकीर्तन, प्रार्थना एव भावना आदि के जरिये भावपूजा) और प्रतिपत्तिपूजा इन चारो पूजाओ मे क्रमश उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) की पूजा अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशविरति मे उक्त चारो पूजाएँ होती हैं, सराग-सर्वविरति आदि मे स्तुति और प्रतिपत्तिरूप दो पूजाएँ होती है, उपशान्त मोहादि-पूजाकर्ता मे प्रतिपत्तिपूजा ही होती है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्यपूजा से भावपूजा श्रेष्ठ है, और वही उपादेय है। परमात्मपूजा का मुख्य प्रयोजन आत्मस्वरूप मे रमण करना और आत्मशुद्धि करके आत्मा के अनुजीवी गुणो को विकसित करना है, जो भावपूजा के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

इसी कारण श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के उद्देश्य एव फल के सम्बन्ध मे सकेत करते हुए अन्तिम गाथा मे कहते हैं—

> **इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणी रे।**
> **भविकजीव करशे ते लेशे, 'आनन्दघन'-पद-धरणी रे॥**
> **सुविधि०॥८॥**

अर्थ

इस प्रकार परमात्मपूजा के बहुत-से भेदो को सुन-समझ कर जो भव्य-जीव लौकिक और लोकोत्तर सुखदायक शुभकरणी = उत्तम अनुष्ठान (जिना-ज्ञाबाह्य क्रियाओ का त्याग करके जिनाज्ञायुक्त शुभक्रिया) करेगा, यानी उसे क्रियान्वित करेगा, वह आनन्द के समूहरूप परमपद (मोक्ष) भूमि [मोक्षभूमि सिद्धशिला] प्राप्त करेगा . अथवा मोक्षपद की भूमिका प्राप्त करेगा।

---

१. पुष्पाऽमीष-स्तुति-प्रतिपत्तिपूजाना यथोत्तर प्राधान्यम्।
देवविरतौ चतुर्विधा।
सराग-सर्वविरत्यादौ स्तोत्र-प्रतिपत्तिरूपे द्वे।
उपशान्तमोहाऽऽदौ पूजाकारके प्रतिपत्तिः॥
—ललितविस्तरादि से

भाष्य

परमात्मपूजा का रहस्य जान कर उसे क्रियान्वित करना है

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मपूजा के बहुत से प्रकार और उसके रहस्य के ज्ञान पर बहुत जोर दिया है। साथ ही उन लोगो को चेतावनी भी दी है कि केवल पूजा के रहस्य को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसमे लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के सुख को देने वाली जिनाज्ञायुक्त शुभक्रियाएँ है, उन्हे अवश्य करना है। जिन क्रियाओ से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे रमण कर सके, जो क्रियाएँ आत्मा को स्वगुणो की ओर ले जाने वाली है, आत्मा का विकास करने वाली है, वे ही क्रियाएँ लौकिक और लोकोत्तर सुख देने वाली है। जिनसे आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारो की ओर जाती हो, जिनसे अपना और दूसरो का अहित होता हो, जो क्रियाएँ मनुष्यजीवन मे वैर-विरोध-वर्द्धक, हिंसा, असत्य आदि बढाने वाली हो, वे लोक-परलोक दोनो जगह दु खदायिनी है, लोकोत्तर सुख तो उनसे मिलना ही कैसे ? परन्तु जिस करणी से दूसरो को क्षणिक सुख मिलता हो, मगर अपने आप को जन्ममरण के चक्र मे पड कर दु ख पाना पडता हो, अथवा अपने को क्षणिक सुख प्राप्त होते हुए भी दूसरो को दु ख मे पडना पडता हो, (जैसे-पूजा के लिए पशुबलि या शराब आदि चढाना) वह करणी उभयसुखदायक नही है, इसलिए उसे शुभकरणी नही कहा जा सकता। अथवा जिस क्रिया से इहलोक मे तो नाशवान ऐन्द्रियक सुखो की प्राप्ति हो जाय, परन्तु परलोक का अथवा लोकोत्तर सुख का मार्ग उससे अवरुद्ध हो जाय, उसे भी सर्वसुखदायक शुभकरणी नही कहा जा सकता। जिस करणी से त्रैकालिक और त्रैलोकिक सुख की प्राप्ति हो, उसे हम सर्वसुखदायिनी शुभकरणी कह सकते है। ऐसी शुभकरणी से भव्य भक्तजन अवश्य ही सच्चिदानन्दमय पद की भूमिका या भूमि (स्थान) प्राप्त कर सकेगा।

इस गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि प्रभुपूजा के ज्ञाता को केवल जान कर ही नही रह जाना चाहिए। अगर वह केवल जान-समझ कर भी चुपचाप बैठ जाता है, अवश्यकरणीय शुभक्रिया मे प्रवृत्त नही होता, तो वह इस हाथ मे आई हुई बाजी या अमूल्य अवसर को खो देगा, इस जिंदगी से

प्राप्तव्य अलभ्यलाभ को गँवा कर बाद में हाथ मल-मल कर पछताएगा। अथवा परमात्मपूजा का यह अवसर बार-बार नहीं मिलेगा। अगर इसे चूक गए तो परमानन्दपद-प्राप्ति के बदले दु:खद्वन्द्ववर्द्धक जन्ममरण के चक्र में भटकना पड़ेगा। बार-बार जन्ममरण के दु:ख से बचना हो तो भावपूजा का आलम्बन लेना ही उत्तम है।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा के विविध प्रकार बता कर अन्त में भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा पर जोर दिया है, साथ ही पूजा का रहस्य बता कर इसे शुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य से करके आनन्दघनमय पद प्राप्त करने का संकेत किया है। इस प्रकार की समझ-पूर्वक की गई परमात्मपूजा से अन्त में प्राप्तव्य जो लोकोत्तर लाभ—सच्चिदानन्दमय परमात्मपद अथवा उक्त पद का जो स्थान है, वह मिलता है।

अब आगामी स्तुति में श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा में पहले के परस्परविरोधी गुणों से युक्त परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का रहस्योद्घाटन करते हैं।

१० : श्रीशीतलनाथ-जिन-स्तुति—

परस्परविरोधी गुणों से युक्त परमात्मा

(तर्ज—गुणह विशाला मंगलिक माला, राग धन्याश्री गौडी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥
शीतल० ॥१॥

अर्थ

दसवें तीर्थंकर श्रीशीतलनाथ जिनेन्द्र परमात्मा की विविध सुन्दरभंगियों पर चिंतन करने पर वे मन को मुग्ध कर देती हैं। वीतराग-परमात्मा में एक ओर अहिंसकभाव होने के कारण करुणा और कोमलता [नम्रता] है, तो दूसरी ओर इनसे विरोधी तीक्ष्णता [क्रूरता] और उदासीनता [उपेक्षाभाव] से वे सुशोभित हैं।

भाष्य

परमात्मा के जीवन के विविध पहलू

पूर्वस्तुति में परमात्मपूजा के सम्बन्ध में विस्तृतरूप से कहा गया, लेकिन सवाल यह होता है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? उनमें कई बार परस्परविरोधी गुणों का निवास भी होता है, जिन्हें देख कर पूजक (भक्त), चक्कर में पड जाता है कि किस गुण वाले प्रभु को आदर्श व पूज्य माना जाय?

जैनधर्म परमात्मा के बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप को ही पूज्यता या उसकी पूजा का आधार मानता है। अन्य सम्प्रदायों में जहाँ आत्मिक गुणों के वैभव की ओर ध्यान न दे कर शारीरिक बाह्यवैभव, आभूषण एव पोशाक आदि बाह्य रूपों से ही, स्थूलप्रभुता से ही अपने माने हुए तथाकथित प्रभुओं या भगवानों को पूज्य मान कर उनकी पूजा-भक्ति पर जोर दिया जाता है, वहाँ जैनधर्म बाह्यरूपों, वैभव, पोशाक, आभूषणादि ठाठ-बाठ व बाह्य चमत्कारों पर से ही किसी की पूज्यता का मापदड नही मानता, न उसे पूज्य

मानता है, और न उसकी पूजा का विधान करता है, उसे अमुक नामो से कोई पक्षपात नही है, किन्तु वह आन्तरिक गुणो आत्मिक वैभव, रागद्वेष-रहितता आदि अन्तरग रूप को ही महत्त्व देता है। इसी कारण आप्त मीमासा मे जैनाचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है—[1] प्रभो! आपके पास देव आते हैं, आप आकाश मे उडते है, आपके पास छत्र, चामर आदि विभूतियाँ हैं, इनसे आप हमारे लिए महान् (विश्वपूजनीय) नही है, क्योकि ये सब बाह्य वैभव या चमत्कार आदि तो एक जादूगर मे भी पाये जा सकते हैं।"

जैनधर्म तो गुणो का पूजारी है। 'जिसमे वीतरागता के गुण हो, यानी ससार के बीज को अकुरित करने वाले राग-द्वेषादि दोष जिसके नष्ट हो गए हो, फिर वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो, बुद्ध हो, या जिन हो, उसे नमस्कार है।'

इस दृष्टि से परमात्मा की परीक्षा बाह्य रूप, वैभव, विलास व ठाठबाठ या चमत्कार से न करके वीतरागता आदि अन्तरग गुणो की परिपूर्णता मे करनी चाहिए। परन्तु कई बार वीतराग-परमात्मा मे विरोधी गुण देख कर उनसे घबराना नही चाहिए, अपितु अनेकात व सापेक्षदृष्टि से विचार करके विरोधी प्रतीत होने वाले अतरग गुणो का परस्पर सामजस्य बिठा लेना चाहिए।

प्रथम गाथा मे श्री वीतराग प्रभु [१० वे तीर्थंकर श्रीशीतलनाथजी] के माध्यम से उनके जीवन मे विविध भागभगियो [दृष्टियो] वाली मनोरम त्रिभगियो का उल्लेख करते है। यानी वीतराग प्रभु हमारी पूजा के आदर्श है [फिर भले ही वे चाहे जिस नाम के हो], हमारे लिए पूजनीय हैं। एक ओर उनमे अतरग गुण हैं—करुणा और कोमलता, जबकि दूसरी ओर ठीक इससे विरोधी गुण—तीक्ष्णता और उदासीनता भी हैं।

---

१. देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतय.।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥ —देवागमस्तोत्र

२. भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै॥ —आचार्य हेमचन्द्र

प्रश्न होता है कि जब प्रभु राग से रहित हैं, तो उनमें करुणा और कोमलता [हृदयद्रावकता] कैसे है ? क्योंकि करुणा और कोमलता दोनों ही प्रायः रागजनित होती हैं, फिर भले ही ये दोनों प्रशस्तरागजनित हों तथा उनमें ठीक इन दोनों गुणों से विपरीत तीक्ष्णता और उदासीनता कैसे है ? क्योंकि ये दोनों प्रायः द्वेषजनित होती हैं। फिर भले ही वह प्रशस्तद्वेष ही क्यों न हो !

मतलब यह है कि ये परस्परविरोधी गुण वीतरागपरमात्मा में सुशोभित हो रहे हैं, इसका क्या कारण है ?

इसी शका का समाधान तथा परस्परविरोधी गुणों के निवास की संगति अनेकान्तसिद्धांत द्वारा अगली गाथा में इस प्रकार बिठाई गई है—

सर्वजन्तुहितकरणी करुणा, कर्मविदारण तीक्षण रे।
हानादानरहित परिणामी, उदासीनता-वीक्षण रे ॥
शीतल० ॥२॥

अर्थ

प्रभु में जो करुणा है, वह सर्वजीवहितकारिणी है, वही कोमलता है; तथा उनमें तीक्ष्णता (कठोरता) इसलिए है कि वे कर्मशत्रुओं का समूल छेदन करने में कठोर हैं। किसी इष्ट व मनोज्ञ वस्तु को देख कर उसे रागवश ग्रहण करने के तथा अनिष्ट व अमनोज्ञ वस्तु को देख कर उसे छोड़ने के द्वेष-युक्त परिणामों से रहित हैं, तथा संसार के समस्त पदार्थों या जीवों को समभाव से देखते हैं, इसलिए उदासीनता का गुण भी उनमें दिखाई देता है।

भाष्य

विश्ववन्द्य परमात्मा के चरित्र में परस्परविरोधी गुणों की प्रथम संगति

परमात्मा का चरित्र विविध प्रकार से विचारणीय है। केवल विचारणीय ही नहीं, आदरणीय, पूजनीय और उपासनीय भी है, आनन्दजनक भी है। उपर्युक्त गाथा में प्रभु के चरित्र में तीन परस्परविरोधी गुणों के समावेश की संगति अनेकांतवाद की दृष्टि से की गई है। वे गुण हैं—करुणा-कोमलता, तीक्ष्णता और उदासीनता।

प्राय देखा जाता है कि जिसका हृदय करुणा और कोमलता से परिपूर्ण होता है, उसके हृदय मे तीक्ष्णता-कठोरता प्रतीन नही होती, और तीक्ष्णता हो तो उदासीनता नही हो सकती, परन्तु वीतरागपरमात्मपद का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर उसमे ये तीनो परस्परविरोधी गुण एक साथ दिखाई देते हैं। वे कैसे ? परमात्मा के उन-उन गुणो का स्वरूप समझे विना झटपट निर्णय कर वैठें, यह उचित नही। अत इसी का समाधान करते हुए, श्रीआनन्दघनजी कहते हैं— **सर्वजन्तुहितकरणी करुणा** अर्थात् वीतराग तीर्थंकर परमात्मा की वृत्ति जगत् के त्रस-स्थावर आदि समस्त प्राणियो का हित करने की होती है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र मे तीर्थंकर भगवान् द्वारा की जाने वाली प्रवचनप्रवृत्ति का उद्देश्य वताया है कि[1] समस्त ससार के जीवो की रक्षारूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन कहे हैं। **'सवि जीव करु शासनरसी, ऐसी भावदया मन उल्लसी'** इस प्रकार सर्वप्राणियो का हित करने वाली करुणा और कोमलता उनमे है। किन्तु पहले अपनी आत्मा की करुणा किये विना कोई परमात्मा करुणानिधि नही वन सकता। अत. कर्मशत्रुओ या रागद्वेषादिरिपुओ से दवी हुई, रक वनी हुई अपनी आत्मा पर करुणा करने के लिए वे इन शत्रुओ से जूझते है, इन पर करुणा नही करते, इसीलिए कहा है—**'कर्मविदारण तीक्षण रे'** कर्मों के नष्ट करने मे वे अत्यन्त कठोर वन जाते है। अथवा अपने कृतकर्मों का नाश करने हेतु अपनी वृत्तियो को तीक्ष्ण वना कर परमकरुणाशील प्रभु शुक्लध्यान उत्पन्न करते है। कृतकर्मो को काटने मे शुक्लध्यानवृत्ति ही सफल होती है, जिसे तीक्ष्ण गुण कहा गया है। इसलिए तीक्ष्णता भी वीतरागप्रभु की शोभा है। इसी कारण उनका एक नाम अरि [कर्मशत्रुओ] के हन्त [नाशक] भी है। उन्हे कर्मो पर दया नही आती कि ये वेचारे कहाँ जायेंगे ? इनका क्या होगा ? अत जिस समय प्रभु मे पूर्वोक्त प्रकार का करुणाभाव होता है, उसी समय उनमे कर्मो को काटने की तीक्ष्णता [तीव्रता] भी होती है। परन्तु विचार करने पर यह विरोध नही रहता। क्योकि करुणा करने योग्य प्राणी अथवा आत्मा और कर्म विलकुल अलग-अलग हैं। जव परमात्मा वीतराग कर्मरहित हो कर

---

१. **'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।**
—प्रश्नव्याकरणसूत्र

परमशुक्लध्यानी हो जाते हैं, तब उनसे साधकदशा मिट कर सिद्ध [मुक्त] दशा प्रगट हो जाती है, और उन्हें जगत् के समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् हो जाते हैं। उस समय वे समस्त पदार्थों को तटस्थरूप—उदासीनभाव से देखते हैं उनके लिए ग्राह्य-अग्राह्य भाव नहीं रहता। वे न तो किसी अनिष्ट वस्तु पर द्वेष करके उस का त्याग करने की प्रवृत्ति करते हैं और न इष्ट वस्तु पर राग करके उसे स्वीकार करने की। क्योंकि वे रागद्वेष से सर्वथा रहित हैं। इसी त्याग-ग्रहणरहित परिणाम वाली दृष्टि को उदासीनता कहते हैं, जो प्रभु के परमपद की प्राप्ति की मुख्य हेतु है।

निश्चयदृष्टि से विचार करें तो वीतराग-परमात्मा में करुणावृत्ति का गुण केवल परात्महितकर नहीं, अपितु वास्तव में स्वात्महितकर होता है। और स्वात्महित वे तभी मानते हैं, जब कर्मों के बन्धन से आत्मा को बचाएँ। तथा कर्मबन्धन तभी नष्ट होता है, जब औदासीन्यभाव से युक्त आत्मा की उत्कृष्ट आत्मवीर्य की तीक्ष्णता हो। इस प्रकार ये तीनों परस्पर विरोधी गुण वीतराग-परमात्मा में एक साथ पाये जाते हैं, जो [illegible] चेतनाशील जाग्रत साधक को प्रेरणा देते हैं।

अगली गाथा में इसी त्रिभंगी की अन्य प्रकार से संगति बताते हैं—

परदु खछेदन-इच्छा करुणा; तीक्षण पर दु ख रीझे रे।
उदासीनता उभय-विचक्षण, एक ठामे किम सीझे रे ? शीतल० ॥३॥

अर्थ

दूसरो के दुखो को मिटाने की इच्छा ही करुणा है। पर [परभावो या आत्मा से भिन्न जडपुद्गलो] को दु.खी [आत्मा से हटते] देख कर वे प्रसन्न होते हैं, यह उनकी तीक्ष्णता है। तथा करुणा और तीक्ष्णता दोनो के लक्षणों से विलक्षण माध्यस्थ्यवृत्ति या तटस्थपरिणाम उदासीनता है। आश्चर्य होता है कि ये तीनो गुण विलक्षण होने से एक जगह कैसे सिद्ध हो (रह) सकते हैं। परन्तु प्रभु मे ये तीनो गुण एक साथ रहते हैं, यही उनकी प्रभुता है।

भाष्य

दूसरी दृष्टि से त्रिभंगी की संगति

पूर्वोक्त गाथा मे वीतराग-परमात्मा मे तीन परस्पर विरोधी गुणो की

सगति एक दृष्टि से की गई थी। इस गाथा मे दूसरी दृष्टि से उन तीनो गुणो की सगति बिठाई गई है।

'अध्यात्मकल्पद्रुम' ग्रन्थ मे करुणा का लक्षण बताया गया है—परदुःख देख कर उसे दूर करने की अथवा दूसरो को किसी प्रकार का दुःख न हो, इसे देखने की इच्छा करणा है। व्यवहारदृष्टि से वीतरागप्रभु को परम कारुणिक, निष्काम करुणाशील कहा जाता है। वे दूसरो को दुःखी देख कर उसे उस दुःख से छुडाने की इच्छा रखते है, उसे उक्त दुःख से छुटकारे का उपाय बताते है। दुःख क्यो होते हैं ? उन्हे किसने पैदा किये है ? उनके निवारण के क्या उपाय हैं ? इत्यादि सब बाते वे जगत् के पीडित संसारी जीवो को बताते हैं। इसलिए करुणा तो उनमे है ही। परन्तु उनके साथ ही जब वे देखते है कि ससारी जीव राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के कारण या परपदार्थ के सम्बन्ध के कारण दुःख पाते है तो अपनी आत्मा के साथ लगे उन परपदार्थों के सम्बन्धो को हटाने मे जबर्दस्त तीक्ष्ण वृत्ति भी प्रभु मे होती है, वे उन सजीव या निर्जीव परपदार्थों का मोहबन्धन बडी सख्ती से हटा कर खुश होते है। इसीलिए कहा गया—"तीक्षण पर दुःख रीझे रे" यानी बन्धन मे डालने वाले परपदार्थों के अपनी या दूसरो की आत्मा से पृथक् होने से दुःख मे पडे देख कर राजी होते है। वे इन्द्रियदमन मे पुद्गलो को हटाने मे खुश होते है। तीसरी ओर वे उदासीन भी रहते हैं। जहाँ वे देखते है कि अनेक प्राणी जानबूझ कर शुभाशुभ कर्म उपार्जन करते हैं, कोई झूठ बोलते है, चोरी, ठगी, बेईमानी, चुगली, माया आदि करते हैं, उन सबके प्रति वे उदासीन रहते है। यानी पापकर्म करने वाले जीवो को देख कर न तो वे उनके प्रति करुणा करते हैं, और न ही उनके प्रति कठोरता (क्रोध) करते हैं, वे करुणा और तीक्ष्णता से अलग ही उदासीनता या तटस्थता की वृत्ति रखते है। इस प्रकार परस्परविरुद्ध तीनो बाते प्रभु मे है, विरोधाभास से युक्त तीनो गुण उनमे एक साथ मौजूद रहते हैं।

निश्चयदृष्टि से देखे तो राग-द्वेष-मोह आदि के कारण दुःख पाते हुए सासारिक जीवो को देख कर उपदेश, प्रेरणा आदि प्रवृत्ति द्वारा उनके बन्धन-मुक्त होने का प्रयत्न वे करते हैं। अथवा परपदार्थों के प्रति आसक्ति के कारण अपनी आत्मा को होने वाले दुःखो के दूर करने की इच्छा 'वीतराग-परमात्मा

की सच्ची करुणा है। दूसरी ओर परपदार्थों के साथ सम्बन्धों को हटाने की कठोरता होने से, परपदार्थों को अपने मे हुआ वियोग-दुःख देख कर भगवान् प्रसन्न होते है और सासारिक जीवो के शुभाशुभ परिणामो को अपने ज्ञान मे देखते है, पर दर्पणवत् तटस्थ रहते है, समता रखते है। इस प्रकार वीतराग परमात्मा मे करुणा तीक्ष्णता, और उदासीनता इन तीनो परस्पर विरोधी गुणो का समावेश हो जाता है।

अगली गाथा मे फिर इन्ही तीन गुणो की तीसरी दृष्टि से परस्पर सगति बिठाई गई है—

अभयदान[1] तिम लक्षण करुणा, तीक्षणता गुणभावे रे।
प्रेरक विण कृति उदासीनता, इम विरोध मति नावे रे॥

शीतल० ॥४॥

अर्थ

इसी प्रकार जीवो को भयरहित करने के लिए जीवनदान (अथवा उपदेश-दान) देना परमात्मा मे करुणा का लक्षण है। उनके गुण मे और भावो मे तीक्ष्णता है, किसी प्रकार की प्रेरणा के बिना प्रभु मे स्वाभाविकरूप से क्रिया होती रहती है, इसलिए उदासीनता है। इस तरह विचार करने पर विरोधी की तरह दिखाई देने वाले तीनो गुणो मे कोई भी विरोध की बुद्धि नहीं पैदा होती।

भाष्य

इस गाथा मे भी एक अन्य दृष्टि से प्रभु मे तीनो विरोधी गुणो का अस्तित्व सिद्ध किया है। जीवमात्र को जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि का भय रहता है। इस भय से छुटकारा दिला कर अभय करने का मूल हेतु है—ज्ञान। अभय का ज्ञान देना ही प्रभु की करुणा है। द्रव्य और भाव से प्रभु सासारिक जीवो को निर्भयता का दान देते हैं। वे कहते है—किसी सासारिक पदार्थ से डरो मत। तुम्हारी आत्मा स्वय भययुक्त-निर्भय है, इस प्रकार सासारिक पदार्थो से भय न पाने देना—द्रव्य-अभयदान है, और ससार

---

१. किसी-किसी प्रति मे 'तिम लक्षण करुणा' के बदले 'ते मलक्षय करुणा' है। वहाँ 'कर्मरूपी मैल के क्षय का हेतुरूप उपदेश ही करुणा है' यह अर्थ समझना।

का भय मिटा देना भाव-अभयदान है, अथवा अपनी आत्मा को पर-पदार्थो से निर्भयता का दान देना=प्रकट करना भी अभयदान है, यह निश्चय-दृष्टि से अभयदान प्रभु मे करुणा का ही लक्षण है। व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो प्रभु के पास जो भी जीव आ जाता है, वह उनकी परम अहिंसा के कारण निर्भय हो जाता है। उसे ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं अभय हो गया हूँ। अर्हन्त परमात्मा का एक विशेषण 'नमोत्थुण' के पाठ मे आता है—'अभयदयाण' और अभयदान परमात्मा की करुणा का द्योतक चिह्न है।

ज्ञानादि गुणो पर आज्ञानादि के छाए हुए आवरणो—वैभाविक गुणो को दूर करने के लिए एक तरफ से आत्मा के स्वाभाविक गुणो को प्राप्त करते है, अज्ञानादि को कठोरता से हटाते है, दूसरी ओर परभावो (पुद्गलो) को पराया (शत्रु) मान कर बार-बार उन्हे त्याज्य समझ कर छोडने का विचार किया करते है, स्वभाव मे तीव्रता से रमण किया करते है। इसके कारण पुद्गलो (परभावो) के प्रति उनकी कडी आँख है, जो उनकी तीक्ष्णता का लक्षण है। इसी प्रकार ससार के स्वरूप का विचार करते है तो मालूम होता है, प्राय सभी कार्य (व्यापार, धन्धा, नौकरी आदि) प्रेरणा पर आधारित है। वे इस स्वरूप को जानते है और कोई निन्दा करे या प्रशसा, भला कहे या बुरा, वन्दना करे, या निंदा करे, सभी से निरपेक्ष हो कर किसी भी प्रेरणा के बिना सहजभाव से आत्म-परिणतिरूप कृति—कर्तव्य मे निष्ठा रखते है। यह पदार्थ इष्ट, प्रिय या मनोज्ञ है, यह अनिष्ट, अप्रिय या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की प्रेरणा प्रभु मे नही होती। लिए उनमे बिना किसी प्रेरणा के स्वरूपरमण क्रिया होती रहती है। यह उनकी उदासीनता का लक्षण है।

इस प्रकार वीतरागप्रभु मे पूर्वोक्त तीनो विरोधी गुण एक साथ रहते है, क्योकि उनके पात्र अलग अलग है।

अगली गाथा मे वीतरागप्रभु मे अन्य गुणो की त्रिभगियो का अस्तित्व हुए कहते है—

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन-प्रभुता, निर्ग्रन्थता सयोगे रे।
योगी, भोगी, वक्ता, मौनी, अनुपयोगी उपयोगे रे॥
शीतल० ॥५॥

अर्थ

प्रभुवीतराग मे अनन्त आत्मवीर्यरूप शक्ति है, जो कि समस्त आत्माओं मे सामान्यरूप मे होती है, फिर भी ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति मे प्रभु का अपना अलग व्यक्तित्व है। तथा एक ओर उनको तीनो लोकों के समग्र प्राणियों पर स्वामित्व (त्रिलोकप्रभुता या त्रिभुवनपूज्यता) है; जबकि दूसरी ओर वे निर्ग्रन्थ (अकिंचन) हैं। इसी प्रकार प्रभु मोक्ष के साथ जोड़ने (योग कराने) वाले गुणो को अथवा मन-वचन-कायारूप त्रियोग को धारण करते हैं, इसलिए वे योगी है, जबकि इसके विपरीत वे भोगी भी हैं। यानी वे आत्मगुणों का स्वय भोग (अनुभव) करते हैं। एक ओर वे द्वादशागीरूप प्रवचन करते हैं, इसलिए वक्ता हैं, जबकि दूसरी ओर मौनी भी है सावद्यभाषा बोलने तथा पाप-कर्म का उपदेश देने मे वे मौन रहते हैं। वे केवल-दर्शनी हैं, इसलिए निराकार उपयोगी होने से उपयोग नही लगा सकते—निरुपयोगी हैं, तथैव केवलज्ञानी होने से साकार उपयोग वाले होने से वे उपयोगी हैं। साथ ही इन पांचो जोड़ो के साथ सयोग होने से एक-एक भग और जुड़ जायगा, प्रत्येक की त्रिभंगी हो जायगी।

भाष्य

परमात्मा मे परस्पर विरोधी पाँच गुण-त्रिभंगियां

साधारणतया परमात्मा के परस्पर विरोधी को आम आदमी समझ नही पाता वह तो उन्हे उलझनभरे और परस्परविरोधी समझ कर छोड देता है। साहित्यशास्त्र मे इसे विरोधभास अलकार कहा जाता है। जो विचार करने पर ठीक समझ मे आता है। परमात्मा मे निम्नलिखित तीन-तीन भग हो सकते है—

(१) शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति-रहित-

(२) त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता-निर्ग्रन्थतारहित, (३) योगी, भोगी और योग भोग-रहित, (४) वक्ता, मौनी और वक्तृत्व-मौन-रहित और (५) उपयोगवान, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोगरहित ।

ये पाँचों गुणत्रिभगियाँ, परस्पर विरोधी हैं, लेकिन इन पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक त्रिभगी वीतराग-परमात्मा मे एक साथ रह सकती है। उदाहरण के तौर पर पहली त्रिभगी मे तीन गुण

हैं—शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति-रहित। वीतराग परमात्मा मे अनन्तशक्ति है, अनन्त-वीर्य के धनी परमात्मा अपना अनन्तवीर्य बता सकते हैं। मेरु को उठाना हो तो वे उसे उठा सकते है, भुजाओ से अथाह समुद्र को पार कर सकते है। अपने शुद्धस्वभाव एव स्व-गुण मे लीन रहने की अद्‌भुत शक्ति प्रभु मे है, यह प्रभु का आत्मिक गुण है। वैसे तो प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति है, यह उसका स्वभाव है। परन्तु सामान्य आत्मा उसकी अभिव्यक्ति नही कर सकती। परमात्मा मे शक्ति का पूर्ण व्यक्तीकरण होता हे, परन्तु होता है, वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अलग-अलग गुणो का अलग-अलग। प्रभु मे वैसे तो ज्ञानादि सभी—शक्तियाँ पूर्णरूप मे हे, परन्तु वे चाहे तो एक-साथ उन सबकी अभिव्यक्ति कर सकते है। अथवा सासारिक लोगो की अपेक्षा परमात्मा का अलग व्यक्तित्व होने से परमात्मा उनसे विशिष्ट व्यक्ति है। परन्तु परमात्मा मे दोनो गुणो का एक साथ अस्तित्व होते हुए भी सिद्ध (मुक्त) दशा मे उनमे शक्ति होते हुए भी न होने जैसी है, क्योकि वह शक्ति कुछ कर नही सकती, वह अकरणवीर्य होती है। और सिद्धदशा मे अलग-अलग गुणो की अलग-अलग अभिव्यक्ति (व्यक्ति) नही होती। अथवा परमात्मा ने शक्तित्व या व्यक्तित्व किसी इरादे से बताने का प्रयत्न नही किया, इसलिए उनमे ये तीनो गुण एक साथ रहने मे कोई विरोध नही है।

दूसरी त्रिभगी मे भी तीन गुण हैं—त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता—निर्ग्रन्थतारहित। यह बहुत ही आश्चर्यजनक लगता है कि परमात्मावीतराग मे तीनो लोको की पूज्यता—उनमे ३४ अतिशय और आठ महाप्रातिहार्यों के होने मे तीनो भुवनो की प्रभुता (ऐश्वर्ययुक्तता) प्रत्यक्ष दिखाई देती हे, तथापि स्वय निर्ग्रन्थ होने से उनमे निर्ग्रन्थता है। उन्होंने ससार या सासारिक पदार्थो के साथ कोई लागलपेट, या ममत्वादि की गाँठ नही रखी, दुनिया मे उन्हे कुछ भी लेना-देना नही है, उन्हे न कोई वस्तु ईष्ट है, न अनिष्ट है। यही उनकी निर्ग्रन्थता है। यानी त्रिभुवन की वैभव-सम्पन्नता —प्रभुता के होते हुए भी उनमे अकिंचनता (अपरिग्रहवृत्ति) एव निर्लेपता (निर्ग्रन्थता) है। अथवा एक ओर इन्द्र, नरेन्द्र और चक्रवर्ती द्वारा पूजनीय होने से त्रिभुवनप्रभुता होते हुए भी स्वय निर्गन्थता गुण से परिपूर्ण हे।

निश्चयनय की दृष्टि से विचार करें तो परमात्मा में आत्मा के समग्र गुण विकसित होने से तीनों लोकों के समस्त आत्मगुणों के स्वामी होने से उनमें त्रिभुवन-प्रभुता है, तथा पंचमहाव्रतसहित सामायिक ग्रहण कर चुके, इसलिए परम त्यागी होने से उनमें निर्ग्रन्थता है, परभावों का स्वरूप या परभावों का कार्य उनके ज्ञान में झलकते हुए भी वे उनका लेप आत्मा पर नहीं होने देते।

तीसरा भंग प्रभु के त्रिभुवन-प्रभुता से एवं निर्ग्रन्थता से रहित होने का है, जो बड़ा अटपटा है। फिर भी यह संगत है, क्योंकि मिथ्यात्वीजीव प्रभु को पूज्य नहीं मानते। समवसरणादि तथा उनके अष्टमहाप्रातिहार्य आदि देख कर आपको त्यागी या निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) नहीं मानते, इसलिए वीतराग परमात्मा तीनों लोक के प्रभु नहीं रहे। तथा सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त सभी जीव समान हैं, वहाँ न कोई प्रभु है और न ही कोई उसका दास। वहाँ पूज्य-पूजक-भाव बिलकुल नहीं है, इसलिए त्रिभुवनप्रभुता से परमात्मा रहित हैं तथा प्रभु केवल साधु का वेष धारण किए सदा नहीं फिरते, अथवा प्रभु में भी में भी स्वगुण में रमणतारूपी ममता है, इसलिए वे निर्ग्रन्थता से रहित भी हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त तीनों विरोधी गुणों का प्रभु में अस्तित्व है। उनकी संगति भलीभाँति समझ लेने पर गुणों में विरोध नहीं आता।

तीसरी गुणत्रिभंगी है—योगी, भोगी, और योग-भोग-रहित। लोक व्यवहार में देखा जाता है कि जो योगी है, वह भोगी नहीं रह सकता। पर-परमात्मा में मन-वचन-काया को अपने वश में रखने वाले योगी के समस्त गुण हैं। व्यवहारदृष्टि से वीतराग-अवस्था में मन-वचन-काया के योगों से युक्त (सयोगी केवली) हैं। निश्चयदृष्टि से रत्नत्रयी की साधनारूप योग से युक्त होने अथवा मोक्ष के साथ जुड़े हुए होने से या परमात्मा के गुणों या शुद्धस्वरूप के साथ युक्त होने से वे योगी हैं। तथापि दूसरी ओर वे भोगी भी हैं। इससे चौंकिये नहीं। परमात्मा विलासी जैसे भोगी नहीं हैं। वे स्वात्मगुणों के भोगी हैं, अनुभवी हैं, अनुभव करते हैं। अथवा व्यवहारदृष्टि से वे भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का क्षय कर देने के कारण तीनों

लोक के समस्त भोगों से भी उत्कृष्ट स्वात्मरमणतारूपी भोगो के भोगी है। जब समस्त कर्मों की क्षय होता है, तब अयोगी-केवली गुणस्थानक मे और मोक्ष जाने के बाद वे न तो योगी रहते है, न भोगी। क्योकि वहा उनके समस्त योग दूर हो जाते हैं और अयोगी-गुणस्थानक मे पाँच ह्रस्व अक्षरो अ इ उ ऋ लृ, के उच्चारण में जितना समय लगता है, उस समय न तो वे योगी है और न भोगी है।

अब आइए चौथी गुणत्रिभगी पर। इसमे भी तीन गुण है—वक्ता, मौनी और अवक्तामौनी। वक्ता तो प्रभु इसलिए हैं कि वे स्वय द्वादशागी का प्रवचन देते है और परमदेशना देते हैं तथा मौनी इसलिए है कि वे मुनियो के सघ के पति (स्वामी) है। अथवा वे सदा आत्मभाव मे निष्ठ होने से मौनी है। सावद्य या पापमय, आश्रवजनक उपदेश के सम्बन्ध मे वे वक्ता नही है, तथा वक्ता और मौनी होते हुए भी उस वक्त वे द्वादशागी के सिवाय कुछ वचन नही बोलते, इसलिए वे उस समय न तो वक्ता हैं, न मौनी है। अथवा वे अवक्तामौनी यो हें कि जो जगत् मे है, उसी को वे कहते है, नया कुछ भी नही कहते, इसलिए वक्तृत्व से रहित है, तथापि देशना देते हैं, इसलिए वे मौन मे भी रहित है। इस प्रकार यह चौथी गुणत्रिभगी भी प्रभु मे एक साथ अविरोधरूप से सगत हो जाती है।

अब पाँचवी गुणत्रिभगी का विचार करे। वह है—उपयोगी, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोग-रहित।

सामान्य छद्मस्थ ज्ञानी को तो कोई बात कहनी या जाननी हो तो उसके लिए उपयोग लगाना पडता है, परन्तु वीतराग-परमात्मा तो केवलज्ञान के धनी होते हैं, इसलिए बिना ही उपयोग लगाए वे बात को जान-देख सकते हैं, इसलिए अनुपयोगी है, क्योकि उनमे ज्ञान-दर्शन का उपयोग सदा प्रवर्तमान रहता है। किन्तु प्रभु ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय होने से उपयोगी है। अथवा आत्मा और उपयोग का अभेद उपचार करने से परमात्मा स्वत अनुपयोगी है। किन्तु योगरुन्धन होने के बाद उन्हें ज्ञान का या दर्शन का उपयोग लगाने का कोई प्रयोजन नही रहता। उस समय वे न उपयोगी है, न अनुपयोगी। उनमे ज्ञानदर्शन का उपयोग सदा प्रवर्त्तमान रहता है, इसलिए वे अनुपयोग-रहित

है और उपयोग तो उनमें स्वत प्रवृत्त होता है, उन्हें उपयोग लगाना नहीं पडता, अत वे उपयोगरहित भी हैं।

इस प्रकार पाँचवी गुणत्रिभंगी भी वीतरागप्रभु में भलीभाँति घटित हो जाती है।[1]

इनके सिवाय और भी परस्परविरोधी गुणत्रिभंगियाँ वीतरागप्रभु में घटित हो सकती हैं, इस बात को बताने के लिए अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

इत्यादिक बहुभगत्रिभंगी, चमत्कार चित्त देती रे।
अचरजकारी चित्रविचित्रा, आनन्दघनपद, लेती रे ॥
शीतल० ॥६॥

अर्थ

ये और इस प्रकार की और भी बहुत-से भगों (भेदों-विकल्पों) वाली त्रिभंगियाँ चित्त मे चमत्कार पैदा करती हैं। सामान्य व विशेष दोनो तरह से विचित्र प्रकार की आश्चर्यकारी ये गुणत्रिभंगियाँ आत्मानन्द-समूहरूप पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेती हैं यानी इन आत्मस्वरूपमूलक त्रिभंगियों मे मग्न हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त हो कर अन्त मे सच्चिदानन्दपद (परमात्मपद) प्राप्त हो जाता है।

भाष्य

परमात्म-गुण चिन्तन से आनन्दघनमत-पद की प्राप्ति

यहाँ एक सवाल उठता है कि आखिर परमात्मा मे इन अटपटी गुण-त्रिपुटियो का चिंतन करने का चिंतन करने लाभ क्या है? इसका कोई प्रयोजन भी तो होना चाहिए। इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—सबसे पहला लाभ तो यह है कि इन गुणत्रिपुटियो का चिन्तन चित्त मे शुद्ध आत्मा की गुणमयी शक्तियो का चमत्कार पैदा करना है। परमात्मभक्त

---

१ इस प्रकार हमने अपनी बुद्धि से इन गुणत्रिभंगियो के परस्परविरोधी भाव को दूर करके एक साथ प्रभु मे होने की सगति बिठाई है। इनके सिवाय और भी किसी तरह से घटित हो सकती हो तो बहुश्रुतज्ञानी के सहयोग से घटित करने का पाठक प्रयत्न करें। —भाष्यकार

परमात्मा के इन गुणो पर चिन्तन करते-करते गानन्द आश्चर्य से भर जाता है कि एक ही आत्मा मे इतने गुण कहाँ से आ गए ? छोटी-सी, अव्यक्त, अमूर्त, अदृश्य आत्मा मे इतने गुणो के धारण करने की शक्ति कहाँ से आ गई ? दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ सामान्यतया और विशेषतया प्रभुगुणत्रिपुटियो के बार-बार के चिन्तन से आत्मा की अनन्त आश्चर्यकारी ज्ञान-सम्पदा विकसित हो जाती है, आत्मा अपनी सुषुप्त ज्ञान-शक्ति को प्रगट करके स्वय स्वस्वरूप मे या शुद्धरूप मे, अथवा आत्मगुणो मे रमण करने मे एकाग्र हो जाता है, और इस प्रकार के ऊहापोह मे एकाग्र होने से उसे केवलज्ञान प्राप्त हो कर एक दिन आनन्दघनमय परमात्मपद या मोक्षपद प्राप्त हो जाता है। चूँकि स्याद्वाद-शैली के बिना जीवन और जगत् का या आत्मा-परमात्मा का सम्यग्ज्ञान नही होता और सम्यग्ज्ञान होने का सबूत सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्राथमिक भूमिका है। जिसे सम्यग्दर्शन हो गया, उसे मोक्षप्राप्ति अवश्य हो जाती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो इस प्रकार विभिन्न पहलुओ से परमात्मा के गुणो का चिन्तन करने से चिन्तनकर्ता की आत्मा भी स्वत स्वाभाविकरूप से उन गुणो की ओर झुकेगी, और एक दिन वह आश्चर्यकारक विचित्र गुणत्रिभंगी-चिन्तन से आनन्दघनमय प्रभुपद को प्राप्त कर लेगी।

इसी प्रकार की अन्यान्य गुणत्रिपुटियो का चिन्तन करो

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के जीवन मे उपर्युक्त गुणत्रिभगियो के सिवाय, ऐसी ही अन्य गुण-त्रिभगियो का चिन्तन करने का सकेत किया है। परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुक को और भी गुणत्रिपुटियो चिन्तन करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर—वीतरागप्रभु कामी भी है, क्रोधी भी है और अकामी-अक्रोधी भी है। सर्वप्रथम दृष्टिपात मे तो परमात्मा के लिए कामी शब्द सुनते ही व्यक्ति चौंक उठता है, परन्तु गहराई मे विचार करने पर उसका यह भ्रम दूर हो जाता है। प्रभु कामी इसलिए है कि वे स्व (आत्म) स्वरूप की कामना वाले होते है। क्रोधी इसलिए हैं कि वे मोह, राग, द्वेष, काम आदि आत्मगुणनाशक अन्त शत्रुओ को कठोरतापूर्वक खदेड देते हैं। किन्तु साथ ही वे अकामी इसलिए है कि वे आत्मा के प्रतिकूल पर-पदार्थ को ग्रहण करने की कामना नही रखते, तथा वे अक्रोधी इसलिए हैं कि

परिषह-उपसर्ग (कष्ट) देने वाले देव, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि किसी पर जरा भी, मन से भी क्रोध नही करते।

इस प्रकार के अनेक आश्चर्यजनक गुणत्रिपुटियां परमात्मा मे घटित हो सकती हैं। इन त्रिविध-त्रिभगियो का रहस्य और अनुभव अनुभवी बाहुश्रुत गुरु से जान लेने चाहिए।

सारांश

श्रीआनन्दघनजी ने श्रीशीतलनाथ तीर्थंकर की स्तुति के जरिये परमात्मा मे उपलब्ध विविध, विचित्र एव आश्चर्यजनक गुण-त्रिभगियो की सगति बिठाई है, जिससे आत्मा इन और ऐसी ही अन्य गुणत्रिपुटियो के चिन्तन-मनन से परमात्म-गुणो की ओर सतत आकर्षित एव तन्मय हो कर अन्त मे आनन्दघनमय परमात्मपद या मोक्षपद की प्राप्ति कर लेता है। मानवजीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्मा के गुणो के एकाग्रतापूर्वक चिन्तन से ही होती है।

११ : श्री श्रेयांसनाथ-जिन-स्तुति—

अध्यात्म का आदर्श : आत्मरामी परमात्मा

(तर्ज-अहो मतवाले साजन, राग गौडी)

श्रीश्रेयांसजिन अन्तरजामी, आतमरामी, नामी रे।
अध्यातम-पद[1] पूरण पामी, सहज मुगतिगतिगामी रे ॥
श्री श्रेयांस० ॥ १ ॥

अर्थ

श्री (ज्ञानलक्ष्मी) युत् श्रेयांसनाथ नामक ग्यारहवें तीर्थंकर (रागद्वेषविजेता) अन्त करण के भावो के ज्ञाता है, आत्मा मे रमण करने वालो मे श्रेष्ठ हैं, अथवा सार्थक नाम वाले हैं, या भावकर्मरूप शत्रुओ को नमाने-झुकाने वाले हैं। अध्यात्मपद (ज्ञान) की पूर्णता पहुँच कर अनायास ही मोक्षगतिगामी बन गये हैं।

भाष्य

अध्यात्म की पूर्णता पर पहुँचे हुए . परमात्मा

पूर्वोक्त स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के विभिन्न परस्परविरोधी गुणो की त्रिपुटियाँ बता कर उक्त गुणो को प्राप्त करने की बात कही है, इस स्तुति मे परमात्मा के उक्त गुणो की पूर्णता तक पहुँचने के लिए अध्यात्म-आत्मा के पूर्णविकास) के हेतु परमात्मा का आदर्श अपनाना आवश्यक बताया है। जब तक आदर्श सामने न हो तब तक कोई भी साधक वहा तक पहुँचने के लिए उत्साहित नही होता। अध्यात्म के विषय मे भी यही बात है। जगत् मे विभिन्न धर्मो, मतो, पथो और सम्प्रदायो के लोग अध्यात्म की रट लगाते है। वे आत्मा के बारे मे जरा-सी जानकारी प्राप्त करते ही अपने को अध्यात्मवादी या अध्यात्म ज्ञानी घोपित कर देते हैं। श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति द्वारा अभिव्यक्त कर रहे

---

१ कहीं कहीं 'पद' के बदले 'मत' शब्द मिलता है, तब, अध्यात्म-मत पूरण पामी' का अर्थ होता है-आत्मविकास के पथ के सिद्धान्त को पूर्णरूप से प्राप्त करके।

है कि आत्मा के बारे में जरा-सी जानकारी पा लेने मात्र से, आत्मा और जड़ की पारिभाषिक शब्दावली को घोट लेने से या अध्यात्म की बातें बघारने मात्र से ही किसी व्यक्ति को आध्यात्मिक या आत्मविकास की परिपूर्णता पर पहुँचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए एक साधक ने अध्यात्मभानी पर करारा व्यंग किया है—'कलावध्यात्मिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा' इस कलियुग में आध्यात्मिक होने का दावा करने वाले ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे फाल्गुन महीने में होली पर अच्छा बालक हो तो भी अपशब्द बोलने का मजा लूटता है। जिन्हें अध्यात्म का क ख ग भी न आता हो, भी वे उच्चस्वर से अपने में आध्यात्मिकता होने का दावा करते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी इसी स्तुति में आगे अध्यात्म क्या है ? सच्चा आध्यात्मिक कौन है ? इसका पुर्जा-पुर्जा खोल कर वास्तविक रहस्य बताते हैं।

सच्चा आध्यात्मिक बनने या अध्यात्म की पूर्णता तक पहुँचने के लिए वीतरागपरमात्मा के आदर्श को सामने रखना और वे जिस आत्मविकास के मार्ग पर चल कर अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं, उनके स्वरूप तथा मार्ग को जानना अत्यावश्यक है। क्योंकि आत्मोत्थान या आत्मविकास के पथ पर चल कर वे आध्यात्मिकपूर्णता तक पहुँचे हैं, उन्होंने आत्मविकास के सिद्धान्त को पूर्णतया जाना था। इसलिए वे उस मार्ग के पूर्ण विशेषज्ञ हैं। जो जिस मार्ग का पूर्ण विशेषज्ञ या अनुभवी होता है, वही उस मार्ग को बता सकता है अथवा उसी से उस मार्ग की जानकारी प्राप्त हो सकती है। परमात्मा आध्यात्मिक विकास का श्रीगणेश करते समय आत्मरामी रहे हैं, यानी वे परभावों, वैभाविक गुणों या परपदार्थों से लगाव छोड़ कर अपनी आत्मा के गुणों में या स्वात्मस्वभाव में सतत रमण करते रहे हैं। और सामान्य प्राणियों की आत्मा पर जो परभावरूप कर्म या रागद्वेषादि विकार हावी हो जाया करते हैं परमात्मा उन कर्मों या विकारों को नमा देते हैं, अपने अधीन कर लेते हैं, उन इन्द्रियों एवं मन को अनुशासित कर लेते हैं, उन्हें अपने पर हावी नहीं होने देते, इसीलिए वे अरिहन्त या जिन के नाम से संसार में नामी (प्रसिद्ध) हैं। यही कारण है कि वे आत्मज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने से अन्तर्यामी बन गये हैं। जब ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें कोई विकार या संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप दोष नहीं होता, तब वह केवलज्ञान हो जाता है, जिसके जरिये समस्त चराचर

जगत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है, उसके लिए कोई भी वस्तु परोक्ष नही रहती, उस ज्ञान मे कोई भी अन्तराय, बाधकतत्त्व या क्षेत्र-काल की दूरी की अडचन नही रहती। इसलिए इस पूर्णज्ञान के धनी होने से परमात्मा घट-घट के भावो को जानते हैं, वे पारगामी हैं। साथ ही आध्यात्मिकता की पूर्णता पर पहुँच जाने की उनकी निशानी यह है कि उनमे रागद्वेषादि नही रहे, उन पर उन्होने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली है। इसी आध्यात्मिक पूर्णता के फलस्वरूप वे अनायास ही मुक्तिपदगामी बने हैं, सिद्धपद पर पहुँचे हैं।

जैसे फल पक जाने पर बिना ही प्रयास के वह पेड से टूट कर नीचे टपक पडता है, वैसे ही आध्यात्मिकता (आत्मस्वरूप मे सततरमणता) परिपक्व हो जाने पर परमात्मा भी परभावो से अलग हो कर अथवा कर्मों से पृथक् हो कर स्वाभाविक रूप से अनायास ही—मोक्ष मे जा पहुँचते हैं।

निष्कर्ष यह है कि विकास या आध्यात्मिकता के चरम शिखर (आदर्श) तक पहुँचने के लिए आत्मा आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए वीतराग अन्तर्यामी आत्मरामी नामी परमात्मा (उनका नाम चाहे श्रेयासनाथ हो या और कुछ हो) को आदर्शरूप मे सामने रखना आवश्यक है।

कोई कह सकता है कि क्या दुनिया मे श्रेयासनाथ जिन के सिवाय और कोई पूर्ण आध्यात्मिक या आत्मरामी नही हुआ ? यह तो **घर के देव, घर के पूजारी** वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इसका क्या सबूत है कि दुनिया मे और किसी धर्म मे आध्यात्मिक हुए ही नही ? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने श्रेयासनाथ की स्तुति के बहाने से इस गाथा मे बताए आध्यात्मिक के विशिष्ट गुणो पर से सभी आध्यात्मिको परीक्षा ले डाली है और आध्यात्मिको की जाँच के लिए कुछ कसौटियाँ भी बता दी है। उन्होने 'जिन' शब्द से किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न ले कर जिस किसी नाम के जिन (रागद्वेष-विजेता) हो, उन्हे आत्मरामी, नामी, अध्यात्ममतपूर्णगामी एव अन्तर्यामी बता कर उनके आदर्श को स्वीकार करने की बात कही है। अगली गाथा मे वे आत्मरामी की कसौटी बता रहे हैं—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण[1] आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे॥ श्री श्रेयांस०॥ २॥

अर्थ

संसार मे रहे हुए अथवा संसार के कारणों को सेवन करने वाले (संसार को अपना मानने वाले) जीव पाँचो इन्द्रियो के २३ विषयो मे रमण करने वाले (आसक्त) हैं। अगर कोई आत्मा (आत्मगुणो) मे रमण करने वाले हैं तो क्षमादि-दशविध मुनिधर्म का पालन करने वाले मुनि है। मुख्यतया केवल वे ही आत्मा मे रमण करने वाले हैं, जो कामना [लोभ, आसक्ति आदि] अथवा काम (विषयो मे आसक्ति) से रहित हैं।

भाष्य

आत्मरामी का मुख्य लक्षण

पहले यह बताया जा चुका है कि जो पूर्ण आध्यात्मिक होता है, वह सर्वप्रथम आत्मरामी होता है। परन्तु सवाल यह होता है कि आत्मरामी किसे समझा जाय? बहुत-से आत्मा-आत्मा की रट लगाने वाले जगह-जगह आश्रम बना कर या किसी कुटिया मे अपना डेरा जमा कर लोगो को भुलावे मे डाल देते है, बहुत-से चालाक लोग कुछ हाथ की सफाई या बाह्य चमत्कार बता कर अपने को आत्मरामी बताते है। बहुत से लोग आत्मरमणता का प्रदर्शन करने के लिए नृत्य, गीत, संगीत, धुन, कीर्तन या प्रवचन आदि के बडे-बडे आयोजन करते है, शाही ठाठबाठ मे रचेपचे रह कर पाँचो इन्द्रियो का विषयास्वादन करते हुए अपने को आत्मारामी या पहुँचे हुए महात्मा घोषित करते रहते हैं। बहुत-से लोग शरीर मे राख रमा कर, गाजे-सुलफे का दम लगा कर या शराब के नशे मे मस्त हो कर अपने को आत्मरामी के रूप मे प्रसिद्ध करते रहते हैं, अपने को अध्यात्मयोगी बता कर सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयो के सुख लूटते रहते हैं, वे ऐश-आराम मे रातदिन मशगूल रहते है। सुख-सुविधाओ और भोगो के गुलाम बने हुए ऐसे नकली तथाकथित आत्मारामी लोगो से सावधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'सयल संसारी

---

१ 'गण' के बदले अधिकांश प्रतियो मे 'गुण' शब्द है।

इन्द्रियरामी' अर्थात्—जिन-जिन लोगो को इन्द्रियविषयो के, भोगो के, या सुखसुविधाओ के गुलाम व आसक्त देखो, उन सबको आत्मरामी नही, इन्द्रियरामी समझो। जो सासारिक विषयसुखो को लात मार कर, इन्द्रिय-विषयो के प्रति अनासक्त हो कर अदीनभाव से अपनी आत्मा मे या आत्मगुण मे मस्त रहते है, क्षमा, मार्दव आदि मुनिधर्म का पालन करते है, वे मुनिगण ही वास्तव मे आत्मरामी है। यह बात श्रीआनन्दघनजी मुनियो के प्रति किसी पक्षपात के कारण नही कह रहे है। क्योकि मुनिधर्म किसी भी जाति, धर्म सम्प्रदाय, देश, वेष या पथ की बपौती नही है, उस पर किसी की मोनोपोली (एकाधिकार) नही है, और न ही किसी एक व्यक्ति या जाति आदि का ठेका है। उसे कोई भी, किसी भी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेष या पथ का व्यक्ति पालन कर सकता है, बशर्ते कि वह दशविध श्रमणधर्मो से युक्त हो। और जो मुनि इस प्रकार से इन्द्रियविषयो मे रमणता (आसक्ति) से दूर होगा, उसे ही आत्मरामी कहा जाएगा।

आत्मरामी का मुख्य लक्षण यह है कि वह कामना (स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि आदि की लिप्सा, सुख-सुविधाओ की लालसा) तथा काम (पाँचो इन्द्रियो के विषयो की आसक्ति, गुलामी, मूर्च्छा) से रहित हो, दूर हो, उसे ही केवल आत्मरामी समझो, जो निष्काम व नि स्पृह हो।

जीवो के दो भेद है—सिद्ध और ससारी। जो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा हैं, वे तो अध्यात्म के चरम शिखर पर पहुँच चुके है। परन्तु जो ससारी है, वे ससार मे ही सुख मानते है, उसी मे मस्त रहते है, वे एक या अधिक इन्द्रियो के विषयो मे आनन्द मानते है, चाहे जिस उपाय से इन्द्रियसुखो को प्राप्त करने की लालसा रखते हैं। इन्द्रियसुख कम होने पर उससे सन्तोष न मान कर वे, येन-केन-प्रकारेण नैतिक-अनैतिक रूप से इन्द्रियो के विषयभोगो को भोगते हैं, रात-दिन उनके गुलाम बने रहते है, इसके फलस्वरूप वे ससार के जन्ममरण के चक्र मे फँसे रहते है, उनके ससार-परिभ्रमण का अन्त आता ही नही। एक गति से निकल कर दूसरी मे, एक योनि से निकल कर दूसरी योनि मे जाते है। इस प्रकार वे ससार मे चक्कर लगाते रहते हैं परन्तु कई लोग इस भूमिका से बहुत ऊँचे उठे हुए होते है, वे पर्याप्त सुख मिलते हुए भी उन्हे

तिलांजलि दे कर उनसे बिलकुल उदासीन, अनासक्त या निरपेक्ष रहते हैं। जो वास्तविक मुनि या श्रमण हैं, वे अपने गुणों—क्षमादि दशविध श्रमणधर्मों अथवा ज्ञानादि आत्मगुणों—में रमण करते हैं। वे साधुगुणों में मस्त रह कर उनके अनुरूप ही सबको उपदेश देते हैं। यद्यपि मुनि भी अभी तक साधक हैं, वे सिद्ध या मुक्त नहीं हुए, तब तक सरागी हैं, तथापि वे अपने समस्त ध्यान, चिन्तन, शक्ति, वाणी आदि का उपयोग आत्मिक गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य—में करते हैं, सराग में रहते हुए भी आत्मिकगुणों (अथवा यतिधर्म) में रमण करते हैं। उनमें और सामान्य संसारी जीव में यह अन्तर है।

इसके बावजूद भी मुनियों (अथवा साधु-सन्यासियों के वेष) में भी बहुत-से पुद्गलानन्दी, इन्द्रियासक्त होते हैं, उन्हें आत्मरागी मानना यथार्थ नहीं है। जिनके मन-वचन-काया के योग इन्द्रियों के शब्दादिविषयों से निरपेक्ष, अनासक्त व निःस्पृह रह कर स्वस्वरूप अथवा ज्ञानादि गुणमय आत्मा में ही रमण करते हैं, उन्हें ही मुख्यतया आत्मरागी समझना चाहिए। अब अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी परमात्मा में जो सच्चे अध्यात्म का गुण पूर्णतया विकसित है, उस अध्यात्म की कसौटी बताते हैं—

निजस्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहीये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहीये रे॥
श्रीश्रेयांस० ॥३॥

अर्थ

जिस क्रिया से सच्चे अर्थ में निजस्वरूप को प्राप्त करने या स्वरूप में स्थिर होने की साधना की जाती है, वह अध्यात्म-क्रिया है। परन्तु जिस क्रिया के करने से नरकादि चारों गतियों में से कोई एक गति मिलती हो, उसे अध्यात्म मत समझो।

भाष्य

'अध्यात्म' की कसौटी

बहुत-से लोग 'अध्यात्म' के नाम से अनेक प्रकार की कठोर क्रियाएँ करते हैं, उनकी उन क्रियाओं को देख कर साधारण लोग, यहाँ तक कि

क्रियाकाण्डप्रिय साधक भी वाहवाह कर उठते है, वे उन्हे आध्यात्मिक या आत्मा के खटके वाले मॉगने लगते है, और वे स्वयं भी कई बार किसी के द्वारा पूछे जाने पर यही जवाब देते है कि 'हम ये सब क्रियाएँ अपनी आत्मा के लिए करते है।' परन्तु उनके अन्तर की तह मे आत्मा के लिए वे क्रियाएँ होती नही, वे प्रायः की जाती है—अपनी प्रसिद्धि, किसी पद या प्रतिष्ठा की लिप्सा या किसी स्वार्थलालसा से प्रेरित हो कर। कई साधको के हृदय मे अपनी कठोर क्रियाओ के फलस्वरूप देवलोक या स्वर्गसुख प्राप्त करने की कामना होती है। अथवा कुछ तथाकथित अध्यात्मिक मनुष्यलोक मे ही लोगो को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए दूसरे साधको को अपने से हीन व निकृष्ट वता कर उनके प्रति लोकमानस मे घृणा फैलाने का काम करते है। अथवा फूंक-फूंक कर कदम रख कर, मैले-कुचैले फटे-से कपडे, गन्दगीभरा शरीर एव पैरो मे बिवाई फट जाने पर भी दवा न लगा कर अपने तथाकथित बाह्य त्याग और वैराग्य की छाप लोगो पर डाल कर आध्यात्मिक कहलाने का प्रयास करते है। अत श्रीआनन्दघनजी ने 'अध्यात्म' के नाम से दुनिया मे प्रचलित बातो मे खरी-खोटी की कसौटी बता दी कि जो लोग अपने अन्तर मे स्वस्वरूप के लक्ष्य को छोड कर सिर्फ स्वर्गादि लक्ष्य की दृष्टि से क्रिया करते है, उनकी वह क्रिया या प्रवृत्ति सच्चे माने मे आध्यात्मिक नही कही जा सकती। स्वर्गप्राप्ति दुनियादार लोगो को आकर्षक लगती है, वे अध्यात्म का सस्ता नुस्खा खोजते फिरते है, इसलिए कई ढोंगी साधक उनको चक्कर मे फँसा कर योगादि क्रियाएँ या अन्य उटपटांग क्रियाएँ बता कर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं, मगर उनकी वह क्रिया कतई आध्यात्मिक नही होती। आध्यात्मिक या अध्यात्म उसे ही कहा जा सकता है, जिसमे तमाम क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ स्वरूप के लक्ष्य से की जाती हो।

अन्य क्रियाएँ और स्वस्वरूपलक्ष्यी क्रिया

आध्यात्मिक जगत् मे पांच प्रकार की क्रियाएँ मानी जाती है—(१) विषक्रिया, (२) गरलक्रिया, (३) अननुष्ठानक्रिया, (४) तद्हेतुक्रिया, और अमृतक्रिया। इन पांचो क्रियाओ में विष और गरलक्रिया मे किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर मनुष्य निदान करता है, अथवा किसी को मारने

या नुकसान पहुंचाने की दृष्टि से इसलिए बाहर से अध्यात्मलक्षी दिखाई देने वाली क्रिया भी निदान-विष से दूषित होने के कारण अध्यात्म नहीं कही जा सकती। जो क्रिया करने योग्य है, उसे न करना अननुष्ठान क्रिया है, वह भी किसी अपेक्षा से त्याज्य है, किसी अपेक्षा से उपादेय है। तथा तद्हेतुक्रिया और अमृतक्रिया ये दोनों स्वरूपलक्ष्यी व आत्मगुणविकासलक्षी होने से सर्वथा उपादेय है, समादरणीय है, अध्यात्मरूप है। चाहे जैसी उटपटांग क्रिया को या अमुक ज्ञान की प्राप्ति को अध्यात्म नहीं कहा जा सकता।[1]

स्पष्ट शब्दों में कहें तो जिस क्रिया में आरम्भ, परिग्रह (अनात्मपदार्थ पर ममता) आदि कार्य-कारणभावयुक्त क्रिया से अथवा इन्द्रियों के शब्दादि विषय, क्रोधादि कषायभाव से युक्त क्रिया से साधक को नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि गतियों में से कोई भी गति मिले, तद्रूप क्रियात्मक साधना आध्यात्मिक नहीं समझी जानी। परन्तु निश्चयदृष्टि से निजस्वरूप और व्यवहारदृष्टि से अहिंसा, सत्य, जप-तप आदि-सहित मन-वचन-काया की निर्वन्ध क्रिया है, जो निज-पद को साधने में बहुत उपयोगी है। उसी क्रिया को आध्यात्मिक क्रिया मानी गई है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही क्रिया है। तथा अप्रमत्तभाव से विषयकषायादि से रहित या अनात्मपदार्थ पर ममता से दूर रह कर क्रिया की जाय, वह भी आध्यात्मक्रिया है।

अगली गाथा में अध्यात्म को चार निक्षेपों से समझा कर हेयोपादेय का विवेक बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

नाम अध्यातम, ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भावअध्यातम निजगुण साधे, तो तेहशुं रढ मंडो रे॥
श्रीश्रेयांस० ॥४॥

---

१. मालूम होता है श्रीआनन्दघनजी के युग में चैत्यवाद का बहुत जोर था, या भक्तिमार्गीय सम्प्रदायों में बाह्याडम्बर, चमत्कार एवं मंत्रादि का जोर था, इन सबकी ओट में अध्यात्म का नारा लगाया जाता था। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को अध्यात्म का सच्चा अर्थ करना पड़ा।

अर्थ

नाममात्र (कहने भर) का अध्यात्म, स्थापनाभर का अध्यात्म तथा अध्यात्म के ज्ञाता का मृत शरीर जहाँ छूटा है, वह स्थान-विशेष द्रव्य-अध्यात्म इन तीनो प्रकार के अध्यात्मो को छोड़ो, जिससे निज आत्मगुणो की साधना होती हो, ऐसा भाव-अध्यात्म हो तो उसमे जुट पडो, उसी की धुन मे लग जाओ।

भाष्य

अध्यात्म . कौन-सा हेय, कौन-सा उपादेय ?

श्रीआनन्दघनजी ने इसमे और अगली गाथाओ मे 'अध्यात्म का सागोपाग विश्लेषण करके हेय और उपादेय का विवेक बताया है।

जहाँ अध्यात्मशब्द की या आत्मा-आत्मा की केवल रटन हो, उसका कोई अर्थ समझ मे न आता हो, नाममात्र का अध्यात्म हो, यानी 'अध्यात्म' की भावना मे रहित किसी जीव या पुद्गल का नाम 'अध्यात्म' रख दिया जाय तो ऐसे नाम-अध्यात्म से आत्मसिद्धि नही होती। अत वह त्याज्य है। इसी प्रकार किसी कागज पर 'अध्यात्म' शब्द लिख दिया जाय या अध्यात्म शब्द का कोई कल्पित चित्र या मूर्ति बना कर अध्यात्म की स्थापना कर दी जाय, उसमे अध्यात्म का कोई गुण नही होता। ऐसा स्थापना-अध्यात्म भी त्याज्य है। अध्यात्म के नाम से जहाँ हठयोग की रेचकपूरक आदि क्रियाएँ करके अध्यात्म का प्रदर्शन किया जाता हो, आत्मा की अन्तर-वृत्ति जरा भी सुधरी न हो, वहाँ द्रव्य-अध्यात्म है, अथवा शुष्क आध्यात्मिक ग्रन्थ समझेबूझे बिना पढने-बोलने वाला उपयोगशून्य वक्ता भी द्रव्य-अध्यात्म है, अथवा अध्यात्मज्ञाता के मृत शरीर को या जहाँ उसका शरीर छूटा है, उस स्थान को अध्यात्म कहना द्रव्य-अध्यात्म है। यह भी आत्मस्वरूप की साधना मे उपयोगी न होने से त्याज्य है। नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीनो प्रकार के अध्यात्म जानने योग्य है, अपनाने योग्य नही, छोडने योग्य है। ये तीनो भाव-अध्यात्म मे सहायक न हो तो त्याज्य हैं।

अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप यह है कि जो अपने आत्मगुणो को प्रगट करे, साधे, वही भाव-अध्यात्म है। 'आत्मानमधिकृत्य वर्तते इत्यध्यात्मम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा के स्वरूप को ले कर प्रवृत्त हो, वह अध्यात्म है। ऐसा भावअध्यात्म, जिसमे निजगुणो की साधना हो, आत्मा

की सिद्धि हो, उसे साधा जा सके, उसे देखते ही उसे अपना कर उसमें तत्काल जुट पड़ो। अपनी आत्मा को उसमें जोड़ दो।

चूंकि पूर्वोक्त नामादि तीन प्रकार के अध्यात्म को अपनाने से कोई आत्मिक लाभ नहीं हो सकता, संसार के जन्ममरण के चक्र से छूट कर निरंजन-निराकार स्थिति उनसे प्राप्त नहीं हो सकती। हमारा लक्ष्य मोक्षगमन या परमात्मपद-प्राप्ति है, जो भाव-अध्यात्म को अपनाने से ही पूरा हो सकता है। भाव-अध्यात्म स्वाध्याय, ध्यान, तप, संयम तथा ज्ञानाचारोपासनादि क्रिया है, जो मोक्षमार्ग के कारणभूत हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी नाम, स्थापना और द्रव्य-अध्यात्म को छोड़ कर सिर्फ भाव-अध्यात्म में डुबकी लगाने पर जोर दे रहे हैं, वास्तव में भाव-अध्यात्म ही अन्दर-बाहर की स्थिति एक सरीखी रह कर अपने आत्मगुणों में प्रवृत्ति करा कर अपने आत्मगुणों को प्रगट कराता है। उन्हीं में रमण कराता है। इसीलिए भाव-अध्यात्म ही उपादेय है, उसी में जीवन की सफलता है।

परन्तु यहाँ एक बात की चेतावनी परिलक्षित होती है कि जो बाहर से भाव-अध्यात्म प्रतीत होता हो, लेकिन जो निजगुण नहीं साध सके, उसे भाव-अध्यात्म मत समझो और उस अध्यात्माभास के पीछे मत पड़ो।

भाव-अध्यात्म की भी, ऊँची-नीची कई श्रेणियाँ होती हैं। उच्च-उच्च श्रेणी पर पहुँचने के बाद नीचे-नीचे की श्रेणियाँ छोड़नी आवश्यक हैं। जहाँ तक उच्च श्रेणी पर नहीं पहुँचे, वहाँ तक जिस श्रेणी (भूमिका) पर आत्मा स्थित हो, उस श्रेणी की साधना दृढ़तापूर्वक करनी चाहिए, जिससे उच्च श्रेणी प्राप्त हो जाय।

भाव-अध्यात्म की यथार्थ शुरुआत तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही हो जाती है, परन्तु आत्मविकास का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए 'पचाऽऽचारचरिया' यानी पाँच आचारों के आचरण से इसकी शुरुआत मानी जाती है, जिसे एवंभूतनय से अध्यात्म माना जा सकता है। मैत्री आदि भावनाओं से जब मन वासित होने लगे, तब ऋजुसूत्रनय से 'अध्यात्म' समझना चाहिए। अन्तिम पुद्गलपरावर्तन में प्रविष्ट आदि धार्मिक जीव में अपुनर्बन्धक या सकृद्बन्धक

भाव आने के बाद से नैगमनय से अध्यात्म माना जा सकता है। अप्रमत्त भाव से ले कर १४वें अयोगीकेवली गुणस्थान तक तो परमनिश्चयनय का भाव-अध्यात्म कहा जा सकता है। उसी के उतार-चढाव के ये अनेक भेद है।

अब अगली गाथा मे शब्द और अर्थ की दृष्टि से अध्यात्म का विश्लेषण करते है—

शब्द-अध्यातम अर्थ सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे।
शब्द-अध्यातम भजना जाणी, हान-ग्रहण-मति धरजो रे॥
श्रीश्रेयांस० ॥०॥

अर्थ

अध्यात्मशब्दमात्र जान कर उसका यथार्थ अर्थ सुनो और फिर समस्त विकल्प छोड कर भावार्थ का स्वीकार करो। शब्दमात्र-अध्यात्म मे यथार्थता (सत्यता) हो भी सकती है, नही भी हो सकती है। यो समझ कर जिसमे आत्मसिद्धि होने मे शका हो, किसी प्रकार का कल्याण न होता हो, वैसे नामादि अध्यात्म का त्याग करो और जिस भाव-अध्यात्म से अपने निजात्म गुणो मे रमणता होने से स्वरूपसिद्धि होती हो, वहाँ उसे ग्रहण करो।

भाष्य

निर्विकल्प शब्द-अध्यात्म ही उपादेय है

इस गाथा मे पुन निर्विकल्प भाव-अध्यात्म को अच्छी तरह ठोक-बजा कर अपनाने की बात कही है कि अध्यात्मशब्द को सुनते ही एकदम चौंक मत पडो। सभव है, तुम्हे लम्बे-चौडे अध्यात्मशास्त्र के पोथो की अपेक्षा एक छोटे-से वाक्य मे अध्यात्म का सार मिल जाय। परन्तु सुनने के बाद उस पर विचार करो, उसे जाँचो-परखो और उसमे मे शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त विकल्पमात्र को दूर करके उसे निर्विकल्पक रूप मे अपनाओ। यह जरूर देखो कि उस अध्यात्म के साथ कही आगे-पीछे कोई परपदार्थ का (स्वार्थ, अभिमान दम्भ, द्रोह, मोह कामना आदि का) विकल्प तो नही लगा है? जब तुम वास्तविक अध्यात्म का अर्थ समझ कर उसे अपनाओगे तो तुम्हे सच्चा आनन्द आएगा, जिसकी तुलना मे दुनिया की कोई भी वस्तु नही है। परन्तु अध्यात्म

वे झूठी प्रतिष्ठा के मोह में पड़ कर झूठी वस्तु को पकड़े रखते। और न ही झूठी सिद्ध होने वाली वस्तु को पूर्वाग्रहवश सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। सच्चे आध्यात्मिक पुरुष वे ही हैं, जो किसी शर्म-लिहाज या मुलाहिजे में न आ कर, किसी से भयभीत न हो कर वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उसी रूप में सोलह आना प्रगट करते हैं। चाहे उनसे कोई एकान्त में पूछ लो, चाहे भरी सभा में पूछ लो, वे सोये हों या जागते हों, वस्तु के तत्त्व-स्वरूप को प्रगट करने में कभी हिचकिचाएँगे नहीं, न उसे छिपाने का प्रयत्न करेंगे। सच्चे आध्यात्मिक के इस लक्षण के सिवाय बाकी के जो भी लोग अध्यात्म का ढोल पीटते रहते हैं, या अध्यात्म की रट लगा कर भोली जनता को उलटी-सीधी बात समझा कर आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं या आध्यात्मिक के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं, उन्हें, वाचाल समझना चाहिए।

किन्तु जो यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व का प्रकाशन करते हैं, वे आनन्दमय आत्मा के मत (अध्यात्म) में स्थायी रूप से टिक जाते हैं। वे आध्यात्मिकता से पतित या स्खलित नहीं होते, सदा के लिए स्थिर हो जाते हैं।

सारांश

श्रीश्रेयांसनाथजिन (परमात्मा) की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को पूर्ण आध्यात्मिक और आत्मरामी, नामी, अन्तर्यामी व मोक्षगामी बता कर परमात्मपद-प्राप्ति के लिए उक्त आदर्श सूचित करके तत्पश्चात् आत्मरामी एव अध्यात्म का लक्षण, अध्यात्म का विश्लेषण, और अन्त मे सच्चे आध्यात्मिक की पहिचान बता कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव मे पूर्ण अध्यात्मदशा को प्राप्त करने के लिए सच्चा आध्यात्मिक बन कर आत्मोत्थान के शिखर तक क्रमश पहुचना आवश्यक है।

१२ : श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तुति—

विविध चेतनाओं की दृष्टि से परम आत्मा का ज्ञान

(तर्ज-तुंगियागिरि शिखर सोहे, राग-गोड़ी तथा परज)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवनस्वामी, घननामी [1]परनामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम-करमफल-गामी रे ॥
वासु० १॥

अर्थ

श्री वासुपूज्य नामक बारहवें तीर्थंकर वीतराग परमात्मा हैं। ऊर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक, इन तीनो लोको के स्वामी हैं। वे शुद्ध चैतन्य धातुमय या अनेक नामवाले अथवा नित्य हैं, तथा आत्मगुणो के रागादिरूप शत्रुओ को नमाने वाले अथवा परिणामी (रूपान्तर होने वाले) भी हैं। वे प्रभु दर्शनोपयोग के कारण निराकार भी हैं और ज्ञानोपयोग के कारण साकार भी हैं। एवं ज्ञानादिचतुष्टय से ज्ञानचेतनामय, कर्म और कर्म के फल के कामी हैं।

भाष्य

विविध दृष्टियो से परमात्मा मे निहित गुण

पूर्वस्तुति मे वीतरागपरमात्मा को अध्यात्म के चरमशिखर पर चढने के लिए आदर्शरूप मान कर अध्यात्म की एव आध्यात्मिक बनने की प्रेरणा है, किन्तु आध्यात्मिक बनने के लिए शुद्ध (परम) आत्मा मे निहित विविध आत्मगुणो का ज्ञान होना अनिवार्य है। ऐसा सोच कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति मे परम (शुद्ध) आत्मा के गुणो का वर्णन विविध दृष्टियो से करते है।

चूंकि भारत के बहुत-से दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है। बौद्ध-

---

१ कही कही 'परनामी' के बदले 'परिणामी' पाठ भी है।

शब्द के मोह मे मत फँसना, क्योंकि मोह तो जगत् मे फँसाने वाला है। अत अध्यात्म शब्द को सुन कर उसकी जो कसौटियाँ पहले बताई गई है—निजस्वरूप जे किरिया साधे तेह अध्यातम लहिये रे आदि, उनके अनुसार तथा नाम, स्थापना और द्रव्य अध्यात्म का त्याग करके सिर्फ तत्त्व मानने मे भाव-अध्यात्म तुम्हारी बुद्धि को जचे, उसे अपनाओ। सभी अध्यात्मशास्त्रों मे उक्त शब्द-अध्यात्म मे गुण भी हो सकता है, नही भी हो सकता है। नयो की सहायता से जहाँ गुण न हो तो, वहाँ उसे छोडने की और जहाँ गुण हो, वहाँ ग्रहण करने की बुद्धि रखना। कोरे अध्यात्मशास्त्र के नाम से प्रभावित मत हो जाना।[1] अध्यात्मशब्द का प्रतिपादन करने वाले तथाकथित आध्यात्मिक मे खुद मे अध्यात्म है या नही? यह देखना। अन्यथा अध्यात्म की कोरी व्याख्या मे तुम झूम उठोगे, पर आध्यात्मिक के जीवन मे पूर्वोक्त आध्यात्मिकता नही होगी, तो तुम्हे भी वह कैसे तार सकेगा जब कि वह स्वयं तर नही सका है?

अथवा इस गाथा का यह भी अर्थ हो सकता है कि आध्यात्मिक शास्त्र-रूपी शब्द-अध्यात्म मे से उसका विस्तृत अर्थ सुन कर अन्त मे निर्विकल्पदशा ही अपनाना। चूंकि भाव-अध्यात्म निर्विकल्पदशा प्राप्त करने के लिए ही है। शास्त्र तो अमुक हद तक ही सहायक हो सकते हैं। अन्त मे तो निर्विकल्प दशा पर पहुँचना है, जहाँ पहुँच जाने पर उदासीनभाव प्राप्त होने से कुछ भी लेना (ग्रहण) या छोड़ना (हान) नही होता। अथवा इस गाथा का एक अर्थ यह भी है कि शब्दनय की अपेक्षा से अध्यात्म की भावनाओ—अलग-अलग कक्षाओ का भेद जान लेने के बाद त्याग या स्वीकार की बुद्धि नही रहती। विषयो के प्रति स्वत ही तटस्थता—उदासीन हो जाती है। अध्यात्म-साधना किसलिए करनी चाहिए? तथा उसका प्रयोजन और उच्च ध्येय क्या है? यह बात श्रीआनन्दघनजी ने 'निर्विकल्प आदरजो रे' कह कर सूचित की है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है —

भणता अकरंता य बधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पय॥

अध्यात्म का स्वरूप भलीभाँति समझाने के वाद अव अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष का लक्षण वताते हैं—

[1]अध्यातमी जे वस्तुविचारी, बीजा जाण[2] लबासी रे ।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतवासी रे ॥
श्री श्रेयांस० ॥६॥

अर्थ

जो अध्यात्म मार्ग मे लीन हैं, वे वस्तुतत्त्व का विचार करने वाले होते हैं, बाकी के दूसरे लोग तो कोरे लबार है—अध्यात्म की बकवास करते हैं। वस्तु को जैसी है उस रूप मे जो (वस्तुतत्त्वरूप मे) प्रकट करते हैं, यथार्थ, रूप से उस पर प्रकाश डालते हैं, वे ही आनन्द के समूह रूप आत्मा के (अध्यात्म) के मत मे निवास करने (स्थिर रहने) वाले है।

आध्यात्मिक कौन और कैसे ?

श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति की अन्तिम गाथा मे आध्यात्मिक की यथार्थ पहिचान वताते है और जो आध्यात्म के नाम से थोथी वकवास करते है, उन्हे लवार समझ कर उनका सग छोडने की वात सूचित करते है। वास्तव मे अध्यात्म का विपय इतना गहन है, इतनी चिरकालीन साधना की अपेक्षा रखता है कि राह चलता व्यक्ति आत्मा की दो चार रटी-रटाई वाने कह देने मात्र मे आध्यात्मिक नही माना जा सकता है। आध्यात्मिक की सच्ची पहिचान यही हे कि जो किसी वस्तु पर विभिन्न नयों, पहलुओ एव दृष्टिविन्दुओ मे विचार करते है, उस पर भलीभांति श्रद्धा रखते है, समझते हैं, अध्यात्म के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसते है, जो वस्तु गुणो मे सही नही उतरती, उसे पकडे रखने का मोह नही रखते, उसे तुरन्त छोड देते है, गुणो मे सही उतरने वाली वस्तु को पकडते है, उसे ही यथार्थरूप मे प्रकाशित (प्रगट) करते हैं। चाहिए।

---

१ किसी किसी प्रति मे 'अध्यातमी' के वदले 'अध्यातम' शव्द है, वहाँ अर्थ होता है—'अध्यात्म मे तो वस्तु का विचार ही होना है',

२ 'जाण' के वदले कहीं-कहीं 'वधा' शव्द है।

दर्शन आत्मा को क्षणिकपरिणामी मानता है। कोई दर्शन आत्मा को रागादिमय (प्रकृतिमय) मानते हैं और कोई दर्शन आत्मा को सदा-सर्वदा एकान्त ज्ञानमय मानता है, कोई कर्ममय और कोई कर्मफलचेतनामय मानता है। इन सब एकान्तवादी दार्शनिकों की एकान्त मान्यता का अस्वीकार करते हुए श्रीआनन्दघनजी अनेकान्तदृष्टि से सापेक्षरूप से शुद्ध आत्मा के विविध रूपों का वर्णन परमात्मा की स्तुति के बहाने करते हैं।

मतलब यह है कि साधारण भव्य आत्मा को अगर परमात्मा से मिलना हो तो उसे सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि 'मैं कौन हूँ? आत्मा कौन है? परमात्मा कौन व कैसे हैं? मैं नित्य, कूटस्थ (सदासर्वदा) नित्य हूँ या परिणामी (परिवर्तन-रूपान्तरशील) भी हूँ? मेरी आत्मा निराकार ही है या वह आकार भी धारण करती है? वह पञ्चभूतमय अचेतन ही है या शरीर के साथ रहते हुए सचेतन भी है? यदि आत्मा केवल ज्ञानचेतनामय है तो फिर शरीर के साथ उसका क्या लेना-देना है? और वह इस गति, योनि या देह में कैसे आ गई? यदि कहें कि कर्मों के कारण आ गई, तब क्या आत्मा कर्मचेतनामय भी है? यदि कर्मचेतनामय है तो रहे, किन्तु वह तो सभी संसारी जीवों के साथ समानरूप से है। फिर एक को कम दुःख, एक को अधिक, एक मन्दबुद्धि, एक तीव्रबुद्धि, ऐसा संसार में क्यों दिखाई देता है? ऐसी विविधता है, तब तो कहना चाहिए कि आत्मा कर्मफलचेतनामय भी है। इन सब बातों का रहस्य श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की स्तुति के माध्यम से खोल कर रख दिया है। परमात्मा में निहित शुद्ध आत्मा के गुणों तथा आत्मा के विविध रूपों का ज्ञान हो जाना ही वास्तव में अध्यात्मज्ञान है। ऐसा अध्यात्मज्ञान हो जाने पर साधक को परमात्मा से मिलने में आसानी हो जाती है।

अतः इस गाथा में परमात्मा यानी शुद्ध आत्मा को त्रिभुवनस्वामी कहा गया है। आत्मा जब रागद्वेषादि विकारशत्रुओं को जीत कर शुद्धचैतन्य पर अपना आधिपत्य जमा लेती है, तो तीनों लोकों में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो उसे हटा सके, दबा सके, जीत सके। तीनों लोकों में वह आत्मा सबसे बढ़कर शक्तिमान व अनन्तवीर्यमय होने से वह तीनों भुवन से ऊपर उठ कर तीनों

भुवनो की स्वामी बन जाती है। ऐसी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनी हुई आत्मा फिर कही जन्म-मरण नही करती, कोई कर्मबन्धन नही करती, परन्तु साथ ही वह ज्ञानादि मे परिणमन करती है, इसलिए परिवर्तन=(परिणाम) शील भी है। वह एकान्त कूटस्थ नित्य नही है। ससारी आत्माएँ भी निश्चयदृष्टि से नित्य एव अविनाशी होने हुए भी विविध गतियो मे भ्रमण करने के कारण परिणमन-परिवर्तनशील है, अथवा शरीर धारण करने के साथ-साथ आत्मा के अनेक नाम-रूप हो जाते है। परमात्मा की एक आत्मा के भी जिन, वीतराग आदि या ऋषभ, अजित आदि, अथवा तीर्थंकर जगद्गुरु, केवलज्ञानी, विश्ववत्सल आदि अनेको नाम-रूप हो जाते है। साथ ही पर यानी शत्रु—(आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के गुणो का घात करने वाले) कर्मो या रागद्वेषादिविकारो—परभावो रूपी शत्रुओ को परमात्मा नमा देते हैं। वे उन्हे अपने पर हावी नही होने देते। न अपनी आत्मा को दबाने देते है, इस दृष्टि से वे **परनामी** हैं। इसी प्रकार ससारी आत्मा भी परनामी बन सकती है, बशर्ते कि वह रागद्वेषादिविकारो या आत्मगुणघातक कर्मो, (जो कि परभाव है, आत्मा के शत्रु हैं) से दूर रह कर स्वभाव मे ही रमण करे।

परमात्मा की आत्मा जब शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध (मुक्त) हो जाती है, तब वह सर्वथा निराकार हो जाती है अथवा निश्चयदृष्टि से समस्त आत्माएँ अपने आप मे अरूपी, अमूर्त होने मे निराकार है, इसलिए परमात्मा भी निराकार है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से शरीर के साथ सयोग होता है, अथवा वीतरागप्रभु की आत्मा भी जब तीर्थंकर-अवस्था मे देह मे स्थित (शरीरव्यापी) रहती है, तब उनकी आत्मा और ससारी आत्माएँ भी साकार सचेतन कहलाती है। अथवा परमात्मा मे साकार (ज्ञान) उपयोग के कारण साकार ज्ञानचेतना और निराकार (दर्शन) उपयोग के कारण निराकार ज्ञानचेतना होती है। यही समस्त ससारी जीवो मे भी होती है। अथवा वीतरागप्रभु (तीर्थंकररूप मे) जब देशना (उपदेश) देते है, तब वे शरीरी होने से साकार होते है, और जब मोक्ष मे चले जाते हैं, तब निराकार हो जाते हैं। इस दृष्टिबिन्दु से आत्मा के दो प्रकार हुए—जो वीतराग प्रभु मे घटित होते है। प्रत्येक आत्मा को इन दो प्रकारो से समझना चाहिए। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के कारण उसे साकार और निराकार कहने मे जरा भी विरोध नही है। क्योकि व्यवहारदृष्टि से ये

सब भेद अवस्थाभेद के कारण से है। निश्चयदृष्टि से आत्मा में कोई भेद नहीं होता।

इसी तरह व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्म का कर्ता है, और भावकर्मफल का भागी (भोक्ता या अधिकारी) है। प्रत्येक आत्मा जब तक इस संसार में रहता है, तब तक वह कर्म करता है। यदि वह शुभकर्म करता है, तो उसे शुभफल और अशुभकर्म करता है तो अशुभफल मिलता है। वीतराग परमात्मा भी जब तक साकार (सदेह) है, सयोगी केवली है, तब तक उनके भी योगों की चपलता के कारण कर्म होते हैं, चाहे वे शुभ ही हों, और उन कर्मों का फल भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है, चाहे वे समयमात्र भी भोगें। किन्तु वीतराग-प्रभु जानते हैं कि जो मैंने किये हैं, उनका फल स्वयं मुझे ही अवश्यमेव भोगना है। कर्मफल भोगने के समय वे घबराते नहीं। वे कर्मफल भोग कर उनसे शीघ्र ही छुटकारा (मुक्ति) पा लेते हैं। अतः वे शुद्धोपयोगी रह कर कर्मफल भोगने के औपचारिक रूप से भागी कहे जाते हैं। अथवा उन्होंने केवलज्ञानप्राप्ति से पहले जो भी शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फलस्वरूप तीर्थंकर नामगोत्र आदि कर्मफल—उन्हें ही भोगने हैं, क्योंकि इस अकाट्य सिद्धान्त पर उनका भलीभाँति विश्वास होता है कि जो भी कर्म किये हैं, उनके फल भोगे बिना कोई चारा नहीं है। क्योंकि [1] कृतकर्मों का फलभोग अनिवार्य है। जब समस्त कर्मफल भोग लिये जायेंगे, तभी मुक्ति होगी। मुक्ति में गये बाद न तो कर्म करना होता है और न कर्मफल भोगना होता है। वहाँ तो कर्ममुक्त हो कर आत्मा निजगुणों में प्रवृत्त रहता है, यानी अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों में रमण करता रहता है। वहाँ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो कर परमात्मा शुद्ध ज्ञानचेतना में लीन रहते हैं।

मतलब यह है कि जैनदर्शन में चेतना के तीन भेद माने गये हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। चेतना यद्यपि अपने आप में एक अखण्ड तत्त्व है, किन्तु विभिन्न दशाओं या अपेक्षाओं से उसके तीन रूप बन जाते हैं—ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। यद्यपि तीनों चेतनाओं के क्रम

१. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

मे पहले कर्मरूप चेतना, फिर कर्मफलरूप चेतना, तदनन्तर ज्ञानरूप चेतना है, तथापि यहाँ पहले ज्ञानचेतना को प्रस्तुत किया है, तदनन्तर शेष दोनो चेतनाओ को। इन तीनों चेतनाओ के लक्षण क्रमश आगे की गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी स्वय बतलायेंगे।

यहाँ उपर्युक्त तीनो चेतनाओ को परमात्मा मे बताने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्म-रसिक साधक कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के समय सावधान रहे, समभावी हो कर चले और अप्रमत्त (जागृत) रहे, ताकि ससार से पराङ्मुख हो कर निराकार परमात्मा की तरह अन्तर्मुखी बन कर एकमात्र शुद्ध ज्ञानचेतना की अखण्डधारा की साधना करे। स्वय मे स्व का उपयोग करे, अपने अन्दर अपने स्वरूप का ज्ञान करे। इस प्रकार ज्ञानचेतना की अविच्छिन्न धारा विकसित होते-होते सिद्ध (परमात्म) दशा तक पहुँच जाय।

इसी दृष्टि से सर्वप्रथम ज्ञानचेतना के विषय मे अगली गाथा मे कहते हैं—

निराकार अभेदसंग्राहक, भेदग्राहक साकारो रे।
दर्शन-ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारो रे ॥वासु०॥२॥

अर्थ

परमात्मा मे अभेदस्वरूप को ग्रहण करने वाला निराकार (दर्शन = निर्विशेषसामान्य) उपयोग है, तथा भेदयुक्त स्वरूप को ग्रहण करने वाला साकार (ज्ञान = विशेष) उपयोग भी है। वस्तु को ग्रहण करने मे आत्मा के इन दोनो उपयोगो (व्यापारो) को ले कर इनके क्रमश दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना ये दो भेद हो जाते हैं। अर्थात् ये दोनो चेतनाएँ ही क्रमश निराकार और साकार कहलाती हैं, जो परमात्मा मे केवलदर्शन और केवलज्ञान के रूप मे रहती हैं।

भाष्य

ज्ञानचेतना : स्वरूप और भेद

परमात्मा मे जिस विशुद्ध ज्ञानचेतना का विकास हुआ है, वह दो प्रकार की है—एक सामान्यग्राही है, दूसरा विशेषग्राही है। जीव-अजीव आदि

समग्रपदार्थों की सामान्यरूप से या अभेदरूप से ग्राहक निराकार ज्ञानचेतना है, जिसे दर्शन कहते हैं और जीव-अजीव आदि समस्त पदार्थों की विशेषरूप से या भेदरूप से ग्राहक साकार ज्ञानचेतना है, जिसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार परमात्मा में निराकार उपयोग और साकार उपयोग की क्रिया (आत्मव्यापार) प्रतिक्षण होती रहती है। अर्थात्—आत्मा परमात्मा के स्वरूप को जानने की, जड (अजीव) से भिन्न चैतन्य (आत्मा) को पहिचानने की जो क्रिया होती है, वह इन दोनों प्रकारों के जरिये होती है।

प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष दो प्रकार के धर्म होते हैं, तो प्रत्येक आत्मा में भी पदार्थ के पूर्वोक्त दो धर्मों (सामान्य विशेष) को जानने की शक्ति होती है, जिसे ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना कहते हैं। आत्मा में अगर ज्ञानचेतना न होती तो वह यह कैसे जान सकती कि जीवन क्या है? जगत् क्या है? जगत् में कितने द्रव्य हैं? उनके क्या-क्या लक्षण हैं? जीव और अजीव में क्या अन्तर है? और इनका आपस में क्या सम्बन्ध है? आत्मा में ज्ञानचेतना (ज्ञानशक्ति) होने से ही वह यह सब जान सकती है।

ज्ञानचेतना के दो भेद तो इसलिए किये हैं कि आत्मा पदार्थों को जान तो अवश्य सकती है, मगर वह किसी भी पदार्थ को सहसा विशेषरूप से उसके असली स्वरूप को पहिचान नहीं सकती। वह क्रमशः ही जानती है। किसी चीज को देखते ही या स्पर्श आदि होते ही पहले क्षण में, सामान्यरूप से एक ऐसा आभास होता है कि 'यह कुछ है' उसके बाद दूसरे-तीसरे क्षणों में वह वस्तु किस प्रकार की है? कैसी है? क्या है? आदि विशेष प्रकार से जानती है। इसी क्रम को निराकार उपयोग (दर्शन) और साकार उपयोग (ज्ञान) कहा जाता है। सामान्य से विशेष तक पहुँचने का समय बहुत ही अल्प होता है।

यहाँ ज्ञानचेतना द्वारा शुद्ध आत्मा या परमात्मा के विषय में जानकारी करने हेतु स्व का उपयोग स्व में करना होता है। वस्तुतः इसी स्थिति का नाम ज्ञानचेतना है। ऐसी ज्ञानचेतना वीतरागभाव की या शुद्ध आत्मस्वरूप की एक पवित्रधारा है। ज्ञानचेतना से साधक अन्य विकल्पों को छोड़ कर संसार से पराङ्मुख हो कर यानी बहिर्मुखी न रह कर अन्तर्मुखी बन जाता

है। और परमात्मभाव—मुक्तिपद की ओर अग्रसर होता है। ज्ञानचेतना की साधना मे स्वय मे स्व का उपयोग, स्व मे स्वस्वरूप का भान करना होता है। यही सबसे बडी साधना है, यही सबसे बड़ा धर्म है। ज्ञानचेतना की अखण्डधारा सम्यग्दर्शन से बढते-बढते परमात्मदशा तक पहुँच जाती है। यद्यपि शुद्ध ज्ञानचेतना के साथ भी छद्मस्थ को बीच-बीच मे शुभधारा अवश्य आती है। परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतना का अत्यधिक बल होने से वे विकल्प अधिक देर तक नही टिक पाते। मन के शुभ या अशुभ विकल्पो को तोडने का एकमात्र साधन शुद्ध ज्ञानचेतना ही है।

निश्चयदृष्टि मे एकमात्र आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपना नही है और वह आत्मस्वरूप की अविच्छिन्न स्थिति ही ज्ञानचेतना है।

परन्तु ऐसी ज्ञानचेतना अधिक समय तक अविच्छिन्नरूप से सामान्य साधक मे टिक नही पाती, बीच मे शुभ का विकल्प आ जाता है, इसलिए आगे की गाथा मे चेतना के द्वितीय प्रकार—कर्मचेतना के बारे मे कहते है—

कर्ता परिणामी, परिणामो, कर्म ते जीवे करिए रे।
एक-अनेकरूप नयवादे, नियते नर अनुसरिए रे ॥वासु०॥३॥

अर्थ

परमात्मा शुद्धनय से निजस्वभाव का, तथा अशुद्धनय (पर्यायार्थिक नय) की मुख्यता की अपेक्षा से स्वपर्यायो, भावकर्मादि का उत्पादक और विनाशक है। वह स्वपर्यायो का उपादानकारण और परपर्यायो की उत्पत्ति और विनाश का भी कारण (कर्ता) समझा जाता है। ऐसी आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील (परिणामी) है। कर्म भी उसका एक परिणाम है। परन्तु वह कर्म तभी बन्धनकारक होता है, जब जीव के द्वारा किया जाता है, यानी जब चेतना के साथ उसका संयोग होता है। वास्तव मे निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एकरूप है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकरूप है। यह सब नयवाद की दृष्टि से है। इसलिए हे मुमुक्षु साधक ! अन्त मे तो तुम्हें निश्चयनय से निर्णीत आत्मा का ही अनुसरण करना चाहिए।

भाष्य

आत्मा का एक रूप : कर्मचेतना

परमात्मा मे निश्चयदृष्टि से तो ज्ञानचेतना ही होती है, लेकिन जब तक वे चार घातीकर्मों से युक्त होते हैं तब तक उनमे कर्मचेतना भी होती है। वीतराग एव सदेहमुक्त होने पर कर्मचेतना नही होती। मगर सरागी जीवो के कर्मचेतना अवश्य होती है।

प्रश्न होता है कि चेतना तो आत्मा का गुण है और कर्म अपने आप मे जड है। इन दोनो का मेल कैसे हो सकता है? जब जड-चेतन का मेल नही, तब उसे कर्मचेतना क्यो कहा गया?

इसका समाधान यह है कि निश्चयदृष्टि से सिद्धो की आत्मा मे कर्मचेतना नही होती। व्यवहारदृष्टि से सासारिक रागद्वेषयुक्त आत्माओ के साथ ही कर्मचेतना का सम्बन्ध है। कर्म को, केवल कर्म मत समझो। क्योकि उसके साथ चेतना भी है। इसी कारण से बन्ध होता है। यदि कर्म के साथ चेतना न हो तो बन्ध नही हो सकता। जलती हुई अगरबत्ती के कारण सभी की नाक मे भीनी-भीनी सुगन्ध पहुँची और उन्हे आनन्द आया। पखा टूट कर नीचे गिर पडा, इससे एक आदमी का सिर फट गया, यहाँ अगरबत्ती या पखा, इन दोनो मे से किसी को भी कर्म का बन्धन नही होता। क्योकि ये दोनो जड हैं। जड होते हुए भी उनमे कर्म (क्रिया) अवश्य सम्पन्न हुआ; मगर बन्धन नही हुआ। निष्कर्ष यह है कि जड पदार्थ मे कर्म होने हुए भी उसमे चेतना न होने के कारण बन्ध नही होता। बन्ध वही होता है, जहाँ चेतना होती है। पखे और अगरबत्ती मे कर्म (क्रिया या चेष्टा) तो है, परन्तु चेतना नही है, इसलिए न तो पखे को अशुभबन्ध हुआ और न अगरबत्ती को ही शुभबन्ध हुआ।

अत कर्मचेतना का अर्थ यह है कि जहा चेतनापूर्वक कर्म किये जाँय, उसी से ही शुभ या अशुभ बन्ध होता है। चेतनापूर्वक कर्म चेतन मे ही सम्भव है, इसलिए चेतन मे ही बन्ध होता है, और चेतन मे ही मोक्ष हो सकता है। चैतन्यशून्य पुद्गल मे कर्म होते हुए भी बन्ध नही हो सकता। यही कर्मचेतना का रहस्य है।

परन्तु प्रश्न होता है कि कर्मचेतना आत्मा मे होती किस कारण से है?

जब हमारे अन्तर मे राग या द्वेष से किसी क्रिया की स्फुरणा होती है, तब भाववतीशक्ति से आत्मचेतना विविध विकल्प करती है। जैसे यह करू या वह करू ? यह करू या न करू ? क्या करू, क्या न करू ? इस प्रकार के विकल्पो की जो ध्वनि आत्मा मे निरन्तर उठा करती है, वही कर्मचेतना का कारण है। ऐसी चेतना (विकल्पो की स्फुरणा) कही बाहर की नही, हमारे अदर की है। वह अन्तर की चेतना ही कर्मचेतना है। भले ही बाहर मे तदनुरूप कोई क्रिया न हो। अध्यात्मजगत् मे मूल प्रश्न कर्म (क्रिया) का नही है, अपितु कर्मबन्ध का है, जो कमचेतना के कारण होता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कह दिया कि कर्ता (चेतन या अचेतन) परिणामी=परिणमनशील है। परन्तु उन्होने साथ मे यह भी बता दिया कि **'परिणामो कर्म जे जीवे करिए रे'**, कोई भी कर्म जो जीव के परिणामो (चेतना मे उत्पन्न विधिनिषेध के विविध विकल्पो की लहरो) से किया जाता है, उसे ही कर्मचेतना कहते है। कर्मचेतना के समय चेतना के सागर मे विकल्पो का तूफान उठता है। तब आत्मा स्वरूप मे स्थिर नही रह पाती। जब आत्मा स्वस्वरूप मे स्थिर नही रह पाती, तब कर्मबन्ध के चक्कर मे उलझी रहती है। विकल्पो की लहरें ही कर्मबन्ध का मूल कारण बनती है। यद्यपि आत्मा अपने सहजस्वरूप से शान्तसरोवर के समान स्थिर है, किन्तु जब उसमे कर्तव्यसम्बन्धी विविध विकल्पो की उर्मियाँ उठने लगती हैं, तब वह अशान्त बन जाती है। इस विराट् विश्व मे सर्वत्र लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओ का अक्षय भडार भरा पडा है। जब चेतना मे विविध विकल्पो का तूफान उठता है, तब ये ही कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करके आत्मा से बद्ध हो जाती है। अनन्त अतीतकाल में ये कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करती और आत्मा से बद्ध होती आई हैं, भविष्य मे भी ये कर्म का रूप तब तक लेती रहेगी, जब तक भावकर्म का सर्वथा क्षय न हो जाय। चूकि कर्मपरमाणुओ के साथ आत्मप्रदेशो का सश्लेष (कर्म) बन्ध कहलाता है। यही कारण है कि जडकर्मो के साथ चेतन की परलक्ष्यी विकल्प शक्ति रहती है। कोई भी कार्य बिना कारण के हो नही सकता, भले ही हमे कारण प्रत्यक्ष न दिखाई दे। लेकिन कार्य तो अवश्य ही दिखाई देता है। जन-कर्मबन्धरूप कार्य के प्रति चेतना का रागद्वेषात्मक विकल्प ही निमित्त कारण

है। शास्त्र में जड कर्मों को द्रव्यकर्म और चेतनकर्मों को भावकर्म कहा है। अत भावकर्म से द्रव्यकर्म का और द्रव्यकर्म से भावकर्म का बन्ध होना रहता है। यह निमित्तनैमित्तिक-सम्बन्धरूप भावकर्म ही वास्तव में कर्मचेतना है।

इस दृष्टि से जब हम विचार करते है तो कर्मचेतना के भी दो भेद हो जाते है—पुण्यकर्मचेतना, और पापकर्म-चेतना। किसी दुखी व्यक्ति को देख कर उसके दुख दूर करने की भावना से जो दान दिया जाता है या गुरुभक्ति, या सेवा की जाती है, वह पुण्यकर्म चेतना है। जब आत्मा मे शुभकार्य करने का विकल्प उठता है, तब पुण्यकर्मचेतना होती है। वह चेतना जिसमे पुण्य की धारा शुभ दान मे प्रवाहित होती रहती है, वह पुण्यकर्मचेतना है। इसमे शुभ-योग मे स्थित आत्मा पुण्यकर्मबन्ध करती है। दूसरी कर्मचेतना पापकर्म-चेतना है। जो पुण्यकर्मचेतना से विपरीत है, उसमे पाप की धारा प्रवाहित होती रहती है। उस समय आत्मा अशुभयोग मे स्थित हो कर पापप्रकृतियो का बन्ध करती है। किसी को कष्ट देने, दुख देने का विचार काम, क्रोध आदि का अशुभ विकल्प पापकर्मचेतना है। किसी की वस्तु छीनना, किसी के साथ मारपीट करना, किसी को गाली देना आदि पापकर्मचेतना के उदाहरण है। मिथ्यादृष्टि आत्मा ही नही, सम्यग्दृष्टि आत्मा भी जब ऐसी अशुभयोग की क्रियाएँ करती है, तो उसे भी पापप्रकृतियो का बन्ध होता है।

आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से चैतन्यरूप लक्षण के कारण एक[1] है। साथ ही व्यवहारनय[2] की दृष्टि से जीवात्माएँ अनन्त है। किसी अपेक्षा से ज्ञानात्मा आदि आठ आत्माएँ भी है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—'एक-अनेक-रूप नयवादे।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के साथ रागद्वेषादि विकल्पो के कारण कार्मण-वर्गणाओ का सश्लेष-सयोगसम्बन्ध होता है। इस कारण वे कार्मण-वर्गणाएँ ही आत्मा के साथ चिपकने के समय कर्म कहलाती है। आत्मा कार्मणवर्गणा को कर्मरूप से करता है। वह करने वाला आत्मा का एक परिणाम है।

१ कहा भी है—'एगे आया'—ठाणागसूत्र
२ 'अणंता जीवा'—भगवतीसूत्र

वह भी भावकर्म है, जो आत्मा के रागद्वेषादि परिणाम रूप हैं। वही वास्तव मे कर्मचेतना है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय मे आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता कहलाता है। यद्यपि आत्मा चैतन्यरूप के कारण एक प्रतीत होती है, परन्तु कर्म के कारण उसके अनेक भेद हो जाते है। विविध गतियो और योनियो मे आत्मा के परिणमन के कारण उसके अनेक रूप दिखाई देते है।

परमात्मा मे कर्मचेतना व कर्मफलचेतना नही होती, क्योकि वे घाती कर्मो एव रागद्वेष से रहित होते है। वे शुद्ध ज्ञानचेतना या ज्ञानदर्शन-चारित्र-रूप मुक्तिमार्ग मे स्थिर होते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी भव्यसाधको से कहते हैं—'नियते नर! अनुसरिए रे' अर्थात्—साधकपुरुष! कर्मचेतना का स्वरूप समझ कर तथा आत्मा के विविध रूप देख कर विकल्पो के जाल (भले ही वे शुभ हो) मे लुभा मत जाना। तू एकमात्र ध्रुव, शाश्वत आत्म-तत्त्व मे या आत्मस्वरूप मे स्थिर हो कर उसका अनुसरण करना।

चूंकि द्रव्यार्थिक—निश्चयनय के अनुसार आत्मा स्वभावपरिणति से निजस्वरूप की अथवा स्वगुणो की ही क्रिया का कर्ता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—स्वज्ञान से आत्मा स्वपरपदार्थ को जानती है, दर्शन से श्रद्धा करती है, चारित्र से कर्मपरमाणु रोकने की क्रिया (सवर) करती है और आत्मानन्द-परमानन्द स्वभाव को भोगती है, उसमे रमण करती है।[1]

अब अगली गाथा मे कर्मफलचेतना के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं।

> सुखदु खरूप कर्मफल जाणो, निश्चै एक आनन्दो रे।
> चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे॥
>
> वासुपूज्य० ॥४॥

अर्थ

कर्म के फल सुखरूप भी हैं, और दु खरूप भी हैं, इसे भलीभाति समझ

---

१ कहा है—"नाणेण जाणइ भावे, दसणेण च सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥"

लो। निश्चयदृष्टि मे एकमात्र आत्मानन्द (स्वस्वरूपरमणता का आनन्द) ही आत्मा का फलभोग है। श्रीजिनेश्वरो (वीतरागो) मे चन्द्र के समान तीर्थंकरदेव कहते हैं चेतन की चेतनता ही उसके परिणाम हैं, जिन्हें वह कदापि नहीं छोड़ सकता।

भाष्य

कर्मफलचेतना : स्वरूप और कारण

जब आत्मा कर्मफलचेतनारूप होता है तो रागद्वेषजनित कर्मबन्ध का शुभाशुभ फल भी उसे मिलता है। प्राणी को जब दुःख का अनुभव हो, तो उसे भी कर्मफल जानना चाहिए, और सुख का अनुभव हो, तब भी उसे कर्मफल समझना चाहिए। आत्मा के अनुकूल (मनोज्ञ) वेदन (अनुभव) होना सुख कहलाता है और आत्मा के प्रतिकूल अमनोज्ञ वेदन होता है—दुःख। जब कोई रोगी, कंगाल या कष्टपीडित होता है तो महान दुःख का अनुभव करता है और जब जीव स्वस्थ, धनिक, वैभवविलास से युक्त या आज्ञापालक परिवार से युक्त हो कर मनोज्ञ वस्तुओ को पा जाता है तो सुख का अनुभव करता है। परन्तु वे सुख-दुःखरूप फल आते हैं—पूर्वकर्मो के फलस्वरूप ही। फिर चाहे वे शुभ हो या अशुभ कर्म का फल अवश्य मिलता है। कर्म जब अपना फल देने लगता है, तब उसके साथ अपनी चेतना को-अपनी चेतना की परिणति को जोड देना कर्मफलचेतना है। यानी जिसमें जीव अपने शुभ एव अशुभ कर्म के फल का अनुभव करते समय शुभ फल को पा कर प्रसन्न हो उठता है और अशुभ फल को पा कर खिन्न हो उठता है। उसकी दृष्टि प्रायः पुण्य, पाप और उसके फल मे ही उलझी रहती है। कर्मफलचेतना मे जीव को अपने स्वरूप का भान नही हो पाता। वह कर्मों के भार से इतना दबा रहता है कि कर्म और कर्मफल के अतिरिक्त अविनाशी शुद्ध आत्मतत्त्व पर उसकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। यह सुख भोग लूं, वह सुख भोग लूं, यह दुःख न भोगूं, वह दुःख भोगना न पडे, इस प्रकार भोगने, न भोगने के विकल्पो मे उलझे रहना ही कर्मफलचेतना है। कर्मफलचेतनायुक्त जीव अपने आध्यात्मिक आनन्द को, अपने आतरिक आत्मस्वरूपरमणजन्य शाश्वत अनन्त सुख को भूल जाता है। वह इन्द्रियजन्य भोगो मे सुख मान कर इतना आसक्त हो जाता है कि उसे कर्मफल के अतिरिक्त किसी वस्तु का—अपनी आत्मिक

स्वरूपनिधि या स्वगुणनिधि का भान ही नही रहता कि वह जिस आनन्द या सुख की खोज मे है, वह शाश्वत सुख या आनन्द कही भौतिक पदार्थो या इन्द्रियो के विपयो मे नही, वल्कि अन्तरात्मा मे ही है। किन्तु वह वहिर्मुखी होने के कारण सुख और आनन्द की खोज वाहर मे ही करता है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—निश्चै एक आनन्दो रे।

कर्मो के शुभ या अशुभ फल जैसे अज्ञानी को भोगने पडते हैं, वैसे ज्ञानी को भी भोगने पडते हैं। लेकिन ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा दु खरूप कर्मफल से बेचैनी नही मानता। और दु खरूपफल भोगते समय उसकी दृष्टि मुख्यतया घृणायुक्त या द्वेपात्मक नही होती। इसी तरह सुखरूप कर्मफल हो तो भी वह हर्षित या आसक्त नही होता। वह दोनो स्थितियो को भोगते समय समभाव मे रहता है।

निष्कर्ष यह है कि वीतराग पुरुप या सम्यग्दृष्टि आत्मा भी पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मो के कारण कर्मफलचेतना से युक्त होते हैं, लेकिन जहाँ साधारण (अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि) आत्मा दु खरूप कर्मफल भोगते समय हायतोवा मचाता है, दूसरो (निमित्तो या मन कल्पित निमित्तो) को कोसता है, अपने उपादान (आत्मा) को नही देखता, तथा इस जन्म या पूर्वजन्मो मे स्वय द्वारा कृत किन्ही अशुभ कर्मो के ही ये फल है, इस वात को नही मानता। वह अन्तर्मुखी हो कर आत्मस्वरूप का चिन्तन नही करता।

अत यह निश्चित समझो कि शुभाशुभकर्म का सुख-दु खरूप फल निश्चय-नय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप नही है, वह चैतन्य से भिन्न है। सुख और दु ख ये पुद्गलपर्याय की अवस्थाएँ हैं। मन-वचन-काया की योगजन्य क्रिया कर्म का फल है। कर्म या कर्मफल के साथ आत्मा का सम्बन्ध नही। वल्कि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्रमय या अनन्त-आनन्दमय है और उसी निजस्वरूपानन्द मे मस्त रहती है। आत्मा की निर्गुण क्रिया से तो निश्चय एक आनन्द ही है, जो अनिर्वचनीय, अनन्त तथा अनुभवगम्य है। साधक को आत्मा की निश्चयनय की इस आनन्दमय दशा को ध्यान मे रखनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि त्रिकाल एकस्वभावी (क्षायिकभावी) आत्मा, चेतन को या चेतनता से परिणमन को कभी भूलती नही। जिसने जैसे कर्म वाधे होंगे, उसकी आत्मा तद्रूप हो जायगी, इससे

वह जरा भी नहीं चूकती, चाहे वह अनिष्ट दुःख के परमाणुओं से घिरी हो, चाहे जैसी विचित्र परिणमनदशा हो, चाहे केवल आत्मानन्द का ही अनुभव करती हो। सभी अवस्थाओं में, सर्वकाल में सब सर्वदेश में आत्मा अपने चैतन्य को कभी छोड़ नहीं सकती। वास्तव में चेतन तीनों काल में चेतन ही रहता है। उसमें जो सुखदुःखादि होते हैं, वे तो सिर्फ कर्मों के परिणाम हैं। आत्मा के ८ रुचकप्रदेश तो हमेशा खुले रहते हैं। उन पर कर्मों का कोई असर नहीं होता। अतः निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है। पर उसे जो सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, वे कर्म के फल हैं। यह बात वीतराग परमात्मा (जिनचन्द्र) कहते हैं। यह कह कर श्रीआनन्दघनजी अपनी नम्रता प्रदर्शित करते हैं और कहते हैं कि यह बात मैं अपने मन से कल्पित नहीं कह रहा हूँ, श्री वीतरागश्रेष्ठ परमात्मा इसे कहते हैं।

यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से आत्मा के विविधरूपों का प्रतिपादन किया है। अब आत्मा की उपर्युक्त तीन चेतनाओं का लक्षण संक्षेप में बताते हैं।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान-करम-फल भावी रे।
ज्ञानकर्मफल-चेतन कहीए, ले जो तेह मनावो रे ॥वासु० ५॥

अर्थ

चेतन (आत्मा) विविध अवस्थाओं में अपनी चेतना परिणमन करता है। इसलिए आत्मा अपने आप में परिणामी है। इसी कारण वह ज्ञानरूप में, कर्मरूप में या भविष्यकालिक कर्मफलरूप में परिणत होती है। इसी को क्रमशः ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कहते हैं। इन तीनों चेतनाओं को तुम मनाना, दूसरों को मनाना, अथवा तुम्हारी खुद को आत्मा को, वीतराग परमात्मा की तरह ठीक उपयोग करने हेतु मना लेना।

भाष्य

चेतना की त्रिधारा और इसका सदुपयोग

वीतराग परमात्मा चैतन्यरूप है। चैतन्य में सर्वत्र सामान्यरूप से असंख्य आत्मप्रदेश व्याप्त हैं। आत्मा परिणामस्वरूप है। वह जब जिस रूप में परिणमन करती है, तब तदनुरूप बन जाती है। ये परिणाम तीन प्रकार के हैं—

ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। जब आत्मा का शुद्ध परिणमन, अर्थात् अपने ज्ञानादि गुणों मे परिणमन होता है, तब वह ज्ञानचेतना कहलाती है, जो कि शुद्ध और भूतार्थ है। जब आत्मा कर्म के रूप मे परिणमन करती है, तब वह कर्मचेतना कहलाती है और जब वह कर्मफल के रूप मे परिणत होती है, तब कर्मफलचेतना कहलाती है। ये दोनो चेतनाएँ 'पर' के निमित्त मे होती है। इनमे आत्मा रागादिपरिणाम (भाव) वाली हो जाती है। इसलिए ये दोनो चेतनाएँ अभूतार्थ अशुद्ध और अज्ञानचेतना है। स्व-स्वरूप के ज्ञान के सिवाय अन्य मे 'यह मै करता हूं', इस प्रकार कर्म के कर्तृत्व मे आत्मा का लीन होना कर्मचेतना है। इसी तरह स्वात्मज्ञान के सिवाय अन्य मे 'मैं इसे भोगता हूं', इस प्रकार कर्म के भोक्तृत्व मे आत्मा को तद्रूप बना लेना कर्मफलचेतना है। मगर ज्ञानचेतना की तरह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना मे भी चेतन का ही परिणमन है। यह बात अपने आपको और दूसरो को अवश्य समझा लो। यही बात विभिन्न अध्यात्मग्रन्थो [1] मे बताई है।

---

१. ज्ञानाख्या चेतना बोध, कर्माख्या द्विष्टरक्तता।
जन्तो कर्मफलाख्या सा, वेदना व्यपदिश्यते ॥ —अध्यात्मसार

बोध ज्ञानचेतना है, रागद्वेष कर्मचेतना है, प्राणी के कर्मो के अनुसार फल कर्मफलचेतना है, जिसे वेदना भी कहा जाता है।

'परिणमदि जेण दव्व, तक्काल तम्मयत्ति पणत्त' —प्रवचनसार

जो द्रव्य जिस काल मे जिस भाव मे परिणत होता है, उस काल मे वह द्रव्य तद्रूप हो जाता है।

अप्पा परिणामप्पा, परिणामो णाण-कम्म-फल-भावी।
तम्हा णाण कम्म फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥
परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेतणा तिधाऽभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥
णाण, अट्ठवियप्पो कम्म जीवेण ज समारद्ध।
तमणेगविधं भणिद फल ति सोक्ख व दुक्ख वा ॥१२४॥ —प्रवचनसार

अर्थ—आत्मा परिणामस्वरूप है परिणाम ज्ञानरूप मे, कर्मरूप मे और कर्मफलरूप मे होने वाले त्रिविध हैं। इसलिए आत्मा को ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप मानना चाहिए। आत्मा स्वचेतना के द्वारा परिणमन करती है। चेतना तीन प्रकार की मानी गई हैं--क्रमश वह है—ज्ञानविषयक, कर्मविषयक और कर्मफलविषयक।

समस्त विकल्प (वस्तुग्रहण व्यापार) ज्ञान है, जीव के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य कर्म है, जो आठ प्रकार के होते है। सुख और दुःखरूप कर्मफल हैं। जिसे अनेक प्रकार का कहा है।"

श्री आनन्दघनजी का कहने का आशय यह है कि तुम मानो या न मानो, चेतन का अवश्य ही परिणमन होगा, और जब तक जीव संसारी है, तब तक शुभ या अशुभ कर्मबन्धन भी होगा ही, तथा जिसने जैसे कर्म किये होंगे, उसे तदनुसार फल भी मिलेगा, जो उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। इसमें राईरत्तीभर भी फर्क पड़ने वाला नहीं। इसलिए अपनी आत्मा को भलीभांति समझ लो। अन्य लोगों को भी यह बात भलीभांति हृदयंगम करा दो।

चेतन और अचेतन मे यही अन्तर है कि चेतन आत्मा का निजी सहभावी गुण है, पुद्गल या जड को या किसी भी जड़द्रव्य को यह विज्ञान नहीं मिलता। कर्म के साथ चेतना जुड़ती है, उस समय जैसे अध्यवसाय या परिणाम होते हैं, तदनुसार कर्मबन्ध होता है। चेतन के सम्बन्ध मे कोई प्रिय या अप्रिय घटना हो तो समझ लेना चाहिए कि अवश्य ही यह मेरे किसी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म का फल है। कर्म करते समय तथा कर्मफल भोगते समय तीर्थंकर परमात्मा की तरह राग-द्वेष, आसक्ति, घृणा, द्रोह-मोह आदि भाव नहीं रखने चाहिए, यही इसका फलितार्थ है।

आत्मा के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान और उससे प्राप्त होने वाले अनिर्वचनीय आनन्द के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते है—

आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतसंगी रे ॥

वासु० ॥६॥

अर्थ

आत्मा के सम्बन्ध मे विविध पहलुओ और दृष्टियो से ज्ञान प्राप्त करने वाला श्रमण कहलाता है। इसके अतिरिक्त और सब केवल मुनिवेषधारी द्रव्यलिंगी हैं। जो वस्तु जिस रूप मे हो, उसे उसी रूप मे जानें, समझें ओर प्रगट करे (कहे) वे ही आनन्दघन (सच्चिदानन्द परमात्मा) के, शुद्ध आत्म-स्वरूप के अथवा जहाँ आनन्दसमूह है, उस मोक्ष के ज्ञान (मत) के सत्संगी (वादी या प्राप्त करने वाले) हैं।

भाष्य

अध्यात्मज्ञानरसिक ही श्रमण हैं

पूर्वोक्त मतानुसार जो अध्यात्मज्ञानी, (विविध पहलुओ से आत्मा के ज्ञाता) हैं, जो आत्मविज्ञान के रसिक हैं। जो अपने जीवन मे प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया आत्मा को, या आत्मस्वरूप को लक्ष्य मे रख कर करते है। इसके अतिरिक्त जो पेट भरने के लिए अध्यात्मज्ञान वघारते हैं, जो अध्यात्मज्ञान के वहाने शब्दजाल रचते है या आत्मज्ञान की ओट मे स्वार्थमय व्यापार या स्पृहाओ का जाल विछाते हैं, वे श्रमण के वेप मे नकली श्रमण है, वेपधारी है। वे नकली अध्यात्मज्ञानी हैं, भावपूर्वक अध्यात्मज्ञानी नही है। ऐसे लोग साधु, सन्यासी, श्रमण या मुनि का वेप पहिन कर आत्मज्ञान मे पुरुपार्थ करना छोड कर सिर्फ खानपान, ऐश-आराम, शारीरिक सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा आदि की लिप्सा मे पड जाते है। वे खाना, पीना और मौज उडाना ही अपने जीवन का लक्ष्य वना लेते है। देखिये, मुनि का लक्षण ज्ञानसार मे वताया है—

मन्यते यो जगत्तत्व स मुनि. परिकीर्तित ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं, मौन सम्यक्त्वमेव च ॥

जो जगत् के तत्त्वो पर भलीभाँति मनन करता है, वही मुनि कहलाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मे अनुगत जो[1] सम्यक्त्व (सत्यता) है, वही मौन = मुनित्व है और जो मुनित्व है, वही इस प्रकार का सम्यक्त्व है। जिसमे आत्मा का सम्यक् ज्ञान है, उसमे ही मुनित्व समझो, जिसमे मुनित्व है, उसमे ही सम्यग्ज्ञान समझो, जो आत्मज्ञान मे मस्त हो, जो जड-चेतन का भेद, आत्मा का स्वरूप, गुणो और शक्तियो का रहस्य भलीभाँति जानता हो, वही सच्चा साधु है। जिसकी दृष्टि मे राजा और रंक का, गरीव-अमीर का कोई भेद न हो, समस्त प्राणियो मे निहित आत्मगुण या शुद्ध आत्मत्व (चैतन्य) दृष्टि से जो देखता हो, वही मुनि है, वही श्रमण है, समन है। ऐसी आत्मदृष्टि होने पर उसकी दृष्टि मे जड या पर पदार्थों का

---

१. 'ज सम्मति पासह, त मोणति पासह,
ज मोणति पासह, तं सम्मति पासह ॥'

—आचारागसूत्र

इतना मूल्य नहीं होगा। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी बात को अभिव्यक्त किया गया है—"जो[1] आत्मज्ञान-दर्शन से सम्पन्न है, संयम और तप में रत है, जो इस प्रकार के गुणो से समायुक्त हो, उसे संयमी को ही साधु कहो।" ऐसा आत्मज्ञानी निःस्पृह श्रमण, जो बात जैसी होगी, वैसा उसका स्वरूप होगा, जैसी देखी-सुनी-सोची-समझी या अनुमान की हुई होगी, उसी रूप में लोगो के सामने प्रगट करेगा। वह झूठे मुलाहिजे, लागलपेट, चापलूसी या अपनो के पक्षपात से दूर होगा। ऐसा मुनि ही आनन्दघनमत यानी मोक्षमार्ग का साथी या सत्संगी है सच्चिदानन्दघन परमात्मा के मत का संगी-साथी है।

श्रीआनन्दघनजी निःस्पृह साधु थे। उन्होंने अपना कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय नहीं चलाया था। इसलिए 'मत' का अर्थ यहाँ सिर्फ 'विचार' समझना चाहिए, सम्प्रदाय या परम्परा नहीं। वे योगी एवं भौतिक प्रलोभनों से दूर, सच्चे मस्त संत थे। उन्होंने आत्मज्ञान को पचा व रमा लिया था। क्योंकि अनुभवयुक्त आत्मज्ञान से ही कोई मुनि हो सकता है, केवल अध्यात्म के ग्रन्थो की पारिभाषिक शब्दावली रट लेने से नहीं, अपितु समताभाव को जीवन मे रमा लेने से ही कोई श्रमण हो सकता है। ऐसा आत्मज्ञानी साधक ही वस्तु का यथार्थरूप मे कथन करता है। वह आत्मज्ञान की उपलब्धि करने, दूसरो को समझाने, आत्मज्ञान को जीवन मे रमाने में और अन्त मे, आत्मज्ञान का वास्तविक प्रतिपादन करने मे जरा भी नहीं हिचकिचाता।

प्रवचनसार और ज्ञानसार मे श्रमणत्व[2] का लक्षण बताया है कि जो दर्शन,

---

१. "नाण-दंसण-संपन्नं, संजमे य तवे रयं।
एयं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे॥" —दश अ ७

२ दंसण-णाण-चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठियो जो दु।
एयग्गगतोत्ति मतं, सामण्णं तस्स पडिपुण्णं॥
—प्रवचनसार

आत्मानमात्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
ज्ञेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिस्चयाऽऽचारैकता मुने.॥
—ज्ञानसार

ज्ञान और चारित्र तीनों में एक साथ एकाग्र व समुद्यत रहता है, उसका श्रमणत्व परिपूर्ण माना गया है।' निश्चयदृष्टि से माना गया है कि जो आत्मा के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे ही मुनि समझो। उसी मुनि के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में अपनी श्रद्धा, बोध और आचरण (आचार) में एकरूपता समझनी चाहिए।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्वरूप का भलीभांति गुणचित्रण करके साधकभक्त को ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना रूप चेतनात्रय को आत्मा का अंग बना कर आत्मा की शुद्ध ज्ञानचेतना पर चलना तथा कर्म एवं कर्मफलचेतना की केवल जानकारी प्राप्त करना अभीष्ट बताया है। अन्त में, आत्मज्ञानी की महत्ता बता कर साधक के जीवन में वस्तुतत्त्व के यथार्थ प्रकाश (प्ररूपण) और परमात्मा की प्राप्ति को ही सारभूत तत्त्व बतलाया है।

१३ श्रीविमलनाथ जिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा का साक्षात्कार

(तर्ज-ईडर आंबा आंबली रे, ईडर दाडिम द्राक्ष, राग-मल्हार)

दु:खदोहग दूरे टल्यां रे, सुखसंपदशुं भेट ;
धींगधणी माथे कियो रे, कुण गंजे नर-खेट ? ।
विमलजिन, दीठां लोयण आज, मारा सीध्यां वांछित काज ॥
विमलजिन० ॥

अर्थ

तेरहवें तीर्थंकर श्रीविमलनाथ वीतराग परमात्मा को आज मैंने नेत्रों से देखा, इससे मेरे भूतकाल के सभी दु:खोत्पादक कर्म, वर्तमानकाल मे उन दु खो का अनुभव तथा भविष्यकाल की आफतो से भरा दुर्भाग्य, ये सब मिट गये, सुख-सम्पदा के साथ भेंट हुई। आज मैंने अपने सिर पर जबर्दस्त स्वामी को धारण किया है, इसलिए कौन दुष्ट (खल) जन मुझे जीत सकता है या फिर कौन तुच्छ मनुष्य के अधीन हो सकता है ? अथवा आत्मगुणो का शिकार करने वाला कौन मिथ्यावादी मनुष्य मुझे हरा सकता है ? इन आत्मिक चक्षुओ से रागद्वेषविजेता प्रभु को देखने [सम्यग्दृष्टि] से मेरे समस्त मनोवाञ्छित [सम्यग्दर्शनादि] कार्य सिद्ध हो गए।

भाष्य

परमात्मा का साक्षात्कार क्यो, क्या और कैसे ?

श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वस्तुति मे तीन प्रकार की चेतना का वर्णन करके अन्त मे ज्ञानचेतना पर ही स्थिर रहने पर जोर दिया था, परन्तु जो व्यक्ति कर्म और कर्मफल के साथ अपनी चेतना को लगा देता है, वह ज्ञानचेतना मे स्थिर नही रह सकता। ज्ञानचेतना मे स्थिर रहने का प्रयोजन यही है कि वह धीरे धीरे क्रमश आगे बढ कर परमात्मसाक्षात्कार तक पहुँचे। अन्तिम ध्येय तक पहुँचना ही ज्ञानचेतना मे दृढतापूर्वक टिके रहने का प्रयोजन है। पर-

मात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने पर आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मतत्त्व यानी शुद्ध आत्मा के दर्शन करके स्वय को कृतकार्य मानते हैं।

चूंकि परमात्मा वर्तमान मे अपने आप मे निरजन निराकार हैं, और अब वे तीर्थंकर-अवस्था मे भी प्रत्यक्ष विद्यमान नही है, इसलिए उनके दर्शन या साक्षात्कार इन चर्मचक्षुओ से तो होने असम्भव हैं, तब फिर श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे कैसे कह दिया—विमलजिन दीठा लोयण आज ? इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे तीर्थंकर (श्री अजितनाथ) की स्तुति मे बताया था कि 'नयण ते दिव्य विचार' अर्थात्-जिन नेत्रो से जिन भगवान् (परमात्मा) के दर्शन हो सकते हैं, वे तो दिव्यविचाररूपी नेत्र हैं। यहाँ भी लोचनो से भगवान् को देखने से तात्पर्य है—दिव्यविचाररूपी नेत्रो से परमात्मा को देखना। परमात्मा को देखने या साक्षात्कार करने से यहाँ मतलब है—शुद्ध आत्मत्व (परमात्व) का विचार करना, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन-मनन करके उनके तत्त्व का अपने आत्मदेव मे विचार करना। यही परमात्मसाक्षात्कार या प्रभुदर्शन अथवा आत्मतत्त्व की प्रतीति से तात्पर्य है। यह हुआ निश्चयदृष्टि से अर्थ।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु को नयनो से देखने का अर्थ है—प्रभु वीतराग की साकार छवि की अन्तर्मन मे कल्पना करके उनके विमल (कर्मफलरहित) एव रागद्वेषविजेता रूप को नीहारना, अपने हृदय मे परमात्मा की शुद्धात्मगुणो से युक्त छवि को देखना, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यनयनो से परमात्मा को हृदय सिंहासन पर विराजमान करके उनके प्रत्येक गुण पर गहराई से चिन्तन करना, उनको अपने नाथ या स्वामी मान कर उनके चरणो मे सर्वस्व अर्पणतापूर्वक भक्तिभावना से अपना सिर झुकाना, और उनके गुणो का प्रफुल्लमन से गान करना। यही दिव्यनेत्रो से परमात्म-साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार (प्रभुदर्शन या शुद्धात्मदर्शन) है।

परमात्मसाक्षात्कार के बाद दुःखदौर्भाग्यनाश कैसे ?

अब तक आत्मा ने चारो गतियो और विविध योनियो मे दुःख ही दुःख पाया, क्योंकि पूर्वोक्त दिव्यनेत्र नही मिले थे, जिनसे परमात्मा के दर्शन कर पाता। देवगति मे दूसरे देवो का उत्कर्ष देख कर ईर्ष्या होती है, च्यवन (अन्त)-

काल नजदीक आता है, तब देव इष्ट-वियोग के दुःख से पीड़ित हो कर विलाप और शोक करते हैं। मनुष्यगति में वैरविरोध, निन्दा, भय, इष्टवियोग और अनिष्टयोग में दुःख ही दुःख होता है। तिर्यचगति में विवश और पराधीन हो कर पशु-पक्षी आदि को चुपचाप खूब दुःख सहने पड़ते हैं और नरकगति के दुःख का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वहाँ पारस्परिक दुःख के सिवाय क्षेत्रकृत दुःख का भी कोई पार नहीं है। इस प्रकार चारो गतियों और विविध योनियो में अज्ञान, मोह, और मिथ्यात्व के कारण दुःख ही दुःख सहे। भूतकाल में भी दुःख सहे, वर्तमान में भी अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य आध्यात्मिक दुःख—विषयकषायजन्य जन्ममरणात्मक, मानसिक दुःख-इष्ट-पदार्थ की अप्राप्ति और उसके वियोग तथा प्रतिकूल अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति या संयोग से होने वाले मनःकल्पित दुःख, एवं शारीरिक दुःख—भूख, प्यास ज्वर, कंठमाल आदि रोग, शस्त्र आदि के घाव से होने वाली पीड़ा, यों त्रिविध दुःख सहता है। दुर्भाग्य, कमनसीबी, फूटे भाग्य या पुण्यहीनता अशुभ-नामकर्म का फल है। जिसके भाग्य बुरे होते हैं, उसे भविष्य में अनेक दुःखो और संकटो का सामना करना पड़ता है। दुर्भाग्य के कारण व्यक्ति की बुद्धि भी कुंठित हो जाती है, उसे सच्ची बात सूझती नहीं।

परन्तु इन सब दुःखो और दुर्भाग्यो का खात्मा परमात्मा के दर्शन (साक्षात्कार) होते ही हो गया। इसका रहस्य क्या है? आइए सर्वप्रथम निश्चयदृष्टि से इस पर सोचें—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यचक्षु से परमात्मा के अखण्ड आत्मगुणो पर विचार करके जब आत्मा परमात्ममय या परमात्मा में लीन हो जाता है, जिसे हम पहले परमात्मसाक्षात्कार कह आए हैं, उसकी उपलब्धि हो जाती है, तब आत्मा को अपनी असलियत का पता लग जाता है। वह सोचने लगता है, कि ये सब सांसारिक पदार्थ, जिन्हें मैं अपने मान कर उनमें लुब्ध हो कर पूर्वोक्त सभी प्रकार के दुःख पाता था। इनके कारण चारो गतियो में बारबार भटकता था। इनमें कोई सुख नहीं है, ये तो दुःखरूप हैं। सच्चा सुख तो आत्मा में है, परमात्मा के शुद्ध रूप को निहारने में है। अतः अब जब कि मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई है, मुझे परमात्मत्व (शुद्ध आत्मतत्व) में डूबने पर पूर्वोक्त दुःखो का भान भी नहीं होता। मुझे अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप को देख कर सब प्रकार की तृप्ति,

शान्ति, सतुष्टि और आनन्द की अनुभुति हो गई। मुझे अब किसी भी पर-पदार्थ या बाह्यपदार्थ से सुख प्राप्त करने की कोई अपेक्षा नही है। ये पदार्थ अपने आप मे मुझे न कोई सुख दे सकते हैं, न दुख। ये क्षणिक सुख या दुख तो तभी देते हैं, जब मैं इन्हे अपने मान कर आसक्तिवश इनमे से ईष्टके वियोग या अप्राप्त होने पर तडफता हूँ, इसी प्रकार इनमे से अनिष्ट से घृणा और द्वेष करके परेशान होता हूँ। अगर मैं इनसे कोई लगाव न रखूं, इन्हे अपना न मानूं, सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मे दिव्यनेत्रो से देखू, तो न तो मुझे किसी प्रकार का दुख होगा, न मेरे लिए कोई दुर्भाग्य का अभिशाप होगा। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्तदृष्टि से परमात्मदर्शन (दिव्यनेत्रो से) होते ही मस्ती मे झूम उठते हैं, उनका रोम-रोम पुकार उठता है—"दुःखदोहग दूरे टल्या रे, सुख-सम्पदशुं भेंट।" आज मेरे तमाम दुख (मन कल्पित या शारीरिक या आध्यात्मिक) दूर हो गये है, मेरा दुर्भाग्य भी मिट गया है; क्योकि अव्याबाध अनन्तसुख, अनन्तज्ञानादिचतुष्टय से सम्पन्न परमात्मा से मेरी भेंट हो गई है, उनमे मैंने अपनी शुद्ध आत्मा की ज्ञानादि निधि को देखा तो अपनी खोई हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि सुखसम्पदा मुझे मिल गई। व्यवहारदृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो यह अर्थ प्रतीत होगा कि वीतराग की छवि को अन्तर्मन मे निहारने और भक्तिभाव से उनके दर्शन-वन्दन करने से इहलौकिक दुख, दुश्चिन्ताएँ, भय, विघ्न और नाना प्रकार के सकट दूर हो जाते हैं। प्रभुदर्शन-वन्दन-भक्तिजनित पुण्य के प्रभाव से शारीरिक, मानसिक तमाम दुख दूर हो जाना कोई अस्वाभाविक नही है। और साथ ही प्रभुदर्शन से दुर्भाग्य का मूल जो अशुभ नामकर्म है, वह सौभाग्य मे परिणत हो जाय, इसमे भी कोई अत्युक्ति नही है। पुण्यकर्म प्रबल हो जाने पर बाह्य सुख और सम्पत्ति प्राप्त हो जाना भी दुभर नही है। इसी कारण व्यवहारदृष्टि से भी श्रीआनन्दघनजी ने शायद अन्तर के उल्लासपूर्वक कहा हो—दु.खदोहग दूरे टल्या रे, सुख-सम्पदशुं भेंट" लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि किसी शक्तिशाली या वैभवशाली पुरुष की दर्शन-विनयरूप भक्तिसे दीन-हीन व्यक्ति के दुख और दुर्भाग्य नष्ट हो जाते हैं, उसे सुख-सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तब विमलनाथ वीतरागप्रभु की उक्त भक्ति से दुख-दुर्भाग्य नष्ट हो कर सुख सम्पदाएँ हासिल हो जाय, इसमे कौन-सी बड़ी

बात है? प्रभु के दर्शन, विनय और भक्तिपूर्वक वन्दना आदि से निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से अनायास ही पूर्वोक्त फल प्राप्त हो जाते हैं।

परमात्मदर्शन के कारण भक्त में आत्मिक दृढ़ता

इतना ही नहीं, निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मसाक्षात्कार के कारण आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति के जीवन में आत्मबल बढ़ जाता है, और समस्त विषय-कषायादिजन्य दुश्चिन्ताओं, भयों और विकारों से वह डरता नहीं, हार नहीं खाता, उनके अधीन हो कर वह उनके आगे घुटने नहीं टेकता। दुनियादार लोग कहते हैं कि सम्पत्तिवान को अनेक प्रकार का वियोगजनित या दुश्चिन्ताजनित भय रहता है, परन्तु जिसे परमात्मरूप (शुद्ध आत्मतत्त्व का) जबर्दस्त पृष्ठबल हो, जिसके सिर पर परमात्मा (शुद्ध आत्मतत्त्वदृष्टि) की छत्रछाया हो, जिसने परमात्मा जैसे जबर्दस्त नाथ बनाये हो, उसे कोई हैरान नहीं कर सकता। जब अनन्तबली रागद्वेषविजेता परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) को मैंने अपने स्वामी बनाये हैं तो वह प्रतिक्षण मेरे साथ हैं और साथ रहेंगे। मुझे जो अनन्तचतुष्टय-रूप और सम्यग्दर्शनज्ञानरूप आत्मिक सम्पत्ति मिली है, वह पौद्गलिक सुख सम्पत्ति की तरह नाशवान नहीं है, वह तो अखण्ड और अविनाशी है। उनका वियोग कदापि होना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में यदि कोई मिथ्यात्व, अज्ञान, राग, द्वेष, मोह, आदि आन्तरिक शत्रुओं--(जो कि प्रतिक्षण आत्मगुणों के शिकार करने की टोह में रहते हैं, जिनका स्वभाव ही आत्मगुणों को लुप्त या नष्ट करने का है) का भी भय नहीं रहा। वे मुझ पर हावी हो जाय और मुझे अपना शिकार बना कर अपने चंगुल में फँसा लें, या मुझे हैरान करें, ऐसी सम्भावना नहीं है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी दृढ़ आत्मबल के साथ कह उठते हैं—

'धींग धणी माथे कियो रे, कोण गंजे नर खेट ?'

व्यवहारदृष्टि से इसका तात्पर्यार्थ यह होता है कि जब मैंने वीतराग प्रभु का सान्निध्य प्राप्त किया है, या आधार लिया है उनका ही अहर्निश स्मरण, ध्यान, जप, स्तवन, गुणगान करके उनके ही आज्ञानुरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान--चारित्र-मय धर्म का पालन किया है, तब कोई भी दुष्ट, शत्रु या धोखेबाज मुझे हैरान नहीं कर सकता, मेरा अहित नहीं कर सकता और न मुझे हरा सकता है।

लोकव्यवहार में जब किसी स्त्री को पति का, बालक को मातापिता का, नौकर को मालिक का और सेवक को स्वामी का आधार मिल जाता है, तो फिर

वह व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है। वह किसी से घबराता, डरता, या सकट मे चिल्लाता नही, इसी प्रकार यहाँ भक्त को भी परमात्मारूपी नाथ (स्वामी) का जबर्दस्त आधार मिल जाने पर उसे किसी से डरने, घबराने या चिल्लाने की जरूरत नही। और फिर परमात्मभक्ति एव दर्शन से जब व्यक्ति के जीवन मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत, नियम, सयम आदि चारित्रगुण आ जाते है तो उसे सच्चे-झूठे की पहिचान हो जाती है, वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की प्राप्ति कर लेता है, उसे अच्छे सत्सगी मिल जाते है, परिवार, समाज और राष्ट्र भी उसके अनुकूल हो जाते है। व्यवहारिक दृष्टि से सुख और सम्पत्ति मिल जाने पर उसे किसी दीन-हीन या तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पसारने और उसकी जी-हजूरी करने की जरूरत नही रहती।

परमात्मदर्शन से मनोवाछित कार्यसिद्धि

और फिर श्री आनन्दघनजी वस्तुतत्व को जान लेने तथा निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्तरीति से परमात्मदर्शन हो जाने पर और सम्यग्दर्शन—ज्ञानरूप आत्मिक सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर कृतार्थ हो कर अपनी मस्ती मे बोल उठते है— 'मारा सीध्या वाछित काज' मेरे मनोवाछित कार्य सिद्ध हो गए। मुझे परमात्म-दर्शन के दुष्करकार्य मे सफलता मिल गई। जिस आत्मिक सुखसम्पदा को प्राप्त करने का मेरा मनोरथ था, वह सिद्ध हो गया। व्यवहारदृष्टि से भी परमात्मा के दर्शन एव भक्ति करके उन्हे स्वामी बना लेने के बाद उनकी आज्ञानुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से दुख, दुर्भाग्य, दुश्चिन्ता आदि सब दूर हो कर सुख-सम्पदा मिल जाने से सभी मनोवाछित कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के सागोपाग दर्शन के हेतु सर्वप्रथम उनके चरणो के दर्शन की महत्ता बताते है—

चरणकमल कमला बसे रे, निर्मल थिरपद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पकज पामर पेख॥
॥ विमल० ॥२॥

अर्थ

आपके चरण—चारित्ररूप चरणकमल मे अथवा बाह्यचरणकमल मे, कमला (ज्ञानलक्ष्मी, आत्मगुणसम्पत्ति अथवा अष्टमहाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी) घातीकर्म—मलरहित (निर्मल) और स्वभाव में स्थिर पद (आत्मस्थान) देख-

कर बसी हुई है। वह संसार के विषय-कषायरूपी पंक में उत्पन्न होने वाले कमल (बाह्य वैभव) को मल (रागद्वेषादि-मलयुक्त), अस्थिर एवं पामरस्वभाव वाला देख-कर छोड़ देती है। अथवा कमल को मलयुक्त कीचड़ में पैदा हुए देख कर अपने अज्ञान और ममत्व के कारण नाशवान बाह्य सम्पत्ति को ही वास्तविक लक्ष्मी मान कर पामर बने हुए देख कर उस अस्थिर स्थान को भौतिक लक्ष्मी छोड़ देती है।

भाष्य

परमात्मा के चरण-दर्शन का प्रयोग

वीतराग परमात्मा के पूर्वोक्तरीति से दर्शन के लिए प्रथम साधक को सर्व-प्रथम उनके चरण के दर्शन क्यों करने चाहिए? इसका प्रयोजन बताते हुए श्री आनन्दघनजी वीतरागपरमात्मा के चरणकमल का महत्त्व बताते हैं।

निश्चयदृष्टि से परमात्मा का चारित्ररूपी चरण यथाख्यात होता है, जिसमें रागद्वेषादि या घातीकर्म आदि किसी प्रकार का मैल नहीं होता और वह चरण (चारित्र) चचल नही होता, एक बार प्राप्त हो जाने के बाद फिर वह जाता नही है। स्वभाव मे सतत अविच्छिन्नरूप से रमण के कारण वह स्थिर होता है। परमात्मा के उस चारित्ररूपी पूर्ण शुद्ध, (मोहादिमलरहित शुद्ध) स्थिर परिणाम वाले, चरणरूपी कमल को देख कर केवल (अनन्त) ज्ञानादिचतुष्टयरूपी लक्ष्मी वहाँ सदा के लिए बस गई है। भौतिकलक्ष्मी भी अपना अस्थिर और कीचड वाला स्थान तथा अपने पन से होने वाले अज्ञान, और मोहममत्व के कारण पामर समझ कर छोड देती है।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु के चरणकमल को निर्मल (पंकरहित) और स्थिर देख कर लक्ष्मी वही निवास कर लेती है। इस कारण प्रभु अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्पदा मे इतने लीन हैं, कि वह सम्पत्ति आपको छोड़ कर अन्यत्र कही जाती नही। इसी कारण आप सतत आत्मानन्द-मग्न रहते हैं। कई धन-वानो के पैर मे पद्म होता है, वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ आनन्द ही आनन्द होता है। यही नही, ऐसे व्यक्तियो की महिमा और यशकीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। प्रभु वीतराग के चरणो मे भी पद्म होता है। इसलिए उनके लिए भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनके चरणो मे लक्ष्मी लीला करती है, अष्ट-

महाप्रातिहार्यरूपी लक्ष्मी के कारण उनकी यशकीर्ति फैलती है, दिव्यजन उनकी सेवा मे रहते है।

यही कारण है कि लक्ष्मी अपने अस्थिर और पंकिल (कीचड से गंदे) स्थान को छोड कर लक्ष्मीवान और पुण्यवानप्रभु के चरणकमल मे आ कर बसी हुई है, क्योकि उनका चरणकमल निर्मल और स्थिर है। अथवा यह अर्थ भी सगत हो सकता है कि भगवान् वीतराग का निर्मल यथाख्यातचारित्ररूपी चरण-कमल स्वभाव से ही स्थिर है, उसे देख कर या अनन्त-ज्ञानादिचतुष्टय लक्ष्मी वहाँ रहती है, उसे देख कर पामर प्राणी अपनी पामरता का ध्यान करता है और हर प्रकार से मोहमल उत्पन्न करने वाली कमला—भौतिकलक्ष्मी का त्याग करता है।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ परिग्रह है, वहाँ आरम्भ (हिंसा) है, आरम्भ और परिग्रह मे लीन होने वाले पामर प्रणियो को सुख कहाँ ? मुमुक्षु जब अन्तरात्मा से परिग्रह का त्याग करता है, तभी स्थिरस्वभाव वाला व चारित्रवान बनता है। निर्मल (निरतिचार) यथाख्यातचारित्री होने पर उस आत्मा को अनन्तज्ञानादिचतुष्टय—लक्ष्मी उत्पन्न होती है।

साराश यह है कि मुमुक्षु आत्मा भगवान् के चरणकमल को अनन्त-पारमार्थिक भावलक्ष्मी का निवासस्थान देख कर स्वय भी भौतिक लक्ष्मी का लोभ सर्वथा छोड कर उनके चरणकमल मे लीन हो जाना चाहता है।

इसके अतिरिक्त वीतरागप्रभु के चरणकमल मे और क्या आकर्षण है ? इसे श्रीआनन्दघनजी अपने अनुभव से अगली गाथा मे बताते है—

मुज मन तुज पदपंकजे रे, लीनो गुण-मकरंद।
रंक गणे मदरधरा रे, इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र ॥ विमल ० ॥३॥

अर्थ

आपके दर्शन के बाद आपके चरणकमल का इतना आकर्षण हो गया है कि मेरा मन (ज्ञानचेतनायुक्तआत्मा) आपके गुणो-रूपी पराग से युक्त चरण-(आत्मरमणतारूप चारित्र) मे (अब इतना) लीन हो गया है कि स्वर्णमयी मेरुपर्वत की भूमि को तथा इन्द्र, चन्द्र या नागेन्द्र के पद अथवा स्थान (लोक) को भी वह तुच्छ समझता है। उसे आपके (शुद्ध आत्मा के) अनन्त-ज्ञानादिगुणो

की सौरभ से युक्त चरणकमल (स्वभावरमणचारित्र) मे इतनी लीनता हो गई है। कि दूसरी मोहक वस्तुओ की तरफ वह जाती ही नही है।

भाष्य

परमात्मा के चरणकमल मे लीन होने के बाद

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग-परमात्मा के चरणकमल का माहात्म्य बताते हुए कहा था कि उसमे भावलक्ष्मी का निवास होने से वह सर्वतोमुखी आकर्षक है। अत अब इस गाथा मे यह बताया है कि मेरा ज्ञान-चेतनायुक्त भावमन (आत्मा) परमात्मा के चरणकमल को देख कर इतना आकर्षित हो गया है कि वह अन्य भौतिक या ससार की रमणीय न रमणीय वस्तु या स्थान की ओर जाता ही नही। उन्हे अत्यन्त तुच्छ समझता है।

परमात्मा के चरणकमल मे क्या आकर्षण है ?

प्रश्न होता है कि परमात्मा के चरणकमल मे मनरूपी भ्रमर क्यो आकर्षित हो जाता है? इसका समाधान इसी गाथा मे दिया गया है—'गुणमकरन्द जैसे भौंरा कमल की पराग को पा कर तृप्त हो जाता है, वह सुगन्धित पराग मे इतना लीन हो जाता है कि उसे अपने तन की सुध नही रहती, कमल को काट कर वाहर निकलने की शक्ति होते हुए भी वह रात को कमलकोष मे वन्द हो जाता है। इतनी लीनता भौरे मे होती है। इसी प्रकार भौरे मे एक गुण यह भी होता है कि वह विष्टा आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थो पर कभी नही जाता, तथा सुगन्धित कमल या पुष्प के सिवाय दुनिया की चाहे जैसी रगविरगी, सुन्दर, मनोमोहक या आकर्षक अथवा कोमल, स्वादिष्ट पदार्थ या मनोरम सगीत वाला सुरम्य स्थान भी क्यो न हो, वह वहाँ नही जाता और न वहाँ वैठना चाहता, वैसे ही दिव्यनेत्रो से परमात्मा को दर्शनपिपासु भक्त साधक का मनरूपी (भावमन-आत्मा) मधुकर भी जव परमात्मा के अनन्त-आत्मगुणरूपी पराग से परिपूर्ण परमात्मचरणकमल (आत्मरमणतारूपी चारित्र) को देख कर वही लीन हो जाता है, वही तृप्त हो जाता है। वह आपके गुणपराग से युक्त चरणकमल मे इतना आकर्षित हो जाता है या आत्मा के अनन्तगुणो से से युक्त वीतराग के चारित्र (मार्ग) का उपासक (सम्यग्दृष्टि) वन जाता है, तब उसको मन को विश्व के सभी मोहक या रँगीन पदार्थ, तुच्छ लगने लगते है। वह

ससार के पदार्थो की बिल्कुल परवाह नही करता, न उसे किसी स्थान या पद-विशेष की इच्छा होती है। इतना आकर्षण है परमात्मा के चरणकमल मे!

ससार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ, जो प्रत्येक सासारिक और यहाँ तक कि कभी-कभी साधक को भी लुभायमान करती हैं, वे ये है—रूपवान सुन्दर वस्तुओ मे सर्वोत्तम सुमेरुपर्वत है, जो सारा का सारा स्वर्णमय है। जिस सोने के लिए सारी दुनिया भागती फिरती है, जिसके लिए दुनियाभर के छलबल, हत्याकाण्ड या पाप किये जाते हैं जो सोना मनुष्य को अभिमानी, उच्च पदाधिकारी, सर्वोच्च प्रतिष्ठासम्पन्न या सासारिक सुख की वस्तुओ से सम्पन्न बना देता है, उस सोने से ही सारा मेरुपर्वत गढा हुआ है। साथ ही वहाँ देवोपम सुखो से युक्त रमणीय नन्दनवन है, इसलिए भी सासारिक वस्तुओ मे सर्वोत्कृष्ट सुन्दर पाँचो इन्द्रियो के विषयो से वह परिपूर्ण है। इसके अलावा इन्द्रलोक या इन्द्रपद ये दोनो भी ससार के आकर्षणीय पादर्थो मे अद्वितीय है। इन्द्रलोक वह है, जहाँ सभी प्रकार के इन्द्रियसुखो का भण्डार है, जहाँ एक से एक सुन्दर दिव्यागनाएँ सुन्दरतम सुखभोग, मनोरम्य सुगन्ध, मनोहारी सगीत, नृत्य, वाद्य सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ, हाथ जोडे हुए आज्ञाकारी सेवक, विनीत देव-देवीगण, एक से एक बढ़कर रमणीय चित्ताकर्षक भवन और प्रतिष्ठित पद है। इसी प्रकार चन्द्रलोक भी विश्व के मानवो के लिए शान्तिदायक स्थान है। कहते है, चन्द्रमा से अमृत झरता रहता है। जिस अमृत की खोज मे देव, दानव, मानव सभी मारे-मारे फिरते है,। अमृत पा जाने पर मनुष्य को जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि की चिन्ता नही रहती भूख-प्यास सब बुझ जाती है, जिनकी चिन्ता से मनुष्य रात-दिन अशान्त रहता है। अत चन्द्रलोक पाने के लिए मानव-मन इसलिए लालायित रहता है कि उसके पा जानेपर अमृत के भण्डार चन्द्र का सान्निध्य पा कर मानव के मन को शान्ति मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त मानव-मन के लिए एक और विशेष आकर्षक और गुदगुदाने वाली वस्तु है—नागेन्द्रलोक। यह भी एक प्रकार का देवलोक है, जहा भवनपति देव हैं उनके भी दिव्यसुखो का क्या ठिकाना! दिव्यभवन, दिव्यरमणियाँ, दिव्य चित्रविचित्र रत्न, सगीत नृत्य, गीत, वाद्य, सर्वभोग्य

पदार्थ आदि की प्रचुरता ! तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मन को आकर्षित करने वाले तिर्यचलोक, ऊर्ध्वलोक, ज्योतिर्लोक और अधोलोक, इन सबमे जो सर्वोच्च सुख के केन्द्र हैं, लुभावने पद या पदार्थ है, मिथ्यादृष्टि सासारिक लोगो का मन झटपट इन मे से किसी के लिए लालायित हो सकता है ।

'मदरधरा' शब्द मे यहा तिर्यग्लोक का सकेत है । जहां नन्दनवन के या चक्रवर्ती आदि के सुखो का आकर्षण है। 'इन्द्र' शब्द से यहाँ ऊर्ध्वलोक का सकेत है, जहां वैमानिक देवी-देव एव देवेन्द्रो के सुख है। चन्द्रपद से यहां ज्योतिर्लोक का सकेत है, जहां सूर्य, चन्द्रमा आदि के लोक या पद का सुख है। तथा 'नागेन्द्र' शब्द से अधोलोक-वासी भवनपति तथा व्यन्तर देव-देवेन्द्र आदि का सकेत है, जहां इनके दिव्य सुखवैभव है ।

सामान्य व्यक्ति का मन ससार की इन सुखसम्पन्नतायुक्त प्रेय वस्तुओ की ओर सहसा आकर्षित हो सकता है, परन्तु जिन आत्मसाधक (सम्यग्दृष्टि) का मनरूपी भ्रमर परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के गुणोरूपी सुगन्धित पराग से युक्त चरणकमल (आत्मरमणतारूपी चारित्र मे लीन हो गया है, उसे ये सब वस्तुएँ तुच्छ व असारप्रतीत होती है। क्योकि वह अपने दिव्य सम्यग्दर्शनज्ञान से यह भलीभाँति समझ जाता है अथवा उसके दिलदिमागमे यह बात अच्छी तरह अकित हो जाती है कि मनुष्यो या देवो के जो सुखदायक भोग्य पद, पदार्थ, या इन्द्रियविषय हैं, वे सब पुण्यकर्म से मिलते है। जहां तक पुण्य है, वहां तक इनका अस्तित्व है। परन्तु ये सब पद, पदार्थ या विषयसुख क्षणिक व नाशवान हैं, सुखाभासदायक है। पुण्यनाश के साथ ही इन सुखाभासो का भी नाश हो जाता है। इस कारण इन सब पदार्थों का वियोग होने से अतृप्ति रहती है, जो कि दुःख का कारण है, जबकि आत्मा-परमात्मा के गुण तथा उनमे रमण करने से जो सुख-प्राप्त होता है, वह अविनाशी है। उनमे डूब कर आत्मा तृप्त हो जाती है। उस आत्मसुख के सामने इन सासारिक पदार्थों से होने वाले सुख कुछ भी नही है, नगण्य हैं, वे किसी विसात मे नही है। यही कारण है कि वीतरागमार्ग के उपासक सम्यग्दृष्टि अध्यात्मरसिक श्रीआनन्दघनजी हृदय से पुकार उठते हैं—प्रभो ! मेरा मनमधुकर शुद्ध आत्मगुणोरूपी पराग से युक्त आपके पादपद्म मे इतना तल्लीन हो गया है कि वह

शाश्वत स्वर्णमयसुमेरुगिरि की भूमि, इन्द्र-लोक, चन्द्रलोक, या नागेन्द्रलोक आदि सर्वोच्च सुख का आभास कराने वाली वस्तुओ को तुच्छ मानता है, इन्हे जरा भी नही चाहता। इन सबका सुख परमात्मपद (शुद्धात्मा) के सुख के पासग मे भी नही आता। परमात्मा के चरण मे लीनता का जो असीम सुख है, उसके सामने ये सब सुख निकम्मे या फीके मालूम होते हैं। कमल के सौरभयुक्त पराग मे मस्त बना हुआ भौरा जब तृप्त हो जाता हे, तब उसके लिए दुनिया की अच्छी से अच्छी मानी जाने वाली वस्तु भी तुच्छ हो जाती है, वह उनकी ओर आँख उठा कर नही देखता, वही बैठा हुआ अपनी मस्ती मे गुनगुनाता रहता है। वैसे ही परमात्मगुणो से युक्त चरणकमल मे जब मनरूपी भ्रमर मस्त बन कर जम जाता है, अथवा शुद्ध आत्मगुणो की सौरभ से जिस आत्मा का ध्यान सुवासित हो जाता है, तब वह सर्वथा तृप्त हो जाता है, तब उसके लिए भी ससार की अच्छी मानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ तुच्छ हो जाती है। वह परमात्मा के चरणो मे लीन हो कर 'तू ही तू ही' की रटन से तादात्म्यसुख का अनुभव करने लगता है। उसके मन-वचन-काया आदि सब आत्मगुणो के प्रगट करने मे लग जाते हैं:

यही कारण है कि अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी आराध्य-आराधक (द्वैत) भाव से परमात्मा को अपनी आत्मा का आधार और मन का विश्राम-स्थल बताते हुए कहते हैं—

साहेब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार।
मनविसरामी वालहो रे, आतमचो आधार ॥ विमल०॥४॥

अर्थ

हे साहिब प्रभो! आप ही मेरे समर्थ शक्तिशाली स्वामी (मालिक) हैं आप सरीखा अत्यन्त उदार स्वामी (पति) मैंने पाया है। इसलिए आप ही मेरे मन (ज्ञानचेतनायुक्तआत्मा) के विश्राम-स्थान हैं, आप ही मेरे प्रियतम हैं, मेरी आत्मा के आधार हैं।

भाष्य

आत्मा-परमात्मा का स्वामी-सेवक-सम्बन्ध

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने बताया है कि मुमुक्षु आत्मा का मन परमात्म-चरण मे लीन बन कर क्यो ससार की सर्वश्रेष्ठ सुखदायक मानी जाने

वाली वस्तुओं में नहीं लुभाता ? इसके कुछ कारण तो हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं, इस गाथा में परमात्मचरण में स्थिर होने के विशिष्ट कारण बताए गए हैं।

प्रथम कारण : समर्थ स्वामी परमात्मा

परमात्मा के चरण में स्थिर होने के यहाँ जो कारण बताए हैं, उन कारणों को देखने से आत्मा और परमात्मा में स्वामी-सेवक-सम्बन्ध प्रतीत होता है। मानो आत्मा को निम्न और परमात्मा को सर्वोच्च अथवा आत्मा को पहाड़ की तलहटी पर खड़े हुए और परमात्मा को उसकी चोटी पर बैठे हुए मान कर आत्मसाधक भक्त अपने आपको उनके चरण में लीन कर देता है। सेवक बन कर उनकी शरण स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है कि स्वयं सेवक बन कर परमात्मा को स्वामी बना लेने मात्र से भक्त कैसे निश्चिन्त, आश्वस्त, निर्भय और आनन्दित हो जाता है ? इसी का समाधान 'साहिब ! समरथ तू धणी रे' पद के अन्तर्गत आ जाता है। जैसे किसी लौकिक वीर पुरुष की शरण में जाने अथवा किसी वैभवशाली समर्थ व्यक्ति को स्वामी बना लेने पर उस पर जिम्मेदारी आ जाती है कि शरणागत सेवक पर कोई संकट या आफत आ जाय या कोई व्यक्ति हमला करे तो वह जीजान से उनकी रक्षा करे। इसी प्रकार अध्यात्मरसिक साधक (आनन्दघनजी) ने भी प्रभु की शरण में जा कर उनको स्वामी बना लिया है, इसीलिए वे भगवान को समर्थ स्वामी बना कर आश्वस्त हो गए हैं कि प्रभु आप ही मेरे समर्थ स्वामी हैं, इसलिए आप पर (निश्चयदृष्टि से शुद्ध एवं अनन्त शक्तिमान होने से समर्थ आत्मदेव की शरण में जाने पर) जिम्मेदारी आ जाती कि वे शरणागतरक्षक के विरद का विचार करके मेरी आत्मा की रक्षा करें। आप जैसे समर्थ पुरुष का मेरे हृदय में ध्यान रहने से मुझ पर कोई भी शत्रु (आत्मिक रिपु = रागद्वेषादि) हमला नहीं कर सकते। मेरा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। दुनिया मोहराजा के राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि अनुचरों को शत्रु-समान और बलवान मानती है, वे इन्द्र, नरेन्द्र आदि को हैरान करते हैं, विविध योनियों में नाना प्रकार की यातना दे कर सताते हैं। परन्तु आप जिनके हृदय में विराजमान हैं, उन्हें कोई भी परेशान नहीं कर

जाता, उसके जन्ममरण की वृद्धि भी नहीं होती। यह तो कुछ-कुछ निश्चय दृष्टि से संगत बात हुई।

व्यवहारदृष्टि से अर्थ यह है कि प्रभो! मालिक! आप पूर्ण समर्थ हैं आप में अनन्त बल है, उसके सामने कोई टिक नहीं सकता। साथ ही आप मेरे नाथ हैं। मुझ पर आप सरीखे स्वामी की छत्रछाया है, कृपादृष्टि है, तब दूसरा क्या कर सकता है? वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा वीतराग होने से वे दूसरों को प्रत्यक्ष में कोई बल देते-लेते नजर नहीं आते। किन्तु जब सेवक समर्पणवृत्ति से शुद्धभावभक्तिपूर्वक प्रभु के चरण में दृढ़-संकल्प करके अपना जीवन खपाने का दृढ़ निश्चय कर लेता है और ध्यानमुद्रा में बैठ कर प्रभु के गुणों का ध्यान करता है तो उसमें बल और पौरुष स्वयं स्फुरित हो जाता है, परमात्मा के अनन्तशक्तिशाली स्वरूप का ध्यान करने से आत्मा में भी शक्ति प्रगट करने का उत्साह जग जाता है।

दूसरा कारण परम उदार प्रभु

लोकव्यवहार में देखा जाता है कि सेवक स्वामी की सेवा करता है, तो वह खुश हो कर सेवक की तनख्वाह बढ़ा देता है, उसकी लगन देख कर उसे इनाम दे देता है, उसकी पदोन्नति कर देता है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी कहते हैं- **'पाम्यो परम उदार'** यानी आप परम उदार-चेता हैं। इसका निश्चयदृष्टि से संगत अर्थ यह है कि परमात्मा (शुद्ध आत्मा) इतना उदार है कि उसकी सेवा (आत्मस्वभाव में रमण या आत्मा के गुणों या आत्मतत्त्व का सेवन) करने से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति परमात्मा से यह आश्वासन पा जाता है कि अब तू आश्वस्त हो जा, तेरी दुर्गति या जन्ममरणवृद्धि तो अवश्य ही नहीं होगी। यदि कोई तिर्यंच या मनुष्य परमात्मतत्त्व (शुद्ध स्वभाव या आत्मगुणों) की सेवा=ध्यान करता है तो उसकी आत्मोन्नति हुए बिना नहीं रहती, पदोन्नति भी हो जाती है। यानी पापकर्मों से भारी बनी हुई आत्मा हलकी हो जाती है। इससे पुण्य-कर्मों की प्रबलता हो जाने पर उस जीव को परमात्मा की सेवा-पूजा करने के विचार उठते हैं, वह उस पुण्यराशि के फलस्वरूप दुर्गति में न जा कर मनुष्य-गति या देवगति में जाता है। यह उस जीव की पदोन्नति है। तथा पुण्यपुंज के फलस्वरूप शुभभावों की शृंखला शुरू हो जाती है, जिसमें आत्मा पर आए हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है या अशुभकर्म का जोर अत्यन्त कम हो कर शुभ में बदल जाता है। यह आत्मोन्नति हुई।

व्यवहारदृष्टि से इसका नगत अर्थ यह है कि आप ऐसे परम उदारपुरुष है कि किसी को भी अपने से हीन नही मानते। लोकव्यवहार में तो स्वामी सेवक को कदापि अपने बराबर का स्वामी नही बनाता, भले ही सेवक मालिक की अत्यन्त लगन से विनय-भक्तिपूर्वक सेवा करता हो। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि भक्त परमनिर्मलरूप बन कर उदार प्रभु का ध्यान करता है तो उसे शुद्धात्मस्वरूप का सान्निध्य प्राप्त होता है, सेवा करने वाले को प्रभु अपने से भिन्न न रहने दे कर यानी सेवक का सेवकत्व मिटा कर उसे अपने बराबर का परमात्मा बना देते हैं, स्वामी-सेवक का भेद मिटा देते है। इसलिए साधक कहता है—'मैं तो आप जैसे परम उदार स्वामी को पा कर धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ।'

व्यवहारदृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है—प्रभो! आप जैसे परम उदार परमात्मा को पा कर मैं भी अलभ्य लाभ से युक्त बना हूँ। क्योंकि मुझमे भी आप की तरह अपने से हीन-दीन या जरूरतमद या दुःखी को तन-मन या साधन का दान देने या त्याग करने की भावना पैदा हुई। आप परम-दानी हैं, यह तो सारा ससार जानता है कि आपने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक प्राय लगातार दान दिया और जगत को दान देने की उदारता सिखाई।

तीसरा कारण : साधक के मन के विश्राम

इसी कारण को लेकर आनन्दघनजी कहते हैं-'मन-विसरामी' आप मेरे मन को विश्राम देने वाले हैं। मेरा मन दुनियाभर मे कई दफा तो ऊलजलूल बातो मे भटकता रहा, विषयो, कषायो मे व दुर्भावो मे मेरा मन भटका, किन्तु अब आपका चरणकमल पकड लिया तो वह इन सब विषयो मे विश्राम नही पाता, वह तो एकमात्र आप मे ही निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप (स्वभाव) मे, व्यवहारदृष्टि से परमात्मा (वीतराग) मे ही विश्राम पाता है। उसकी थकान ध्यान करने से ही मिटती है। और जगह तो वह विश्रान्त के बदले श्रान्त हो (थक) जाता है। मेरे मन को प्रसन्न करने वाला आपके सिवाय आराम का स्थान कोई नही है। प्रभो! मेरा मन विविध पदार्थों मे भटका, उसने विविधरूप धारण किये, फिर भी इसे तृप्ति न हुई, इसके भ्रमण करने का चचल स्वभाव नही मिटा। इस

कारण यह थक गया, उसे कही आराम नही मिला । सद्गुरु की परम कृपा से मुझे आपके गुणो का पता लगा । मैंने उनका महत्त्व समझा । अब आपके सिवाय कोई भी उच्चसुख का या विश्राम का स्थान मुझे प्रतीत नही होता ।

चौथा कारण प्रियतम वीतराग प्रभु

परमात्मा मे मन को रमाने और आश्वस्त-विश्वस्त हो जाने का चौथा कारण श्रीआनन्दघनजी बताते हैं—'वालहो मे' परमात्मा अत्यन्त प्रिय हैं। जो अत्यन्त प्रिय या वात्सल्यमय होता है, उसे देखते ही आत्मीयता जागती है, हृदय मे आनन्द की उर्मियाँ उछलने लगती हैं, रोमाच हो जाता है, मन मे आनन्द की अनुभूति होती है, चित्त मे आल्हाद उत्पन्न होता है। सचमुच भक्त साधक को परमात्मा का स्मरण करते ही, या हृदय की आँखो से अन्तर मे उसका स्वरूप निहारते ही अथवा उसका भावपूर्वक दर्शन करते ही प्यार उमड पडता है।

प्रश्न होता है कि जगत् मे इतने पदार्थ हैं, इतने जीव हैं अथवा अपने सम्बन्धी या मित्र हैं, क्या वे प्यारे नही लगते, जो परमात्मा को ही अतिप्रिय बताया गया है। इस प्रश्न का समाधान श्रीआनन्दघनजी प्रथम तीर्थंकर की स्तुति मे '**भागे सादि अनंत**' कह कर कर आए है । यहाँ एक दूसरे पहलू से परमात्मा के प्रियतम लगने का कारण बताते हैं—प्रभो ! मैंने अज्ञानवश ससार के अनेक पदार्थों या सम्बन्धियो या मित्रो को अपने प्रिय माने, परन्तु वे सबके सब प्रिय के बदले अप्रिय, स्वार्थी और धोखेबाज निकले । मुझे भोला समझ कर उन्होंने खूब बनाया । किसी ने मेरा (आत्मा का) महत्त्व नही बढाया । जहाँ मुझे पवित्रता दिखाई देती थी, अपवित्रता निकली। असलियत का पता लगते ही उन सबके प्रति मुझे अरुचि हो गई । अब तो मुझे प्रतीति हो गई कि आप ही एकमात्र परम पवित्र और शुद्ध (आत्म) स्वभाव वाले हैं । इसलिए मुझे आप ही आदि से ले कर अन्त तक प्रिय—प्रियतम प्रतीत हुए ।

पाँचवाँ कारण आत्मा का आधार

परमात्मा मे मन के जम जाने का पाँचवाँ कारण श्रीआनन्दघनजी बताते है— '**आतमचो आधार**'। दुनिया मे बहुत से पदार्थों और नाते-रिश्तेदारो को

मैंने आधारभूत माने, किन्तु वे सब मुझे निराधार छोड़ कर चले गए, किनाराकसी कर गए, संकट के समय मुझे (मेरी आत्मा को) आश्वासन देने वाले, मुझ मे आत्मविश्वास जगाने वाले कोई भी नहीं रहे। इसलिए अन्ततोगत्वा मुझे आपके सिवाय कोई भी आत्मा का आधार नहीं जचा। आपके आधार पर रहने वाले व्यक्ति को आपके शाश्वत स्थान या अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय का सुख मिलता ही है।

इन सब कारणों को ले कर श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को आत्मा के लिए समर्थ स्वामी, परम-उदार, मनविश्रामी, प्रियतम और आधारभूत बताया। सचमुच, ससार के त्रिविध ताप की ज्वाला मे झुलसते हुए प्राणी के लिए परमात्मा का ही आधार है, वही अकारण बन्धु है, अहेतुक मित्र है, निष्काम प्रेरक या मार्गदर्शक हैं, निःस्वार्थ विश्ववत्सल है।

अब अगली गाथाओ मे परमात्मा के दर्शन के अनेक लाभ बताते हैं—

दरिसण दीठे जिनतणु रे, सशय न रहे वेध।
दिनकर करभर पसरतां रे, अन्धकार-प्रतिषेध ॥
विमल० ॥५॥

अर्थ

श्रीवीतराग परमात्मा (शुद्धआत्मस्वरूप) के दर्शन होने से किसी भी प्रकार के विरोध या विघ्न की शका नही रहती। जैसे सूर्य की किरणो का जाल फैलते ही अन्धकार (रुक नष्ट हो) जाता है। वैसे ही आपके दर्शन होते ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भाष्य

वीतरागप्रभु के दर्शन का साक्षात्फल

पूर्वगाथाओ मे वीतराग-परमात्मा के दर्शन मे पहले की भूमिका के रूप मे उनके चरणकमल मे लीनता और ससार की श्रेष्ठतम मानी जाने वाली वस्तुओ के प्रति उदासीनता का दिग्दर्शन किया गया था, इस गाथा मे परमात्मा के दर्शन का साक्षात्फल बताते हुए सूर्यकिरणो की उपमा दी है। जैसे सूर्य की किरणो के फैलते ही घोर से घोर अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रभु के दर्शनो की प्राप्ति होते ही मन मे चाहे जितने वहम, शकाएँ,

अश्रद्धा, अविश्वास, मिथ्यावासना, अज्ञान, सम्मोह आदि चाहे जितने भरे हो, आपके दर्शन (परमात्मस्वरूपदर्शन) होते ही आत्मविकास मे बाधक ये तमाम विघ्न नष्ट हो जाते हैं। आत्मा स्वाभाविक रूप से निर्मल हो जाती है। उसके लिए कुछ भी प्रयत्न नही करना पडता। सशय अपने आप मिट जाता है और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। 'संशयात्मा विनश्यति, इस कहावत के अनुसार जो व्यक्ति अधिक शकाशील संशयात्मा होता है, उसका जीवन नष्ट हो जाता है, परन्तु अगर वह वीतराग-परमात्मा का सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप-दर्शन) प्राप्त कर ले तो उसका तमाम सशय भाग जाता है। उसकी आत्मा मे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। परमात्मा के दर्शन का यह तात्कालिक फल है। चारो ओर से विरोध और अवरोध (विघ्न) पैदा हो रहे हो, वे भी आपके यथार्थ दर्शन से मिट जाते है।

वास्तव मे वीतराग परमात्मा के यथार्थस्वरूप का दर्शन ही उनका दर्शन है, उस दर्शन के होते ही, उस पर दृढ आस्था के कारण नि.सशय प्रतीति हो जाती है कि मुझे अवश्य ही परमानन्द-प्राप्ति होगी। निश्चयनय की दृष्टि से प्रभु के और मेरे स्वरूप मे कोई अन्तर नही है, इस बारे में परमात्मा के स्वरूपदर्शन होने पर साधक को कोई शका नही रहती। यह तो हुई परमात्मा के सूक्ष्म (आत्मस्वरूप) दर्शन के साक्षात्फल की बात। अब अगली गाथा मे परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है—

अमियभरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय।
दृष्टि सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय॥

॥ विमल० ॥ ६ ॥

अर्थ

अमृत से भरी आपकी आकृति (परम औदारिक शरीरात्मक) (शुभनामकर्म के कारण) रची हुई है, ससार की किसी वस्तु के साथ जिसकी उपमा (तुलना) नहीं की जा सकती। वह रागद्वेष की उष्णता से रहित (शान्त), परमकारुण्य-सुधारस से ओतप्रोत है। जिसे चर्मचक्षु या ज्ञानचक्षु से देखने पर तृप्ति ही नहीं होती।

भाष्य

परमात्मा के स्थूलदर्शन और उनका साक्षात्कल

पूर्वगाथा मे वीतराग परमात्मा के सूक्ष्मदर्शन के तात्कालिक फल का वर्णन था, इसमे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल बताया है। वीतरागप्रभु के सूक्ष्मदर्शन का तत्कालफल तो बहुत ही अनुपम है, किन्तु उनके स्थूलदर्शन का भी फल कम नही है।

वीतरागपरमात्मा के स्थूलदर्शन दो प्रकार से हो सकते है—एक तो उनके जीवनकाल मे उनकी औदारिक देहाकृति के दर्शन, दूसरे उनके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त हो जाने के बाद इस लोक मे उनके स्थूलदर्शन की पूर्ति के रूप मे (यानी उनकी औदारिक देहाकृति की एवज मे) उनकी प्रतिकृति (मूर्ति) के भावपूर्वक दर्शन।

यद्यपि परमात्मा के स्थूलदर्शन के साथ भी आत्मस्वरूपभाव होना आवश्यक है, अन्यथा परमात्मा की स्थूल देह या उनकी प्रतिमा के देखने पर भी दर्शक का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

स्थूलदर्शन के पहले प्रकार मे श्रीआनन्दघनजी (साधक) कहते हैं—"वीतराग प्रभो! (विमलनाथ तीर्थंकर) आपकी आकृति ही अमृतरस से लबालब भरी हुई है, जिसे नामकर्मरूपी चित्रकार सबके शरीर को रचता है, परन्तु आपकी देहाकृति परम उत्कृष्ट, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस, शुभस्पर्श, शुभ संहनन—संस्थान आदि से निर्मित है, जिसकी उपमा के लायक संसार में कोई उपमेय पदार्थ नही है। यद्यपि सूर्य, चन्द्र, मेरु आदि पदार्थ सुन्दर जरूर हैं, किन्तु आपके साथ इनमे से किसी की उपमा घटित नही हो सकती, क्योंकि इनमे से कोई भी पदार्थ शान्तसुधारस का धारण नही करते, और अधिक समय तक देखने पर नेत्रो को कष्ट देते हैं। इसलिए उनमे अरुचि पैदा होजाती है, जबकि आपकी देहाकृति मे परमकरुणामय शान्तसुधारस छलक रहा है। इस कारण कोई भी सम्यग्दृष्टि आपको देखता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती बल्कि आपके बारबार दर्शन करने वाले को आनन्द होता है। इसी भाव को, द्योतित करते हुए भक्तामरस्तोत्र मे कहा है—[1]'शान्तरस मे रंगे हुए जिन पर-

---

१ देखिये 'भक्तामरस्तोत्र' मे—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥

माणुओ मे आपका शरीर बना है, वे परमाणु जगत् मे उतने ही थे। अत तीनो भुवन मे एकमात्र सुन्दर हे जिनवर! आपके जैसा किसी दूसरे का रूप नही है। आपका कोई उपमेय ही नही है। [1]क्योकि गम्भीरता समुद्र के साथ घटित हो सकती है। स्थिरता=धैर्य मे पर्वत की उपमा दी जाती है। निर्मलता=स्वच्छता के लिए शरदऋतु के दिन की उपमा दी जाती है। मनोहरता की चन्द्र के साथ, विशालता की पृथ्वी के साथ, तेजस्विता की सूर्य के साथ एव बलिष्ठता की पवन के साथ उपमा घटित हो सकती है। परन्तु आप (तीर्थंकरप्रभु) के अपरिमित माहात्म्य के साथ तुलना की जा सके ऐसा कोई उपमान ही जगत् मे प्रतीत नही होता। उपमा समान गुणो वालो की दी जाती है। परन्तु जो गुणो मे हीन हो, वह समान कैसे बन सकता है? अत आपके साथ गुणो मे समानता (बराबरी) कर सके ऐसी कोई वस्तु दुनिया मे नजर नही आती। तो फिर आपसे अधिकता रखने वाली वस्तु जगत् मे और कोई हो सकती है? नही हो सकती, इसमे कोई आश्चर्य नही। और हीन के साथ तो उपमा दी ही नही जा सकती। इसलिए आप अनुपम है।" इसी भाव को व्यक्त करने लिए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—'**उपमा घटे न कोय।**' साथ ही यह भी कह दिया है कि '**निरखत तृप्ति न होय।**' मतलब यह है कि आपकी देहरचना मानो अमृत का सार निकाल कर बनाई गई हो, इस कारण उसे किसी भी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती और ऐसा मालूम होता है कि उसे एकटक देखता ही रहूँ। उसे देखते-देखते नेत्रो को तृप्ति ही नही होती। शान्तसुधारस से ओतप्रोत आपकी अमृतमयी देहाकृति देख कर तीनो लोक के इन्द्र-नरेन्द्र आदि आपके चरणकमलो मे झुक कर अपने आप मे परमशक्ति अनुभव करते है।

स्थूलदर्शन के दूसरे प्रकार की दृष्टि मे इसका अर्थ कई विवेचनकार यो करते हैं—आपकी मूर्ति (आपके देह की प्रतिकृति) अमृत से परिपूर्ण बनाई गई

---

१ देखिये सिद्धसेनदिवाकरसूरिकृत पञ्चमी द्वात्रिंशिका मे—

'गम्भीरमम्बुनिधिनाऽचलै स्थिरत्वं, शरद्दिवा-निर्मलमिष्टमिन्दुना।
भुवा विशाल, द्युतिमद् विवस्वता, बलप्रकर्ष पवनेन वर्ण्यते ॥ ३ ॥
गुणोपमान न तवात्र किञ्चिदमेय—माहात्म्यसमञ्जस यत्।
समेन हि स्यादुपमाऽभिधान, न्यूनोऽपि तेनाऽस्ति कुत समान ॥ ४ ॥"

है और इतनी सरस बनाई गई है कि दुनिया में किसी (मूर्ति) के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उस वीतराग-प्रतिमा की दृष्टि अमृतरस से मानो तरबतर है। जिसे देखते हुए नेत्रो को कभी तृप्ति नहीं होती।" मतलब यह है कि आपकी (तीर्थंकरदेव की) मूर्ति अमृत में भरपूर बनाई गई है, जिसके हाथ में हथियार नहीं है, इस कारण रौद्ररूप नहीं है। जिसे देखते ही शान्ति हो जाती है। दुनिया में तीर्थंकर या वीतराग के सिवाय किसी भी देव की मूर्ति देखें तो आपको प्रतीत होगा कि या तो उनके हाथ में कोई भयंकर शस्त्र-अस्त्र होगा, अथवा उसका रूप भयंकर होगा; खुली आंखें और भयावने रूप को देख कर ही मनुष्य घबरा जाता है। आपकी मूर्ति तो पर्यंकासन में स्थित है, किन्तु कामदेव आदि की मूर्ति के समान आपके बगल में कोई स्त्री नहीं होती। बल्कि वह शान्तरस में निमग्न हो, उस प्रकार की भाववाहिनी बनाई गई है। भोजराजा के दरबार में प्रसिद्ध जैनपण्डित कवि धनपाल ने तीर्थंकर (देवाधिदेव) की मूर्ति के लिए उद्‌गार निकाले हैं—

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमङ्कः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

अर्थात्—" जिसकी दोनो आखें प्रशमरस मे निमग्न हैं, जिसका वदनकमल प्रसन्न है, जो स्त्रीसंग से रहित है, हाथ शस्त्र के सम्बन्ध से रहित हैं, हे वीतराग प्रभो! जगत् में ऐसा वास्तविक देव, तू ही है।" तात्पर्य यह है कि वीतराग देव ही आदर्श एवं पूज्य हैं। वही अनुपमेय है। मेरी आंखे आपके इस अनुपम को देख कर तृप्त ही नहीं होती।

परन्तु ध्यान रहे, स्थूलदर्शन के द्वितीय प्रकार की दृष्टि से यह अर्थ तभी संगत होता है, जब वीतराग-दर्शन के समय सम्यग्दर्शनयुक्त भावधारा मन में प्रवाहित हो रही हो। भावधारा के बिना यह अर्थ बिलकुल संगत नहीं हो सकता।

अब इस स्तुति का उपसंहार करते हुए श्री आनन्दघन जी वीतरागदेव से एक परमभक्त सेवक के रूप मे प्रार्थना करते हैं—

एक अरज सेवक तणी, अवधारो जिनदेव।
कृपा करी मुज दीजिये रे, 'आनन्दघन'-पद-सेव॥
॥ विमल० ॥७॥

अर्थ

जिनदेव ! सेवक की सिर्फ एक अर्ज है, जिस पर आप ध्यान दें (लक्ष्य मे लें। वह यह है कि कृपा करके मुझे आनन्दघन-परमात्मपद की सेवा दीजिए।

भाष्य

आनन्दघनपद-सेवा की प्रार्थना क्या और क्यो ?

श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति की पूर्वगाथाओ मे **'साहेब, समरथ तु धणीरे'** तथा **'धींगधणी माथे कियो रे'** कह कर वीतरागप्रभु को स्वामी व नाथ के रूप मे स्वीकार किया है, तब यह स्वाभाविक है कि वह उनके समक्ष सेवक के रूप मे (स्वामी से) उचित याचना या प्रार्थना करे। इसलिए श्री आनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सिर्फ एक अर्ज करते है।

कोई कह सकता है कि वीतरागप्रभु तो किसी को कोई पदार्थ देते-लेते नही है, वे तटस्थभाव मे, स्वभाव मे (रागद्वेषरहित हो कर) स्थित हो कर सबका कल्याण चाहते है, फिर ऐसे वीतरागप्रभु से किसी चीज की याचना करना कहाँ तक उचित है ? क्योंकि प्रत्येक प्राणी को अपने शुभाशुभकर्मानुसार ईष्ट या अनिष्ट वस्तु फल के रूप मे मिलती है, परमात्मा या कोई भी देव किसी के शुभकर्मों के फल को अशुभ मे परिणत नही करते और न ही अशुभकर्मो के फल को शुभ मे वदल सकते हैं। इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी स्वय आध्यात्मिक साधुपुरुष है, वे कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली किसी भी वस्तु की याचना वीतरागप्रभु से नहीं करते और न ही वीतरागोपासक कोई ऐसी याचना कर सकता है। वे शरीर-सम्पत्ति, पुत्र, परिवार, धन्यधान्य, भूमि, स्त्री, स्वर्गादि की ऋद्धि, सिद्धि, मणि, मत्र या औषध आदि कर्मफलजन्य भौतिक पदार्थो की याचना नही करते, वे अन्य सेवको की तरह लोभी नही हैं, और न ही मिथ्यादर्शन या अज्ञान से युक्त है। वे वर्तमान मे अपनी आत्मशक्ति कम होने के कारण आध्यात्मिक शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए वीतरागदेव मे सिर्फ एक ही, और वह भी आध्यात्मिक याचना करते हैं कि "प्रभो ! इस भव मे तथा परभव मे मुझे आप (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) की पदसेवा =चरणसेवा मिले।" इसे ही वे भक्ति की भाषा मे कह देते है-'कृपा करी

मुज दीजिए रे' इसके लिए वे भगवान का ध्यान खींचते हैं कि मेरी एक ही अर्ज है, और वह भी आध्यात्मिक है, इस पर तो आपको ध्यान देना ही होगा। क्योंकि मैं आपका सेवक बना हूँ। आपके आदेश-निर्देश के अनुसार मैं चलता आया हूँ और चलने का प्रयत्न करूँगा। वह अर्ज क्या है?—परमात्मपद की सेवा। इसी तरह की प्रार्थना [1]अन्य आचार्यों एवं साधकों ने भी की है। यह प्रार्थना सिर्फ आत्मविकास की सूचक है।

यद्यपि वीतरागप्रभु किसी को कोई आध्यात्मिक शक्ति भी देते नहीं, किन्तु जिसका उपादान प्रबल हो, उसे वे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होने में निमित्त बन सकते हैं। जैसे गुरु शिष्य में ऊपर से ज्ञान उंडेलता नहीं किन्तु योग्य शिष्य हो, जिज्ञासु हो और आराधना-साधना के लिए उद्यत हो तो गुरु उसकी ज्ञानवृद्धि या ज्ञान की अभिव्यक्ति में निमित्त बन जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ श्रीआनन्दघनजी की परमात्मा से आध्यात्मिक शक्ति की याचना के पीछे भी यही रहस्य है कि परमात्मा की चरणसेवा के लिए पुरुषार्थ तो वे स्वयं करेंगे ही, इसीलिए इस स्तुति में पहले वे परमात्मा के चरणों की भव्यता, निर्मलता एवं उनके अनुपमेय व्यक्तित्व की महिमा का कथन कर चुके हैं। इसी से आकर्षित हो कर वे संसार की समस्त आकर्षक व मनोज्ञ वस्तुओं को तुच्छ और हेय समझ कर एकमात्र परमात्मा के चरण गहने को तैयार हुए हैं। हृदय की प्रबल ऊर्मियों से उद्भूत उद्गार हैं ये! ऐसी प्रबल भक्तिभावना से की गई प्रार्थना सफल भी होती है। परमात्मा जब अपने आध्यात्मरसिक आत्मसाधकभक्त की पुकार को अपने ज्ञान में जानते हैं तो प्रायः उनके निमित्त से जिज्ञासु भक्त के अंतर में ज्ञान का महाप्रकाश प्रकट हो जाता है। भगवद्गीता की भाषा में कहूँ तो यह प्रार्थना एक ज्ञानी भक्त की प्रार्थना है, जिसमें भगवान् से और किसी चीज की याचना न हो कर परमात्मपद (निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप में रमणता

१- 'मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुम्ह चलणाणं' (आपकी चरणसेवा मुझे भव भव (जन्म-जन्म) में मिला करे), 'तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः' (एकमात्र आपकी शरण में आये हुए शरण लेने योग्य प्रभो! आपकी शरण (सेवा) प्राप्त हो), सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु'। २ क्योंकि पद या चरण कहा जाता है।

=लीनतारूप चारित्र) की सेवा=प्राप्ति की प्रार्थना है। अथवा परमात्मपद (वीतरागपद मुक्तिपद) प्राप्त करने की यह प्रार्थना है। तात्पर्य यह है कि आनन्दघनजी व्यवहारदृष्टि से निरतिचार चारित्र-पालन करके, निश्चयदृष्टि से स्वरूपरमण-रूपचारित्र-पालन करके 'तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्' के अनुसार परमात्मा की आज्ञाराधनारूप सेवा करना चाहते हैं।

सारांश

विमलनाथ तीर्थंकर (परमात्मा) की इस स्तुति मे परमात्मा को स्वामी (आदर्श) मान कर दिव्यनेत्रो से उनके सर्वांगीण दर्शन के रूप मे उनके नयन, चरण, मन, दीदार, आत्मा, आकृति आदि समस्त अगो की सेवा करके श्रीआनन्दघनजी एक अध्यात्मरसिक सेवक का दायित्व और कर्त्तव्य सूचित करते है। इसीलिए अन्त मे परमात्मा की सांगोपाग सेवा प्राप्त होने की याचना करते हैं।

१४ : श्रीअनन्तनाथ-जिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा की चरणसेवा

(तर्ज विमल कुलकमलना हंस तु जीवड़ा, राग, कड़खा, रामगिरि)

धार तरवारनी सोहली दोहली, चउदमा जिनतणी चरणसेवा ।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवनाधार पर रहे न देवा ॥धार०॥१॥

अर्थ

तलवार की धार पर चलना सरल (सुगम) है, किन्तु चौदहवें जिन (वीतराग प्रभु) की चरणसेवा दुर्लभ (दुष्कर) है। तलवार की धार पर नाचते हुए कुशल बाजीगर दिखाई देते हैं। किन्तु वीतराग की चरणसेवा की धारा पर भवनपति आदि देव भी नहीं टिक सकते, मनुष्यों का तो कहना ही क्या।?

भाष्य

परमात्मा की चरणसेवा का रहस्य

तेरहवें तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति के अन्त में श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से चरणकमल की सेवा की याचना की है, इसमें किसी को शंका हो सकती है, कि आखिर उन्होंने ऐसा क्या माँग लिया ? प्रभु की सेवा तो माँगे बिना ही मिल सकती है। इस शंका के निवारण करने के लिए चौदहवें तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति में बताया गया है कि वीतरागप्रभु की चरणसेवा आसान नहीं है। वह तलवार की धार पर चलने से भी बढ़कर दुष्कर है।

वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा[1] का अर्थ वास्तव में व्यवहारदृष्टि से सामायिक आदि चारित्रपालन की आज्ञा का परिपालन है। संक्षेप में कहें तो भगवान् की आज्ञा की आराधना ही उनकी सेवा है। स्वयं तीर्थंकर महावीर

---

१. वीतराग स्तुति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—'तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्' (आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी सेवा है)

ने अतिदुर्लभ चार बातो मे से एक संयम (चारित्रपालन) मे आत्मा के पुरुषार्थ को [1] दुर्लभ कहा है।

सवाल यह होता है कि ऐसी प्रभु-चरणसेवा इतनी दुष्कर—दुर्लभ क्यो है? इसका समाधान यद्यपि अगली गाथाओ मे स्वयमेव श्रीआनन्दघनजी ने किया ही है, तथापि सक्षेप मे इसके उत्तर मे यो कहा जा सकता है कि आत्मा अनादिकाल मे आत्मस्वरूप मे रमण (परमात्म-चरण) की धारा पर अखण्डित—अविच्छिन्नरूप से चलने मे भूल करती आ रही है। वह भूल क्यो होती है? कैसे होती है?, इस विषय मे वास्तविक जिम्मेवार तो आत्मा स्वय ही है, निमित्तरूप से जिम्मेवार द्रव्यकर्म, परपदार्थ आदि कारण बताये जाते हैं। जो भी हो, आत्मा के पुरुषार्थ की कमी ही परमात्म-चरणसेवा मे बाधक कारण है। असावधानी (प्रमाद) ही आत्मा को नीचे गिराती है, ११ वें गुण-स्थान पर पहुँची हुई उत्तम आत्मा का ठेठ दूसरे गुणस्थान तक पतन होने मे वही कारण है। पूर्णतया आज्ञाराधना—यथाख्यातचारित्र मे—बारहवे गुणस्थान मे होती है, वही प्रभुचरणसेवा है, वहाँ तक पहुँचना कितना दुर्लभ है? इसे प्रत्येक साधक जानता है। उसके बीच मे कभी सम्यग्दर्शन मे, कभी सम्य-ग्ज्ञान मे और कभी सम्यक्चारित्र-मे अन्तरायभूत कितने ही बाधकतत्व आते है, मोह उन सबमे प्रधान है। राग,द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय आदि को जीत कर ही भगवच्चरणो के समीप पहुँचा जा सकता है। इनके जीतने का मार्ग भी पकड लिया, साधक का वेष भी धारण कर लिया, और महाव्रतो का स्वी-कार भी कर लिया, किन्तु इतने मात्र से इन बाधकतत्वो को जीता नही जा सकता। इन्हे जीतने के लिए सतत सावधानी, सदा आत्मस्वरूपलक्षी क्रिया, आत्मलक्षी ज्ञान और मोक्षमार्ग या परमात्मतत्व पर अखण्ड अविचल श्रद्धा रखनी आवश्यक होती है। जरा-सा भी चूकने पर झट से ये बाधक तत्व आत्मा को दबा देते हैं, पीछे या नीचे धकेल देते हैं, क्योकि तलवार की धार पर नाचते हुए कदाचित् गिर भी जाय तो उसके हाथ-पैरो को ही चोट

---

१ देखिये उत्तराध्ययन सूत्र मे—

चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ॥

पहुँचती है, मगर चारित्रसेवनारूपी असिधारा से गिर जाय यानी आज्ञाविराधना हो जाय तो अनन्तदुःखमयसंसार के जन्ममरण प्राप्त होने की पूरी सम्भावना है।

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी अपनी बात स्पष्ट कर देते हैं—धार तरवारनी सोहली दोहली'' ''' मतलब यह है कि यद्यपि तलवार की धार (नोक) पर नाचना अत्यन्त कठिन है। उसमें जरा-सी असावधानी होते ही प्राण खतरे में पड़ जाते हैं। किन्तु कोई सधा हुआ, कुशल-नटों द्वारा बाजीगरी की कला में प्रशिक्षित एवं निपुण तलवार की तीक्ष्ण धार पर भी चल सकता है। उसके लिए तब तलवार की धार पर चलना कोई मुश्किल बात नहीं होती, वह आसान चीज हो जाती है, परन्तु पहले बताए अनुसार वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा की धारा पर चलना अत्यन्त दुष्कर है। वह क्यों दुष्कर है? यह हम पहले संक्षेप में कह आए हैं।

मनुष्यों के लिए तो ऐसी चरणसेवा दुष्कर है ही, पर जिन्हें संसार के सभी साधन सुलभ हैं, उन चारों प्रकार के देवों के लिए भी यह अत्यन्त दुष्कर है। यदि चरण-सेवा का अर्थ धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य आदि द्वारा प्रभु की बाह्य द्रव्यपूजा होता तो यह देवों और मनुष्यों के लिए क्या कठिन था? और तब श्रीआनन्दघनजी को यह नहीं कहना पड़ता कि सेवनाधार पर रहे न देवा। इसलिए चरणसेवा का अर्थ बाह्य द्रव्यपूजा कथमपि संगत नहीं है। हाँ, भावपूजा या प्रतिपत्तिपूजा अर्थ कथंचित् संगत हो सकता है। उसी प्रकार चरणसेवा का अर्थ प्रभु के स्थूलचरणों की सेवा भी व्यवहारानुकूल नहीं है। क्योंकि वीतराग के स्थूलचरण तो तीर्थंकर अवस्था में उनके जीवितकाल में ही प्राप्त हो सकते हैं। और मान लो, कोई तीर्थंकर भगवान् के जीवनकाल में भी मौजूद हो, और प्रभु के चरणों को छू लेता है या उनके चरण दबा कर उनकी बाह्य-सेवा मान लेता है, किन्तु अगर उनकी चारित्राराधनारूप आज्ञा का पालन नहीं करता है, बल्कि उनकी आज्ञा के विपरीत आचरण, प्ररूपण या श्रद्धान करता है तो उस हालत में वह चरणों की यथार्थ बाह्यसेवा भी कैसे मानी जा सकती है? और स्थूलसेवा का वह प्रदर्शन (दिखावा) कैसे उसका बेड़ा पार कर सकता है? इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि तीर्थंकर-अवस्था में प्रभु की चरण-सेवा भी उनकी आज्ञा के परिपालन से चरितार्थ हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अन्ततोगत्वा चरणसेवा के सब अर्थों का पर्यवसान तो वीतराग के आज्ञानुरूप चारित्रपालन मे ही होता है।

यही कारण है कि वीतराग की चरणसेवा देवो के लिए भी दुर्लभ बताई है, नही तो स्थूलचरणसेवा या बाह्य द्रव्यपूजा देवो के लिए क्या दुर्लभ थी ? किन्तु देवो के लिए प्रभुचरणसेवा इसलिए दुर्लभ है कि वे मोक्षमार्ग की आराधना के लिए वीतरागदेव द्वारा प्ररूपित (आज्ञप्त) रागद्वेष, विषय-कषाय आदि को जीतने हेतु व्रत, तप, जप, सयम आदि व्यवहार चारित्र तथा आत्म-स्वरूपरमणतारूप निश्चय चारित्र का परिपालन नही कर सकते । देवता अव्रती होते हैं। उनमे व्रतनियमो का पालन नही हो सकता। इन्द्रियो के वैषयिक सुख मे मग्न देवो के लिए चारित्राराधनरूप आज्ञापरिपालन यानी प्रभुचरणो की सेवा दुष्कर है। इसीलिए कहा है—'सेवनाधार पर रहे न देवा'। अवाचक (मूक) तिर्यंचो के लिए भी चरणसेवा लगभग अशक्य है और नारको के लिए लिए सदैव नाना दुःखो मे मग्न रहने के कारण सेवाधार पर चलना अशक्य है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त चरणसेवा मनुष्यो मे जो सर्वविरति, आज्ञा के सर्वथा आराधक, अप्रमत्त महामुनि है, उनके लिए सुशक्य है।

अब अगली गाथाओ मे बताते हैं कि वीतरागचरणसेवा की धार (आज्ञा-परिपालनके पथ) पर चलना क्यो दुष्कर है—

एक कहे-'सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकान्तलोचन न पेखे।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा रड़बड़े चारगति माहि लेखे॥
॥धार० ॥२॥

अर्थ

कई लोग कहते हैं कि "वीतराग परमात्मा की चरणसेवा (आज्ञापालन) मे क्रिया भी आती है, इसलिए (भावशून्य या ज्ञानशून्य अथवा विकृतभाव से) व्रत, जप, तप, अनुष्ठान, द्रव्यपूजा आदि क्रियाएँ करके हम वीतरागप्रभु की सेवा आज्ञा का पालन करते है। परन्तु वे उसका नतीजा, (फल) जो विभिन्न प्रकार का है, आँखो से नही देखते (नहीं सोचते)। वे बेचारे अपनी आशा के अनुकूल अनेक फल की कल्पना करके (अथवा वे अनेक फल देने वाली) क्रिया (अज्ञानवश) करते हैं जिसके कारण वे चार गति मे भटकते हैं, चक्कर लगाते फिरते हैं।

भाष्य

वीतरागचरणसेवा के अज्ञानजनित प्रकार

बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि वीतरागदेव की चरणसेवा हमारे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। वीतरागप्रभु की आज्ञा जपादि विविध क्रियाएँ करने में है। क्रियाएँ करने से ही प्रभुसेवा हो जायगी। क्योंकि यह एक सिद्धान्त है—'या या क्रिया सा सा फलवती' जो जो क्रिया होती है, उसका कुछ न कुछ फल होता ही है। ऐसे लोग या तो अज्ञानवश लोक-परलोक की किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर कोई न कोई अनुष्ठान या क्रिया भगवान् के नाम की ओट में करते रहते हैं, अथवा क्रिया का मर्म समझे बिना ही क्रिया के साथ शुद्ध आत्मस्वरूप का लक्ष्य चूक कर शुद्धभाव से शून्य क्रिया परमात्मा का नाम ले कर करते रहते हैं। कई दफा तो वे बहुत कठोर (जप, तप, कष्टसहन आदि की) क्रिया करते हैं, परन्तु उसके पीछे कोई विचार या ज्ञान नहीं होता, वे क्रियाएं केवल वृथाकष्ट बन जाती हैं। साधक समझता है कि मैं इन क्रियाओं को भगवान् के नाम से करता हूँ, इसलिए भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे, इस प्रकार प्रभु की चरणसेवा हो जायगी। परन्तु उन्हें यह समझ नहीं कि क्रियाएँ करने मात्र से प्रभुसेवा नहीं हो जाती या निर्धारित अभीष्ट परिणाम। नहीं आ सकता जो क्रियाएँ किसी इहलौकिक या पारलौकिक कामना के वश हो कर की जाएँगी, उनका फल तो मिलेगा, पर उन क्रियाओं जैसा फल नहीं मिलेगा, जो किसी भी स्वार्थ या इहलौकिक पारलौकिक कामना से रहित हो कर की जाती हैं। वे अभीष्टमोक्षफलदायिनी होती हैं, परन्तु शुभ अथवा अशुभ परिणामों के साथ की जाने वाली क्रियाएँ संसारफलदायिनी होंगी। किसी प्रकार का विचार किये बिना अन्धाधुंध अज्ञानपूर्वक भगवान् का नाम ले कर यन्त्रवत् क्रिया करने से भी जो उन क्रियाओं का अभीष्टफल (कर्ममुक्तिरूप) मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता। उसका अनेकान्त १(व्यभिचारी) फल मिलता है, जो क्रिया के ईष्टप्रयोजन के विरुद्ध होता है, इस बात को वे ज्ञानशून्य क्रियावादी अपनी विवेक की आँखों से नहीं देखते, यानी वे क्रिया के नतीजे पर सोचे-विचारे बिना ही प्रभु का नाम ले कर अन्धाधुंध क्रियाएँ करते हैं। ऐसे लोग भगवान् की आज्ञापालन का दम भरते हैं, लेकिन यथार्थ में वह संसार की सेवा होती है।

अथवा अनेकान्त का अर्थ एकान्त न होना भी है। कई वार क्रिया का फल मोक्षमार्ग की प्राप्ति होता है, कई वार ससारवृद्धि होता है। यानी क्रिया का फल एकात (एक ही प्रकार का) नही होता। इस बात को क्रियावादी नही देखते नहीं विचारते। कुछ लोग क्रिया के अनेक (विभिन्न) फलो को तो जानते-मानते हैं, पर वे इस भव या परभव मे सुखसुविधाएँ, वैभवादि की प्राप्ति की आशा मे क्रियाएँ करते रहते है। वे क्रियाएँ फल तो अवश्य देती हैं, पर उसे हम सच्चे माने मे फल नही कह सकते, स्थायी सुख देने वाले फल को ही हम वास्तविक फल कह सकते है। अस्थायी फल वाली क्रियाओ मे तो वे वेचारे एक से दूसरी गति मे, दूसरी से तीसरी गति मे भ्रमण करते रहते हैं। देवगति या मनुष्यगति मे मिलने वाले पौद्गलिक सुखरूप फल भी क्षणिक और अस्थायी होते हैं। कई वार तो ऐसा पौद्गलिक सुख भी नही मिलता। ऐसा क्रियाफल तो चारगतियो मे भटकाने वाला और ससारवृद्धि का कारण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिए वह क्रिया उपादेय नही हो सकती।

पहले हम पाच प्रकार की क्रियाओ का वर्णन कर चुके है। वे इस प्रकार हैं—विषक्रिया, गरलक्रिया, अननुष्ठानक्रिया, तद्हेतुक्रिया और अमृतक्रिया। इन मे से प्रथम तीन क्रियाएँ चारो गतियो मे भ्रमण कराने वाली हैं। शेष दो क्रियाएँ मोक्षप्राप्ति की कारणभूत है। ज्ञानशून्य क्रियावादी प्रथम की तीन क्रियाओ से देव-नरकादि चारो गतियो मे भटकता रहता है। अत प्रभुचरण—सेवारूप क्रिया शुद्धात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति का फल देने वाली हो, वही उपादेय है।

निष्कर्ष यह है कि संसार मे प्राय एकान्तक्रियावादी लोगो की पूर्वोक्त मान्यता के कारण प्रभुचरण-सेवा दुर्लभ है।

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी तत्त्वज्ञाननिष्ठ लोगो के झूठे ममत्वयुक्त व्यवहार के कारण प्रभुचरण-सेवा को दुर्लभ बताते हुए कहते हैं—

---

१ अनेकान्त का अर्थ यहाँ व्यभिचारी हेत्वाभासरूप दोष है, जिसका लक्षण है- माने हुए कारण मे तदनुसार कार्य न होना या माने हुए हेतु के अनुसार साध्य का न होना। यहा कार्य . फल के साथ विसवादी कारण होने से व्यभिचार (अनेकान्त) दोष है।

गच्छना भेद बहु नयण निहालना तत्त्वनी वात करतां न लाजे।
उदरभरणादि निजकाज करतां थका, मोहनडिया कलिकाल राजे ॥
धार० ॥३॥

अर्थ

गच्छो (उपसम्प्रदायो) के बहुत-से भेद प्रत्यक्ष देखते हुए भी अफसोस है, इन लोगो को तत्त्व की बातें बघारते हुए जरा भी शर्म नहीं आती। ऐसा मालूम होता है, उदरभरण, वगैरह (बढ़िया खाने-पीने, पहनने का सामान और रहने के लिए आलीशान भवन, एवं सम्मान आदि अपने मनमाने (स्वार्थ) कार्य करते हुए ये पदाग्रही लोग कलियुग मे मोह मे घिरे हुए सुशोभित हो हो रहे हैं।

भाष्य

तत्त्वज्ञान बघारने वालों की परमात्मसेवा

पूर्वगाथा मे ज्ञानहीन क्रियावादी लोगो के द्वारा परमात्मसेवा का निराकरण किया था, इसमे ज्ञानवादी लोगो द्वारा परमात्मसेवा के ढोंग की कलई श्रीआनन्दघनजी ने खोल दी है। परमात्मसेवा कितनी दुर्लभ है ? यह गच्छो, पंथो और सम्प्रदायो के पृथक्-पृथक् भेदो को देखते हुए स्पष्ट मालूम हो जाता है। जिनमे परमात्मसेवा की सच्ची लगन है, उनमे गच्छ, मत, पंथ और सम्प्रदाय के विभिन्न भेद पैदा करने, भोली जनता के सामने अपने गच्छ, मत, पंथ या सम्प्रदाय की बडाई और सच्चाई की डींग हाकने और दूसरो के इन गच्छादि की निन्दा और उन्हे मिथ्या कहने और लोगो को अपने गच्छादि मे खीचने का झूठा आग्रह हो ही नहीं सकता। जहाँ इस प्रकार की खींचातान है, मताग्रह है, मेरा ही मत, पंथ या गच्छ सच्चा है, हमारे मत, गच्छ, या पंथ के साधक भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, हमारा पंथ या गच्छ ही प्रभु का पंथ या गच्छ है, इस प्रकार अपने गच्छ या पंथादि की महत्ता जमाने के लिए आकाश-पाताल एक किया जाता है, ऐसे साधको के मुँह से तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नही देती। उन्हे शर्म नही आती है कि हम एक ओर तो अनेकान्त की बातें बघार कर सब धर्मो, पंथो, मतों एवं दर्शनो मे परस्पर समन्वय, सापेक्षता और सहिष्णुता पैदा करके विरोध मिटाने और

कदाग्रह छोडने की बडी-बडी बाते करते हैं किन्तु दूसरी ओर से हम ही गच्छो, पथो आदि के भेदो से चिपटे हुए है, सम्प्रदायमोहवश एक दूसरे मे परस्पर, भेद डाल कर अथवा अनुयायियो के मन मे अपने से भिन्न मत, पथ, सम्प्रदाय आदि की निन्दा करके घृणा पैदा करते है। जहाँ तत्त्वज्ञान हो, वहाँ ममत्व की वृत्ति शोभा नही देती। जहाँ तत्त्व हो, वहाँ ममत्व नही और जहाँ ममत्व हो, वहाँ तत्त्व नही होता। परन्तु इन कलियुगी साधको की तो बात ही निराली है। इनका ऊपर का साधु वेप और वचनाडम्बर देख कर भोले-भाले लोग उनके वाग्जाल मे फँस जाते हैं, वे इनकी ढोल मे पोल को जान नही पाते। किन्तु वास्तव मे ऐसे साधक दम्भी हैं, वे थोथे तत्त्वज्ञान द्वारा ही परमात्मचरणसेवा हो जाना मानते है, पर ऐसा मालूम होता है कि ये सब बाते केवल पेट भरने, प्रतिष्ठा पाने, वस्त्रादि अन्य साधन लेने एव अपना स्वार्थ सिद्ध करने की हैं, और इस कलियुग मे वे अन्दर से मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के चगुल मे फँसे हुए हैं, केवल बाहर से शोभायमान लगते हैं, अन्दर से तो मोह की मजबूत गाँठ से जकडे हुए हैं।

वास्तव मे श्रीआनन्दघनजी ने आज के तथाकथित तत्त्वज्ञानवादी लोगो को बडी चेतावनी इसमे दे दी है। ऐसे कलियुगी गुरुओ के कारण ही परमात्मा की यथार्थसेवा इस युग मे दुर्लभ हो रही है। आज के युग मे तथाकथित साधक आचार्य, सूरिसम्राट्, मुनिपुगव, प्रखरवक्ता, अध्यात्मयोगी, योगीराज, आत्मार्थी आदि बन कर लच्छेदार भाषा मे तात्त्विक बातें बघारते रहते है, परन्तु उनके व्यवहार को देखा जाय तो वे अत्यन्त सकीर्ण, अनुदार, दूसरे सम्प्रदाय, या, पथ (गच्छ) के साधुओ से घृणा, छुआछूत या भेदभाव करने वाले, दूसरो को मिथ्यात्वी समझने वाले प्रतीत होते हैं। मन कल्पित क्रियाकाड, वेष, पथ, मत, या गच्छ की थोथी महत्ता की डीग हाँकने वाले के मुख से आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नही देती। मोह के शिकजे मे फँस कर ऐसे लोग तत्त्वज्ञान छोड कर पूँजीपतियो को अपने, भक्त बना लेते हैं, वे इनके बढिया खानपान, आवश्यकताओ मानप्रतिष्ठा आदि स्वार्थ की पूर्ति कर देते है, ये उन्हे पुण्यवान् भाग्यशाली, सेठ, दानवीर आदि विशेषणो से सत्कृत सम्मानित कर देते हैं। इस प्रकार इनके तत्त्वज्ञान का उपदेश परमात्मा की चरणसेवा का प्रयोजन सिद्ध करने वाला नही होता, वह एक प्रकार से मोहलिप्त स्वार्थसेवा करने वाला हो जाता है।

आगे की गाथा मे परमात्मसेवा की फिर दुर्लभता सूचित की है—

वचननिरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचनसापेक्ष व्यवहार साचो ॥
वचननिरपेक्ष व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कोई राचो ॥
धार० ॥४॥

अर्थ

जिन प्रवचन (परमात्मा की आज्ञा की, निश्चय दृष्टि मे आत्मतत्त्व की अपेक्षा से रहित, विसगत व्यवहार (धार्मिक आचार) मिथ्या है, परमात्मवचन से साथ वचन (आत्मतत्त्व) से निरपेक्ष व्यवहार ससाररूप फल का प्रदायक है। ऐसा सुन कर उसे आदर क्यो देते हो ? उसमे क्यो फँसते हो ?

भाष्य

वचननिरपेक्ष और वचनसापेक्ष व्यवहार

वीतराग परमात्मा के अनेकान्तवाद मे सने वचन या प्रवचन अथवा आत्म-तत्त्वलक्ष्यी वचन मे सापेक्ष व्यवहार ही वास्तव मे जिनाज्ञा का अनुसरणकर्त्ता होने से सच्चा है। यहाँ व्यवहार का अर्थ व्यवहारचारित्र यानी धार्मिकआचार-विचार से है।[1] जो व्यवहार धर्मार्जित एव तत्त्वज्ञपुरुषो द्वारा इहलोक मे सदा आचरित होता है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ साधक निन्दा का भागी नही बनता। जैनागमो मे पाँच प्रकार का व्यवहार बताया है—आगम-व्यवहार, श्रुतव्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणाव्यवहार और जीतव्यवहार। ये पाँचो व्यवहार जैनसाधुवर्ग के बाह्याचारो तथा विधानो से सम्बद्ध है। ऐसे साध्वाचार-सम्बन्धी विधानो का वर्णन व्यवहारसूत्र आदि मे मिलता है। पाचो मे से कोई भी व्यवहार सूत्रचारित्ररूप-धर्म से अनुप्राणित हो वही वचन सापेक्ष व्यवहार कहलाता है, जो व्यवहार जिनप्रवचन, वीतराग-सिद्धान्त या निश्चयनय मे सम्मत न हो, वह निरपेक्षव्यवहार है।

समग्र जैनदर्शन नयवाद पर आधारित है। एक बात एक दृष्टिबिन्दु मे सच्ची होती है, वही दूसरे दृष्टिबिन्दु से बिलकुल उलटी प्रतीत होती है।

---

१ जैसे कि उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है—

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहाऽयरियं सदा।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥

इस अपेक्षावाद को यथार्थरूप से समझ कर जो आचरण, प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उनका वह व्यवहार वचनसापेक्ष होने के कारण सच्चा व्यवहार (नय) है। परन्तु इसके विपरीत जो अपेक्षा या दृष्टिविन्दु को ठीकतौर से न समझ कर एकान्त एक ही दृष्टि से आचरण, प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उसका वह व्यवहार वचननिरपेक्ष होने के कारण मिथ्या है।

इस प्रकार का वचननिरपेक्ष व्यवहार अथवा आत्मतत्त्व की अपेक्षारहित परमार्थमूलहेतुभूतरहित व्यवहार (निश्चय को लक्ष्य मे न रख कर की हुई व्यवहारक्रिया) का फल तो चारगति मे भ्रमण-रूप ससार ही है। यहाँ जैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को ससारवृद्धिरूप फलदाता कहा है, वैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को छोड कर एकान्त निश्चय भी उपलक्षण से ससार वृद्धिरूप फलदाता समझ लेना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि योगी आनन्दघनजी उस युग के मतवादी (मताग्रही) गच्छ (पथ) वासियो अथवा क्रियाकाण्डियो के मोक्षफल को तथा आत्मज्ञान की अपेक्षा रहित कथन-श्रद्धान-आचरण देख कर या अनुभव करके कहते है, जो लोग मनगढत अटपटी क्रियाओ को धर्म या भगवान् के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा आदि के ममत्व मे सापेक्ष जिनप्रवचन का व्यवहार करते हैं, वे भी एकान्तवादी या अपने ही कल्पित मत को सच्चा मानने वाले साधक ससार की वृद्धि करते हैं। जिसे गच्छ, मत, पथ या अपने माने हुए तथाकथित सावद्य अनुष्ठान का आग्रह नहीं है, जो सम्यक् (आत्म) ज्ञान की वृद्धि की अपेक्षा रख कर जिनप्रवचन-अनेकान्तवाद का व्यवहार करता है; वह आत्मकल्याण की अपेक्षा (मद्देनजर) रखते हुए अनेकान्तवचन बोलता या कहता है, वही ससारसागर से पार उतरता है।

यही कारण है गच्छ-मतादि के आग्रह के कारण जो आत्मस्वरूप-निरपेक्ष आचरण करते हैं, उन्हे देख कर श्रीआनन्दघनजी को व्यथित मन से कहना पडा—'सामली आदरी काई राचो' इस बात को भलीभाति सुन लेने पर भी उसको अपना कर क्यो उसमे मशगूल हुए हो, ?"

उसी व्यवहार की ओट मे देवगुरु-धर्म पर श्रद्धा न रख कर जो क्रिया की जाती है, उसके परिणाम को बताने के लिए अगली गाथा मे कहते है—

देव-गुरु-धर्मनी शुद्धि कहो रहे केम रहे शुद्धश्रद्धान आणो ,
शुद्ध श्रद्धानविण सर्वकिरिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो ।,
धार० ॥५॥

अर्थ

ऐसे निरपेक्षवचनवादी लोगो से देव, गुरु और धर्म की शुद्धि (पवित्रता) या शुद्धिभक्ति कैसे सुरक्षित रह सकती है ? और इस तत्त्वत्रयी की शुद्धि या शुद्धभक्ति के विना शुद्ध श्रद्धान कैसे लाया जा सकता है ? तथा शुद्ध श्रद्धा के विना यह समझ लो कि समस्त क्रियाएँ राख (धूल) के ढेर पर लीपने के समान है ।

भाष्य

देव-गुरु-धर्म पर शुद्ध श्रद्धा से रहित क्रिया का फल

वहुत से मत-पथवादी या नास्तिक विचारधारा वाले लोग अपने-अपने पथो, गच्छो, सम्प्रदायो या मतो की विचारधारा का आग्रह रख कर अपनी परम्परा (फिर चाहे वह ससार वढाने वाली क्रिया या प्ररूपणा से सम्बन्धित हो) से एक इच भी इधर-उधर नही हटना चाहते । अपनी लौकिक या भौतिक फलाकाक्षा के वशीभूत हो कर वे अपने माने हुए देवी-देवो या अवतारो को भी उसी रग मे रग लेते है , देवीदेवो या अवतारो को भगवान्-भगवती या विश्वमाता का रूप दे कर उन्ही के नाम से सभी तत्फलावलम्बी क्रियाएँ करते रहते हैं, वैसी ही लौकिक ससारवृद्धि करने वाली प्ररूपणा करते हैं या श्रद्धा रखते हैं, तव जो वीतराग वीतदोष देव हैं, कचनकामिनी के त्यागी महाव्रती सच्चे गुरु (साधु) हैं, अथवा मोक्षमार्गदर्शक अथवा कर्ममुक्तिदर्शक शुद्धात्म-रमणरूप धर्म है, उन पर शुद्ध श्रद्धा कैसे रह सकती है ? या उनकी विचार-धारा, श्रद्धा, प्ररूपणा या क्रिया मे जो दोष है, उसकी शुद्धि कैसे होगी ? वहुत-से लोग अपने अशुद्ध विचारो का निरूपण करते हुए सच्चे देव, सद्गुरु और सद्धर्म पर आस्था उखाडने की कोशिश करते है । वे सामान्य लोगो को भी इन सबसे ऊपर उठ कर सोचने की, इनको हृदय से निकालने की जोर-शोर से प्रेरणा करते है । इसका नतीजा यह होता है कि वे वेचारे या तो चमत्कारो या उक्त विचारको के मायाजाल मे फस जाते है, या लौकिक

फलाकाक्षावादी वन कर फिर उन्ही को भगवान् पैगम्बर या गुरु मान बैठते हैं। इस प्रकार न तो वे उच्च भूमिका (गुणस्थान) पर पहुँच पाते हैं, जहाँ देव-गुरु-धर्म की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उनमे स्वत. देवत्व, गुरुत्व और शुद्ध धर्मतत्त्व प्रगट हो जाता है। किन्तु वे भोलेभाले लोग तो इतनी उच्च भूमिका को छू नही पाते और न ही सच्चे देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा रख कर चल पाते है। वे त्रिशकु की तरह अधबीच मे ही लटके रह जाते है। इसलिए परमात्मतत्व को प्राप्त करने के लिए जो बुनियादी तीन तत्त्व हैं—सम्यग्देव, सम्यग्गुरु, और सद्धर्म , उनकी शुद्धि यानी दर्शनविशुद्धि वे नही कर पाते। इसका नतीजा यह होता है कि वे विविधमत-पथवादियो के पास इधर-उधर भटकते रहते है, वाह्य दृष्टि से भी और आत्मिक दृष्टि से भी वे जन्ममरणरूप ससार मे भटकते रहते हैं। वे देवगुरुधर्मतत्त्व की शुद्धि जो सद्व्यवहार की मुख्य आधारशिला है, उसे हृदय मे नही जमा पाते। वास्तव मे उस शुद्धि का आधार शुद्ध श्रद्धा है, उससे भी वे हट जाते है।

जव व्यक्ति के जीवन मे शुद्ध श्रद्धा (उक्त त्रिवेणी पर) नही होती, तो वह जो भी श्रद्धा, प्ररूपणा या क्रिया करता है, वह सव राख के ढेर पर लीपने के समान व्यर्थ श्रम होता है। उन क्रियाओ या प्ररूपणाओ से सिवाय ससारपरिभ्रमण के और कुछ प्रयोजन सिद्ध नही होता। उन क्रियाओ आदि मे लगाया हुआ समय, श्रम, शक्ति और दिमाग सव कुछ अपने ही हाथो व अपने ही पैरो पर कुल्हाणी मारने सरीखा होता है। साधकजी गये थे मुक्ति की साधना करने और फस गये ससार (भोग) की साधना मे, ऐसा ही कुछ हो जाता है।

श्रद्धा, सम्यक्त्व, श्रद्धान, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन, ये सव एकार्थवाचक हैं। जो वचनसापेक्ष व्यवहार का आदर करना चाहता है, उसे शुद्ध गुरु और सद्धर्म का शरण लेना ही होगा। तभी उसका शुद्ध श्रद्धान टिक सकेगा। यानी उसे व्यवहारदृष्टि से सम्यक्त्व प्राप्त हो कर टिक सकेगा। सम्यक्त्व के विना जितनी भी क्रिया (चाहे वह भगवान् का नामजप, गुणगान या स्तुति अथवा वाह्यपूजा, भक्ति भी क्यो न हो) की जायेगी, भले ही वह वचनसापेक्ष व्यवहारयुक्त हो, तो भी राख पर लीपने के समान निष्फल होगी। मतलव यह है कि सम्यक्त्व के बिना सव वृथा है, एक अक के विना बिंदियो के समान

है। जैसे गद्दी, ऊबडखाबड, बिगडी और कूडाकर्कट से भरी जगह साफ किये बिना उस पर कोई गोबर का लेपन करता है, तो वह फिजूल जाता है, किन्तु साफ की हुई, शुद्ध समभूमि पर किया हुआ लेपन ही सार्थक होता है। वैसे ही श्रद्धा से साफ की हुई शुद्ध आत्मभूमि (या चित्तभूमि) पर देवगुरुधर्म की लगन से की हुई शोध भी तभी फलित होती है, और तभी आत्मभूमि पर किया हुआ क्रिया का लेपन स्थायी और कारगर होता है।

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने एक अध्यात्मसाधक को अध्यात्म की बुनियाद पक्की करने का स्पष्ट संकेत किया है और उसके लिए उसे प्रतिक्षण यह चिन्तन करने के लिए बाध्य किया है कि विशुद्ध देव-गुरु-धर्म कैसे मिल सकते हैं? इनकी सेवाभक्ति उसे कैसे प्राप्त हो सकती है? शुद्ध और अशुद्ध देव के, पवित्र और अपवित्र गुरु के तथा सद्धर्म और कुधर्म के क्या-क्या लक्षण हैं? इन्हे कैसे पहिचानें? इनकी शुद्धता और शुद्ध श्रद्धा कैसे टिक सकती है? गुरु के लक्षण तो 'आतमज्ञानी श्रमण कहावे, आदि पदो द्वारा श्रीआनन्दघनजी पहले बता चुके है, देव के विषय मे भी आगे एक स्तुति मे विस्तार से कहा जाएगा।

अगली गाथा मे शुद्ध चारित्र की पहिचान के लिए श्रीआनन्दघनजी निर्भीक हो कर स्पष्ट सत्य कह देते हैं—

पाप नहीं कोई उत्सूत्र-भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्रसरीखो।
सूत्र-अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनो शुद्ध चारित्र परीखो।

अर्थ

जगत् मे उत्सूत्रभाषण (श्रुत या सिद्धान्त से विरुद्ध प्ररूपण) जैसा कोई भी पाप (अशुभफल) नहीं है, इसी तरह सूत्रानुसार प्ररूपण-आचरण के सरीखा कोई धर्म नहीं है। वास्तव मे सूत्रानुसार जो भव्य साधक क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझो। उसके शुद्धचारित्र की इसी प्रकार परख लो।

भाष्य

साधक के शुद्धचारित्र की परख

संसार मे बहुत-से साधक ऐसे हैं, जो मताग्रही है, पंथ-गच्छवादी है या सम्प्रदायवादी हैं, अथवा स्वकपोलकल्पित देव-गुरु-धर्म की मान्यता को

प्ररूपणा करते हैं, या फिर वे अपना मनमाना विचार-आचार बना लेते है। ये और ऐसे लोग अपनी मानी हुई बात पर शास्त्र की छाप लगाते है, शास्त्र की दुहाई देते हैं, शास्त्र का प्रमाण देते हैं और शब्दो की खीचतान करके अपनी अयथार्थ बात को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, ऐसे महानुभाव उत्सूत्रभाषी है, वे सिद्धान्तविरुद्ध, सूत्रो (श्रुतो) से विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा और आचरण करते हैं। उनका यह कार्य पाप है, जो बहुत ही घोर है जिसका फल भी भयकर अशुभ है।

उत्सूत्रभाषण का रहस्यार्थ है—सिद्धान्त या वीतरागवचन (श्रुत) से निरपेक्ष प्ररूपण करना, सूत्रनिरपेक्ष आचरण एवं श्रद्धान करना। वास्तव मे शास्त्र या सूत्रमात्रक के लिए कार्य अकार्य का निर्णय देते है। जब साधना मे कोई उलझन, वहम, शका या सशय आ पडे, तब शास्त्र ही उस अंधेरे मे प्रकाश का काम करता है। [1]भगवद्गीता मे भी कहा है कि तुम्हारे लिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण हैं। जो शास्त्रोक्त विधि-विधान को छोड कर अपनी स्वच्छन्दता से मनमामी प्रवृत्ति करता है, वह सिद्धि को प्राप्त नही कर सकता। इस दृष्टि से जो व्यक्ति शास्त्रविहित सिद्धान्त-सम्मत बातो की उपेक्षा करते हैं या उनकी मखौल उड़ाते हैं और मनमाना प्रचार करते है, मनमाना आचरण करते है, वे पाप करते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सूत्र-सिद्धान्त से विरुद्ध प्ररूपण को पाप और सूत्रसम्मत प्ररूपण व आचरण को धर्म कहते हैं। प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानो मे सबसे बडा पाप मिथ्यादर्शनशल्य है। सबसे बडा धर्म सूत्र-चारित्रधर्म है।

नयप्रमाणयुक्त जिनप्रवचन सूत्र कहलाता है, जो कथन नयो और प्रमाणो से अनुप्राणित अनेकान्तदृष्टि मे निश्चय-व्यवहार, दोनो को मद्देनजर रख कर किया जाता है, उसे भी जिनवचनसापेक्ष (सूत्रसम्मत) भाषण कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उक्त गाथा का भावार्थ यह होता है कि जिनवचन-

---

१ तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत।
न स सिद्धिमवाप्नोति

निरपेक्ष, नयप्रमाणयुक्तसूत्र से विरुद्ध, न्यून या अधिक कथन, भाषण या आचरण करने से बढकर और कोई पाप नही और जिनवचनसापेक्ष नयप्रमाणयुक्त सूत्रानुसार यथार्थ प्ररूपण, कथन या आचरण करने के समान कोई धर्म नही है। जो भव्य साधक उपर्युक्त विधि से सूत्रानुसार क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझना चाहिए। उसका तात्पर्य यह है कि जो भव्य जीव वीतराग परमात्मा की आज्ञा (वचन) का अनुसरण करते हुए क्रिया (धर्माचरण करता है, ज्ञानयोग से समन्वित क्रियायोग की साधना करता हुआ आत्मविकास का पथ तय करता है, उसका चारित्र शुद्ध है। इसके विपरीत जो मनमाना चलता है, वह चाहे जितना बडा तपस्वी हो, क्रियाकाण्डी हो, महत हो, या आडवरो और चमत्कारो से प्रभावित कर देता हो, उसका चारित्र शुद्ध नही कहा जा सकता, क्योकि उसका सारा आचरण सूत्रनिरपेक्ष या आज्ञावाह्य होने से सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण सम्यक्चारित्ररूप नही है।

अव अन्तिम गाथा मे वीतरागपरमात्मा की चरणसेवा के लिए वताये हुए उपायो को हृदय मे सजो कर भक्तिभावपूर्वक जो साधनापथ पर चलना है, उसका फल वताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

एह उपदेशनो सार संक्षेपथी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावे।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज पावे।
॥धार०॥७

अर्थ

इस पूर्वोक्त उपदेश का सार जो व्यक्ति प्रतिदिन हृदयंगम करके ध्यान मे रखते हैं, वे भक्तिशील व्यक्ति चिरकाल तक दिव्य (देवलोक के) सुखों का अनुभव करके अन्त में अवश्य (निश्चित) ही आनन्दघन (परमात्मा) का राज्य--मोक्षराज्य प्राप्त करते हैं।

भाष्य

इस स्तुति मे वीतराग परमात्मा की चरणसेवा के लिए श्रीआनन्दघनजी ने उन सव वाधकतत्वों की ओर से सावधान रहने का सकेत किया है, जो वाहर से तो परमात्मा की सेवा मालूम होती है, परन्तु वास्तव मे सेवा की ओट मे वे ससार मे परिभ्रमण कराने वाली हैं। उनमे से मुख्यतया निम्नलिखित वातें ये हैं—१—क्रिया के विविध ससारपरिभ्रमणजनक फलो का विचार

किये विना परमात्मा की सेवाभक्ति के नाम पर नामकामना वश विविध अनुष्ठान करना-कराना ।

२—किसी लौकिक या भौतिक फल प्राप्ति की आशा से जानबूझ कर भगवान् के नाम की ओट मे क्रिया करना, जो मोक्षप्राप्ति के बदले ससार मे भटकाने वाली हो ।

३—गच्छ, मत, पथ, सम्प्रदाय आदि का कदाग्रह, कलह बढाना, जनता मे भगवान् के नाम पर सम्प्रदायपोषण, परस्पर कलह, झगडे, विद्वेष आदि पैदा करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना ।

४—तत्त्वज्ञान की बातें बघार कर भोलेभाले लोगो को भगवान् के नाम से सम्प्रदाय, मत, पथ, चला कर उसमें फँसाना, कट्टरता बढाना, और उनसे स्वार्थ सिद्ध करना, अथवा स्वय मोहजाल मे फँसना ।

५—अनेकान्तवादयुक्त कथन से ओतप्रोत जिनवचन या कथन की उपेक्षा करके मनमाना व्यहार—धार्मिक आचार-विचार प्रचलित करना, और वह भी परमात्मा के नाम की ओट मे । अथवा ऐसे स्वच्छन्द धर्माचार एव विचार का वीतराग के नाम से पोपण करना, जिससे सिवाय ससारफल के और कुछ पल्ले न पडता हो ।

६—देव, गुरु धर्म पर शुद्धश्रद्धा व शुद्ध विचार न रखना, अथवा इनके नाम से मिथ्या देव, गुरु, धर्म को पकड लेना अथवा इन्हे अनावश्यक बता कर स्वच्छन्द जीवी, पुद्गलानन्दी बनना-बनाना ।

७—सूत्रविरुद्ध प्ररूपण, श्रद्धान, आचरण एव अनुष्ठान करना-कराना ।

ये सब बातें परमात्मा की चरणसेवा मे बाधक है, इनसे बच कर मोक्षप्राप्तिजनक नि स्वार्थ क्रियाएँ करना, लौकिक फलाकाक्षा से कोई भी अनुष्ठान न करना, न लौकिक फल प्राप्त करने की अभिलाषा रखना एव गच्छ-मत पथादि के कदाग्रह एव झगडे छोड़कर, समभावपूर्वक जिनाज्ञानुसार श्रद्धा, प्ररूपणा और सयमसाधना करनी चाहिये । आत्मा एक है, मोक्षमार्ग एक है, मोक्ष भी एक है। भव्यमुमुक्षु के लिए उचित है, कि एकात्मक सुखप्राप्ति के निरवद्य पथ को अपना कर सवर-निर्जरापूर्वक तपसयम की क्रिया करे । विविध भौतिक फल की इच्छा से की गई क्रिया के फलस्वरूप अनेक गतियो मे बार बार जन्म लेना पडता है,

उससे आत्मसुख की हानि होती है । अत. ससार की मूलरूप क्रियाओ का परित्याग करना चाहिये । मोहममता के अधीन हो कर या सूत्र-सिद्धान्त के आशय को छोड कर मनमानी देव-गुरु-स्थापना, देवपूजा, क्रियाकाण्ड को ले कर बने हुए गच्छ या सम्प्रदाय के भेदो की पुष्टि के लिए आदेश-उपदेश करना तथा अपनी सुखसुविधा तथा भौतिक सुख व सम्मान के लिए तत्त्वचर्चा करना आत्मार्थी के लिए शोभास्पद नही है । आत्मधर्म की अपेक्षा से रहित असत्य वचन-व्यवहार का त्याग करना चाहिए । सूत्रविरुद्ध प्ररूपण का भी त्याग करना आवश्यक है । साधारण जनता राग-रग के विषयो के प्रति लुब्ध हो कर सयम से वञ्चित हो तथा उसमे सिर्फ धन, पुत्र एव सासारिक सुख की तृष्णा वढे, इस प्रकार के उत्सूत्रभाषण का त्याग करना चाहिए ।

ये और इस प्रकार के उपदेश-वचनो का सार सुन कर जो इनसे हृदय मे आदर्शरूप मे धारण करेंगे, उनका वार वार चिन्तन करेंगे, आदरपूर्वक उनका अमल करके जो तन्मय बनेंगे, वे भव्य नर-नारी चिरकाल तक दिव्य- अद्वितीय चित्तसमाधिरूप, सातावेदनीय सुख का अनुभव करके आत्मगुण मे एकरस हो कर निश्चित ही मोक्ष मे जायेंगे, यानी सच्चिदानन्दरूप परमात्मपद मे लीन हो जायेगे । निष्कर्ष यह है कि परमात्मा की चरणसेवा का जो मूल प्रयोजन है, उसे ऐसे मुमुक्षु सिद्ध कर लेंगे ।

श्रीआनन्दघनजी का वचन उत्तराध्ययन-सूत्र एव सिद्धान्त मे पूर्णत सम्मत है कि पूर्वोक्त गाथाओ मे वताए हुए उपदेश के अनुसार चलने से छठे गुणस्थान मे रहे हुए साधक को कभी-कभी सातवा गुणस्थान प्राप्त होने से देवगति का आयुष्य वँध जाता है । वहाँ से दिव्यसुखो का अनुभव करने के वाद च्यव कर मनुष्यगति मे आ कर जाति आदि से समृद्ध कुल मे पैदा होता है, यहाँ उसे १० वोलो की प्राप्ति होती है । तदन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और

---

१ तत्थ ठिच्चा जहाठाण, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेंति माणुस जोणि, से दसगेऽभिजायए ॥१८॥
भुच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउय ।
पुव्व विसुद्धसद्धम्मे, केवल बोहि बुज्झिया ॥१९॥
तवसा धमुयकम्से, सिद्धे हवइ सासए ॥२०॥

तप, सवर एव भावनाओ के वल से ससार का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यानी जघन्य तीसरे भव मे, मध्यम पाच भव मे और उत्कृष्ट आठ भव मे तो उसका मुक्ति—परमात्मपद प्राप्त करना निश्चित है।

सारांश

इस स्तुति मे प्रभु की चरणसेवा को तलवार की धार पर चलने से भी दुर्लभ वता कर बीच की गाथाओ मे उसके अनेक कारणो का उल्लेख किया है। यद्यपि परमात्मा की चरणसेवा का तात्पर्य तो शुद्ध आत्मस्वभावरमणरूप चारित्र की साधना मे है, अथवा व्यवहार मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से है, किन्तु बीच मे जो भ्रातियाँ, अटपटी घाटियाँ, भय, प्रलोभन, स्वार्थ, लोभ आदि के रूप मे रुकावटें या देवादि के प्रति श्रद्धा की स्खलना या विकृत श्रद्धा आदि विघ्नवाधाएँ आ जाती हैं, उनसे निपटना टेढी खीर है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने प्रत्येक मुमुक्षु साधक को सावधान रहने के लिए सच और साफ-साफ वातें कह दी हैं। और अन्त मे सच्चे माने मे प्रभुचरणसेवा का फल दिव्यसुख-प्राप्ति और अन्त मे मोक्षप्राप्ति वता दी है।

ऐसी चरणसेवा परमात्मा के पास पहुँच कर ही की जा सकती है। परन्तु परमात्मा और आत्मा के बीच की दूरी है, उसे काटने के लिए धर्म की आराधना जरूरी है। इस वात को १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ की स्तुति के माध्यम से श्री आनन्दघनजी वताते हैं।

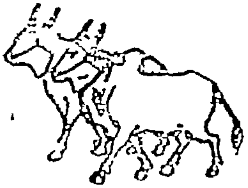

१५: श्रीधर्मनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मभक्त का अभिन्नप्रीतिरूप धर्म

(तर्ज—रसिया, सारग, राग गौडी)

धर्म जिनेश्वर गाऊं रग शु भग म पडशो हो प्रीत, जिनेश्वर !
'बीजो मनमन्दिर आणु नहीं, ए अम कुलवट-रीत, जिनेश्वर !
धर्म० ॥ १ ॥

अर्थ

इस अवसर्पिणी काल के १५वें जिनेश्वर श्रीधर्मनाथ-स्वामी (परमात्मा) का गुणगान आत्मभाव के रंग मे रग कर करता हूँ। प्रभो ! मेरी आपके साथ जो प्रीति है, उसमे भग न पडे, यही चाहता हूँ। मैं आप (वीतराग) के सिवाय अन्य किसी को अपने मन-(मनोयोगरूपी) मन्दिर मे प्रविष्ट नहीं कराऊंगा; यह हमारे (सम्यग्दृष्टि के) कुल की कुलीनता (टेक) की रीति (परम्परा) है।

भाष्य

परमात्मा के साथ अभिन्नप्रीतिरूप धर्म

पूर्वस्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग-प्रभु की चरणसेवा का व्यवहारधर्म बताने का उपक्रम किया है, इस स्तुति मे उन्होंने परमात्मा के साथ अभिन्नता स्थापित करने के लिए निश्चयधर्म बताने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे आत्मा और परमात्मा के बीच मे जो दूरी है, उसे मिटाने के लिए धर्म ही एकमात्र पुल है। परन्तु परमात्मा के साथ सदैव अभिन्नता टिकाये रखने वाला धर्म स्वरूपसिद्धिरूप धर्म है, जिसे परमात्मा के भक्त को अपने जीवन मे अमूल्य रत्न की तरह सुरक्षित रखना है, उसे आत्मस्वरूप के दीपक की लौ सदा प्रज्वलित रखनी है। धर्म गया तो सब कुछ गया। जैसे पतिव्रता स्त्री अपना धर्म अपने प्राणो की तरह सुरक्षित रखती है, समय आने पर वह प्राणो को होम देती है, मगर धर्म को जरा भी आँच नही आने देती, वैसे ही परमात्मा का भक्त

अपने अभिन्नप्रीतिरूप धर्म को जरा भी आँच नही आने देता, भले ही उसके लिए उसे सर्वस्व होमना पडे। पतिव्रता स्त्री उमग मे आ कर पति के गुणगान अन्तर से करती है, वह किसी के द्वारा गुणगान के लिए मजबूर नहीं की जाती और न ही किसी प्रकार का प्रलोभन दे कर उसे गुणगान के लिए तैयार किया जाता है, उसी प्रकार प्रभुप्रीतिरूपी धर्म का पालक भक्त भी किसी के दवाव, भय, या प्रलोभन मे न आकर स्वत प्रेरणा से उमग मे आ कर प्रभु के गुणगान करता है। जिस प्रकार पतिव्रतास्त्री अपने पति के सिवाय दूसरे किसी पुरुष को (दाम्पत्यप्रेम की दृष्टि से) स्वप्न मे भी मन मे नही लाती, यही उसकी कुलीनता की रीति है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतनावान भव्यात्मा की भी श्रद्धा दृढ ऐसी हो जाती है कि धर्मनाथ सिद्धप्रभु की और मेरी आत्मा मे तुल्यता है, इसी कारण मे प्रभु के साथ मेरी प्रीति जुडी है, उसमे शुद्ध देव के सिवाय दूसरे किसी रागी और द्वेषी देव को मनमन्दिर मे जरा भी नही लाना। जैसे पतिव्रतास्त्री को हरदम खटका रहता है कि कही मेरी और पति की अभिन्नप्रीति मे कोई भग न पड जाय, कोई विघ्न न डाल दे, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक मे के मन भी यह खटका रहता है कि मेरे और परमात्मा की जुडी हुई प्रीति मे बीच मे कोई भग न डाल दे। इसलिए मस्त योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते हैं—'**भग म पड़शो हो प्रीत, जिनेश्वर**'

स्वरूपसिद्धि मे विघ्नरूप है—अन्त करण मे अन्य रागी, द्वेषी सस्त्रीक देव का ध्यान और बहिर्मुखी बनाने वाले अनात्मतत्त्वो पर राग। परन्तु जब साधक इन दोनो का परित्याग कर देता है, तब साधक कहता है—'मेरा आत्मभाव और परमात्मा का स्वभाव एक है, पृथक् नही है, इसलिए उनका और मेरा कुल एक ही है। जिस मार्ग से प्रभु को मुक्ति या सिद्धि मिली है, उसी मार्ग से मैं भी चलूँ और प्रभु के साथ अखण्ड प्रीति के लिए उनका सान्निध्य प्राप्त करू। प्रभु की तरह मुझे भी मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए कर्मों पर विजय पा कर मुक्त या सिद्ध प्रभु का गुणगान करू।"

'ए अम कुलवटरीत' कह कर तो साधक के द्वारा अनन्य-समर्पण का भाव अभिव्यक्त किया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने भक्ति मे मन को एकाग्र करने के लिए

जिस धर्म का समर्थन किया गया था, उस धर्म के सम्बन्ध में अगली गाथा में जगत् के लोगो की मन स्थिति प्रगट करते है—

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर॥
धर्म० ॥ २ ॥

अर्थ

संसार मे सब लोग अलग-अलग नामो से पकडे हुए विभिन्न तथाकथित धर्मों को धर्म धर्म कह कर पुकारते हैं, परन्तु वीतराग प्रभो ! यही दु:ख है कि वे धर्म का रहस्य नहीं जानते। आत्मधर्ममय श्री धर्मनाथ वीतरागप्रभु के चरण (आत्मस्वभावरमणरूप धर्म) का ग्रहण कर लेने पर भवभ्रमण कराने वाले कर्मों का बन्ध कोई भी भक्त नहीं करता।

भाष्य

विविध सासारिक लोगों की धर्म की रट

कई लोग कहते हैं कि कर्ममुक्त करने वाले (सूत्र-चारित्ररूप या आत्मरमणता-रूप) धर्म का आचरण तो बहुत ही आसान है, इस मे कुछ भी करने-धरने की क्या जरूरत है ? इसी कारण बहुत-से लोग धर्म धर्म चिल्लाया करते हैं। वे बात बात मे ईमान, धर्म आदि की सौगन्ध खाते है, जब भी कोई दूसरे धर्म का व्यक्ति प्रसिद्धि या तरक्की पा जाता है, तब ऐसे धर्मवादी लोग सहसा चिल्ला उठते हैं—'धर्म खतरे मे' है। और सिर्फ बाह्यक्रियाकाण्डो या साम्प्रदायिक कदाग्रहो मे रचेपचे लोग अमुक धर्मस्थान मे जा कर क्रियाएँ करके या कुछ पुण्य की प्रवृत्ति करके अपने आपको आश्वासन दे लेते हैं कि हमने धर्म कर लिया।' और इसी धर्म की ओट मे वे दूसरो को ठगते हैं, चकमा दे देते है। परन्तु वीतराग परमात्मा के प्रति अभिन्नप्रीतिरूप सच्चा वीतरागतारूप धर्म तो आत्मधर्म है, जिसका लक्षण 'वस्तु का स्वभाव बताया गया है। इसी प्रकार जगत् के प्राय सभी लोग धर्म-धर्म चिल्लाते हैं, कोई कहता है—मैं जैन हूं, कोई कहता है—मैं बौद्ध हूं। कोई अपने को शैव बताता है, यों तो प्राय सभी कहते है, और ऐसे सम्प्रदायगत धर्म के लिए लडने-मरने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु वे प्राय धर्म के मर्म को नही जानते, और न वे वास्तविक धर्म की

आराधना करते हैं। वे यथार्थ धर्म से लाखो कोस दूर हैं। या तो वे लोग धर्म की कोरी बाते करते हैं, या धर्म का दिखावा करते है। आत्मधर्म की बात तो विरले ही जानते है। धर्म की आत्मा को यथार्थरूप से पहिचानना तथा आत्मिक धर्म कौन-सा है, जो परमात्मा के निकट पहुँचा सके, इसे भी कोई-कोई माई का लाल जानता है। खाना, पीना, मौज उडाना, इस शरीर के कार्य को ही वे धर्म मानते हैं। आत्मा शरीर से अलग है, इत्यादि बाते वे जब तक नही समझते, तब तक सच्चा आत्मिक धर्म या परमात्मा के साथ अभिन्नतारूपी धर्म को वे नही समझते।

धर्म शब्द से यहाँ आत्मधर्म (स्वरूपाचरण-चारित्र) समझना चाहिए। उस चारित्र (धर्म) के बल से व्यक्ति नये कर्मो को नही बाधता और उसके पुराने कर्म समय पर परिपक्व हो कर भुगत लेने से खिर जाते हैं। और अन्तिम परिणाम यह आता है कि धर्मनाथजिनेश्वर जिस स्वरूप मे स्थिर है, उसी स्वरूपधर्म को वह उपलब्ध कर लेता है। और यह धर्म ही वीतरागपरमात्मा के चरण ग्रहण करने वाला हो जाता है।

जब तक आत्मा को यह अनुभव नही हो जाता कि मैं परमात्मा हूँ, तब तक कर्मबन्ध होता रहता है, परन्तु धर्मजिनेश्वर (परमात्मा) के चरण पकडने पर उनकी शरण मे जाने पर यानी परमात्मा के साथ अभेदरूप हो जाने पर अथवा अपनी आत्मा परमात्मस्वरूप प्रतीत हो जाने पर कोई कर्म बाध ही नही सकता, क्योकि कर्मबन्धनो का रुकना ही धर्मप्राप्ति का प्रयोजन या फल है। धर्म के आते ही कर्मबन्ध रुकने लगता है, इस रहस्य को तथाकथित धर्म-वादी नही जानते।

आगामी गाथा मे यथार्थ धर्म की प्राप्ति से क्या लाभ होता है? इसे बताते हैं—

प्रवचन-अजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान, जिनेश्वर !
हृदयनयन निहाले जगधणी, महिमा मेरुसमान, जिनेश्वर !
धर्म० ॥ ३ ॥

---

१ 'वत्थुसहावो धम्मो'—वस्तु का स्वभाव धम है। आत्मद्रव्य का स्वभाव धर्म है।

अर्थ

साक्षात् आत्मानुभवी (आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता) सद्गुरुरूपी सद्वैद्य यदि प्रवचन (पारमार्थिक सर्वहितकारी, सर्व जीवों के प्रति उच्च कोटि का भावकरुणारूप उपदेश=आप्रवचन) रूपी दिव्य अंजन ले कर हृदयरूपी नेत्रों में आंजें तो शिष्यरूप जिज्ञासु साधक का दर्शनमोह-मिथ्यात्वरूप नेत्रान्धत्वरोग दूर हो जाता है, और वह परमोत्कृष्ट आत्मधर्मरूप या आत्मगुणरत्नो का अविनाशी निधान (धन का खजाना) को प्रत्यक्ष देखने लगता है। साथ ही ऐसे खुले हुए हृदयचक्षु (दिव्यनयन) से मेरुपर्वत जैसी महिमा वाले जगत् के स्वामी=परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो जाता है।

भाष्य

धर्मप्राप्ति का फल : परमात्मसाक्षात्कार

इस गाथा मे आत्मधर्म का फल बताया गया है। जो व्यक्ति उस आत्मधर्म को प्राप्त कर लेता है, उसके हृदय की आखो मे यदि आत्मस्वरूप के ज्ञाता गुरुदेव प्रवचनरूपी अजन आज दें तो अपनी आत्मा ही गुणरत्नो की निधि के रूप मे दिखाई दे सकती है। साथ ही मेरुगिरि-सदृश महिमावान् वीतराग भगके भी साक्षात्कार होने लगता है।

ससार मे बहुत-से स्थूल बुद्धि वाले लोग परमात्मा एव आत्मा को प्राप्त करने के लिए पहाड, नदी, गुफा, तीर्थ आदि मे जाते हैं, परन्तु सद्गुरु के सत्सिद्धान्त को हृदयगम किये बिना इनके वास्तविक दर्शन प्राप्त नही हो सकते, और न ही परमात्मधन मिल सकता है। प्राचीन काल मे तान्त्रिकविद्या के प्रभाव मे अजन लगा कर जमीन मे गडी हुई वस्तु या निधि को देख सकते थे, वर्तमान मे भूगर्भवेत्ता जमीन के गर्भ में पानी आदि का पता लगा लेते हैं। इसी प्रकार सद्गुरु भी प्रवचनरूपी अजन हृदयचक्षु मे आंज दें तो उसके महाप्रकाश से साधक भी आत्मा की महामूल्य गुणनिधि तथा तीन लोक के स्वामी आत्मदेव तथा आत्म परमात्मधन, एव लोकालोक-स्वरूपयुक्त ज्ञानधन जान-देख सकता हैं।

इस गाथा मे चार बाते सूचित की गई है—(१) समदर्शीसद्गुरु को ढूंढ कर उनकी सेवा करना, (२) निर्ग्रन्थप्रवचन=आत्मलक्षी आप्तवचन का श्रवण-मनन करना, (३) सद्गुरु के उपदेशरूप अजन से हृदयनेत्र मे दिव्यप्रकाश

प्राप्त करना, (४) आत्मा-परमात्मा की स्वरूपनिधि का देखना। इन चारो के द्वारा परमात्मप्रीतिरूप धर्म का पालन करके धर्मनाथ भगवान् के साथ अभिन्नता स्थापित करना-परमात्मस्वरूप वन जाना ही इसका वास्तविक फल है।

अव अगली गाथा मे इससे आगे की प्रक्रिया वताते हैं—

दोड़त दोड़त दोड़त दोड़ियो[1], जेती मननी दोड़, जिनेश्वर !
प्रेमप्रतीत विचारो, ढूंकड़ी गुरुगम ले जो जोड़, जिनेश्वर ।।
धर्म ।।४।।

अर्थ

प्रभु से प्रीति जोड़ने के लिए मैं खुव दौड़ा, खुव दौडा, मन की जितनी दौड़ (पहुँच) थी, उतने तक दौड़ा। परन्तु किसी ने कहा-अपनी वुद्धि के साथ गुरुदेव से मिले हुए निर्धारित मार्गदर्शन (गुरुगम) को जोड़ कर समझो-देखो तो तुम्हें प्रभु के साथ निकट ही प्रीति है इस वात की प्रतीति हो जायगी।

भाष्य

प्रभु से प्रीति जोड़ने का आसान तरीका

योगी श्रीआनन्दघनजी ने यहाँ परमात्म-प्रीतिरूप धर्मपालन के वारे मे साधक की उलझन और उसको सुलझाने का आसान तरीका अभिव्यक्त किया है। क्योकि जगत् मे प्रभुप्रीतिरूप धर्म भव्य प्राणी को तव तक प्राप्त नही होता, जव तक उसे सद्गुरु का मार्ग-दर्शन न मिले, परमात्मा के प्रति नि स्वार्थ या निष्काम प्रेमभाव से उत्कट श्रद्धा-प्रतीति न हो। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक भव्यात्मा को सम्यग्दर्शन और गुरु-मार्गदर्शन, ये दोनो प्राप्त नही,होते वहाँ तक शुद्धात्मा या धर्मदेवरूप परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति नही होती। जिसे ये दोनो प्राप्त हो जाते हैं, वह साधक अपनी ज्ञानचेतना के वल से अपना अनुभव प्रगट करता है—"प्रभो ! मै अपनी वात क्या कहूँ ? मैं धर्म-धर्म रटता फिरा, धार्मिक होने का दावा किया, धार्मिक होने का दिखावा या

---

१ कही कही 'दोडियो' का अर्थ किया गया है—दौडना। यानी मन की जितनी दौड है, वहाँ तक खूव दौड लगा लो।

दम्भ किया, इसके लिए मैं जलतीर्थ, वृक्षतीर्थ पर्वततीर्थ, गुफा या मन्दिररूप तीर्थ आदि अनेक स्थानो पर परमात्मा के दर्शन करके परमात्मप्रीतिरूप धर्माचरण की दृष्टि से बहुत भटका, जहाँ-जहाँ मेरा मन, पहुँच सकता था, वहाँ-वहाँ दौड लगाई। अर्थात्—मेरे मन ने जहाँ जाने का सकल्प किया, वहाँ दौडा गया। साख्य, न्याय, मीमासा, वेदान्त आदि दर्शनो में बताई हुई कल्पनाओ के वश हो कर सभी साधनाएँ की। बहुत-सी दफा अमुक तीर्थ मे परमात्मा होंगे, यह सोच कर वहाँ चक्कर लगा आया, और पूर्वोक्त धर्म को भी अनेक जगह व्यर्थ ही खोजा, फिर भी सफलता न मिली। मुझे अन्तर्मुखी हो कर[1] आत्मतीर्थ मे स्वस्वरूपदर्शन मे डुबकी लगानी थी, जो कि मेरे पास ही था, मगर वहाँ नही लगाई। जो वस्तु अत्यन्त निकट थी उसे पहिचान न सका और जहाँ-तहा दौडधूप की, उसे ढूंढने के लिए आकाश-पाताल छान डाला।" किन्तु श्रीआनन्दघनजी उक्त जिज्ञासु भव्यप्राणी से कहते हैं—'इस प्रकार बाहर भटकने की तुम्हें जरूरत नही। जिसे तुम बाहर ढूंढ रहे हो, वह विभूति तुम्हारे अपने अन्दर है, तुम्हारे साथ है, तुम्हारे पास है, वह तो तुम (स्व-आत्मा) ही हो। अत पहले अपने (आत्मा) को जानो, फिर इसके बारे मे तत्त्वदर्शन करो, तत्पश्चात् आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का मार्गदर्शन लो, उनके व आप्तपुरुषो के वचनो का श्रवण-मनन और ध्यान करो, गुरु के उपदेश को आत्मा के साथ जोड दो। यही क्रमश. प्रेम, प्रतीत, विचारो' गुरु, गम लेजो, इन पदो के साथ अर्थसकेत है, प्रेम के साथ सामायिकादि चारित्र, का प्रतीत के साथ सम्यग्दर्शन का, 'विचारो' के साथ सम्यग्ज्ञान या ध्यान का, गुरु के साथ आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का, 'गम के साथ जिन-प्रवचन के श्रवणमनन या मार्गदर्शन का 'ल जो जोड़' पदो के साथ स्वज्ञान-स्वदर्शन-स्वचारित्र, और सद्गुरु की सेवा-उपासना करके उनके द्वारा आत्म-परमात्मसिद्धान्त का श्रवण-मनन करके आत्मा मे ही इस उपदेश को जोडो। इसी तरीके से धर्ममय शुद्धात्मा (परमात्मा) से अखण्ड प्रीति होगी। आत्मा-परमात्मा की स्वरूपप्राप्ति (अखण्डप्रीति) का असली साधन व आलम्बन

---

१ कहा भी

"इद तीर्थमिद तीर्थ भ्रमन्ति तामसा जना.,
आत्मतीर्थ न जानन्ति, सर्वमेव निरर्थकम् ॥

[1] गुरु, शास्त्र एव गुरुगम ही है। गुरुप्रेरणा मे परतन्त्रता की कल्पना बिलकुल न करो। गुरुदेव तुम्हे युक्तियुक्त सुझाव, परामर्श, मार्गदर्शन, कई उलझनो के हल द्वारा तुम्हारी गुत्थियो को सुलझाने की कोशिश करेगे। इसके कारण प्रभुप्रीतिरूप धर्म की प्रतीति तुम्हारे लिए अत्यन्त आसान और निकट हो जायगी। इसीलिए कहा—"प्रेमप्रतीत विचारो ढूकडो, गुरुगम लेजो जोड।"[2]

निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु उक्त साधन को छोड कर अपने मन कल्पित साधनो मे दौड न लगाए, तथा यथार्थ उपासना और यथार्थ ज्ञान से स्वरूपानुसधान करे।

परन्तु परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन के लिए श्रीआनन्दघनजी साधक को एकपक्षी प्रीति छोड कर उभयपक्षी प्रीति-सम्पादन के लिए अगली गाथा मे प्रेरणा करते हैं—

एकपखी किम प्रीति परवड़े, उभय मिल्या हाय सधि, जिनेश्वर!
हु रागी, हु मोहे फदीयो, तु नीरागी निरबन्ध, जिनेश्वर॥
धर्म० ॥५॥

अर्थ

जिनेश्वर प्रभो! अब मैं समझा कि एकतरफी प्रीति कैसे पोसा सकती है, सही जा सकती है? क्योकि मेल (सन्धि-जोड) दो के मिलने पर ही होता है, क्योकि मैं रागी (कषायवान) हूँ, मोह के फदे मे फँसा हुआ हूँ और आप वीतराग (द्वेषादिदोषरहित) एव कर्मबन्धरहित हैं।

---

१ जैसा कि आचारागसूत्र मे कहा है—'सहसमियाए पयवागरणेण अन्नेसि वा अंतिए सोच्चा।'

२ दोडियो का अर्थ दौडना करने पर मतलब निकलता है कि जगन्नाथ परमात्मा को अन्तश्चक्षु मे देखते ही तुरन्त गुरुगम साथ मे ले कर तुम्हारी आत्मा मे जितना विकास हुआ हो, उसके बलानुसार जितने जोर से दौडा जा सके, उतने जोर से परमात्मा तक पहुँचने के लिए दौडते ही रहना, अर्थात् आत्मविकास मे आगे बढते ही रहना। ऐसा करने पर तुम्हारी ओर से परमात्मा मे हुई प्रीति की प्रतीति तुम्हे अविलम्ब ही समझ मे आ जायगी। अगर साथ मे गुरुगम नही रखोगे तो आगे चल कर भूल होते ही उपशमश्रेणी के पथ पर चढ जाओगे, जहाँ से वापिस लौटना होगा। अत एक बार अप्रमत्तभाव पाते ही भाव-मन-आत्मा की जितनी शक्ति और तीव्रता हो, तदनुसार दौड लगाओगे तो आगे बढ कर परमात्मपद-प्रीति कर सकोगे, अन्यथा प्रमत्तभाव मे आना पड़ेगा।

भाष्य

परमात्मा के साथ अभिन्न प्रीति कैसे ?

श्रीआनन्दघनजी औपचारिक रूप से परमात्मा के साथ बातचीत करने की रीति प्रगट करते है, क्योकि पूर्वगाथा मे प्रभुप्रीति का अत्यन्त आसान और निकटवर्ती रास्ता बताया था, उससे परमात्मा अत्यन्त नजदीक हो जाते हैं। अत मुमुक्षु अपने अन्तर मे प्रभु के साथ बातचीत करता है—प्रभो ! धर्म जिनेश्वर ! मैं आपके साथ प्रीति तो करना चाहता हूँ, आपमे साथ मेरी प्रीति होगी कैसे ? और होगी तो भी निभेगी कैसे और कितने दिन ? क्योकि प्रीति उभयपक्षी होती है, एकपक्षी नही। दूसरी बात यह है कि [1]समान प्रकृति, एकसरीखे शील, स्वभाव और आदत वालो की प्रीति (मैत्री) जुडती है। मेरी और आपकी प्रकृति (स्वभाव) मे व्यवहारनय की दृष्टि से बहुत ही अन्तर है। मैं रागी-द्वेषी हूँ, मोहग्रस्त हूँ। मै बात-बात मे राग, द्वेष, और मोह मे घिर जाता हूँ और आप किसी पर भी, यहा तक कि आपकी वर्षो से सेवा करने, एव आपके प्रति अनुराग रखने वाले पर जरा भी राग नही करते और न ही आपसे प्रतिकूल चलने वाले दुष्टजन या विरोधी पर द्वेष या घृणा करते हैं, ससार की किसी भी मनोज्ञ से मनोज्ञ चीज के प्रति भी आपका मोह (आसक्ति) नही है। मै अभी तक कर्मबन्ध मे युक्त हूँ, प्रतिक्षण विभिन्न कर्मों से युक्त होता हूँ। जबकि आप कर्मबन्ध से रहित है, अथवा घातीकर्मो से बिलकुल दूर हैं। अत. आपकी और मेरी प्रकृति, आदत और स्वभाव मे रात-दिन का अन्तर होने से आपके साथ मेरी प्रीति हो ही कैसे सकती है ?"

"माना कि निश्चयनय की दृष्टि से आपके और मेरे स्वरूप, और स्वभाव मे कोई अन्तर नही है। परन्तु निश्चयनय तो आदर्श की बात कहता है। आदर्श और व्यवहार मे बहुत बडी दूरी होती है। अगर दोनो मे इतनी दूरी न होती तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा के निकट पहुँच गई होती। अत इस अन्तर को दूर करने पर ही आपकी और मेरी प्रीति हो सकती है। यह एक लौकिक तथ्य है कि एक व्यक्ति तो दूसरे के साथ स्नेह सम्बन्ध जोडने या रखने के लिए उसके हेतु तन, मन, धन सर्वस्व होमने, यहाँ तक कि पतगे की तरह मर मिटने तक को तैयार है, परन्तु दूसरे की ओर तैयार है, से कोई जवाब नही

---

१ 'समान-शीलव्यसनेषु सख्यम्'—नीतिकार

मिलता, उपेक्षा या उदासीनता ही बरती जाती है। अतः उसके मन मे स्नेह की उर्मि न हो, तब वहाँ एकतरफी प्रीति कैसे जम सकती है? इस दृष्टि से मैं आपसे प्रीति करना चाहता हूँ, उसके लिए प्रयत्न भी करता हूँ, आप से बातचीत करने का, किंतु आप वीतराग होने के कारण कोई जवाब ही नहीं देते, किसी प्रकार का स्नेह ही नहीं दिखाते, आपके मन मे भी मेरे स्नेह की कोई कीमत नही है, आप उदासीन है, तब आपके और मेरे बीच मे मैत्री कैसे जम सकती है या टिक सकती है? इसलिए कहा है—**'उभय मिल्या होय संधि'** दोनो के मिलने वातचीत करने पर ही सन्धि (मेल या सुलह) हो सकती है।

अत अब तो मै आपकी सेवा मे जबरन पड़ा हूँ, और आपसे बातचीत करने को उत्सुक हूँ।

इस प्रकार दौडते-दौडते परमात्मा के निकट पहुँचते ही साधक के मन मे विचार आया—"अब मै आपके स्वरूप को समझ गया हूँ कि आप मेरे साथ प्रीति क्यो नही जोडते?" मै अभी तक राग-द्वेष-मोह के चगुल मे फँसा हुआ हूँ—मुझे अभी तक सज्वलन कषायो और नोकषायो ने घेर रखा है, जिससे पुराने कर्म तो बहुत ही कम क्षीण होते है, नये अधिक बधते जाते है। जबकि आप राग-द्वेष-मोह से बिलकुल परे हैं, किसी भी प्रकार के कर्मबन्धन से जकडे हुए नहीं है। अत अब यदि मुझे आपसे प्रीति जोडना हो तो आपके समान (राग-द्वेष-मोहरहित एव नूतन (कर्मबन्धन से रहित) हुए बिना कोई चारा नही। परमात्मा के साथ प्रीति मे भग (विघ्न) डालने वाले तो राग-द्वेषादि कषायभाव हैं, इन्हे मुझे अवश्य दूर करना ही होगा। यही परमात्मा के साथ एकता—प्रीति-मैत्री करने का रामबाण उपाय है।"

निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे प्रकारान्तर से परमात्मा के साथ समानता (प्रीति) स्थापित करने के हेतु सूचित कर दिया है कि अभी से निर्भीक और साहसी बन कर व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (तप, जप, व्रत, सयम) के पालन मे या निश्चयनय से आत्मस्वरूप मे रमण का सत्पुरुषार्थ कर, घबरा मत। इसी पर सतत चलते रहने से तेरे रागद्वेषादि भाग जायेंगे और तू स्वय निर्बन्ध हो जायगा। फिर देखना, धर्मजिनेश (परमात्मा) और तुममे समानता आती है या नही? बस, अप्रमत्तभाव मे प्रवेश कर। सावधान रह कर आत्मदर्शन मे आगे बढ।

इसलिए श्री आनन्दघनजी संसार के अधिकांश प्रमादी, सम्यग्दृष्टि की ज्योति से विहीन, असावधान, लापरवाह और अन्धाधुंध चलने वाले लोगों की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते है—

परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उल्लघी जाय, जिने० !
ज्योति विना जुओ जगदीशनी, अंधोअंध पुलाय; जिनेश्वर !धर्म०॥६॥

अर्थ

अपने मुंह के सामने प्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ महानिधि शुद्ध आत्मा या परमात्मा प्रगट है, फिर भी जगत् के जीव उसे लांघ कर आगे बढ़ जाते हैं; जैसे अंध के पीछे दूसरा अंधा दौड़ता है, वैसे ही अनन्तचतुष्टयवान परमात्मा की ज्ञानरूपज्योति के विना जगत् के जीव अन्धे की तरह जगत् के लोगों का अनुसरण व अनुकरण करते हुए चलते हैं ।

भाष्य

परमात्मज्योति से रहित जीव की दशा

खजाना ढूंढने के लिए जैसे दीपक या प्रकाश की जरूरत पड़ती है, वैसे ही गाढ मिथ्यात्वान्धकार से ढकी हुई महामूल्य आत्मनिधि या परमात्मनिधि को देखने के लिए भी परमात्मा की ज्योति (सम्यग्ज्ञान दर्शन की ज्योति) की जरूरत होती है। वह ज्योति जिसके पास नहीं होती, वह सामने निकट पड़ी हुई महामूल्य वस्तु (जो कि एकप्रदेशभर भी दूर नही है) परमज्ञानादि गुणरत्न-निधिरूप धर्ममूर्ति आत्मा को देख नही पाता, वह उसे लांघ कर आगे बढ जाता है, और दूर-सुदूर वनो, पर्वतो, गुफाओ, जड़तीर्थो या अन्य स्थानो मे ढूंढता फिरता है। "**अंधेनैव नीयमाना यथान्धा**" वाली कहावत के अनुसार परमात्मा की सम्यग्ज्ञानज्योति से विहीन वह व्यक्ति सांसारिक मिथ्यात्वान्ध लोगो के नेतृत्व मे उनके पीछे-पीछे चलता है, उनका अनुसरण करता है । वह यह नहीं जानता कि जिस आत्मनिधिरूप खजाने की वह खोज कर रहा है, वह स्वयं ही है, स्वयरूप है। इसलिए कही भी दूर या परदेश जाने की आवश्यकता नही। अखण्ड, अविनाशी, परमज्ञाननिधि आत्मगुणनिधान आत्मधन तो प्राणिमात्र मे ही प्रकाशमान है। वह अत्यन्त निकट है। उसे ढूंढने के लिए किसी स्थूल दीपक की जरूरत नही, सिर्फ अन्तरात्मा मे वीतराग परमात्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। वास्तव मे जगत्पति परमात्मा की जगमगाती आत्मदर्शनरूपी

ज्योति के प्रकाश के बिना यह जगत् मिथ्यात्वान्धकार मे अधा हो कर भटक रहा है। आत्मदर्शन का रहस्य है—स्वयं स्वय को जाने, पहिचाने, अन्दरअन्दर ही जो ज्ञानादि गुणरत्नो का खजाना भरा पडा है, जो कि विल्कुल नजदीक है, उसे भलीभाति समझे। जिसे आत्मदर्शनरूपी ज्योति का प्रकाश मिल जाता है, उस ज्ञानज्योति वाले को आत्मधन भलीभाँति दिखाई देता है, वह दूसरो को वता भी सकता है, वह इन्द्रियो के विपयो को आत्मा से भिन्न जानता-मानता है। वह आत्मा के अव्यावाध सुख को वैपयिकसुख से विलकुल पृथक् समझता है।

आत्मधन का अभिलापी मुमुक्षु जव आत्मज्ञ और सम्यग्दृष्टि नि.स्पृह गुरु के पास आता है, तव गुरु उसे अपूर्ववाणी 'द्वारा कहता है—'तू जिसे चाहता है, वह तो तेरे पास ही है। तीर्थ, धाम आदि वाह्य साधनो को छोड कर तू अपने आत्मस्वरूप मे स्थिर हो जा और ज्ञानदृष्टि से देख) तेरी परमनिधि (आत्म-निधि) तेरे पास ही है।'

जगदीश (सारे जगत् पर आध्यात्मिक आधिपत्य जमाए हुए परमात्मा) वीतराग ने भी ज्ञानज्योति द्वारा ही अनन्तचतुष्टयरूप परमनिधि प्राप्त कर जड (भौतिक पदार्थ की) उपासना छोड दी और आत्मचेतन की उपासना की एव उन्होंने ज्ञानज्योति से अपने पास ही परमनिधि को देख ली; वैसे ही हे भव्य! तेरे लिए भी यही उपाय है। परमात्मा के लिए जो कार्य-कारण था, वही कार्य-कारण तेरे लिए भी है।

श्रीआनन्दघनजी उस युग के मोहान्ध और पुद्गलानन्दी सासारिक जनो की गतानुगतिकता लकीर के फकीर वनने की वृत्ति) देख कर निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट कहते हैं—अधिकाश लोग ऐसे लोगो के चक्कर मे पड जाते हैं, जो वाहर से तो आत्मज्ञानी, आत्मार्थी और मुमुक्षु होने का दभ, दिखावा और ढोल करते है, आत्मा-आत्मा की ही रट लगाते हैं, और आत्मा के विषय मे लच्छेदार भाषण एव वाणी-विलास से लोगो को प्रभावित कर देते हैं, परन्तु अदर से वे काले होते हैं- उनमे कपायो की अग्नि प्रज्वलित रहती है, विपयो की आसक्ति मे और भौतिक जड पदार्थों के मोह मे वे जकडे रहते हैं, भोलेभाले जिज्ञासु लोग भी स्वार्थलिप्सा एव जडासक्तिवश ऐसे लोगो के पास भटकते हैं, जो जडतीर्थों,

जड़पदार्थों एव भौतिक आडम्बरो से युक्त बाह्यपूजा के चक्कर में डाल देते हैं। भला, ऐसे लोगो को उन नकली तथाकथित आत्मज्ञानियों, किन्तु जडोपासको से क्या मिलेगा, जो स्वय ही आत्मदर्शन के यथार्थ प्रकाश से वञ्चित हैं ? इसलिए वे कहते हैं—'ज्योति विना जुओ जगदीशनी०"

आत्मिक प्रकाश और परमात्मप्रकाश दोनों मे अभिन्नता है। एक हो, वहाँ दूसरो का अस्तित्व होता ही है। अत परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन द्वारा परमात्मा के साथ अभिन्नता साधने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन (प्रभु-ज्योति) के प्रकाश मे उस परमनिधि को ढूँढने का कार्य सर्वप्रथम करना चाहिए। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

जिन्होंने पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन के प्रकाश द्वारा आत्मनिधि दृष्टिगोचर कर ली है, उनका स्वरूप अगली गाथा मे बता कर उन्हे व उनसे सम्बन्धित क्षेत्र-काल-द्रव्यादि को धन्यवाद देते है —

निरमल गुणमणिरोहण-भूधरा, मुनिजनमानसहस, जिनेश्वर !
धन्य ते नगरी,धन्य वेला घड़ी, मात-पिता-कुल-वश, जिनेश्वर !
॥ धर्म० ॥ ७ ॥

अर्थ

प्रभो ! आप रोहणाचलपर्वत मे उत्पन्न (जिन भगवान् = धर्मजिन या शुद्धात्मा, निर्मल = शुद्धरत्नो के समान जिनाज्ञा समतादि गुणरत्नयुक्त हैं, मुनिजनो पालक के शुभ मनरूपी मानसरोवर के हंस के समान हैं। वह नगरी (रत्नपुरी या जिनभगवान् की जन्मभूमि) धन्य है। वह समय और घडी जब जिनेश्वर का जन्म हुआ था धन्य हैं। तथा वह माता पिता (सुव्रता माता और भानुराजा पिता) कुल (इक्ष्वाकु) और वश (क्षत्रिय) भी धन्य है, जहाँ भगवान् ने जन्म लिया था।

भाष्य

परमात्मा का स्वरूप एव उनके क्षेत्रकालादि की धन्यता

इस गाथा मे महात्मा आनन्दघनजी ने आत्मनिधि का सर्वथा साक्षात्कार करने वाले परमात्मा (धर्मनाथ-जिन या प्रत्येक वीतराग) का स्वरूप और उनसे सम्बन्धित क्षेत्रकालादि की महिमा बताई है। जब व्यक्ति आत्मदर्शन करने के

लिए उत्सुक होता है, तब वह यह देखता है कि आदर्श कैसा है, बिना आदर्श के व्यवहार के लिए व्यक्ति तैयार नही होता। आदर्श के बिना व्यक्ति निरुत्साहित एव हताश हो कर यो कह कर बैठ जाता है कि ऐसा व्यक्ति तो कोई है नहीं, फिर हम किसके पीछे चलें, किस साध्य को सिद्ध करे या किस ध्येय को प्राप्त करें? इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतराग-प्रभु के गुणो (आत्मगुणो) का वर्णन करते हुए कहते हैं—प्रभु धर्मनाथ (अथवा कोई भी वीतरागी पुरुष) निर्मल (जिनके ज्ञानादि गुणो मे किसी प्रकार का मल या दोप नही है), गुणरूपी रत्नो के रोहणाचल हैं। कहते है, रोहणाचल नामक पर्वत सिलोन (श्रीलका) मे है, जिसमे अनेक रत्न होते हैं, वह पर्वत ही रत्नमय है। अत जैसे रोहणाचर्य अनेक रत्नो का उद्गमस्थान है, वैसे ही जिनप्रभु भी अनेक गुणरत्नो के उदगमस्थान है। तथा वे मुनियो एव मुमुक्षुओ के शुभ मनरूपी मानसरोवर के हस हैं। जैसे हस मानसरोवर पर आ कर विश्राम लेता है, वैसे ही वीतरागप्रभु परमहस (जलदुग्धवत् हेयोपादेय का विवेक करने वाले) मुनिजनो के पवित्र मनरूपी सरोवर पर आ कर विराजते हैं। परमात्मा का परम ज्ञानप्रकाश मुनिजनो के मानस मे ही स्थिर होता है। अथवा मानसरोवर के हंससदृश मुनियो के पवित्र मन जहाँ क्रीडा करते हैं, वह प्रभु ही मेरे लिए सर्वस्व हैं, वे ही मेरे आदर्श, ध्येय और साध्य हैं। असख्य गुणो और पवित्रता के धामरूप बने हुए प्रभु मेरे आधार हैं। ऐसे परमात्मा के साथ प्रीतिधर्म व सेवाभक्ति के पालन द्वारा अभिन्नता स्थापित करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। आपमे दानशीलता, निर्भयता, निर्लोभता, नीरोगता आदि अनेक गुण हैं, कितने गिनाऊँ! आपके अनेक गुण ही मुझे बरबस आपसे भक्ति, सेवा, एव प्रीति करके अभिन्न एव तन्मय होने को प्रेरित करते हैं।

इसी कारण आपके प्रति भक्तिविभोर बनी हुई वाणी सक्रिय हो उठती है कि वह नगरी, वह वेला, वह घडी धन्य है, जहाँ और जब आपका जन्म हुआ था। वे माता-पिता भी धन्य है, जिन्होने आपको जन्म दिया। वे कुल और वश भी धन्य हैं, जिन्हे आपने पावन किया। व्यक्तिगत दृष्टि से अर्थ करें तो धर्मनाथप्रभु की जन्मभूमि रत्नपुरी (अयोध्या के पास) थी। उनके जन्मसमय की वेला व घडी भी शुभ थी। उनकी माता का नाम सुव्रता और पिता का

नाम भानुराजा था। उनका कुल इक्ष्वाकु और वंश क्षत्रिय था। ये सब आपके पावन अवतरण से, स्पर्श से धन्य हो उठे। सामान्यतया अर्थ करें तो सभी वीतराग परमात्माओं की नगरी, वेला घड़ी, माता-पिता और कुल-वंश धन्य हैं। प्रभु (धर्मनाथ) का शरीर रोगरूपी मल से रहित, निर्मल, कञ्चनवर्ण है। यह दिव्य औदारिक शरीर रोहणाचल पर्वत की उपमा से उपमेय है। तथा वह दिव्यशरीर स्वस्तिक आदि एक हजार लक्षणों रूप मणियों का तथा सौम्यता, आह्लादकता आदि उत्तमगुणों का धाम—पर्वतरूप है। इस शरीर का अधिष्ठाता अथवा साक्षीरूप आत्मा मुनिजनों के मनरूपी कमल को सुशोभित करने वाले राजहंस के समान है और प्रसन्नता का कारणभूत है। अथवा शुद्ध शाश्वत वीतरागदेव परमात्मा (शुद्धात्मा) की दृष्टि से अर्थ करें तो—परमात्मा निर्मल—क्षायिकभावी, केवलज्ञानादि गुणमणियों के आधाररूप हैं, भव्यात्माओं के हृदयसरोवर में सम्यग्ज्ञानादि गुणमणियों को उत्पन्न करते हैं, वे अपने स्वभाव से अचल मेरुपर्वत सरीखे हैं और सावद्य क्रियानुष्ठानादि से निवृत्त मुनियों के मानसरोवर के राजहंस हैं। वे योगी मुनिजन आपके स्वरूप का मनन करते हैं, उनके अन्तर ध्वनि और विचार उठते हैं-अहं+स या स:+ अहम्=सोऽहम्=हंसः। अर्थात् वीतराग प्रभु जैसा ही मैं हूँ। नगरीपद का रूप 'नकरी' होता है, अतः सिद्धत्व की अपेक्षा से न+करी=नकरी यानी जो हस्तपादादि शरीरांगों से रहित होते हैं। अथवा सिद्धत्वपदप्राप्त परमात्मा स्थूलसूक्ष्मशरीर से रहित शुद्धात्मा को नगरी (नकरी) समझना। वही आत्मा धन्य है। उस वेला व घड़ी को भी धन्य है, जिस समय केवलज्ञान-केवलदर्शन-रूप आत्मा का प्राकट्य होता है। परमात्मा या शुद्धात्मा की माता अष्ट-प्रवचनमाता है और क्षायिकभावरूप पिता सर्वथा धन्य है—प्रशंसनीय हैं। अनन्तवीर्यादि गुणसमूह और प्रतिसमय अव्याबाध आत्मसुख पैदा होना, यही तो परमात्मा का कुल और वंश है, जो प्रशस्य है।

परमात्मा से अभिन्न प्रीतिसम्पादन के लिए उनके चरणों में निवास आवश्यक है, यही सोच कर श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

मन-मधुकरवर कर जोड़ी कहे, पदकज निकट निवास, जिनेश्वर !
घननामी आनन्दघन सांभलो, ए सेवक अरदास, जिनेश्वर !
॥ धर्म० ॥ ८ ॥

अर्थ

मेरा मनरूपी श्रेष्ठ भ्रमर हाथ जोड कर कहता है कि आपके चरणकमल के पास मेरा निवास हो; कर्मशत्रुओ को अत्यन्त नमा देने वाले या बहुत ही नामी (प्रसिद्ध) आनन्द के समूहरूप परमात्मा ! सेवक की इस प्रार्थना (विनति) को सुनिये ।

भाष्य

प्रीतिसम्पादनहेतु चरणकमलो के निकट निवास की प्रार्थना

इस स्तुति की अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का सर्वांशत पालन करने वाले हेतु कहते हैं कि हे प्रभो ! आप तो अनेको को झुका देते हैं या आप अनेक नामो से प्रसिद्ध हैं, आपको किस-किस नाम से पुकारूँ ? अभिन्नता के लिए नामरूप (जो भिन्नता प्रगट करने वाले हैं) की आवश्यकता नही रहती । अत प्रभो ! आपके उत्तमोत्तम गुणो से आकृष्ट हो कर मेरा मनरूपी मधुकर, जो कि शुभभावो से ओतप्रोत है, प्रार्थना करता है, अथवा मेरा मन आपके चरणकमलो मे गुणरूपी पराग का रसपान करने हेतु उत्कृष्ट भाववाला भ्रमर बन कर आपके चरण-शरण मे रहना चाहता है । मेरी आर्तभाव की इस विनति को आप मान ले । जब आपकी मेरे प्रति प्रीति (शुद्ध वत्सलता) होगी, तभी मैं और आप एक बनेंगे । फिर कोई भी विघ्न आ कर हमारी प्रीति मे रोडा नही अटका सकेगा , न कोई भी आ कर हमारे बीच मे दूरी पैदा कर सकेगा ।

प्रश्न है—क्या वीतराग परमात्मा भक्त की इस प्रार्थना को सुनेंगे ? या ऐसी याचना पूरी करेंगे ? वास्तव मे जैनदृष्टि से वीतरागप्रभु के साथ यह बात घटित नही होती, मगर भक्ति की भाषा मे भक्त परमात्मा को अभिन्न आत्मीय मान कर ऐसा कहता है और आत्मस्वरूपनिष्ठ बन कर स्वरूपाचरण (यथाख्यातचारित्र) रूपी चरणकमल मे निवास करना चाहता है तो कोई अनुचित भी नही है । तभी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का पालन हो सकेगा ।

सारांश

इस स्तुति की सभी गाथाओ मे वीतराग परमात्मा के साथ अभिन्न, निर्वि-

घ्न, अद्वैत, प्रीतिरूप धर्म के आचरण (निश्चयनय से स्वरूपाचरण) करने की बात की अथ से इति तक पुष्टि की गई है। साथ ही यह बता दिया है, इस प्रीतिधर्म के पालन में बाधक और साधक तत्त्व कौन-कौन से हैं? प्रीति की प्रतीति, एकपक्षीय प्रीति का निराकरण, प्रीति के लिए परमात्मनिधि का दर्शन, उसका स्वरूप, और वैसा क्षेत्र, काल और पात्रता प्राप्त होने पर धन्यता तथा परमात्मचरणों में निवास आदि बातों का भलीभाँति समावेश भी बखूबी से अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने किया है।

१६ : श्रीशान्तिनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मा से शान्ति के सम्बंध में समाधान

(तर्ज—चतुर चोमासुं पडिकमी, राग मल्हार)

शान्तिजिन ! एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवनराय रे !
शान्ति-स्वरूप किम जाणीए, कहो मन किम परखाय रे ?
॥ शान्ति० ॥ १ ॥

अर्थ

सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ जिन (परमात्मा) ! मेरी आप से एक विनति है, हे त्रिभुवन के राजा ! उसे सुनिये ! वह यह है कि शान्ति का स्वरूप क्या है ? उसे कैसे जाना जाय ? और यह भी बताइए कि उस शान्ति की परख मन से कैसे हो सकती है ?

भाष्य

शान्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न क्यो ?

यह स्तुति वीतराग शान्तिनाथ परमात्मा की है। प्रभु का नाम शान्तिनाथ है, इसलिए श्रीआनन्दघनजी को शान्ति का स्मरण हो आया और उन्होंने इस स्तुति से माध्यम से शान्ति के विषय मे विविध प्रश्न उठा कर उनका समाधान ढूंढने की कोशिश है।

श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक साधको के प्रतिनिधि है। जगत् मे समस्त प्राणी शान्ति चाहते हैं। मनुष्यो मे सभी वर्ग और कोटि के लोग अपनी-अपनी भूमिका और कल्पना के अनुसार शान्ति की चाह रखते है। कई लोग इष्ट भौतिक पदार्थों या इन्द्रियविषयो की प्राप्ति मे शान्ति मानते हैं, परन्तु आगे चल कर जब उनका वियोग हो जाता है या प्राप्त होने पर भी इन्द्रियो की शक्ति क्षीण या दुर्बल हो जाती है तो शान्ति दूरातिदूर होती चली जाती है, या अमुक इष्ट वस्तु स्वय को न मिल कर दूसरे को मिल जाती है, या दूसरे को उपभोग करते देखता है तो मन ईर्ष्या और द्वेप से अशान्त हो जाता है, इसलिए कभी आधिदैविक, कभी आधिभौतिक और कभी आध्यात्मिक इन

तीनो दुःखो मे से किसी भी प्रकार के दुःख से, विपत्ति मे, चिन्ता से मन अशान्ति के झूले मे झूलता रहता है। अतः वस्तुनिष्ठ शान्ति की मिथ्या मान्यता के कारण सामान्यसाधक ही नही, बड़े-बड़े साधक अशान्त होते रहते हैं।

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सभी साधको की ओर से शान्ति के सम्बन्ध मे विविध प्रश्न पूछते हैं। बहुत से साधक भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न होते हुए भी शान्ति नही पाते, वे सासारिक स्वार्थों, लालसाओ, पुत्र, धन एवं लोक की एपणाओ से लिप्त हो कर बेचैन रहते है। बाहर शान्ति की झलक होते हुए भी उनके अन्दर अशान्ति की आग धधकती रहती है। अध्यात्म-साधक के जीवन मे उसके तन, मन, नयन पर अशान्ति की जरा भी छाया नही होनी चाहिए, कोई भी कष्ट, आफत, विपम प्रसग, इष्टवियोग-अनिष्टसयोग हो, फिर भी साधक मस्त, शान्त और कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। साधकजीवन के किसी भी क्षेत्र मे, किसी भी कोने मे अगर अशान्ति होगी तो उसकी सारी साधना गड़बड़ मे पड जायगी, साधना का मजा किरकिरा हो जायगा, प्रभु-भक्ति और प्रभुप्राप्ति के लिए किया गया धर्माचरण बेकार हो जायगा। इन्ही सब कारणो को ले कर साधक के जीवन मे कैसी शान्ति होनी चाहिए ? उस शान्ति का स्वरूप क्या है ? उस शान्ति की पहिचान क्या है ? शान्तव्यक्ति के मन की परख कैसे हो सकती है? ये सब शान्तिविपयक प्रश्न शान्तिनाथ प्रभु के सामने श्रीआनन्दघनजी ने प्रस्तुत किये हैं।

शान्तिनाथ भगवान् के सामने ये प्रश्न क्यो ?

प्रश्न होता है कि शान्तिनाथ प्रभु से ये प्रश्न क्यो पूछे गये ? उत्तर मे निवेदन है कि जो जिस बात का विशेपज्ञ, अनुभवी, अभ्यासी या अधिकारी हो, वही दूसरे अनभिज्ञ, जिज्ञासु और उत्सुक व्यक्ति को उस सम्बन्ध मे बता सकता है। एक तो शान्तिनाथ प्रभु का नाम ही शान्ति का नाथ—शान्ति के स्वामी है। दूसरे, शान्तिनाथ प्रभु अपनी माता अचिरारानी के गर्भ मे थे, तभी उस सारे प्रदेश मे महामारी का उपद्रव चल रहा था। आपकी माताजी ने आपका स्मरण व ध्यान किया, जिससे समग्र प्रदेश मे शान्ति हो गई। सारा उपद्रव समाप्त हो गया। इसी कारण जन्म से पहले ही आपके माता-पिता ने आपका नाम शान्तिनाथ रखा था। अतः शान्तिनाथ प्रभु के सामने सर्वांगपूर्ण शान्ति

के विषय मे जिज्ञासा प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है। शान्तिनाथ प्रभु ससार के अकारण, निस्वार्थ व निष्काम वन्धु है, वे शान्तिमत्र के विशेषज्ञ, विश्वशान्ति के पुरस्कर्ता और अनुभवी है, अत. उनके सामने शान्तिविषयक प्रश्न प्रस्तुत करना चाहिए, यह सोच कर ही इस स्तुति मे ये प्रश्न प्रतुत किये गये है। शान्तिनाथ प्रभु यद्यपि वीतराग एव सिद्ध-बुद्ध मुक्त-निराकार होने के कारण किसी जिज्ञासु साधक मे सीधी वातचीत नही करते, तथापि जिज्ञासु और भावुकहृदय आत्मसाधक मुमुक्षु जव शुद्ध अन्त करण से शान्ति से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर शान्तिनाथ प्रभु के आदर्श को समक्ष रख कर तथा उनके जीवन के शान्तिप्रदायक मधुर सस्मरणो से प्रेरणा ले कर गहराई से विचार करता है तो उसके शुद्ध और सम्यग्दर्शनयुक्त मानस मे यथार्थ समाधान अंकित हो जाता है, उसका भावविभोर अन्त करण शान्ति के सभी पहलुओ पर समाधान पा जाता है।

इसी दृष्टि मे श्रीआनन्दघनजी ने शान्तिनाथ (शान्तिमय वीतराग) प्रभु के समक्ष विनति की है। निश्चयनय की दृष्टि से देखे तो अनन्तशान्तिमय शान्ति के नाथ आत्मदेव के सामने उनके द्वारा प्रस्तुत यह शान्ति-विषयक प्रार्थना है।

शान्तिनाथ प्रभु (अथवा शान्तिनाथ आत्मदेव) को 'त्रिभुवनराय' इसलिए कहा गया है कि ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, और अधोलोक यानी त्रिभुवन के सभी जीव उन्हे अपने कल्याणकर्ता मानते हैं, शक्रस्तव मे लोगनाहाण' इत्यादि विशेषण इसी वात को सिद्ध करते हैं।

अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी शुद्ध आत्मलक्षी वन कर शान्तिनाथ भगवान् से उपर्युक्त प्रश्नो की जिज्ञासा के विषय मे आश्वासन एव धन्यवाद प्रस्तुत कराते है—

धन्य तु आतम जेहने, एहवो प्रश्न-अवकाश रे।
धीरज मन धरी सांभलो, कहुं शान्ति- प्रतिभास रे ॥ शान्ति॥२॥

अर्थ

हे आत्मन् ! तू धन्य है, जिसे इस प्रकार के प्रश्न करने का अवकाश मिला, विचार आया। अत अब तुम इन प्रश्नों का उत्तर मन मे धैर्य धारण करके-सुनो। मैं तुम्हे शान्ति का प्रतिभास—स्वरूप-प्रकाश या उपाय कहता हूँ।"

भाष्य

प्रश्नकर्ता को धन्यवादज्ञापन

धर्मशास्त्रों या आध्यात्मिक ग्रन्थो की विशिष्ट नीति है—जिज्ञासु का आदर करना, जिससे धर्म और धर्मी का महत्व बढे, विशिष्ट ज्ञानप्राप्ति के लिए जिज्ञासु प्रयत्नशील हो। यहाँ भी उसी नीति का अनुसरण किया गया है।

हे आत्मन् ! तुम धन्य हो कि तुम्हे शान्तिनाथ भगवान् की आदर्श शान्ति का स्वरूप जानने की इच्छा हुई। तुम्हारे मन मे ऐसा प्रश्न उठा, यह भी सौभाग्य की बात है। तुम बडे भाग्यशाली हो कि ऐसा गम्भीर सवाल तुम्हे सूझा। जो आत्मा भव्य और सम्यग्दृष्टि होता है, अथवा अध्यात्मरसिक तत्व-जिज्ञासु होता है, या जिसे शान्ति प्राप्त करनी होती है, उसके मन मे ही ऐसे प्रश्न उठते है। बहुत से लोग जिज्ञासु बन कर कोई शंका उठाते है, उन्हे कई अध्यात्मज्ञान से अनभिज्ञ या आत्मिक चारित्र दौर्बल्ययुक्त व्यक्ति सहसा दबा देते है, उसे नास्तिक, शकाशील या अज्ञानी कह बैठते हैं, और उसको अध्यात्मज्ञान से वंचित कर देते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि, तत्वज्ञ एव समत्वयोगी पुरुष जिज्ञासु की जिज्ञासा को प्रोत्साहन देते है, कि तुमने बहुत ही अच्छा सवाल उठाया। वे मानते है कि इससे हमारे ज्ञान मे वृद्धि ही होगी, दूसरे व्यक्ति भी इस ज्ञान से लाभान्वित होगे। ऐसे जिज्ञासु अपने मन मे अनेक प्रश्नो को स्थान देते हैं।

जिज्ञासु श्रोता के दो गुण : एकाग्रता और धैर्य

आध्यात्मिक दृष्टि से शान्ति के विषय मे जो सुनना चाहता है, उस जिज्ञासु श्रोता मे दो गुण होने आवश्यक हैं--एकाग्रता और धैर्य। वक्ता जब कोई बात कहता है या किसी गम्भीर विषय का प्रतिपादन करता है, तब श्रोता अगर एकाग्रता पूर्वक न सुन कर अन्यमनस्क हो कर सुनता है तो वह विषय को भलीभाँति ग्रहण नही कर सकता, न समझ सकता है। अधूरी समझ से कई बार श्रोता उटपटाग बातें कह कर या तर्क-वितर्क करके भ्रान्ति फैलाता है या मनगढत बातें करता फिरता है। श्रोता का दूसरा गुण है— धैर्य। यदि श्रोता मे किसी प्रतिकूल बात के सुनने का धैर्य नही होता तो वह बीच मे

ही उखड़ जायगा, अधूरी वात सुन कर निन्दा करेगा, लोगो मे गलतफहमी फैलाएगा, खण्डन के लिए प्रवृत्त होगा। अत इन दोनो दुर्गुणो से श्रोता और वक्ता दोनो की मानसिक वाचिक शान्ति खत्म हो जायगी। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिमय आत्मदेव (शान्तिनाथजिनदेव से कहलाते है---'**धीरज मन धरी सामलो**' तुम मेरी बात को धैर्य और एकाग्रचित्त हो कर सुनो।

शान्ति-प्रतिभास क्या और कैसे ?

श्री शान्तिनाथ भगवान् ने जिस रूप मे शान्ति प्राप्त की थी, उसी शान्ति का प्रतिभास (झलक, स्वरूप-प्रकाश या उपाय) सुनाने-समझाने के लिए वे प्रवृत्त होते हैं।

शान्ति-प्रतिभास का अर्थ---शान्तिनाथ-प्रभु की झलक भी होता है, आत्मशान्ति की प्रतीति या उपाय भी होता है, अथवा शान्ति-स्वरूप प्रतिभास या झलक भी होता है। जो भी हो, अब क्रमश शान्ति के सम्बन्ध मे अगली गाथाओ मे कहते है—

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवरदेव रे।
ते तेम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शान्तिपदसेव रे ॥शान्ति०३॥

अर्थ

वीतराग-देव (शान्तिनाथ) परमात्मा ने औपशमिक आदि भाव, जो शुद्ध नहीं हैं अथवा जो भाव शुद्ध हैं, उन पर उस-उस प्रकार से उस उस रूप मे वे जैसे हैं, वैसे (यथातथ्य) ही श्रद्धा करे, सर्वप्रथम यही स्थान या पद शान्तिनाथ भगवान् के चरणकमल की अथवा शान्ति की आराधना व सेवा है।

भाष्य

शान्ति का प्रथम सोपान : यथार्थ श्रद्धा

कई बार व्यक्ति किसी वस्तु का केवल बाह्यरूप देख कर उसके अन्तरगरूप की उपेक्षा करके वस्तु को या तो विपरीत रूप मे मानता है, गलत वस्तु को, जिसका परिणाम भयकर है, आपातरमणीय देख कर उसे बढिया अथवा मनोज्ञ मान कर उसके वियोग मे दुखी हो कर हायतोबा मचाता है, उसके कारण (यानी इष्ट वियोग-अनिष्ट सयोग के कारण वह व्यक्ति अशान्त हो जाता है। अत सर्वप्रथम जिस वस्तुका जैसा स्वरूप, स्वभाव या परिणाम है,

उसे उसीरूप मे उसी स्वभाव या परिणाम वाला माने, उसके वियोग या अनिष्ट सयोग मे मेरी आत्मा का कुछ भी बिगडने वाला नहीं, इस प्रकार की दृढ श्रद्धा यथार्थ विश्वास, वीतराग-आप्त- वचन पर पूर्ण आस्था रख कर चलें ; तभी शान्ति-मानसिक शान्ति हो सकती है। अन्यथा, अश्रद्धा मानव को बेचैन कर देती है। अश्रद्धा मे मानव-मस्तिष्क मे ऊनजलूल विचारों के तूफान उठते हैं। अथवा निश्चयदृष्टि मे इसका अर्थ है-औपशमिकादि जो भाव विशुद्ध नहीं हैं, तथा जो भाव (पदार्थ या तत्व) विशुद्ध बताये है। यानी अच्छे और बुरे जो भाव (तत्त्व या पदार्थ) जिस जिस रूप मे आप्त वीतरागदेव ने कहे हैं, उन्हें उसी रूप मे समझे, उन पर श्रद्धा रखे और वैसे ही हैं, यो जाने, यह सबसे पहली शान्तिपद-प्राप्ति की शर्त है।

भाष्य

तीर्थंकरदेव द्वारा प्ररूपित भाव

वीतराग अर्हद्देव आप्तपुरुष है, वे राग, द्वेष एव मोह, पक्षपात आदि दोषो से रहित होने के कारण वस्तु का स्वरूप विपरीतरूप से बताएँ, ऐसा असम्भव है। अत[1] जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्व जीव के सम्बन्ध मे विचार, तथा दूसरे अनेक भाव या पदार्थ, षड्द्रव्य आदि तीर्थंकरदेवो ने मूलसूत्रो मे बताये है, वे उसी रूप मे यथार्थ हैं, इस प्रकार की श्रद्धा उन पर रखें।

वस्तु को अपने असली स्वरूप मे—अन्तरग-बहिरग दोनो रूपों मे देखना और उस पर विश्वास जमाए रखना, शान्तिप्राप्ति की पहली शर्त है। वीतरागप्रभु ने आगमो मे कई जगह खराब भावो का भी वर्णन किया है। पापी जीव कर्म के किस-किस प्रकार के फल भोगते हैं, उनके चरित्र भी बताए है। कर्मों के अच्छे-बुरे फल भी मिलते हैं, सृष्टिकर्ता ईश्वर या और

---

१ जीवाजीवा य बधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव।
तहियाणं तु भावाण सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहतस्स समत्त त वियाहिय॥
ससारत्था य सिद्धा य इमे जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवारूवी व अजीवा दुविहा विय॥
इम जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सद्धाणनाणमणुमए रमेज्ज सजमे मुणी॥ —उत्तरा०

कोई है या नही ? इस पर भी मूलसूत्र मे स्पष्टीकरण दिया है कि समस्त पदार्थ जिनदेव ने कहे हैं उन्हे नि सकोच वैसे ही रूप मे माने । 'पुरुषविश्वासे वचनविश्वास.' इस न्याय के अनुसार उन पदार्थों या भावो के मूल वक्ता आप्तपुरुष पर विश्वास हो, तो उनके द्वारा कथित या प्ररूपित वचनो पर भी श्रद्धा या विश्वास जम जाता है । इस प्रकार देव (वीतराग) तत्त्व के सम्बन्ध मे उसके मन मे जरा भी शका-कुशका नही रहती । यह शान्तिस्वरूप की पहली शर्त है । ऐसी श्रद्धा रखने वाला ही वास्तविक धर्म और शान्ति को प्राप्त कर सकता है । बहुत-सी बाते अतीन्द्रिय तथा अमूर्त्त होने के कारण अदृश्य होती है, अनिर्वचनीय भी होती हैं, जैसे लोक-अलोक भी जो दूर हैं, वे नही दिखाई देते , देवलोक या नागलोक दूर है, वे दृष्टिगोचर नही होते । मगर ये सब उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार से भगवान् ने बताए हैं । इस प्रकार सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण-देव को देव के रूप मे जाने, देवकथित बात को भी उसी रूप मे समझे व कबूल करे, यह शान्ति की प्राथमिक भूमिका है ।

निश्चयनय की दृष्टि से स्वभाव-परभाव अथवा स्वभाव-विभावरूप आत्मा-अनात्मा आदि का जैसा रूप है, अच्छा या बुरा, उसे वैसा ही, उसी रूप मे माने ।

अब शान्ति के दूसरे सोपान के बारे मे कहते हैं—

आगमधार गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे !
सम्प्रदायी-अवंचक सदा, शुचि अनुभवाधार रे !

॥ शान्ति० ॥ ४ ॥

अर्थ

जो आगमो का ज्ञाता (धारक) हो, सम्यग्दृष्टि हो, संवरप्रधान शुद्ध धर्म-क्रिया करने मे तत्पर हो, सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाले धर्मसगठन का सदस्य हो, अवचक = निष्कपटभाव से प्रवृत्ति करता हो, सदा पवित्र अन्त करण वाला हो, शुद्ध आत्मानुभवी हो, ऐसे गुरु का आधार शान्ति-पद के लिए आवश्यक है । यह शान्ति की दूसरी शर्त है ।

भाष्य

योगाऽवचक गुरु का योग : शान्ति का द्वितीय सोपान

पूर्वगाथा में शान्तिपद के लिए शुद्ध देव के प्रति श्रद्धा आवश्यक बतलाई, अब पवित्र गुरु के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता का कथन करके गुरु का लक्षण बताते है। वास्तव में शान्ति का स्वरूप और शान्ति के लिए मार्गदर्शन हेतु 'गुरु' की महती आवश्यकता है, परन्तु भूमण्डल मे आज अनेक नामधारी गुरु घूम रहे है। वे शिष्य को सन्मार्ग दिखाना तो दूर रहा, उल्टे कुमार्ग पर चढा देते हैं, जिस पर चल कर वह अपने जीवन का नाश कर लेता है, शान्ति के बदले अशान्ति के गर्त मे गिर जाता है, कर्म-मुक्ति के बदले कर्मबन्धन करके नाना योनियो और गतियो मे भटकता रहता है। इसी कारण बहुत-से लोग तो यहांतक कहने लगे—"ऐसे कुगुरुओं से तो गुरु न बनाना अच्छा है।" परन्तु सभी गुरु ऐसे नही होते और सभी लोग गुरु के बिना रह नहीं सकते। सद्गुरु से वंचित रहना एक अलभ्य लाभ को खोना है। इसी दृष्टि से शान्तिप्रदायक या शान्तिस्वरूपदर्शक सच्चे गुरु की पहिचान के लिए श्रीआनन्दघनजी गुरु के लक्षण बताते हुए कहते हैं—'आगमधर गुरु०'

सद्गुरु के लक्षण

आगमधर गुरु—सद्गुरु की पहिचान के लिए सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि वह आगमो व सिद्धान्त का ज्ञाता हो, ज्ञाता ही नही, आगमो के गूढ रहस्यो, पूर्वापरविरुद्ध बातो, उत्सर्ग-अपवाद के मर्मो एव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार युगानुकूल सयोजन करने का अनुभवी हो। क्योंकि जिसको शास्त्रो का रहस्यपूर्वक ज्ञान होगा, वह कैसी भी परिस्थिति के समय आत्म-समाधि मे स्थिर रह सकेगा, दूसरो को भी शास्त्रज्ञान दे कर समाधिस्थ कर सकेगा। पाप एव प्रमाद से बचने के लिए आगम दीपक के समान है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—कि[१] 'शास्त्र (सूत्र) ज्ञान से चित्त एकाग्र होता है, उसकी आत्मा स्वय स्वधर्म-स्वभाव मे स्थिर हो कर दूसरो को सूत्रज्ञान से स्वधर्म मे स्थिर करती है सूत्रो (श्रुतो) का अध्ययन करके साधक श्रुत-

---

१- देखिये दशवैकालिक सूत्र (अ ९ उ ४) का वह पाठ—

'नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ य ठावई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए ॥

समाधि मे रत (लीन) हो जाता है। बहुत से साधक आगमो की बात तो दूर रही, सामान्य नीतिधर्म के ज्ञान से भी रहित होते है, वे सिर्फ वेषधारी या व्यसनी होते है।

सम्यक्त्ववान गुरु—बहुत से लोग अक्षरज्ञान या भाषाज्ञान के पण्डित होते है, वे प्रत्येक शास्त्र की व्याख्या बहुत ही बारीकी से कर सकते है, परन्तु उनके अन्तर मे सम्यग्दर्शन नही होता, वे या तो पैसा या प्रसिद्धि कमाने के लिए शास्त्रज्ञान करते-कराते हैं, या दूसरो के साथ साम्प्रदायिक सघर्ष मे उतरने के लिए ऐसा करते हैं। ध्यान रहे, मिथ्यादृष्टि भी ९ पूर्व से कुछ कम तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अत गुरु का सम्यग्दृष्टि होना बहुत आवश्यक है। गुरु सम्यग्दृष्टि होगा तो वह मिथ्याश्रुतो या पूर्वापरविरुद्ध बातो मे से भी अपनी समन्वयी अनेकान्ती एव सापेक्ष दृष्टि से तत्त्व निकाल लेगा, शास्त्रो, धर्मो, एव क्रियाकाण्डो के कारण होने वाले झूठे सघर्षो को वह मिटा सकेगा, उनमे परस्पर सामजस्य स्थापित कर सकेगा। इस प्रकार सम्यक्त्वीगुरु पारस्परिक सघर्षो एव विवादो को मिटा कर शान्ति स्थापित कर सकता है।

संवरप्रधान क्रियावान् गुरु—जो समिति-गुप्ति एव सवर से युक्त क्रिया करता है, वह गुरु प्रत्येक क्रिया मे ध्यान रखेगा कि वह ससारवृद्धि की कारण न हो। बहुत से गुरु अपनी महिमा बढाने के लिए संसारवर्द्धक (आश्रव-पोषक) क्रिया करते-कराते रहते हैं, उन क्रियाओ मे आत्मस्वरूप या कर्म-मुक्ति का लक्ष्य कम होता है, आडम्बर या शुभाश्रव का भाग ज्यादा होता है। इसलिए क्रियाविधिज्ञ एव सवरप्रधान (कर्मो को आते हुए रोकने की) क्रिया करने वाला होना चाहिए। अन्यथा, बहुत-से ऐसे गुरु होते हैं, जो आरम्भ-समारम्भ से ग्रथित सावद्य क्रियाकाण्डो के भवरजाल मे स्वय भी फँसे रहते है, अनुयायियो को भी फँसा देते हैं। परन्तु क्रियावान गुरु प्रत्येक क्रिया मोक्षदायिनी करेगा, इहलोक-परलोकलक्षी नही, तथा उसके साथ उसे कर्तृत्व का अभिमान नही होगा, उसकी क्रिया स्वेच्छाचारी नही होगी, अपितु शास्त्रानुसार निरवद्य होगी। इस प्रकार की निरवद्य क्रिया करने-कराने वाला गुरु ही शान्तिप्रदाता हो सकता है।

सम्प्रदायी गुरु—सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाला धर्म-संगठन सम्प्रदाय है। गुरु ऐसे सम्प्रदाय से सम्बद्ध होना चाहिए। ऐसे सम्प्रदाय में रहने वाला सुगुरु स्वयं आत्मानुशासित होता है और सब को भी अनुशासन में रखता है। सम्प्रदायी गुरु मनमाने ढंग से चलने वाला स्वेच्छाचारी नहीं होगा। परन्तु सम्प्रदायी का यह मतलब नहीं है कि वह सम्प्रदाय के मोह से या साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हो कर सम्प्रदाय में चलने वाली गलत बातों का समर्थन करेगा या अपने अनुयायियों को उकसा कर दूसरे सम्प्रदायों से लड़ायेगा-भिड़ायेगा या संघर्ष करायेगा। वह सम्प्रदायी गुरु सदाग्रही होगा, दुराग्रही नहीं, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देख कर युगानुकूल क्रांति (परिवर्तन-संशोधन) करेगा। चूंकि सम्प्रदाय सुन्दर संस्कारों से जीवन का निर्माण करता है, व्यक्ति को अनुशासित रखता है, उच्छृंखल नहीं होने देता, अतः सम्प्रदाय में रहना बुरा नहीं, साम्प्रदायिकता या सम्प्रदाय-मोह से ग्रस्त होना बुरा है। गुरु पूर्वोक्त व्याख्यानुसार सम्प्रदायी होगा।

वह सरलमना, सरल स्वभावी, चालढाल, व रहनसहन में सरल और दम्भ, धूर्तता, वचकता या ठगी से बिलकुल दूर होगा, जो बात जैसी होगी वैसी ही कहेगा, या करेगा। अन्दर-बाहर एक होगा, धर्म-ध्वजीपन से वह दूर होगा। वह प्रभु की साक्षी से गुरु के मार्गदर्शन में अपनी आत्मा की वफादारीपूर्वक धर्माराधना करेगा। अथवा स्वरूपलक्ष से वंचित नहीं होने वाला गुरु हो।

शुचिगुरु—वह पवित्र स्वभाव, पवित्र, निष्पाप, निष्कलुष, कषायभाव की क्लिष्टता से दूर एवं मर्यादित वेषभूषाधारी होगा। पवित्र गुरु से ही जनता शान्ति का पाठ सीख सकती है।

अनुभवाधार गुरु—आत्मगुण तथा व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक अनुभवों का आधाररूप गुरु ही स्वयं तर सकता है, दूसरों को तार सकता है। अपने अनुभव के सहारे वह अशान्त वातावरण को शान्त वातावरण में बदल सकता है। अथवा निश्चयदृष्टि से वह शुद्ध आत्मानुभवी हो।

अतः शान्ति का स्वरूप जानने का या शांति-प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति उपर्युक्त सातों गुणों से युक्त साधक को ही अपना गुरु बनाए, उसी का आश्रय ले, जैसे-तैसे ऐरेगैरे को गुरु बनाने से तो शान्ति के बदले अशान्ति ही पल्ले

पड़ेगी। सद्गुरु ही शान्ति का स्वरूप प्राप्त करा सकता है। इस कारण श्रीआनन्दघनजी ने योगाऽवचक गुरु के योग को शान्ति का स्थान बताया है।

सद्गुरु का योग पाने के बाद सद्धर्मप्राप्ति के हेतु शुद्ध आलम्बन शान्ति के लिए आवश्यक है, इसी बात को अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी बताते हैं —

शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरे, भजे सात्त्विक साल रे॥
शान्ति० ॥५॥

अर्थ

शान्तिकांक्षी साधक अन्य सभी प्रपंच-जाल (खटपट) या रागीद्वेषी देव-गुरु का जाल छोड कर शुद्ध (शास्त्रोक्त) या आत्मस्वरूप के आलम्बनो को अपनाए। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, दंभ, ईर्ष्या, छल, स्वार्थ, इन्द्रियविषयासक्ति आदि समस्त तामसीवृत्तियो का त्याग करे और सात्त्विक ज्ञानयुक्त आनन्ददायी वृत्ति धारण करे।

भाष्य

सद्धर्मप्राप्ति के लिए शुद्ध आलम्बन शान्ति का कारण

देव और गुरु के योग के बाद सद्धर्मप्राप्ति के लिए क्रियाऽवंचक योग बतलाया गया। क्रियावंचकयोग मे पुष्ट और शुद्ध आलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न होता है कि शुद्ध आलम्बन किसे कहा जाय ? जो आलम्बन शुद्ध स्वरूपलक्ष्यी, परमात्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी हो, उसे ही शुद्ध आलम्बन कहा जा सकता है। जिस आलम्बन से साधक दुर्गतियो मे भटकता हो, जिससे जीवन पतन की ओर जाता हो, अथवा जो आलम्बन मनुष्य को सदा परावलम्बी बनाए रखता हो, उस आलम्बन को शुद्ध आलम्बन कैसे कहा जा जा सकता है ? शुद्ध आलम्बन मे किसी प्रकार का आडंबर, प्रपंच, स्वार्थ-साधन, धोखा या मायाजाल नही होना चाहिए। वह आलम्बन राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि के परिणामो से रहित होना चाहिए। अत निश्चयदृष्टि

से तो शुद्ध आलम्बन एकमात्र शुद्धस्वरूपलक्षी आत्मा ही हो सकता है, जिसमे अन्य विकल्पो का जाल न हो। वह आलम्बन सदा अखण्ड आत्मस्वरूप मे रमणरूप चारित्र, आत्मज्ञान और आत्मस्वरूपदर्शन हो सकता है। वही स्वावलम्बन है। इस दृष्टि से किसी दूसरे का, यहाँ तक कि देव, गुरु और धर्म का भी आलम्बन परावलम्बन है। आत्मा का आलम्बन लेने में किसी दूसरे से याचना करने की, दूसरे को रिझाने की दृष्टि से गुणगान करने की जरूरत नही रहती। परन्तु जहाँ तक शरीर साथ मे है, वहाँ तक किसी न किसी दूसरे का आलम्बन लेना पडता है। और यो देखा जाय तो आलम्बन शब्द ही परसापेक्ष—परापेक्षित है। आत्मशक्ति की अल्पता ही आलम्बन की अपेक्षा रखती है। साधक मे जब तक अपूर्णता है, जब तक संसारसमुद्र से वह पार नही हो जाता, तब तक उसे नौका की तरह शरीर, संघ, देव, गुरु, धर्म शास्त्र आदि का आलम्बन लेना ही पडता है। आलम्बन मनुष्य तभी तक लेता है, जब तक वह पूर्णता के शिखर पर नही पहुँच जाता। शास्त्र मे बताया गया है कि¹ धर्माचरण करने वाले साधु के लिए पाँच स्थानो (आधारो) के निश्राय (आलम्बन) बताए है—संघ, धर्माचार्य, गृहस्थ, छह काया (ससार के प्रत्येक कोटि के जीव), और शासक। यह तो हुई व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से आलम्बन की बात। व्यवहारदृष्टि से शुद्धदेव, सद्गुरु और सद्धर्म का आलम्बन लेना अपूर्णसाधक के लिए आवश्यक होता है। परन्तु इन और ऐसे ही अन्य आलम्बनो को ग्रहण करते समय यह विवेक करना होगा कि मैं जिन देव-गुरु-धर्म आदि का आलम्बन ले रहा हूँ, वे वीतरागभाव-पूर्णशान्ति-शुद्धात्मभाव की ओर ले जाने वाले है, या परस्पर साम्प्रदायिकता, सम्प्रदायमोह, कदाग्रह, राग-द्वेष, कषाय, सघर्ष आदि बढाने वाले है? अगर वे आलम्बन तथाकथित देव-गुरु-धर्म के नाम से झगडे, उपद्रव, सिरफुटौव्वल, छलछिद्र, दम्भ आदि पैदा करने वाले हो तो उन्हे व्यवहारदृष्टि मे भी शुद्ध आलम्बन कहना अनुचित है। इसी प्रकार व्यवहारदृष्टि से मोक्षलक्षी आलम्बन के रूप मे व्यवहार सम्यग्दर्शन,

---

१. धम्मस्स ण चरमाणस्स पच ठाणा निस्सिया पण्णत्ता—छकाया, गणे, राया, धम्मायरिए, गाहावई। —स्थानांगसूत्र पचम स्थान

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ग्रहण किये जाते है, लेकिन वे भी वीतरागता और समता के पोषक हो, तभी उपादेय हो सकते हैं। यदि तथाकथित सम्यग्दर्शन के नाम से कलह कदाग्रह, एकान्त एव अन्धश्रद्धायुक्त मिथ्या मान्यताएँ आलम्बन के रूप मे स्वीकार करने का कोई कहे, सम्यग्ज्ञान के नाम से उन्मार्गगामी, अन्धविश्वासयुक्त, अथवा भौतिकज्ञान या मिथ्याज्ञान अथवा अनिष्ट सावद्यमार्ग पर ले जाने वाले विषमतावर्द्धक ज्ञान या शास्त्रो को आलम्बन के रूप मे थोपना चाहे अथवा सम्यक्चारित्र के नाम से कोई युगवाह्य, निरर्थक,सवर प्रतिपक्षी, सद्धर्म से विपरीत, वृथाकष्टकारी क्रियाएँ आलम्बन के रूप मे लादना चाहे तो वह शुद्ध (व्यवहारदृष्टि से) आलम्बन नही हो सकता। यद्यपि पूर्णत शुद्ध एव उपादेय आलम्बन तो आत्मस्वरूपलक्ष्यी स्वरूपरमण ही हो सकता है, क्योकि वही नित्य है, शुद्ध और अभिन्न आलम्बन है। इस प्रकार का प्रतिपादन स्वय आनन्दघनजी अगली गाथाओ मे करेगे। किन्तु जब तक शरीर है, तब तक व्यवहारदृष्टि से जल सन्तरण के लिए नौका की तरह सुदेव, सुगुरु या सद्धर्म आदि मोक्ष, परमात्मा या शुद्धस्वरूप की ओर ले जाने वाले पुष्ट या पवित्र आलम्बन भी कथचित् शुद्ध एव उपादेय हो सकते हैं। परन्तु वे आलम्बन नदी पार होने के वाद नौका को छोड देने की तरह वीतरागचारित्र की भूमिका पर या उच्च गुणस्थान मे आरूढ हो जाने पर त्याज्य होते है। जैसे एम० ए० पढ़े हुए विद्यार्थी के लिए उससे पहले की कक्षाएँ या पाठ्यपुस्तके छोड़ देनी होती हैं, वैसे ही उच्चश्रेणी पर पहुँचे हुए साधक को नीची श्रेणी के समय लिये जाने योग्य आलम्बन छोड देने चाहिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कहा है—'शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जजाल रे'। तात्पर्य यह है कि आलम्बन के नाम मे प्रपचमय, रागद्वेषवर्द्धक, मायाजाल मे फँसाने वाले, वीतरागता से विमुख करने वाले आलम्बन, चाहे जितने पवित्र नाम मे कोई थोपना चाहे, उन्हे जजाल समझ कर छोड दो।

अथवा शुद्ध आलम्बन का व्यवहारदृष्टि से यह अर्थ भी हो सकता है—शुद्धरूप से आलम्बन यानी देव, गुरु, धर्म आदि भी सच्चे हो, लेकिन उन्हे गलत रूप से, स्वार्थ, दम्भ, छलछिद्र, आडम्बर एव यशोलिप्सा, पदलिप्सा

आदि किसी विपरीतभाव से, या क्रोध-लोभ-ईर्ष्या-अभिमानवश ग्रहण करना अशुद्ध आलम्बन है। शुद्धरूप से इन चार बातों के साथ देवगुरुधर्म आदि का आलम्बन लेने से ४ स्थितियाँ आती हैं—इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि।

निश्चयदृष्टि से आत्मस्वरूपलक्ष्यी शुद्धआत्मा का आलम्बन भी पूर्वोक्त अशुद्धरूप से न ले कर शुद्धरूप से लेना भी शुद्धालम्बन का अर्थ हो सकता है।

तामसीवृत्ति छोड कर सात्त्विकवृत्ति का आश्रय

अशुद्ध आलम्बनरूप प्रपंच छोड कर शुद्ध आलम्बन लेना शान्तिप्राप्ति का मूल कारण है, परन्तु साथ ही व्यवहारदृष्टि से देवगुरु आदि पवित्र आलम्बनो के लिए पवित्र वृत्ति भी होनी आवश्यक है। आलम्बन तो व्यवहार के नाम से तथाकथित शुद्ध अपना लिए, लेकिन वृत्ति अभी तक तामसी बनी हुई है, मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानान्धकारमयी है, वह शरीर को ही आत्मा समझ कर उसी का पोषण करने, उसी को स्वस्थ रखने आदि की चिन्ता करता है या उसी को आत्मा समझ कर उसके चिन्तन में डूबा रहता है। अथवा रागी-द्वेषी, मोही, क्रूर, शस्त्रपाणि, मदिरापायी, मांसाशी अथवा श्रापदाता देव, भंगेडी-गंजेडी, दुर्व्यसनी अथवा मिथ्यादृष्टि गुरु एवं वामाचार मार्ग-प्रेरक व्यभिचारोत्तेजक धर्म से उसी तामसी वृत्ति से ओतप्रोत रहे तो वह उसके लिए शान्तिदायक या शान्तिस्वरूप का परिचायक कैसे हो सकेगा? इसीलिए श्रीआनन्दघनजी को कहना पडा—"तामसी वृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्त्विक साल रे।" सात्त्विक में—समता, दया, क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्यता, संयमपरायणता, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य अकिंचनता, त्याग आदि का समावेश हो जाता है। संक्षेप में, आत्मधर्म या सूत्र-चारित्ररूप धर्म सात्त्विक वृत्ति में आ जाता है। इसीलिए साधक को भ-महावीर ने निर्देश किया है—१ धैर्यवान, धर्मसारथी, इन्द्रियरूपी अश्वो का दमन करने वाला एवं धर्मोद्यान में रत भिक्षु धर्मरूपी बगीचे में विहरण करे, ब्रह्मचर्य-आत्मस्वरूप में रमण—विचरण करना ही उसके लिए समाधि है।"

---

१ धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बंभचेर-समाहिए ॥

—उत्तराध्ययन अ. १६

इस प्रकार शुद्ध आलम्बन ले कर सात्त्विक वृत्ति से युक्त होने से साधक आध्यात्मिक शान्ति को पा लेता है, शान्ति उसकी सहचरी बन जाती है, शान्तिस्वरूप को वह हृदयगम कर लेता है और दूसरो को भी शान्ति प्रदान करता है।

अब इससे आगे के शान्ति के सोपान के बारे मे कहते है—

फल-विसंवाद जेहमा नहीं, शब्द ते अर्थ-सम्बन्धी रे।
सकलनयवाद व्यापी रह्यो, ते शिवसाधनसन्धि रे।
शान्ति ॥६॥

अर्थ

जिसके मन मे मोक्षरूप फल [कार्य] के सम्बन्ध मे कोई विसवाद [दुविधा] नहीं है, जिसके कहे हुए शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध मे कोई विरोध नहीं है, जिसके वचनो मे सर्वत्र समस्त नयवाद [सापेक्षता] व्याप्त है, ऐसे आप्तपुरुष के वचन मोक्षप्राप्ति की साधना मे कारण-रूप हैं।

भाष्य

शान्ति-सहायक मोक्षफलावञ्चकयोग आप्तवचन

पूर्वगाथा मे शुद्ध आलम्बन की बात कही गई थी। परन्तु शुद्ध आलम्बन तभी शुद्ध रह सकता है, जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के पालन से विषय मे निशक, निर्विवाद, सापेक्ष, सार्थक-शब्दयुक्त आप्तवचनो का आलम्बन लिया जाय। वही शान्तिदायक, शान्तिसचारक हो सकता है।

शान्ति के लिए फल के प्रति अविसवादिता आवश्यक

ज्ञानादि की अथवा आत्मस्वरूपलक्ष्यी जो भी साधना की जाय, उसमे फल के प्रति शका या असगति मन मे नही होनी चाहिए। जहाँ फलाकाक्षा या फल के विषय मे शका या भ्रान्ति मन मे होती है, वहाँ साधना का रस खत्म हो जाता है, साधना के साथ जो श्रद्धा, भक्ति का आनन्द है, उसका स्थान बेगार ले लेती है। अत शान्ति के अभिलाषी साधक को यह शका नही होनी चाहिए कि इस साधना का फल मिलेगा या नही, फल नही मिला तो

क्या होगा ? क्योंकि फल तो क्रिया के अनुसार मिलना ही है। 'या या क्रिया सा सा फलवती', जैसी कारण-सामग्री होगी, वैसा ही फल होगा, वैसा ही कार्य होगा, परन्तु जैसा फल सोचा हो, वैसा फल न आए तो अपने कारण के साथ फल का अविसंवाद कहलाता है। इसलिए शान्तिकांक्षी के मन में फल की को असंगति या शंका नही होती कि शान्ति की साधना का फल मिलेगा या नही ?

शान्ति के लिए आत्मार्थप्राप्तिसूचक सापेक्ष वचन

आप्तपुरुष के सापेक्ष (नयवाद से युक्त) वचनों में शांति के इच्छुक व्यक्ति को शंका नहीं होती, या इसके भावार्थ के सम्बन्ध में उसे शंका नहीं होती, उसके मन में ऐसी शंका नहीं होती कि ऐसा अर्थ होगा या दूसरा होगा ? आप्तपुरुष के जो वचन (शब्द) होते हैं, उनका जो अर्थ होता है, वह उसे बिना किसी विरोध या आपत्ति के समझता है और स्वीकार करता है। उन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में उसके मन में जरा भी उलझन नहीं होती। ऐसा साधक[1] नयवाद (सापेक्षत्व) की दृष्टि से परस्पर अविरोधीरूप से निःशंक हो कर समाधान कर देता है, क्योंकि वह शब्दों में अविरोधता जानता है। इसलिए उसके निर्मल मन में शंका कुशंका को स्थान नहीं होता। इस प्रकार का निर्मल अन्तःकरण शान्ति के उपासक का होता है। वह शब्दों का

---

१ उदाहरणार्थ-मोक्षरूपफल में भी विविध नयों की अपेक्षा से धर्मरूप साधन की व्यवस्था (संधि) इस प्रकार होती है—नैगमनय की अपेक्षा से जो जीव मोक्षपद में अवश्य जाएगा, उसमें निहित तथारूप भव्यता को अथवा अपुनर्बन्धकभाव को धर्म कहा जा सकता है। संग्रहनय की अपेक्षा से मोक्ष के छोटे-बड़े अनेक कारणों को धर्म कहा जा सकता है। व्यवहारनय की अपेक्षा से तमाम धार्मिक अनुष्ठानों को धर्म कहा जा सकता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से देशविरति-सर्वविरति को धर्म कहा जा सकता है। शब्दनय की अपेक्षा से उच्चदशा की निर्विकल्प अवस्था को धर्म कहा जा सकता है। समभिरूढनय की अपेक्षा से सयोगी केवलज्ञानी अवस्था को धर्म कहा जा सकता है। एवंभूतनय की अपेक्षा से शैलेशीकरण की अवस्था को धर्म कहा जा सकता है, जिसके बाद तत्काल ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अपेक्षावाद (नयवाद) की दृष्टि से रहस्यार्थ समझता है, कि अमुक पदार्थ का अमुक अपेक्षा से अस्तित्व भी है, अमुक अपेक्षा मे नास्तित्व भी है। इस प्रकार के सापेक्ष वचन ही मोक्ष (शान्तिरूप) की साधना के कारण हैं। ऐसा शान्ति-साधक पृथक् पृथक् दृष्टिबिन्दुओ को समझता-समझाता है। इस प्रकार यह फलावंचकयोग रूपशान्ति हुई।

शान्ति के लिए किन चीजो का ग्रहण और किन चीजो का त्याग करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है—

विधि-प्रतिषेध करी आतमा पदारथ अविरोध रे।
गहणविधि महाजने परिग्रह्यो इस्यो आगम-बोध रे॥

शान्ति० ॥७॥

अर्थ

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समाधि, समता, वैराग्य, भक्ति-क्षमा आदि आत्मप्राप्ति के या आत्मा मे घटित होने वाले साधनो, गुणो, स्वभावो या धर्मों आदि का निरूपण (विधि) तथा मिथ्यात्व, मिथ्याग्रह, काम, क्रोध, हिंसादि प्रमाद, स्वच्छन्दता, इन्द्रियविषयो मे प्रवृत्ति, आसक्ति वगैरह आत्मगुण के घातक या या आत्मा मे घटित न होने वाले गुणो, अभावो या विभावो आदि का प्रतिषेध निषेध, त्याग या प्रत्याख्यान) है। आत्मा को इस प्रकार विधि-निषेधरूप (करणीय कार्य को विधिरूप व अकरणीय को निषेधरूप) वाक्य द्वारा यथार्थ एव अविरोधरूप से जान कर महापुरुषो (ज्ञानीजनो) ने उन्हे जानने (ग्रहण करने) की योग्य पद्धति से आत्म-पदार्थ का स्वीकार किया (अपनाया)। आगमो [शास्त्रो] मे इस प्रकार का बोध है, जो शान्ति का कारण है।

भाष्य

शास्त्रयोग से आत्मा का विधि-निषेधरूप मे ग्रहण : शान्ति का सोपान

आत्मप्राप्ति के साधन के रूप मे अमुक कार्य, जो कि आत्मगुणो, आत्मस्वभावो, या आत्मधर्मों के लिए अनुकूल है, इस रूप मे करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त विधि है, तथा इसके विपरीत आत्म-गुण के घातक व अमुक दुर्गुणो, विभावो,

अधर्मों या अभावों का द्योतक शब्द है, उनका त्याग, प्रत्याख्यान, या निषेध करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त प्रतिषेध है। यानी (आत्मदृष्टि से) अमुक कार्य करना और अमुक नहीं करना चाहिए, इस प्रकार के विधिनिषेध में इस अपेक्षावाद के कारण जरा भी विरोध नहीं दिखाई देता। शान्तिवाञ्छुक साधक की कुशलदृष्टि विधि का स्वीकार करती है और निषेध का त्याग करती है। उसे विधि-निषेध में पृथक्-पृथक् दृष्टिबिन्दु के ज्ञान के कारण जरा भी उलझन नहीं होती।

आगमों में भले ही अनेक पदार्थों, तत्त्वों या अनुयोगों का वर्णन या निरूपण हो, लेकिन प्रत्येक का अंतिम तात्पर्यार्थ—महावाक्यार्थ आत्मा पदार्थ का मोक्ष (शाश्वत शान्ति) के लिए निरूपण करना है। इस दृष्टि से आगमों में दो प्रकार से बोधनिरूपण है—विधिवाक्य और निषेधवाक्य। आत्मा विभावदशा में रह कर आत्मगुणबाधक तत्त्वों का ग्रहण करके अपना मूलस्वरूप भूली, जिससे वह शान्ति-स्वरूप से वंचित रही। राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि सब पुद्गलभावों की ओर ले जाने वाली क्रियाओं को प्रतिषेध कहा जाता है, इन क्रियाओं का कर्ता आत्मा है, जो इन वैभाविक क्रियाओं के कारण अशुद्ध बना हुआ है, इसी कारण वह योग-आत्मा या कषायात्मा के नाम से पुकारा जाता है। उन्हीं क्रियाओं के कारण आत्मा को इस अशान्त-दुःखमय वातावरण में बारम्बार परिभ्रमण करना पड़ता है। जब यही आत्मा स्वबोध या सद्गुरु या आगम के बोध से स्वभावदशा में आ कर आत्मगुणसाधक विधितत्त्व को ग्रहण करता है, तब वह शुद्धात्मा बनता है, जिससे उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा वैराग्यादिभावों में स्थिरता आती है।

इसलिए आत्मा के दुःख और अशान्ति के कारणरूप प्रतिषेधक (बाधक या घातक) तत्त्वों को दूर करना—उनका त्याग करना और अनन्त सुख तथा शान्ति के कारणरूप विधितत्त्व का पालन करने या अपनाने के लिए तत्पर रहना, यही है शान्ति प्राप्त करने का राजमार्ग, जिसे आगमों में यत्र-तत्र बोध (उपदेश या प्रेरणा या आज्ञा) के रूप में बताया है। जिन्हें पूर्वकाल में ऋषभ-देव से ले कर भ. महावीर तथा उनके मार्गानुगामियों अथवा विश्व के समदृष्टि सन्तपुरुषों ने भी इसी रूप में विधि से शुद्ध आत्मपद या परमात्मपद ग्रहण किया है। न्यायशास्त्र में विधि यानी अन्वय और निषेध यानी व्यतिरेक का उपयोग किया

जाता है। जहा विधि-(अन्वय) तत्व से ग्राह्य विषय आता है, वहाँ निषेध (व्यतिरेक) तत्त्व से अग्राह्य विषय अपने आप हट जाता है। जैसे शास्त्र वाक्य है—उपशम से क्रोध-विजय होता है, यह अन्वय वाक्य है, उपशम के अभाव (क्रोध) से क्रोधविजय नही होता, यह व्यतिरेकवाक्य हुआ।[1] नौ तत्त्व, द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव, द्रव्य-गुण-पर्याय, सात नय, पच अस्तिकाय, पाँच ज्ञान, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य, क्षायिकादि पाँच भाव, सूत्र-अर्थ, षट् द्रव्य, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, कर्म और उसके भेद आदि जो कुछ बोध आगमो मे है, उस सबका मुख्य तात्पर्य पात्रजीवो को आत्मा का स्वरूप समझाना है, क्योकि जानने का फल आत्मा को ही मिलेगा, अन्यथा जानने की जरूरत क्या थी। विभिन्न प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा का स्वरूप समझाना ही शास्त्रो का मुख्य कार्य है। इसीलिए महापुरुषो ने आत्मपदार्थ को भलाभाति समझ कर उसका जिस रूप मे जो स्वरूप है, उसका यथार्थरूप मे आगमो मे सग्रह किया है। अत आगमो के द्वारा आत्मा को अविरोधरूप से वास्तविक रूपमे समझ लेना ही शास्त्रयोग है, जो एक तरह से शान्ति का कारण है। आत्मा गुण नही, क्रिया नही, कल्पना से कल्पित वस्तु नही, अभाव-रूप पदार्थ नही, तथा सायोगिक पदार्थ नही, अपितु वह साक्षात् भावरूप अमूर्त, अविनाशी पदार्थ है, इस प्रकार विधि-निषेधरूप से प्रमाणरूप मे (गतानुगतिकता से नही) आत्मा का विधिवत् स्वीकार करना भी शान्ति का कारण है।

---

१ देखिये आगमो मे विधि-निषेधक विभिन्न पाठ—

(अ) अप्पणा सच्चमेसेज्जा मित्ति भूएहि कप्पए'—उत्तराध्ययन

(आ) कोह माण च लोभं च माय च पाववड्ढण।
वमे चत्तारि दोसा उ, इच्छतो हियमप्पणो ॥—दशवैकालिक

(इ) अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होई अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तराध्ययन

ई) न लोगस्सेसण चरे'—आचारांग

[उ] सुयाणि य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगओ। —उत्तरा०

आगामी गाथाओं मे आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए विविध उपाय बताए है—

दुष्टजनसंगति परिहरे, भजे सुगुरुसन्तान रे ।
जोग सामर्थ्य चित्तभाव जे, धरे मुगतिनिदान रे ॥ शान्ति० ॥८ ॥

अर्थ

आत्मशान्ति मे विघ्न डालने वाले मिथ्याग्रही, अभिनिवेशी, मिथ्याभाषी, मिथ्यादृष्टि, निर्दय आदि दुष्ट विचार-आचार से दूषित) लोगों अथवा मिथ्यात्व, कषाय, विषयसक्ति आदि दोषो का ससर्ग छोड कर निष्पक्ष यानी आत्मार्थी गुरु अथवा उनके निश्राय मे रहे हुए शिष्यों की सगति करे। इस प्रकार जो मुमुक्षु मुक्ति [शान्ति] के कारणरूप सामर्थ्ययोग [आत्मवीर्य] को चित्त मे भावोल्लासपूर्वक [या आत्मा के उच्चस्वभावपूर्वक] धारण करता है, वह मोक्षसिद्धि—शान्तिलाभ प्राप्त करता है ।

भाष्य

दुष्ट-सगतिवर्जन शान्ति के लिए जरूरी

मुमुक्षु और शान्तिस्वरूपप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को दुराग्रही, दुष्टस्वभावी एव वितण्डावादी दुर्जन लोगो की सोहबत से दूर रहना चाहिए, क्योंकि 'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति' इस न्याय से हल्की एव नीच प्रकृति के लोगो के साथ रहने से लाभ के बजाय हानि ही अधिक होती है। उनके दोष सद्गुणी आत्मार्थी साधक मे आने सम्भव हैं। क्रूर कदाग्रही आदि दुष्टो या दोषो की सगति [1] से मन मे सक्लेश पैदा होता है, अशान्ति और बेचैनी बढ़ती है।

सुगुरु-सन्तान की सेवा मे रहे

अगर सगति करनी ही हो तो सद्गुरु —(नि स्पृह, अनासक्त, त्यागी, एव आत्मार्थी गुरु) की सेवा मे रहे। ऐसा करने से आत्मविकास की सुन्दर प्रेरणा मिलेगी, आत्मकल्याण का उपदेश मिलेगा, कषाय-रुचि और विषयासक्ति मन्द होगी। अगर वे सद्गुरु महापुरुषो की शिष्य-पर-

---

१. कहा भी है—

'खुड्डेहिं सह ससग्गि, हास कीड च वज्जए '

—उत्तरा, अ १

म्परा के होंगे तो ब्रह्मचर्य के उत्तम संस्कारो मे ओतप्रोत[1] गुरुकुल मे रह कर उन्होंने अपना जीवन-निर्माण किया होगा; इससे भव्य जिज्ञासु को शान्ति की प्राप्ति अनायास ही होगी। मतलब यह है कि कुसग का त्याग और सुसग का आश्रय लिया जाय, जिससे शास्त्रयोग प्राप्त हो, सिद्ध और सफल हो।

सामर्थ्य-योग का धारण : शान्ति का कारण

इसी प्रकार शान्तिवाञ्छुक साधक ऊपर चढता-चढता सामर्थ्य- योग चित्त मे धारण करे, जो मुक्ति का प्रबल कारण है। सामर्थ्ययोग का अर्थ है— आत्मा मे इतनी शक्ति (सामर्थ्य) प्रगट करे, जिससे अप्रमत्त साधक हो कर आत्मा मे असख्यकाल से निहित विषयकषायादि दुष्ट भावो को छोडे। यही कारण है कि सामर्थ्ययोग उच्चगुणस्थानो मे प्राप्त होता है। इसके मुख्यतया दो भेद—धर्मसन्याससामर्थ्ययोग और योगसन्याससामर्थ्ययोग। ७वाँ गुण-स्थान छोडने से ८वाँ गुणस्थान प्राप्त होने पर धर्मसन्यास-सामर्थ्ययोग आता है, जिसमे सातवे गुणस्थान तक करने के बाह्य धर्मानुष्ठान छोड देने होते हैं, जबकि योगसन्याससामर्थ्ययोग मे १३ वे गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तब मन-वचन-काया के निरोध करने की क्रिया शुरू होती है। वहाँ से ठेठ शैलेशीकरण के अन्तिम समय तक की अवस्था होती है। अथवा यहाँ 'योगसामर्थ्य' शब्द भी हो तो उसका अर्थ होता है— मन, वचन, काया के योगो पर काबू करना या इन तीनो का सामर्थ्य बताना। अपने सयोग, सामर्थ्य, उत्साह और आरोग्य को देख कर साधक जितना हो सकता है, उतना आत्मशक्ति प्रगट करने मे तत्पर होता है।

---

१ वसे गुरुकुले निच्च (सदा गुरु के निकट निवास करे)—उत्तरा० ११अ०

२ कहा भी है—

बल थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
खित्त काल च विन्नाय तहप्पाण निउजए।—दश० अ० ८
जोग च समणधम्मम्मि जुजे अणलसो धुव।
जुत्तो अ समणधम्मम्मि अट्ठ लहइ अणुत्तर॥ दश० अ ८

साधक अपना बल, उत्साह, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल देख कर अपनी आत्मा को साधना मे जुटा दे। साधक आलस्यरहित हो कर सदा श्रमणधर्म मे अपने योगो को लगाए। श्रमणधर्म मे लगा हुआ साधक की आत्मा अवश्य ही अनुत्तर सुख (शान्ति) रूप अर्थ (लक्ष्य) को प्राप्त करती है।

योगसामर्थ्य का एक अर्थ यह भी है कि मुमुक्षु साधक अपने मन को व्यर्थ के अनिष्ट चिन्तन मे, वचन को वृथा विवाद मे, निन्दा-चुगली करने मे तथा काया को व्यर्थ की चेष्टाओ या फिजूल कामो मे अथवा दूसरो के साथ लडाई-झगडे मे न लगा कर शुद्ध आत्म-चिन्तन मे, आत्मगुण की चर्चा मे, अथवा परमात्म गुणानुवाद मे, तथा दूसरो की सेवाशुश्रूषा, त्याग आदि मे लगाए। अपने समय का दुरुपयोग न करे, अपितु समय का अच्छे विचार, वचन एव कार्य में सदुपयोग अथवा स्वय को जो समय या साधन प्राप्त हुए हैं, उनका उपयोग अच्छी प्रवृत्ति मे करे। इस प्रकार के योगसामर्थ्य मे स्वत ही शान्ति प्राप्त होती है, आत्मा मे समाधि रहती है।

अगली दो गाथाओ मे महाशान्ति के लिए समतायोग के विषय मे कहते हैं—

मान-अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक-पाषाण रे।
वन्दक-निन्दक सम गणे, इस्यो होय तु जाण रे ॥शा० ६ ॥
सर्व जगजन्तु ने सम गणे, सम गणे तृण-मणि भाव रे।
मुक्ति-ससार दोऊ सम गणे, मुणे भवजलनिधिनाव रे ॥शा० १०॥

अर्थ

शान्तिवाञ्छुक साधक का कोई सम्मान करे या अपमान करे, दोनो अवस्थाओ को मन मे सम समझे (दोनो मे सम रहे)। सोना और पत्थर दोनो को समान समझे, तथा उसकी वन्दना (भक्ति-पूजा) करने वाले और उसकी निन्दा (आलोचना) करने वाले दोनो को सम समझे। जब तू इस प्रकार का समभावी हो जायगा, तभी समझना कि मैं मुमुक्षु या शान्तिपिपासु हूँ। जगत् के समस्त प्राणियो को आत्मद्रव्य की दृष्टि मे समान समझे, तिनके और मणि दोनो को पुद्गल की दृष्टि से समान माने, मुक्ति (कर्मो से मुक्ति) मे निवास हो या ससार मे, प्रतिबुद्ध [वीतराग] भाव से दोनो को समान समझे, इस प्रकार की समतारूप शान्तिवृत्ति को वह साधक ससारसमुद्र तरने के लिए नौका समझे।

भाष्य

समतायोग : महाशान्ति का कारण

पूर्वगाथाओ मे बताये हुए शान्ति के उपायो से आगे की भूमिका के रूप मे श्रीआनन्दघनजी समतायोग बताते हैं, जो साम्ययोग,

ज्ञानयोग, क्रियायोग और सामर्थ्ययोग से भी उच्चकथा का है। क्योकि [1] शास्त्र का ज्ञान तो समता की ओर दिशासूचन ही कर सकता है, वह समता के सागर मे ठेठ दूर तक नही ले जा सकता, मगर सामर्थ्ययोग नामक स्वानुभव समतासागर के सामने वाले किनारे तक आत्मा को पहुँच सकता हे, बशर्ते कि समतारूप नौका पर आत्मा आरूढ हो जाय। बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा जब देश-सर्वविरति की भूमिका से आगे निर्विकल्पदशा की उच्चभूमिका (सातवा गुणस्थान) पर पहुँच जाता है, तब वह इस प्रकार का समतायोग प्राप्त करता है। इस प्रकार का सामर्थ्ययोगी धर्मसन्यस्त होने से परम तृप्त हो कर परम निश्चय मे स्थित हो जाता है। वह रत्नत्रयी का आत्मा के साथ अद्वैत—अभेद करके केवल आत्मद्रव्यमय स्वानुभवमय पर्यायदृष्टिरूप विकल्प से रहित निर्विकल्प ध्यानस्थ (समाधिस्थ=कूटस्थ बन जाता हैं। वह आत्मस्वभाव का ज्ञाता, आत्मरमणकर्ता आत्मार्थी पुरुष जब सामर्थ्ययोग के बल से समता मे प्रवेश करता हैं, तब यदि कोई गुणग्राहकतावश कल्याणकारी, धर्मदेव, ज्ञानी इत्यादि शब्दो द्वारा उसकी प्रशसा करता हैं, उसका सत्कार-सम्मान करता है अथवा कोई द्वेप या पूर्वाग्रहवश उसका अपमान, तिरस्कार या निन्दा करता हैं, कोई उसका विरोध करता हैं तो कोई समर्थन, वह दोनो स्थितियो मे हर्प-शोक या तोप-रोष नही करता, अपितु दोनो को पौद्गलिकभाव मान कर समता और आत्मशान्ति मे स्थिर रहता है। आत्मार्थी पुरुप तो केवल आत्मगुण मे ही रमण करता है, वह महानिर्जरा करता रहता

१- अध्यात्मसार मे कहा है—

दिङ् मात्रदर्शने शास्त्रव्यापार : स्यान्न दूरगः ।
अस्या. स्वानुभाव. पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते ॥२८॥

२- गीता मे कहा है-समत्व योग उच्यते— समत्व को योग कहा जाता है।

३- जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।
शीतोष्णसुखदु.खेषु तथा मानापमानयो ॥७॥
ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय ।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्ठाश्मकाचन : ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुस्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥ -भगवद्गीता अ. ६

है, वह जानता है कि सम्मान या अपमान से मेरे आत्मगुण मे कोई वृद्धि या हानि होने वाली नही है। इसलिए किसी के द्वारा वन्दन या सम्मान करने से वह प्रसन्न या तुष्ट नही होता, तथैव किसी के द्वारा निन्दा या अपमान करने से वह खिन्न या रुष्ट नही होता। अलबत्ता, गुणग्राहकतावश वन्दन, सम्मान करने वाले को शुभ- पुण्य अवश्य मिलता है, तथा अज्ञान या द्वेषवश अपमान निन्दा या तिरस्कार करने वाले को अशुभ- पाप लगता है। किन्तु ज्ञानी आत्मार्थी सम्मान या अपमान तथा वन्दना और निन्दा दोनो ही अवस्थाओ मे समतारस के सागर पर तैरता रहता है। क्योंकि ऐसा समतायोगी सम्मान और अपमान के समय दानान्तराय का उदय और उपशम तथा वन्दक और निन्दक के समय उपभोगान्तराय का उदय-उपशम समझ कर दोनो ही अवस्थाओ मे सतुलित रह सकता है। इस प्रकार से शान्ति रखना बहुत ही कठिन है। यह कहना जितना आसान है, उतना करना आसान नही। बडे-बडे साधक इसमें हार खाजाते हैं। यो कहने का दिखावा तो प्राय. सभी करते हैं, पर जब हजारो आदमी आ कर उनकी प्रशंसा करते हैं, तो मन गुदगुदाने लगता है और जब वे ही उनकी निन्दा करने लगते है तो मन तिलमिला उठता है। प्रशसा और निन्दा सुन कर वे एकरस नही रह सकते। भगवान् पार्श्वनाथ पर एक ओर कमठ मूसलधार पानी बरसाता है, दूसरी ओर धरणेन्द्र उन पर छत्र धारण करके उनकी सेवा मे हाजिर रहता है, ऐसी स्थिति मे दोनो को समान मानने की वृत्ति बनाना बहुत ही कठिन है। परन्तु परम शान्ति के लिए ऐसा अत्यन्त जरूरी है।

कई लोग ऐसा कह देते है कि जब वन्दक और निन्दक, सम्मानकर्ता और अपमानकर्ता दोनो को जो एक सरीखा मानते है, वे दोनो के साथ एक सरीखा व्यवहार क्यो नही करते? बात यह है कि वे तो अपनी आत्मा मे रमण करते है, ज्ञानी होने से वे दोनो के वस्तुस्वरूप को अवश्य जानते हैं, मगर दोनो मे से किसी के साथ बर्ताव नही करते, इसलिए समदर्शी के लिए तद्योग्य बर्ताव या व्यवहार करने का तो सवाल ही नही उठता। विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, श्वपाक (चाडाल), इन सबके प्रति पण्डित (ज्ञानी=समतायोगी) समदर्शी होते है, समवर्ती नही। कुत्ते को अपने आत्मतुल्य मान कर क्या ज्ञानीपुरुष कुत्ते के साथ भोजन करने बैठ

जाएगा ? या गाय को आत्मतुल्य मान कर उसका दूध[1] नही दूहेगा या पीएगा ?

इसी प्रकार समतायोगी आत्मार्थी को ऋद्धि-सिद्धि आदि अनेक लब्धियाँ प्राप्त होना सम्भव है, वह परन्तु आत्मगुणलीन के लिए तो सोना और पत्थर दोनो समान हैं। वह वस्तुस्वरूप जानता है कि सोना पृथ्वी का शुभविकार है और पत्थर पृथ्वी का अशुभ विकार है। अत ज्ञानी की दृष्टि मे दोनो एक-सरीखे है।

इसी तरह तिनका, जो एक तुच्छ नगण्य चीज है, उससे घृणा नही होती, और रत्न, जो बहुमूल्य पदार्थ है, उसे देख कर मोह-ममता नही होती। ज्ञानी की दृष्टि मे दोनो पौद्गलिक है। इससे भी एक कदम और आगे बढती है कि वह शत्रु मित्र पर ही नही, ससार के समस्त प्राणियो के प्रति आत्मौपम्य भाव आत्मतुल्य दृष्टि रखता है। आत्मद्रव्य के एकत्व की दृष्टि से वह समस्त आत्माओ को अपनी आत्मा के समान—एकसरीखे मानता है। इससे भी आगे बढकर आत्मार्थी ज्ञानीपुरुष समता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।[2] उसकी दृष्टि मे मुक्तिनिवास या ससार निवास दोनो बराबर हैं। क्योकि वह समझता है कि मैं मुक्ति मे रह कर जो स्वरूपरमण वहाँ रखूँगा वह स्वरूपरमण यहाँ (ससार मे) रह कर कर भी रखूँगा। इसलिए मेरे लिए कोई फर्क नही पडता—मुक्ति और ससार का। साधक कई बार मुक्ति के लिए उतावला हो उठता है, कई कच्चे साधक तो सांसारिक पद-प्रतिष्ठा, सम्मान-सत्कार एव बढिया खानपान एव विषयसुखो मे प्रलुब्ध हो कर मुक्ति की साधना छोड कर ससारनिवास की कामना करने लगते हैं। परन्तु समतायोगी साधक ज्ञानदशा में रहना है, इसलिए वह न तो शीघ्र मुक्तिप्राप्ति की

१- इसीलिए गीता मे कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन ॥

२ निम्ममो निरहकारो नि सगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ ॥—उत्तराध्ययन-२८

अभिलाषा करता है और न ही संसारप्राप्ति की इच्छा करता है, क्योंकि इच्छा, कांक्षा, अभिलाषा और लालसा ये सब मोहनीयकर्मजनित हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार की इच्छा, वासना या अभिलाषा, यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा को भी त्याज्य समझता है। ज्ञानी आत्मा संसारसमुद्र पार करने हेतु समता को नौका मान कर मोक्ष—सिद्धस्वरूप (शुद्धात्मस्वरूप) प्राप्त करने का सतत पुरुषार्थ करता है। उसके लिए व्यवहारदृष्टि से तप, संयम, स्वाध्याय, ध्यान आदि का आलम्बन लेता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है—[1] षट्काय के रक्षक, परमशान्त महर्षि पूर्वकर्मों का संयम और तप से क्षय करके, समस्त दुःखों को क्षीण करने के लिए आत्मभावरमण का पुरुषार्थ करते हैं। इस प्रकार आत्मसिद्धि प्राप्त करके वे अनादि-अनन्त शान्तिस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार का समतायोगी जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसकी सर्वस्व स्वभावनिष्ठा आत्मा में ही परिनिष्ठित हो जाती है। आत्मा के सिवाय उसके समक्ष कोई भी द्रव्य नहीं रहता, कोई भी विकल्प नहीं रहता, [2]एकमात्र आत्मा, आत्मैकत्व, उसके समक्ष रहता है, इसी बात को आगामी गाथा में बताते हैं—

आपणो आतमभाव जे, एक चेतनाऽऽधार रे।
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे॥
शान्ति० ॥ ११ ॥

अर्थ

अपना (स्वयं का) सक्रिय शुद्ध आत्मभाव (आत्मत्व) ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप

१-खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
　सिद्धिमग्गमणुपत्ता ताइणो परिणिव्वुडा ॥　　—दशवैकालिक अ० ३
　(सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो)　　—उत्तरा० अ० २८

२. एगे आया-ठाणांग सूत्र 'आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे-भगवतीसूत्र एक आत्मा है। जगत् में समस्त प्राणियों की एक सरीखी आत्मा है। आत्मा ही सम य=सामायिक है सामायिक द्वारा प्राप्तव्य अर्थ है।

की प्राप्ति का आधार है। आत्मा के सिवाय सभी अनात्म (कर्म आदि) पदार्थ आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। वास्तव मे आत्मा का चेतना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सुख आदि ही निजपरिकर (अपना आत्मसम्बन्धी परिवार) है, वही सारभूत एव शाश्वत है, साथ मे आने वाला है।

भाष्य

शुद्ध आत्मभाव ही परमशान्तिरूप है

शुद्ध आत्मा अमूर्त और निराकार होने से मनुष्य अपने आसपास के दृश्यमान जगत्-शरीर, स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, परिवार, समाज, सम्प्रदाय, मकान, धन, धान्य आदि को अपना मान कर उनसे ममत्व करता है, और इष्ट-अनिष्ट के वियोग-सयोगो मे दुखी और अशान्त हो जाता है। परन्तु उसे यह पता नही कि ये सव पदार्थ परभाव हैं, इनसे ममत्वसम्बन्ध वाधने से अशान्ति ही वढती है। स्वचेतनाधारक आत्मत्व अथवा चैतन्यगुण का आधारभूत आत्मद्रव्य का आत्मभाव ही परमशान्तिरूप हैं। इसी वात को स्पष्ट करने के लिए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—'**आपणो आतमभाव जे**· · ' इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ने विभावदशा मे अज्ञानदशा से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण आदि शरीर धारण किये हैं। इसी प्रकार शरीर से सलग्न वाल्य, यौवन, वुढापा, रूप, कान्ति, नाम, आकार आदि तथा शरीर से सम्वन्धित एव शरीर के उपभोग मे आने वाले अन्न, जल, धन, मणि, माणिक्य, सोना-चाँदी, मकान, दूकान आदि एव माता-पिता, भाई-भगिनी, पत्नी, पुत्र आदि परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय, नौकर-चाकर आदि सव सयोगो से उत्पन्न या प्राप्त हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति आदि और अष्टकर्म की मूल प्रकृति आदि सव अनात्मपदार्थ हैं, ये सव सयोगजन्य है। इनके सयोग से आत्मा को पूर्ण शान्ति न तो हुई, न होगी और न ही होती है।

सामायिक पाठ मे वताया गया है—

> सयोगतो दु खमनन्तभेद यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
> ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

अर्थात्—जन्मरूपी वन मे आत्मा सयोग के कारण अनन्त प्रकार के दु ख भोगता है। इसलिए अपनी परमशान्ति प्राप्त करने के अभिलाषी आत्मा को मन-वचन-काया तीनो से सयोग का त्याग करना चाहिए।

अत पूर्णशान्ति के लिए, आत्मा के साथ इस दृश्यमान जगत् का सयोग छोडना अनिवार्य है। उसे छोडे बिना वास्तविक एव स्थायी शान्ति की सम्भावना नही है। अत पूर्ण शान्ति के उत्सुक मुमुक्षु के लिए अपना चेतनात्मक आत्मभाव ही आधार है। आत्मा का परिवार चेतना, ज्ञान, दर्शन, आदि आत्म-गुणो को ही समझो, अन्य कोई परिवार आत्मा का नही है। आचारांग सूत्र, मे बताया है—'अप्पा तुममेव तुम मित्त किं बहिया मित्तमिच्छसि ? अर्थात् हे आत्मन् ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर के मित्र की अपेक्षा क्यो रखता है ? वास्तव मे बाहर का परिवार तो आकस्मिक सयोगजन्य है, इस जन्म या इस शरीर को ले कर है। उसे तो एक दिन छोड कर चलना होगा, अत: आत्मा या आत्मगुण ही एकमात्र आत्मा का परिवार है। [1]आत्मा ही आत्मा का नाथ है, आत्मा ही आत्मा का मित्र और शत्रु है, आत्मा का आत्मा से ही उद्धार करे किन्तु उसका पतन न करे। इसी आत्मैकत्वभावना को ले कर चलने से पूर्ण शान्ति का साक्षात्कार साधक के जीवन मे हो सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—'शरीरादि के साथ सम्बन्ध को त्याज्य समझ कर छोडने वाले साधक को शाश्वत शान्ति का स्थान—मोक्षपद प्राप्त होता है। '

इस प्रकार शान्ति के उत्तरोत्तर क्रमश उत्कृष्ट उपाय एव सोपान बताकर अब उपसंहार करते हैं—

प्रभुमुखथी एम साभली, कहे आतमराम रे।
ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुज सिध्यां सवि काम रे ।।शान्ति।।१२।।

अर्थ

वीतराग प्रभु 'शान्तिनाथ' के मुख से नि.सृत वाणी सुन कर मेरा आत्माराम (आत्मारूपी बगीचे मे विहरण करने वाला) कहता है कि आपके शान्तिरूप प्रभु) के दर्शन—स्वरूप पा कर मेरा ससार-सागर से निस्तार हो चुका है और मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं।

---

१ अत्ता हि अत्तनो नाथो · धम्मपद ।
अप्पामित्तममित्त च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ ।
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥ —भगवद्गीता

२ "त देहवास असुइ असासय सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधण, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गई ॥

भाष्य

परमात्मा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश

श्री आनन्दघनजी ने शान्ति प्राप्त करने के विविध उपाय जो श्रीशान्तिनाथ, प्रभु के द्वारा प्राप्त हुए, उनका उल्लेख अब तक की गाथाओ मे किया। किन्तु अव वे आत्माराम की ओर से उल्लासपूर्वक कृतज्ञतप्रकाशन करते हैं—'ताहरे दरिसणे' ....'

वास्तव मे पिछली कुल ६ गाथाओ मे अतिसक्षेप मे श्रीआनन्दघनजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से शान्तिस्वरूप और शान्ति के उपायो पर प्रकाश डाल कर कमाल कर दिखाया! आध्यात्मिक शान्ति के विषय मे शास्त्रो मे वहुत ही विस्तार से कहा गया है, जैसा कि वे स्वय उल्लेख करते हैं, परन्तु उन बातो का सार ले कर वहुत ही सक्षेप मे कहना रचनाकार की अत्यन्त कुशलता का परिचायक है। यह तो श्रोता पर निर्भर है कि वह सक्षेप मे कथित वात को विश्लेपणपूर्वक व्यौरेवार समझे।

जिज्ञासु साधक का यह कर्तव्य है जब उसकी उलझनें सुलझ जाय, मन मे उठते हुए विविध प्रश्नो का समाधान प्राप्त हो जाय, अन्तर मे ज्ञान का प्रकाश जगमगा उठे, बुद्धि को तृप्ति और सतुष्टि हो जाय तो आह्लादपूर्वक वक्ता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी शान्ति-साधक आत्माओ की ओर से कृतज्ञता, विनम्रता एव भक्ति प्रदर्शित करते हैं।

शान्तिप्रभु के सिद्धान्त से अविरुद्ध वाणी

प्रश्न हो सकता है कि यहाँ तो श्री शान्तिनाथ प्रभु ने कोई वात अपने मुख से कही नही, फिर यह कैसे कहा गया कि 'प्रभुमुख थी एम सामली' इसका समाधान यह है कि जैनशास्त्रो की रचना के विषय मे एक सिद्धान्त है—कि [1]अर्थ (मूलवचन) के रूप मे पहले अर्हन्त भगवान् तीर्थंकर देशना या उपदेश देते हैं। फिर गणधर उसे सूत्र का रूप देते हैं, उस भगवदुक्त वाणी का व्यवस्थित सकलन करते हैं। इस दृष्टि से हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि यहाँ शान्ति के विषय मे जो कुछ भी वाते कही गई हैं, वे तीर्थंकर के वचनो से कही भी विरुद्ध नही है। हाँ, यह वात जरूर है कि 'तीर्थंकर भगवान्

---

१ 'अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गु त्थइ गणहरा'

की वाणी विविधसूत्रो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। परन्तु परमात्मवाणी सिद्धान्त मे अविरुद्ध है, और उन्ही के मुख से निःसृत वचन है। यही कारण है कि इन्हें सुन कर आत्माराम अत्यन्त भावुकतावश हो कर शान्तिनाथ प्रभु के प्रति आभार प्रकट करता है। क्योंकि इनसे वह अलभ्य लाभ मिला है, जो सैंकडो जन्मो मे भी नही मिल सकता।

शान्तिनाथ प्रभु की शान्ति के दर्शन से निस्तार

पहला आभारवचन आत्मा मे रमण करने वाला आत्मार्थी एवं शान्त्यर्थी यह प्रगट करता है कि शान्तिनाथ प्रभो! आप के नाम में ही कोई जादू है, जिससे मेरी आत्मा (भावान्तःकरण) मे शान्ति के विविध उपाय स्फुरित हुए। मेरी बुद्धि आपको शान्तिस्वरूप का सम्यग्दर्शन पा कर तृप्त हो उठी। मेरी आत्मा वर्षो से शान्ति के सम्बन्ध में मिथ्यादर्शन से ग्रस्त थी, सांसारिक पदार्थो या विविध कामनाओ की पूर्ति मे ही शान्ति की इतिश्री मानती आ रही थी, परन्तु वह कल्पित शान्ति मिथ्या, क्षणिक और आभासमात्र निकली। उससे अशान्ति ही बढी। किन्तु अब आपने जो आध्यात्मिक शान्ति के सूत्र दिये हैं, उनमें मुझे कही धोखा होने वाला नही। ये शान्ति के ठोस एवं स्थायी उपाय हैं। अतः शान्तिनाथप्ररूपित शान्तिदर्शन पा कर मैं वास्तव मे संसारसागर से तर गया समझो। जब किसी कठिन कार्य का सही उपाय मिल जाता है, तो आधा कार्य तो वहीं हो जाता है, फिर तो बस सक्रिय होने की देर होती है कि चट से काम बन जाता है। यही बात यहाँ आध्यात्मिक शान्ति के विषय मे है। शान्ति के जो नुस्खे बताये हैं, उनसे अब चटपट कार्य हो सकता है, सिर्फ शान्ति के उपाय के लिए जुटने की देर है। शान्तिदर्शन हो जाना भी बहुत दुष्कर कार्य था, वह अत्यन्त आसान हो गया, इसलिए एक बहुत ही पेचीदा प्रश्न हल हो गया।

शान्ति दर्शन से कार्यसिद्धि

दूसरा अमूल्य लाभ शान्तिनाथ प्रभु के चरण मे यह हुआ कि अशान्ति के कारण पहले सारे किये कराये काम बिगड जाते थे। कार्य बनने मे देर लगती है, बिगडने मे नही। जितने भी सांसारिक या तथाकथित शान्तिवादी मिलते थे या मिले, वे सब ऊपर-ऊपर से शान्ति का रास्ता बता देते थे, जो आगे चल कर बद हो जाता। क्योंकि उस तथाकथित मार्ग मे अनेक कठिनाइयां, विघ्न अडचनें और सांसारिक स्वार्थ आ कर अड जाते और वे शान्ति को चौपट कर,

देते, लेकिन प्रभु द्वारा उक्त शान्ति का मार्ग ठोस, निर्विघ्न, स्थायी और अद्वितीय है। इसलिए अब मुझे इतनी तसल्ली हो चुकी कि जो काम कई वर्षों मे क्या, कई जन्मो मे नही हो पाए, वे आपसे शान्तिमार्ग सुन कर सिद्ध हो गए। एक अटपटा प्रश्न हल हो जाने से कई कार्य हो जाते हैं, इसी प्रकार एक बडी उलझन मिट जाने से मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए। मैं कृतकृत्य हो गया। मैं निहाल हो गया।' यह सब भक्ति की भाषा मे निकाले हुए हर्षोद्गार हैं। इसी कारण 'ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुझ सिध्या सवि काम रे' इन दोनो वाक्यो मे भविष्यकालीन प्रयोग के बदले भूतकालीन प्रयोग हुए हैं। मैं ससार-सागर से पार हो जाऊँगा और मेरे सब काम सिद्ध होगे' ये ही उन दोनो के उपचार से अर्थ हैं।

पहले आत्मभाव को ही एकमात्र आधार मान कर महाशान्ति का एक मात्र कारण उसी को ही मानना, उसी में रमण करना और उसी के गुणो को प्रगट करना बताया है, जब साधक ने इस बात को हृदयगम कर लिया और निश्चयदृष्टि से एकमात्र शुद्ध आत्मा ही आराध्य रहा, यह याद आते ही अत्यन्त प्रसन्नता से वह झूम उठा और अगली गाथा मे उसकी वाणी फूट पडी—

अहो अहो हु मुज ने कहूँ, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेंट थई तुजरे ॥

शान्ति ॥१३॥

अर्थ

ओहो! मेरे अन्तर्हृदय मे शान्ति का अपूर्वमत्र—'आत्माराधन' जम गया, अत अब मैं अपनी अन्तरआत्मा से कहता हूँ, मुझ आत्मा को नमस्कार है, मुझे नमस्कार है, जिसे आप सरीखे असीम फल (शाश्वत शान्तिरूप फल) के दाता से भेंट हुई।

भाष्य

आत्मा को आत्मा के द्वारा नमन

जब मनुष्य को किसी अलभ्य या दुर्लभ वस्तु के लिए जगह-जगह भटकना पडता है या जगह-जगह खुशामदी या जैसे तैसे व्यक्ति को वन्दन-नमन करना पडता है, तो उसकी आत्मा का स्वत्व, तेज या स्वबल मर जाता है, किन्तु अब जबकि आपके शान्तिदर्शन को पा कर मैं धन्य हो उठा। मेरे जन्म-जन्म के

बंधन कट गए। और मुझे आश्चर्य हुआ कि मुझे विश्व का सर्वोत्तम बहुमूल्य आत्मशान्तिरूपी धन आत्मा मे ही असीम-फलदाता आप सरीखे समर्थ दानी प्रभु से मिल गया, तब मैं अपने आपको ही नमन करता हूँ, जिसकी आप जैसे परम शक्तिमान पुरुष से भेंट हुई। वास्तव मे देखा जाय तो निमित्त अच्छे से अच्छा, ऊँचे मे ऊँचा मिल जाने पर भी उपादान (स्वय की आत्मा) यदि शुद्ध या या अनुकूल न हो तो कोई भी कार्य नही हो सकता। शान्तिस्वरूप के प्रस्पक शान्तिनाथ तीर्थंकर से होते हुए भी जिज्ञासु, विनीत, कृतज्ञ और स्वरूपग्राहक आत्मा न हो तो यथेष्ट फल नही मिलता। इसी दृष्टि मे यहाँ अपनी आत्मा को प्रफुल्लित हो कर साधुवाद दिया है कि इसने शान्तिस्वरूप की चाबी पा ली। इसलिए वह स्वय को ही नमन करता है, भाग्यशाली एव कृतकृत्य मानता है। अपरिमित फल वास्तव मे मोक्षरूप फल है, ससार से मुक्ति है, जिसे पा कर कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। वास्तव मे परमात्मा कोई मोक्षरूप फल उठा कर हाथ मे नही देते। वे तो मार्ग बता देते हैं, उपादान को शुद्ध और ग्रहण-शील रखना अपनी आत्मा का काम है, यह बड़ा कठिनतम काम है। इसी प्रकार साधक आत्मा को ही नमन करता है।[1] परमात्मा के साथ आत्मा का इस प्रकार का द्वैत व्यवहारनय मे होता है। निश्चयनय की दृष्टि से स्वय आत्मा स्वय को समझने वाले अन्तरात्मा को ही नमस्करणीय समझ कर बार-बार नमन करता है। वास्तव मे तत्वज्ञ की दृष्टि मे आत्मा–परमात्मा दोनो अभिन्न होने से दोनो ही नमस्करणीय है। जब आत्मा मे बहिरात्मभाव मिट कर अन्तरात्मभाव प्रगट होता है, तब स्व-आत्मा पर ही निम्नोक्तरूप से षट्कारक घटित हो सकते हैं—

१ कर्त्ता — मेरे आत्मगुणो का कर्त्ता मैं ही हूँ।

२ कर्म — मेरे स्वाभाविक गुण-कर्म की क्रिया—(कर्म) का कर्ता मैं ही हूँ। और वैभाविक कर्म का विच्छेद करने की क्रिया (कर्म) का कर्त्ता भी मैं हूँ।

३ करण — मेरे स्वाभाविक ज्ञानदर्शन-चारित्र द्वारा मेरे से ही आत्मस्वरूप प्रगट होता है।

---

[1] अहमेव मयाऽऽराध्य —यह भी कहा है।

४ सम्प्रदान - मेरे लिए मेरा आत्मा ही नमस्करणीय है, मैं अपने को ही नमस्कार करता हूँ।

५ अपादान—मेरे विभाव से मेरे स्वभाव मे आने वाला मैं ही हूँ।

६ अधिकरण – मेरी आत्मा के अत्यन्त गुणो का स्थान (आधार) मेरा आत्मा ही है।

इस गाथा मे 'तुज' और 'मुज' आत्मा हैं, वे दोनो अन्तरात्मा को अन्तरात्मा के सम्बोधन के सूचक हैं।

अब उपसहार करते हुए श्रीआनन्दघनजी अपनी बात कहते हैं—

शान्तिस्वरूप संक्षेपथी, कह्यो निज-पर-रूप रे।
आगममांहे विस्तार घणो, कह्यो शान्तिजिन-भूप रे॥
शान्ति०॥१४॥

अर्थ

इस स्तुति मे आध्यात्मिक शान्ति का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप मे बताया है। निज (प्रवचनकर्त्ता) और पर (श्रोता) दोनों ही भव्यप्राणियो के स्वभाव (रूप) को ले कर अथवा पररूप दोनो की अपेक्षा से शान्तिनिजराज और तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट आगमो मे इसका शान्तिस्वरूप बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

भाष्य

शान्तिस्वरूप वर्णन . स्वपररूप से

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी स्वय अपनी ओर से कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान द्वारा स्व और पर दोनो अपेक्षा से प्ररूपित शान्ति का स्वरूप मैंने अंकित किया है। अथवा निज=आत्मा का रूप, पर=परमात्मा के रूप मे अथवा आत्म—रूप की प्राप्ति के लिए तथा पर=परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए शान्ति का स्वरूप कहा है। यद्यपि आगमो मे बहुत ही विस्तृतरूप से शान्तिजिन-राज एव अन्य तीर्थंकरो द्वारा आत्म-वर्णन है। इसमे दो बाते विशेषरूप से फलित होती हैं—एक तो यह है कि वाचनाभेद होते हुए भी तीर्थंकरो के आगम (सिद्धान्त-ज्ञान) समान होते हैं, क्योकि प्रत्येक की सर्वज्ञता एकसरीखी होने से सर्वज्ञो का ज्ञान एक सरीखा होता है। जगत् मे मोक्षमार्ग अनादिसिद्ध होने से प्रत्येक तीर्थंकर इसी का उपदेश देते हैं।

इसलिए विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ अलग-अलग होते हुए भी उन्हें सर्व तीर्थंकरों के कहने में कोई आपत्ति नहीं। इनके अनुसार वर्तमान आगम को श्री शान्तिनाथ प्रभु के द्वारा उपदिष्ट कहने में कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि शान्ति स्वरूप का वर्णन आगमों में बहुत ही विस्तृतता में किया है, यहाँ तो संक्षिप्त वर्णन है। जिन्हें अत्यन्त विस्तार से पढ़ना हो, इस विषय में पूर्णरूप से अवगाहन करना हो, उन्हें मूल आगम-ग्रन्थ पढ़ने चाहिए। और वहाँ से शान्ति का विवरण प्राप्त करके उसे समझना, फिर तदनुसार आचरण करना आवश्यक है।

इस स्तुति में संक्षेप में शान्तिस्वरूप बताने का उद्देश्य यह है कि संक्षेप में कथन से मनुष्य को उसमें रुचि रहती है और विस्तार से पढने की रुचि भी जागती है, जिससे ज्ञानवृद्धि हो सकती है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के अन्त में अपनी नम्रता प्रगट करते हुए कहते हैं कि—'कह्यो श्रीशान्तिजिनभूप रे' अर्थात्—मैं इस शान्ति का स्वरूप अल्पज्ञ होने के कारण पूर्णतया कहने में समर्थ नहीं हूँ, यह जो शान्ति-स्वरूप का वर्णन किया है, उसे आगमों में शान्तिजिनेश्वर ने कहा है।

शान्तिनाथ भगवान् ने अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया, जिनागम में उनका अनेक प्रकार से वर्णन है। जैसा उनका शान्तस्वरूप है, वैसा ही प्रत्येक (शुद्ध) आत्मा का है। श्रीशान्तिनाथप्रभु ने ममताभाव का त्याग करके समताभाव को ग्रहण किया और तपसंयम की निरवद्य करणी या स्वरूप-रमण के सातत्य से शान्तस्वरूप प्राप्त किया, उसी मार्ग का आगमों में विस्तृत वर्णन है। इस स्तुति में तो उसका बहुत ही संक्षिप्त कथन है।

शान्तिस्वरूप भलीभाँति जान कर उस पर चिन्तन करके आचरण करना चाहिए, अन्यथा अनुभवहीन शुष्क ज्ञान से मति-भ्रम पैदा होगा, विसंगति एवं उलझन होगी। इस दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

शान्तिस्वरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघनपद' पामशे ते लहेशे बहुमान रे॥
शान्ति० ॥१५॥

अर्थ

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से शुद्ध प्रणिधानपूर्वक जो शान्ति के स्वरूप पर विचार

करेगा; यानी उसके पालन से भावित करेगा, सस्कारो मे सुदृढरूप से जमा लेगा, वह आनन्दघन (परमात्मा) का पद प्राप्त करेगा और जगत् मे बहुत ही बहुमान प्राप्त करेगा ।

भाष्य

शान्ति पर मनन, प्रणिधान और आचरण का सुफल : परमात्मपद

इस गाथा मे शान्तिस्वरूप के पूर्वगाथाओ मे बताए हुए उपायो और सिद्धान्तो पर मनन, चिन्तन और शुद्ध प्रणिधान के लिए जोर पर दिया गया है। चूंकि बहुत-से लोग किसी महत्वपूर्ण बात या सिद्धान्त को पहले तो सुनते ही नही, सुनते भी हैं तो सूने मन से सुनते हैं, जिससे उस सुने हुए पर वे कोई चिन्तन मनन नही कर सकते। जब चिन्तन-मनन नही होता है तो उस बात मे कई प्रकार की भ्रान्तियाँ और गलतफहमियाँ होती है। यह भली-भाँति श्रवण-मनन न करने का ही परिणाम है कि इतने-इतने सम्प्रदाय खडे हो गए। फिर उनकी अपनी-अपनी मान्यताओ की खीचातान, शब्दो की अपने-अपने दृष्टिकोण से अर्थघटना, कदाग्रह और अन्त मे सघर्ष । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप के श्रवण या पठन के बाद उस पर भावन — चिन्तन-मनन, चर्चाविचारणा, और अन्त मे उसके अर्थ को हृदयगम करने पर जोर दे रहे हैं। क्योकि धर्माचरण की कोई भी बात तभी गले उतरती है, या सस्कारो मे बद्धमूल हो सकती है, जब उस पर मन-वचन-काया की एकाग्रता (प्रणिधान) पूर्वक चिन्तन-मनन-निदिध्यासन किया जाय। तभी उसका यथेष्ट फल आ सकता है । यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप (पूर्वोक्त प्रकार से) पर मनन-चिन्तन करके सस्कारो मे भावित करने का कहते हैं; वह भी शुद्धप्रणिधानपूर्वक । शुद्धप्रणिधान के तीन अर्थ होते हैं— १—शुद्ध आलम्बन मे मन-वचन-काया की एकाग्रता, २—मोक्ष, मोक्ष-साधक, मोक्ष के साधन उपादेय हैं, इनके सिवाय सर्व हेय हैं, ऐसा निश्चय, ३-स्वय आध्यात्मिक विकास की जिस भूमिका पर चल रहा हो, उस भूमिका मे रह कर उसके योग्य कर्तव्यो का एकाग्रतापूर्वक पालन करना। शान्ति के परम दर्शन की बात कोई उपन्यास या कहानी नही है कि झटपट पढी और फैंक दी, इसे तो एकाग्रतापूर्वक पढ-गुन कर चिन्तन-मननपूर्वक जीवन मे

पचाने और उतारने से ही लाभ होगा। वह लाभ कोई सांसारिक लाभ नहीं, अपितु आनन्दघनरूप परमात्मपद की प्राप्ति और जगद्वन्दनीयता-पूजनीयता, तीर्थंकर के समान उत्कृष्ट सम्माननीय पद से सम्मानित होने की सम्भावना भी है।

सारांश

इस स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने वीतराग श्रीशान्तिनाथ प्रभु से शान्ति-स्वरूप के ज्ञान, एवं उसकी पहिचान के बारे में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करके प्रभु के श्रीमुख से (निःसृत आगमों द्वारा) संक्षेप में शान्ति का समग्र दर्शन ९ गाथाओं में प्राप्त किया है। बल्कि यों कहना चाहिये कि उनकी अन्तरात्मा में शान्ति का समग्र स्वरूपदर्शन अन्तःस्फुरित हुआ है। अन्त में, कृतज्ञता-प्रकाशन के बाद उन्होंने परमात्मा के साथ अद्वैत स्थापित करके परम-शान्ति के अधिष्ठान स्वात्मा को नमस्कार किया है और अन्तिम गाथा में उसका फल बताया है—शान्तिस्वरूप-दर्शन पर चिन्तन, मनन, शुद्धप्रणिधान करके जो उसे संस्कारबद्ध कर लेगा, उसे परमात्मपद-प्राप्ति तथा बहुपूज्यता प्राप्ति होगी।

१७ : श्रीकुंथुजिनस्तुति—

मनोविजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना

(तर्ज-अंबर देहु मुरारि! हमारो ···राग-गुर्जरी व रामकली)

कुंथुजिन ! मनडुं किम ही न बाझे हो, कुंथुजिन, मनडुं०
जिम–जिम जतन करीने राखुं, तिम-तिम अलगुं भाजे हो॥कुंथु०॥१॥

अर्थ

हे कुंथुनाथ (१७ वें तीर्थंकर) परमात्मन् ! मेरा मन किसी भी उपाय से वश (काबू) मे नहीं आता, एकाग्र हो कर एक विषय मे नहीं लगता। इसे ज्यो-ज्यो प्रयत्न करके इसे वश मे रखने जाता हूँ, त्यो-त्यों यह दूर-अतिदूर भागता है ।

भाष्य

प्रभु के समक्ष मनोवशीकरण का निवेदन

पूर्वस्तुति मे शान्ति के स्वरूप और उपायो का सागोपाग विश्लेपण किया गया था, परन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिक शान्ति के पथ पर पैर रखते ही, तथा शान्ति के लिए समता, स्वरूपरमणता एव आत्मा-परमात्मा की अद्वैत-साधना करने के लिए प्रवृत्त होने ही मन सामने आ कर विघ्नरूप मे खडा हो है। मन किसी भी तरह शान्ति के पूर्वोक्त उपायो को अजमाने नही देता। शान्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक आत्मवल को मन निर्बल कर देता है, जिसके कारण साधक कषाय, मोह एव प्रमाद के वश हो जाता है। साधना के उच्च शिखर पर उसका पहुँचना बहुत ही कठिन हो जाता है।

साधक जव-जव आत्मस्वरूपलक्ष्यी साधना करने लगता है, तव-तब मन उसमे विघ्न डाल देता है। वह इन्द्रियो को साधक बनने के बजाय बाधक वनने को यानी उलटी दिशा मे प्रेरित कर देता है। इसी कारण साधक कई वार स्वय भी भ्रम मे पड जाता है या दूसरो को भ्रम मे डाल देता है कि वह आत्मा-परमात्मा की इतनी बाते करता है, शास्त्रो का अहर्निश स्वाध्याय

करता है, विविध क्रियाएँ करता है, ज्ञान बघारता है और यह समझ लेता है कि मैं महान् पुरुष हो गया, जनता भी उसे महापुरुष समझने लगती है। किन्तु बाहर से महापुरुष दिखाई देता हुआ भी मन से वह बहुत ही निकृष्ट दशा में होता है। उसका मन इतने निम्नस्तर का हो जाता है कि कोई कल्पना भी नही कर सकता कि वह इतना कषायाविष्ट या इन्द्रिय-विषयासक्त कैसे हो गया ?

वस्तुत बात यह है कि पहले गुणस्थानक में रहा हुआ चरमावर्ती यानी सम्यक्त्व प्राप्त करने की भूमिका तक पहुँचा हुआ जीव, अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है और इससे प्रथम समय मे उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसके बाद सातवें गुणस्थान के अन्त करने पर चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम करने की शुरूआत होती है। इस प्रकार उपशम करते-करते वह दशवे गुणस्थान के सिरे तक आ कर तमाम मोहनीय कर्मों के उपशान्त हो जाते ही उपशान्तमोह नामक ११ वें गुणस्थान को प्राप्त करता है। जो प्रबल (मनोबल) आत्मा होती है वह तो ९वें गुणस्थान से सीधी क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करती है, जो सीधे केवलज्ञान प्राप्त करके (क्षीणमोह नामक १२ वें गुणस्थान पर पहुँच कर) सीधी मोक्ष पहुँच जाती है, परन्तु निर्बल (मनोबल मे मन्द) आत्मा उपशमश्रेणी का प्रारम्भ करती है तो वह ११ वे गुणस्थान तक पहुँच कर अवश्य ही नीचे गिर जाती है। क्योंकि ११ वें गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का उपशम होता है, क्षय नही। उपशम अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही टिकता। कारण यह है कि नीचे दबा हुआ मल (मोहनीय कर्मजनित कषायादि) ऊपर आए बिना रहता नहीं। उसके ऊपर (उदय मे) आते ही आत्मा आध्यात्मिक भूमिका पर से क्रमश नीचे (छठे, पाँचवें, चौथे गुणस्थान पर अथवा चौथे से दूसरे हो कर पहले तक आ जाती है, अथवा दशवे, नौवें यों क्रमश नीचे) उतर जाती है। इस प्रकार उच्चभूमिका से नीची भूमिका तक पतन होने मे मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मों का उदय है। इसमे व्यवहारदृष्टि से जीव जब तक ससारी है, तब तक अशुद्ध आत्मा (योग आत्मा और कषायात्मा) मानी जाती है, योग और कषाय की क्रिया से मोहनीय कर्मबन्धन होता है। खासतौर से मोहनीयकर्म का उदय अपना प्रभाव मन द्वारा ही (व्यवहारदृष्टि से) बताता है। इसलिए मन

को सर्वप्रथम साध लिया जाय तो ये सभी सध सकते है, इसी दृष्टि से कुंथुनाथ परमात्मा (जो मनोविजेता हो गए थे, इसलिए रागद्वेष, कषाय या तज्जनित बन्ध का नामोनिशान नही था) के समक्ष श्रीआनन्दघनजी प्रार्थना करते है—"प्रभो ! यह मन इतना चचल है कि यह किसी भी तरह से पकड मे नही आता। मेरी तमाम की-कराई वर्षों की साधना को क्षणभर मे मटियामेट कर देता है। मन मे शान्ति हो, तभी आत्मा मे शान्ति हो सकती है।[1] मन पर विजय हो, तभी इन्द्रियो पर विजय हो सकती है, इन्द्रियाँ जीत लेने पर कर्मो का क्षय हो सकता है और कर्म नष्ट होते ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, आत्मा परमात्मा बन कर सिद्ध परमात्मा के साथ एकरूप हो सकती है, परमशान्ति के धाम मे आत्मा पहुँच सकती है। इसलिए मन का वशीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह वश में ही नही होता, किसी भी तरह।" सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा के पतन का मुख्य कारण मोहनीय कर्मों का उदय होता है। परन्तु कर्मबन्धन का कारण कषाय है। उस कषाय की चाबी मन के हाथ मे है। [2]'कषायो या विषयो के साथ मन का योग होने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलो का ग्रहण करता है, तभी कर्म-बन्ध होता है।' इसीलिए कहा है कि मन चाहे तो कषायो से आत्मा को बाँध भी सकता है और मन चाहे तो कषायो से मुक्त भी करा (छुडा) सकता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर से बडे भद्र, शान्त, उत्तम और ध्यानक्रिया मे लीन उच्च साधक दिखाई देते थे, किन्तु उनके मन मे जो भयकर युद्ध का दौर चल रहा था, जिसके कारण विकट मोहनीयकर्मों के बन्धन का चलचित्र तेजी से घूम रहा था, और जिस समय सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने भ० महावीर से उस उत्तम मुनिवर की आयु के बारे में प्रश्न किया और उसका उत्तर जब उन्हे सातवी नरक में गमन का मिला तो वह आश्चर्य मे डूब

---

१ कहा भी है—

'मणमरणेंदिय मरण, इदियमरणे मरति कम्माइ ।
कम्ममरणेण मोक्खो, तम्हा य मण वशीकरण ॥'

२. 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्ध.'

गया। लेकिन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मनोभावों की धारा एकदम बदली और कुछ ही क्षणों में उसे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में पहुँचने योग्य बना दिया। और एक ही झटके में उनके मन ने तमाम घातीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पा लिया। यह सारे ही बन्ध और मोक्ष का खेल मन-मदारी के हाथ में था। इसलिए मन ही कर्मों के नाटक का सूत्रधार बनता है।[1]

मन, वचन और काया का योग कषायजन्य पुत्र है, योगों और कषायों (पिता-पुत्र) की क्रिया से कर्मबन्धन होता है और कषाय से योग व योग से कषाय, इस प्रकार कर्मजनित संसारचक्र चलता रहता है। इसी कारण जीव को जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, आधि-व्याधि आदि कष्ट सहने पड़ते हैं।

मन, वचन और काया इन तीनों योगों को मुमुक्षु शिष्य जब गुरुचरणों में समर्पित कर देता है, तभी उसे विशेष लाभ होता है। लेकिन मुमुक्षु शिष्य जब देखता है कि उसका काययोग तो उसके कहे अनुसार (जबरन भी) गुरु-सेवा में लग जाता है, वचनयोग को भी वह जबरन गुरुस्तुति में लगा सकता है, लेकिन मन इतना भोला और निर्बल नहीं है। वह मुमुक्षु की आत्मा (चेतन) की आज्ञा का पालन नहीं करता। बड़ा चचल है, नटखट है, इधर से उधर कूदफाद करता रहता है। वह साधक को बारबार हैरान कर बैठता है। वह शरीर और वचन की तरह गुरु या भगवान् के चरणों में झटपट नहीं लग जाता। और जब तक मन परमात्मा में लीन या स्वरूपसाधना में एकाग्र नहीं हो जाता, तब तक किसी भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए कर्मयोगी श्रीकृष्ण के समक्ष एकदिन अर्जुन जैसे साधक को भी कहना पड़ा—'हे कृष्ण मन अत्यन्त चचल है, जबदस्त है, बलवान है और सुदृढ है। उसका निग्रह तो मैं वायु की तरह अतिदुष्कर मानता हूँ।[2]

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे मुमुक्षु साधक को कहना पड़ा—'मनडु किम ही न बाझे हो, कुथुजिन "प्रभो! इस मनको मैंने देव-गुरु-धर्म तीनों में

---

१ 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः.'

२. चचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥—भगवद्गीता

लगाना चाहा, आपके तथा निजात्मा के स्वरूप मे भी लगाना चाहा, लेकिन किसी भी तरह न लगा। मैने इसे स्वाध्याय, शास्त्रचिण्तन, जप, ध्यान आदि साधना मे लगाना चाहा, पर यह इनमे किसी तरह भी एकाग्र न हो सका। इसी प्रकार मैंने धर्माचरण, विविध स्तुतियो, विविध धर्मक्रियाओ वगैरह मे लगाने का प्रयत्न किया, लेकिन वहाँ से भी वह उखड गया, मौन रह कर या कायागुप्ति से शरीर को कायोत्सर्ग से निश्चेष्ट बना कर भी देख लिया, मगर वहाँ से भी मन भाग छूटा। मेरे सामने एक ओर गुरु का आदेश था, पर दूसरी ओर मन किसी भी तरह काबू मे आने से इन्कार कर रहा था। इसीलिए मुमुक्षु साधक घबरा कर कुथुनाथ के समक्ष उपर्युक्त आत्मनिवेदन करता है। दयालु प्रभो! मैंने चाहे जितने प्रयत्न कर लिये, परन्तु मन एक जगह किसी भी पदार्थ मे एकाग्र होता ही नही। यह एक नटखट बालक की तरह किसी एक वस्तु मे अपने को सलग्न नही कर सकता। इधर-उधर दौडधूप किया ही करता है। ऐसे तूफानी शैतान मन को कैसे वश मे करूँ? आप मेरे स्वामी है, परमात्मा है, मुझे आप में अपने मन को एकाग्र करना चाहिए, आपका ध्यान करना चाहिए, उसमें स्थिर होना चाहिए, आपकी सेवाभक्ति करनी चाहिए, परन्तु मेरा यह मन आप मे या कही भी एकाग्र नही होता। मैं ज्यो-ज्यो उसे एक जगह बाँध कर रखने का प्रयत्न करता हूँ, त्यो-त्यो उल्टा वह दूर भागता जाता है, यह मेरे हुक्म मे जरा भी नही चलता, मेरी सभी प्रयासो को निष्फल बना देता है। जब भी मैं इसे एकाग्र करने का प्रयास करता हूँ, तब भी यह शैतानी करके दूर चला जाता है। मैं जानता हूँ कि आप मेरे तारक है, उद्धारक है, इसलिए आपके सामने यह प्रार्थना कर रहा हूँ,—मन की शिकायत के रूप मे।

यहाँ मन को वश मे करने के माध्यम से मोह, कषाय विषय, रागद्वेष आदि को वश करने की बात लक्षणा से गतार्थ हो जाती है। साधारण जनता इन सबको मन का ही पारिवारिक विकार समझती है, इसलिए मन शब्द का प्रयोग किया गया है। साथ ही मन कुथुआ जैसा बहुत ही बारीक हैं। जैन-दर्शन मे इसे शरीरव्यापी परमाणुओ के जत्थे के रूप मे माना गया हैं, जबकि विश्व के नैयायिक आदि अन्य दर्शन या मत मानते हैं कि अणु-परमाणु जितना सूक्ष्म मन अपने विषयो की ओर सर्वव्यापक आत्मा मे दौडधूप करता रहता है। अणु जितने मन की उपमा कुन्थु नामक सूक्ष्म जन्तु के साथ की गई है।

कुन्थु शब्द मे श्लेपालकार का योजन करके कवि ने कुंथु के समान मन के पति (स्वामी) कुंथुनाथ (१७ वें तीर्थंकर) के समक्ष मन को वश करने में सहायक होने की पुकार की है।

श्री आनन्दघनजी को मन ने किन-किन प्रकार से परेशान कर डाला, यह वे अगली गाथाओ मे वीतराग प्रभु के समक्ष निवेदन करते है —

रजनी, वासर, वसति, उजड़, गयण, पायाले जाय।
सांप खाये ने मुखडु थोथु, एह उखाणो न्याय हो, कुंथु०॥२॥

अर्थ

रात हो, चाहे दिन हो, मनुष्यो की बस्ती मे हो, निर्जन वीरान प्रदेश मे हो, आकाश मे हो या पाताल में, यह सर्वत्र चला जाता है। जैसे सांप जिस किसी भी भक्ष्य को खाता है, उसे उसमे किसी प्रकार का स्वाद नहीं आता। उसका मुंह फीका का फीका (थोथा) ही रहता है, वैसे ही मन सब जगह भटकता है फिर भी उसके हाथ मे कुछ नहीं आता। अथवा सांप जब किसी को खाता है तो उसका मुंह तो थोथा का थोथा ही रहता है, उसके मुंह पर खून का एक भी दाग नहीं लगता, मन भी 'सांप खाए और मुंह थोथा' की कहावत की तरह अतृप्त है, वह भोगो से तृप्त नहीं होता।

भाष्य

मन की दौड़धूप

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी मन की सर्वत्र अबाधगति का अनुभव बताते हुए प्रभु से निवेदन करते हैं कि प्रभो! आप सोचते होगे—मन दिन-दिन मे ही विचरण करता होगा, रात को तो विश्राम ले लेता होगा, यह ऐसा पाजी है कि रात और दिन का विचार किये बिना भटकता रहता है। इसके लिए तो अंधेरी रात और उजला दिन एक सरीखे हैं। कुछ लोग दिनभर के काम से थक कर रात को विश्राम ले लेते हैं, पर मन रात को भी विश्राम नही लेता। यह तो किसी समय शान्त व स्थिर होकर बैठता ही नही। यह तो मुझे यहीं छोड कर किसी भी बस्ती या उजडे निर्जन प्रदेश मे भी घूम आता है। क्षण-भर में अमेरिका मे और दूसरे ही क्षण सहारा के रेगिस्तान में घूम आता है।

एक पल में यह आकाश मे (स्वर्ग मे) चला जाता है, दूसरे ही पल पाताल (अधोलोक=नरक) मे दौड जाता है। अथवा लक्षणा से यह अर्थ भी हो सकता है कि क्षणभर में यह उच्चविचार पर आरूढ हो जाता है और दूसरे ही क्षण यह नीच से नीच विचार करने पर उतारू हो जाता है। मैंने मन की गति का अनुभव कर लिया कि यह रात मे, दिन, में, वस्ती मे जगल में स्वर्ग में या पाताल मे, पर्वतशिखरो पर या जल-स्थल-नभ मे सर्वत्र बेखटके भटकता रहता है। इसके लिए कही रोकटोक या किसी भी देश, काल, क्षेत्र या पात्र का प्रतिवन्ध नही है। यह सर्वत्र अप्रतिवद्धविहारी है। यह अपनी कल्पना के वल से नाना प्रकार की भोगोपभोग-सामग्री में ललचाता रहता है। इसे किसी भी जगह तृप्ति हुई हो, ऐसा मैंने देखा-जाना नही। दुनिया में एक कहावत प्रचलित है कि किसी मनुष्य को सॉप ने काट खाया। तव सॉप ने कहा कि "मुझे क्यो वदनाम करते हो ? मेरा मुँह तो जैसा का तैसा खाली है, जरा-सा भी खून का दाग नही लगा।" अथवा कई लोग कहते हैं—'जिसे सॉप काट खाता है, वह मर जाता है, परन्तु सॉप को तो उससे कुछ भी लाभ नही हुआ। इससे उसकी भूख तो मिटती ही नही। उसका मुँह तो खाली का खाली रहता है। मेरा मन भी सॉप के मुख की तरह जैसा था, वैसा ही अतृप्त रहता है। भोगो से कथमपि तृप्त नही होता। न वह आपके चरणो मे लगता है। इतनी जगहो पर यह दौडधूप करता है, मगर किसी भी तरह तृप्त नही होता, भूखा का भूखा रहता है।

वडे-वडे मुमुक्षुजनो एव तपस्वियो के कावू मे भी मन आता नही, मेरी तो विसात ही क्या है ? इसी वात को वताने के लिए अगली गाथा मे कहते हैं—

मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान-अभ्यासे।
वैरीडु कांई एहवु चिंते, नाखे अवले पासे; हो कु थु० ॥३॥

अर्थ

मुक्ति के अभिलाषी, तपस्वी, ज्ञानाभ्यास मे रत साधक, ध्यान के अभ्यासी ये सव उच्चसाधक अपनी-अपनी साधना मे प्रवृत्त होने के लिए जव प्रयत्नशील होते हैं तो यह महाशत्रु कुछ ऐसा हलका (नीच) चिन्तन करता है कि उन्हे चारों खाने चित्त कर देता है।

भाष्य

बडे बडे साधकों को मन पछाड़ देता है

मोक्षमार्ग के अभिलाषी जन अपने मन को एकाग्र करने के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अध्ययन एव चिन्तन मनन, चर्चा विचारणा करते है। कई लोग भगवान् के भजन मे समय निकालने का अभ्यास करते हैं। ऐसे ज्ञानी और ध्यानी ज्ञान मे तथा ध्यान मे मशगूल रहने का प्रयत्न करते है, वे समझते हैं कि ज्ञान -ध्यान मे तथा ईश्वरप्रणिधान मे, भजन-पूजन मे तथा तपश्चरण में समय व्यतीत हो जाय तो अच्छा। परन्तु वे ज्यो ही ज्ञान, ध्यान, तपजप का अभ्यास करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, त्यो ही मनरूपी दुश्मन कुछ ऐसा विचार करने लगता है कि बडे-बडे ज्ञानी और ध्यानी-जनो को चारो खाने चित्त कर देता है। ज्ञानी ज्ञान मे मस्त होने लगते हैं, या ध्यानी ध्यान मे एकाग्र होने लगते हैं, तभी वैरी मन चाहे जहाँ चला जाता है, ज्ञानियो और ध्यानियो के हाल-बेहाल कर डालता है। ऐसे ही मोक्षमार्ग के अभ्यासी और तपस्वी साधको को मनरूपी शत्रु बचाता नही, प्रत्युत उन्हें पछाड देता है और इधर-उधर भटका करता है। भगवन्! आप जानते है कि मेरा मन ऐसा है। दूसरो को तो उनका मन भटकाता है सो भटकाता है। मुझे भी अपना मन बहुत ही उलटे मार्ग मे भटकाता है। जहाँ सुख की गन्ध भी न हो, वहाँ यह भटका करता है। मैं चाहता हूँ कि मुझे मोक्ष मिले, इसके लिए मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना करता हूँ, पूर्वसचित पापो को भस्म करने के लिए-निर्जरा के लिए-मैं ज्ञान, ध्यान, और योग का अभ्यास करता हूँ, बाह्य-आभ्यन्तर तप भी करता हूँ, परन्तु मेरे से ही बना हुआ, मेरे साथ ही रहने वाला मेरा मन कुछ ऐसा खराब चिन्तन करने लगता है, जिससे मेरा सन्मार्ग छूट जाता है, मै दु खमय ससार मे धकेल दिया जाता हूँ। मैं तो मन को अच्छा मानता हूँ मगर यह तो मेरा वैरी बन गया है। मानो, मेरे साथ वैर लेने की इच्छा से ही मुझे चतुर्गतिरूप ससार मे भटकाया करता है। यह तो मैंने अपने साथ मन की शत्रुता की बात कही, परन्तु यह किसी के साथ रियायत नही करता बडे-बड़े ज्ञानियो, ध्यानियो, और तपस्वी साधको के साथ भी यह ऊपर कहे अनुसार दुश्मनी करता है।

प्रभो ! ऐसे मन को कैसे वश मे करू ? कैसे उसे आप मे एकाग्र करू ? यही मैं रह-रह कर विचार करता हूँ। अभी तो मैं और अधिक वर्णन करके मन की कहानी बताऊँगा। मैं सोचता था कि सामान्य साधको के काबू मे यह नही आता होगा, परन्तु यह तो विशिष्ट और उच्च साधको के भी काबू मे नही आता, इसी बात को श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे बताते हैं—

आगम आगमधर ने हाथे, नावे किण विध आंकु ।
किहाँ कणे जो हठ करी हटकु, तो व्यालतणी पेरे वांकु, हो ॥
कुन्थु० ॥ मनडु ०॥४॥

अर्थ

नाथ ! यद्यपि पूर्व या आचारागादि आगम—सूत्रग्रन्थ बडे-बड़े आगमधरो (या पूर्वधारियों) के हाथ मे हैं, तथापि यह मन किसी भी तरह से उनके अंकुश मे नहीं आया । [पूर्वधारी या आगमधारी आगमादि सूत्र पढ़ कर बड़े आगमधर होते हैं, तथापि उन जैसो के हाथ मे किसी भी तरह से यह मन नहीं आता, इसे कैसे अंकुश मे लाऊँ ? अथवा मन की थाह-थाह किसी भी तरह नहीं मिलती] यदि मैं तप-जप आदि के स्थान पर आग्रह (हठ) करके इसे जबरन धकेल देता हूँ (या रोकता हूँ) [किसी समय हठ करके तान कर रखता हूँ] तो यह सर्प की तरह टेढा हो कर निकल जाता है (साँप की तरह वक्र हो जाता है, उलटा फल देता है, ठिकाने नहीं आता), ऐसा यह मेरा मन है ।

भाष्य

आगमधरो के भी वश मे मन नहीं आता

यद्यपि मन को वश मे करने के लिए आगमो=आचाराग आदि ११ अगो, औपपातिक आदि १२ उपागो, उत्तराध्ययन आदि ४ मूलसूत्रो, दशाश्रुतस्कन्ध आदि ४ छेदसूत्रो, इनसे भी आगे बढकर १४ पूर्वों का अध्ययन आगमज्ञ मुनिवर एव आचार्यादि साधक करते है, ऐसे बहुश्रुत विद्वान् आगमो मे मन का अधिकार पढते हैं, उनके हाथ मे विविध आगम (प्रवचन) हैं, फिर भी यह मन उनके भी (दशपूर्वधारियो तक के भी) अकुश मे नही आता। आगमधर आगमो मे मन को वश मे करने के अनेक उपाय पढते हैं, विविध उपाय वे

अजमाते भी हैं, फिर भी यह मन उनके हाथ में नही आता। बडे-बडे आगम-धारी आगम (में मन का वर्णन) पढ कर भी इस मन की किसी भी तरह थाह नही पाते। अथवा आगमधारी पुरुष आगम ले कर मेरे पास में (हाथ-बगल में) बैठे हो, फिर भी मेरा मन अंकुश मे नही आता। सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या, बडे-बडे आगमधारी या दशपूर्वधारी तक भी मन पर अकुश नही लगा सकते, जबकि मन पर काबू करने के अनेक उपाय उनके हाथ में होते हैं, उनके कण्ठस्थ भी होते हैं, तथापि मन उनके अकुश (वश) में नहीं आता। मैं इसे कह कह कर थक गया कि ऐसे आगमधारी पूज्य साधकों की उपस्थिति में तो हे मन! तू मेरे काबू में आ जा, परन्तु यह मेरा कहना नही मानता। ग्यारह अग के पाठक अनेक साधुसाध्वी तक भी मन को अंकुश मे न रख सकने के कारण पतित हुए हैं। राजीमती साध्वी के रूपलावण्य को देख कर रथनेमि जैसे उच्च साधक का मन डाँवाडोल हो गया था, वह सयम से भ्रष्ट होने को उद्यत हो गया था, किन्तु साध्वी राजीमती को युक्तिसंगत वाणी सुन कर वह पुन यथापूर्वस्थिति मे आया, परन्तु एक बार तो मन अकुश से बाहर हो ही गया था। पूर्व-विद्या के धारक अनेक उच्च साधको के मन ने भी उन्हे पछाडा है। इतने-इतने आगमो के पाठ भी मन के निरकुश हो जाने पर उनके काम नही आए, अकुश करने मे मददगार नही बने। आचार्य रत्नाकर ने आलोचना करते हुए अपने मन की बात खोल कर रख दी—[1] चचलनेत्र वाली नारियो के मुख को देख कर मानस मे राग का जो अश लग गया, वह शुद्ध-सिद्धान्त (आगम) रूपी समुद्र मे धो लेने पर या अवगाहन करने पर भी नही गया, हे तारक प्रभो! क्या कारण है इसमे?" पण्डितराज जगन्नाथ जैसे उद्भट विद्वान् भी मन के आगे हार खा कर कहते हैं—"उपनिषदो का अमृतपान जीभर कर लिया, भगवद्गीता भी बुद्धि मे जमा ली, तथापि वह चन्द्रवदना मेरे मानसरूपी सदन से नही निकलती।"[2] मतलब यह है कि हाथी पर अकुश

१　लोलेक्षणावक्त्र-निरीक्षणेन, यो मानसे रागलवो विलग्न।
न शुद्धसिद्धान्त पयोधिमध्ये, धौतोऽप्यगात् तारक! कारणं किम्?
—रत्नाकर-पचविंशति

२.　उपनिषद परिपीता, गीताऽपि च हन्त मतिपथं नीता।
तदपि सा विधुवदना, नहि मानस सदनाद् बहिर्याति॥—भामिनीविलास

लगा कर उसे वश मे करना सरल है, किन्तु मन पर विविध अकुश लगाने पर भी उसका वश मे होना कठिन है।

मन के साथी जबर्दस्ती करने पर भी छिटक जाता है

कोई कह सकता है कि आसान तरीको से अगर मन वश मे न हो तो हठयोग या कठोर उपाय से जवरन उसे वश मे करना चाहिए। उसे जरा भी ढील नही देनी चाहिए। जरा-सा भी मन को पपोला कि वह सिर चढ़ जाता है, इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते है— **किहाँ कणे जो हठकरी हटकुं, तो व्यालतणी पेरे वाक्०** अर्थात्-मन को हठाग्रह पूर्वक यदि किसी जप, तप, भजन, सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान आदि उत्तम क्रियाओ में रोक देता हूँ या किसी समय उमे जबर्दस्ती खींचातानी करके काबू मे करने की कोशिश करता हूँ, यानी मन के साथ जोर अजमाई करता हूँ तो वह सांप की तरह चट से टेढा हो कर सरक जाता है, अथवा जैसे दबाया हुआ सर्प हाथ से छटक कर टेढा-मेढा हो कर झटपट भाग जाता है, वैसे ही यह भी चट से भाग छूटता है। अथवा पहले तो मेरा मन ही वक्र है, सर्प की तरह छेडने या उत्तेजित करके काबू में रखना चाहूँ तो यह और ज्यादा वक्र हो जाता है। कुत्ते की पूछ को कितने ही वर्षों तक तेल लगा कर सीधी करने का प्रयत्न करने पर भी वह टेढी की टेढी ही रहती है, वैसा ही हाल मन का है। जितना-जितना मैं इसे एक स्थान पर स्थिर हो कर वैठने की बात कहता हूँ, उतना उतना तेजी मे यह उद्दण्डता (वक्रता) करके भागने की कोशिश करता है। हर प्रयत्न का उलटा फल आता है, मन किसी तरह ठिकाने नहीं आता।

किसी गृहस्वामी ने मन को एकाग्र करने के लिए सामायिक की। सामायिक मे माला के मनके घूमा रहा था, पाठ भी कर रहा था, परन्तु उसका मन मोचीवाडे मे अमुक मोची के यहाँ कर्ज की वसूली के लिए चला गया था। किसी ने उसकी पुत्रवधू से पूछा—"सेठजी कहाँ गए है?" पुत्रवधू ने अपने ससुर के मन की गतिविधि को भाँप कर कह दिया—'वे तो मोचीवाडे में गये हैं।' सेठ ने सुना तो मन मे फिर उथल-पुथल मची। सामायिक पूर्ण होते ही सेठ ने अपनी पुत्रवधू से पूर्वोक्त जवाव के लिए स्पष्टीकरण मांगा तो उसने ससुरको उनके मन की गतिविधि का विवरण दिया। इसी प्रकार मन को किसी भी अनुष्ठान, धर्मक्रिया या साधनामे जवर्दस्ती रोकने पर भी वह छिटक जाता है। बडे-बडे

आगमवलियों को भी यह परवाह नहीं करता, तो सामान्य साधकों की बात ही क्या ? आर्द्रकुमार, नन्दीषेण, आषाढभूति आदि मुनियों की जीवनी इस बात की साक्षी है। इसी कारण उपाध्याय यशोविजयजी को भी कहना पड़ा कि [1] "मनरूपी चचल बदर चारित्र और योगरूपी घड़ों को एकदम उलटा करके सारा का सारा शमरूपी रस नीचे गिरा देता है, तब बेचारा मुनिरूपी समतारसवणिक् क्या कर सकता है ? वह भी मन के आगे लाचार बन जाता है। इसीलिए तो अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी मन की थाह न पा सकने की अपनी आप बीती सुनते हैं—

> जो ठग कहूँ ता ठगतो न देखूँ, शाहूकार पण नांहि।
> सर्वमांहे ने सहु थी अलगुं, ए अचरज मन मांहि, हो ॥
> कुन्थु० ॥ मनडुं०॥५॥

अर्थ

अगर मन को मै [किन्नीवक्त] ठग या धूर्त कहूँ, तो इसे किसी को ठगते हुए देखता नहीं, परन्तु जहाँ तक मेरा अनुभव है, यह ईमानदार साहूकार भी नहीं है। आश्चर्य है यह सब बातों मे अपनी टाँग अड़ाता है, परन्तु रहता है सबसे अलग, अथवा प्रत्येक कार्य मे भाग लेता है, परन्तु अलग का अलग है। अथवा जैनतत्त्वज्ञान की दृष्टि से मन श्रोत्रादिक सभी इन्द्रियों मे है और इन सभी इन्द्रियो से अलग भी है, ऐसी विरोधी गतिविधि देख कर मेरे मन मे आश्चर्य होता है,

भाष्य

मन की परस्पर विरोधी आश्चर्यजनक गतिविधि

पूर्वगाथा मे मन के वशीकरण की बात बडे-बडे श्रुतधरो के लिए अशक्य बता कर यह शका पैदा कर दी कि आखिर मन ऐसा कौन सा पदार्थ है, जो

---

१. चरणयोगघटान् प्रविलोठयन् शमरस सकलं विकिरत्यध ।
चपल एव मन कपिरुच्चकै रसवणिक् विदधातु मुनिस्तु किम् ?
—अध्यात्मसार

वश मे होना दुष्कर है। इसी बात को इस गाथा मे प्रस्तुत की गई है। मन की थाह पाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

अगर मन को ठग, लुच्चा या धूर्त कहूँ तो उस पर यह सहसा आरोपण उचित न होगा, क्योंकि स्थूल आँखो से तो यह किसी को ठगता देखा नही गया, इसलिए इसे लुच्चा, लफगा या ठग कैसे कहा जा सकता है ? किसी को आँखो से भलीभाँति देखे बिना ही उस पर मिथ्या-आरोप लगाना नही ; क्योंकि खुल्ले रूप मे तो सभी काम इन्द्रियाँ ही करती हैं, मन खुल्ले रूप मे कोई काम करता देखा नही जाता। अत मन को ठगाई करता प्रत्यक्ष न देख लूँ, तब तक इस पर झूठा इल्जाम कैसे लगाया जाय ? यह ऐसी सिफत से पर्दे के पीछे काम करता है कि इसे ठग नहीं कहा जा सकता।

तब यह प्रश्न उठता है कि जब मन ठग नही है, तब इसे साहूकार कहना चाहिए, क्योंकि ठग और साहूकार के बीच मे और कोई विकल्प नही है। इसके उत्तर मे कहते हैं—**शाहुकार पण नाहि**। यानी इस मन को साहूकार, ईमानदार सख्स भी नही कहा जा सकता। ईमानदार साहूकार तो इसे तब कहा जाय, जब यह प्रामाणिक साहूकार की तरह एक बात पर दृढ रहे। पर मन अपनी बात का धनी नही है। एक क्षण मे तो यह फूल के घोडे पर बैठ कर महाज्ञानी महात्मा बन जाता है, और दूसरे ही क्षण अधम मे अधम विकल्प कर बैठता है। तथा जो साहूकार होता है, वह उलटे रास्ते मे या खतरनाक स्थिति मे पडे हुए को बचा लेता है, परन्तु मन के कारनामो को देखते हुए इसे ऐसा साहूकार नही कहा जा सकता। बेचारे चेतनराज के शुभ अध्यवसायरूप और श्रेष्ठ पुरुषो की सगति से पाये हुए जप-तप-ज्ञान भक्ति-रूप खजाने को यह ठग मन लूट लेता है या चौपट कर देता है। बेचारे जीव की पुण्यरूपी पूँजी को यह मन सफाचट कर देता है। बताइए, ऐसी हालत मे विश्वासघात करने वाले तथा अदर ही अदर इस प्रकार की ठगी करने वाले मन को साहूकार कहने का साहस भी कैसे हो सकता है ?

यो देखा जाय तो मन का स्थान हृदय (अन्त करण) में है। दूसरी तरफ से देखे तो यह सारे शरीर में व्यापक है। इन्द्रियो का स्थान तो निश्चित रूप से मुख आदि पर दिखाई देता है। इन्द्रियो और मन के स्थान अलग-अलग

होने के साथ इनके कर्तव्य भी अलग अलग हैं। इस तथ्य पर विचार करते हुए तो मन को सहसा ठग नही कहा जा सकता ; किन्तु जब हम देखते हैं कि मन धूर्त की तरह इन्द्रियो को उलटे रास्ते ले जाता है विपरीत और अहितकर पथ की ओर प्रेरित करता है या गुमराह कर देता है बडे-बडे साधको को, तब इसे साहूकार की कोटि में भी नहीं गिना जा सकता।

तब यह सवाल होता है कि मन को किस कोटि मे समझा जाय ? इसका स्थान कहाँ माना जाय ? इसी का रहस्योद्घाटन श्रीआनन्दघनजी करते हैं—'सर्वमांहे ने सहुथी अलगु', आश्चर्य इस बात का है कि मन के लिए कोई खास विशेषण प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह सब मे है और सब से दूर भी रहता है। यह इन्द्रियो द्वारा सब काम करता है, इसलिए सर्वत्र सब मे है, और वैसे किसी मे प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। यही इसकी विचित्रता है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्हे पूछे बगैर या उनके हुक्म के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, परन्तु वे अपने आढतिये या एजेंट के द्वारा ऐसी सिफत से काम लेते हैं कि यह पता नहीं लगता कि अमुक काम उसने किया है। इसी प्रकार मेरा मन भी ऐसा ही युक्तिबाज है कि वह इन्द्रियो द्वारा सब काम करा लेता है, पर खुद अलग का अलग रहता है। नाम इन्द्रियो का होता है, काम होता है, सब मन का। अमुक वस्तु मीठी है या नही ? अमुक पदार्थ दर्शनीय है या नही ? अमुक चीज कर्णप्रिय या सुगन्धयुक्त है या नही ? इन सबका निर्णय मन करता है, पर काम सब इन्द्रियो के मारफत लेता है। इसीलिए मन को तत्वज्ञो ने 'नो इन्द्रिय' कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयो में मन सभी इन्द्रियों को प्रेरित करता है। जब इन्द्रियाँ शब्दादि काम-भोगो का उपभोग करती हैं, तब मन उनके साथ मिल कर उनका अनुभव करता है। ज्यो-ज्यो मन अनुकूल विषयो का अनुभव-क्षणिक रसास्वाद लेता है, त्यो-त्यो इन्द्रियो को अधिकाधिक प्रेरणा देता रहता है। यो इन्द्रियों के साथ मिल कर मन चेतन को हैरान कर देता है। इसीलिए कहना कि मन सब मे है, फिर भी सबसे दूर रहता है, ठीक है। आश्चर्य होता है कि मन सभी इन्द्रियो का प्रेरक भी बना रहता है और सबसे अलग भी है। यानी यह प्रत्येक कार्य में भाग लेता है, फिर भी सबसे अलग रहता है। इसलिए मन को क्या कहा जाय ?, इसके सम्बन्ध में कौन-से विशेषण

का प्रयोग किया जाय ? इसकी भी कोई सूझ नही पडती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु के दरबार मे मन की शिकायत करते हुए अगली गाथा में कहते हैं—

जे जे कहूँ ते कान न धारे, आप मते रहे कालो।
सुर-नर-पडितजन समजावे, समझे न मारो[1] सालो, हो॥
कुन्थु० ॥ मनडु० ॥६॥

अर्थ

मैं (किसी समय) जो जो (भक्ति, वैराग्य, या परमात्मसाधना की) बातें कहता हूँ, उन्हे यह कान मे ही नहीं पड़ने देता, सुनता ही नहीं और अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से मतवाला (मस्त) बना रहता है। अथवा कुविकल्प करने से काला (मलिन=दूषित) बना रहता है। हे नाथ ! इस मन को देवता, मनुष्य या पण्डितजन या विद्वान् और भक्तजन (अथवा देवों के पण्डित, मनुष्यों के पण्डित) समझाते हैं, पर मेरा साला (कुमतिरूपीस्त्री का भाई) कुछ समझता ही नहीं। (अथवा महाक्रोधी मेरा मन समझता ही नहीं), मेरे सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

भाष्य

प्रभु से मन की उद्धतता की शिकायत

श्रीआनन्दघनजी ने मन की गतिविधि का रहस्य न समझने की बात कही थी। किन्तु जो ठग भी नही है और साहूकार भी नही है, वह सुधर भी सकता है, इस शका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—कि मन को सुधरने के लिए, उसे अपनी आदत बदलने के लिए जो जो बातें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जप, तप, परमात्मपद-साधना या आत्मस्वरूप रमण आदि के सम्बन्ध मे कहता हूँ या समझाता हूँ, उसे वह सुनी-अनसुनी कर देता है, इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देता है। शास्त्रो मे कहा है—"एकाग्रतारूप शुद्ध मन, वचन, और काया आदि कारण से (तीनो की एकता से) निश्चय ही परमात्मपद प्राप्त होता है, और ये तीनो जब अशुद्ध बन जाते है, तब अवश्य ही दुर्गति भी प्राप्त होती है।' ये बातें मन को समझा

कर जब मैं उसे शुद्ध, एकाग्र, परमात्मपद में तन्मय बनने को कहता हूँ, तब वह उन्हें एक दम ठुकरा देता है। जब मैं उसे यह शिक्षा देता हूँ कि तू मुझे सहायता कर, अपने कुविकल्प छोड़ दे, और सुविकल्पों को स्थान दे, मुझे अपने साध्य में स्थिर होने दे, परन्तु ऐसी बातों में तो वह जरा भी ध्यान नहीं देता, बल्कि सदा-सर्वदा से प्रचलित अपनी स्वच्छन्द मति-प्रकृति (आदत) के अनुसार चलता है। उसके सामने हित की हजारों बातें कहता हूँ, किन्तु वह अपने वज्रमय हठी स्वभाव को छोड़ता नहीं, अपने ही मत में काला (कुविकल्पों से कलुषित) अथवा मस्त (मदमत्त) या मुग्ध रहता है। वह अपना मनमाना करता है, मेरे अभिप्राय की जरा भी परवाह नहीं करता। इसे समझाना कोई बच्चों का खेल नहीं है। कोई कह सकता है कि साधारण आदमी मन की भाषा और प्रकृति न जानता हो, इस कारण मन शायद न समझता हो, किसी विद्वान् या देवता द्वारा समझाने पर कदाचित् मान जाय, इसी शका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'सुर-नर-पण्डित-जन समझावे, समझे न मारो सालो'[1] अर्थात् मन को मैंने ही नहीं, बड़े-बड़े देवों ने, मनुष्यों ने, पण्डितों ने भक्तजनों ने, समझा कर देख लिया, लेकिन यह मेरा साला समझता ही नहीं, इसको बडे-बडे आदमियों ने ठिकाने लाने का प्रयास किया, लेकिन यह किसी की भी नहीं मानता, नहीं सुनता। सभी इसे समझा-समझा कर थक गए।

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने 'साला' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। जीवात्मा की दो स्त्रियाँ मानी गई हैं—एक सुमति और दूसरी कुमति। अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा की दो चेतनाएँ-स्त्री के रूप में मानी गई हैं—शुद्धचेतना और अशुद्धचेतना। कुमति का भाई कुमन है, जो कुविकल्प से काले पापकर्म करने के कारण काला है। अथवा मन अशुद्धचेतना का भाई है। इस दृष्टि से मन जीवात्मा का साला हुआ। इसी कारण यहाँ उसका प्रयोग किया गया है। यहाँ साला शब्द का प्रयोग तिरस्कारसूचक है। बड़े-बडे पण्डित, ज्ञानी, विद्वान्, भक्त और देव भी इसे समझाते हैं कि तू हठ

---

१ कहीं कहीं 'माहरो सालो के बदले 'महारोसालो' पाठ भी मिलता है इसका अर्थ होता है—महाक्रोधी।

मत कर, जीवात्मा के अनूकूल रह कर मोक्षसाधना मे सहयोगी बन, परन्तु कुमतिस्त्री का भाई यह मन (साला) सारी समझाहट पर पानी फिरा देता है।

यहाँ फिर एक शका होती है कि मन ऐसा कौन सा जवाँमर्द है, जो बडो-बडो को पानी पिला देता है, इसी शका को ले कर श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है—

में जाण्यु ए लिंग नपु सक, सकल मरदने ठेले ।
बीजी बाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेले ;हो०।।

कुन्थु० ।।मनडु ०।।७।।

अर्थ

मैंने तो समझा था कि मन नपुसकलिंग (नामर्द) है, परन्तु यह तो सारे मर्दों को पीछे ठेल देता है ! मनुष्य और सब बातो मे समर्थ है, पर इस मन को कोई समर्थ पुरुष भी पकड़ है नहीं सकता।

भाष्य

नपुसक होते हुए मर्दों को मात कराने वाला मन

पूर्वगाथा मे मन के आगे सभी हार खा जाते हैं, यह वात बताई थी, लेकिन श्रीआनन्दघनजी को फिर खयाल आया कि मन तो सस्कृत और गुजराती दोनो भाषाओ मे नपुसकलिंग है, इसमे क्या ताकत होगी, नामर्द जो ठहरा ! नपुसक व्यक्ति सवसे गयावीता और कायर होता है, वह कोई भी साहस का काम नही कर सकता। न वह किसी मर्द से भिड सकता है ! उसमे दमखम नही होता। वह तो एक ही धक्के से गिर जाता है। इतना सब कुछ होते हुए भी आखिर मन नपुसक है, इसलिए मर्दों को यो ही बन्दरघुडकी दे रहा होगा कि "मैं यो कर दूँगा, त्यो कर दूंगा।" परन्तु जब इसकी ताकत का अनुभव किया तो मेरा अन्तर भी कह उठा—नपुसकलिंग मे इसका प्रयोग भले ही होता हो, परन्तु ताकत में यह नपुसक नही है, और न किसी मर्द से पीछे हटने वाला है, बडे-बडे ज्ञानियो, ध्यानियो तक को यह चेलेंज देता है, बडे-बडे पुरुषो को यह वात की वात मे छठी का दूध याद दिला देता है। चाहे जैसे बहादुर आदमी को मन मिनटो मे हरा सकता है। इसलिए मुझे मन की खासियत का

अब पता लगा कि व्याकरण की दृष्टि से भले ही इसका प्रयोग नपुंसकलिंग मे होता हो, लेकिन यह नपुंसक किसी भी तरह नही है, यह मर्दों का भी मर्द है। मेरी जानकारी मन के बारे में यथार्थ न थी, मेरा अनुमान गलत निकला। मैं नासमझी से इसे कमजोर समझ रहा था, लेकिन अब समझ मे आया कि जिन वीरनरो ने बड़े-बड़े पहाडो से टक्कर ली, नदियो के प्रवाहो को हाथ से रोक लिये, कुश्ती मे बड़े-बड़े पहलवानो को हरा दिया, अकेले ने बड़ी से बड़ी शत्रु-सेना को पराजित कर दिया, वे ही नरवीर वलिष्ट मन के गुलाम बन गए। यह इतना जबर्दस्त है कि बड़ो बड़ो की पकड मे नही आता। और सब बातो मे समर्थ मनुष्य मन के आगे हार खा जाता है। यह किसी की गिरफ्त मे नही आता। कदाचित् थोडी देर के लिए कोई इसे बहला कर पकड़ भी ले तो भी यह झट छटक कर चला जाता है। क्रिकेट के खेल मे जैसे अमुक खिलाडियों के हाथ मे आया हुआ बॉल छटक जाता है, वैसे ही मन भी छटक कर दौड़ जाता है।

अत हे भगवन्! जिन महापुरुषो ने मन को जीता है, उन्होंने आपके बताये हुए मार्ग से ही जीता है, अथवा आपने जिन जिन उपायो से मन को जीता था, उन्ही उपायो से वे महापुरुष इस काले मन से मुक्त हुए हैं। इसी-लिए मैं आप से पुकार-पुकार कर कहता हूं कि मैं इस मन को कैसे जीतूं?

अत श्रीआनन्दघनजी निराश हो कर अन्त मे अपने अनुभव का निचोड़ अगली गाथा मे अंकित करते हैं—

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्यु, एह वात नहिं खोटी।
एम कहे साध्युं ते नवि मानु, एक ही वात छे मोटी; हो०॥
कुन्थु० ॥मनडु ॥८॥

अर्थ

जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया, विश्व मे प्रचलित यह कहावत गलत नहीं है। यह एक अटल सत्य है। फिर भी मन को साधे बिना ही कोई यों दावा करे कि मैंने मन को साध लिया है, मैं उसकी बात मानने को तैयार नहीं। क्योंकि एक (मन को वश मे करने की बात ही सबसे बडी (दुर्गम) बात है।

भाष्य

मन को साधने से समस्त साधनाएँ सफल

दुनियाँ के सभी धर्म, सभी दर्शन, समस्त विचारधाराएँ समस्त मनोवैज्ञानिक, सकल मत, इस बात को एक स्वर से स्वीकार करते है कि 'जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया।' इसीलिए एक विचारक ने कहा है –'**मनोविजेता जगतो विजेता**' जिसने मन को जीत लिया, उसने सारे जगत् को जीत लिया। क्योंकि मन को एकाग्र कर लेने पर सभी साधनाएँ आसान हो जाती है। सभी धर्मक्रियाएँ मन को वश कर लेने पर सीधी और आसान हो जाती उनमे जान आ जाती है। मन की एकाग्रता से बहुत बडी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसने मन-रूपी भुजग को वश मे कर लिया, मानो परमात्मपद तो उसके सामने हाथ जोडे खडा है। अष्टसिद्धियाँ और नौ निधियाँ मन के विजेता के सामने चेरी बन कर खडी हो जाती है। व्रत, नियम, सयम, जप आदि सब मन पर विजय प्राप्त करते ही सिद्ध हो जाते है।

कोई कह सकता है कि मन को जीतने की क्या जरूरत है? उच्चक्रिया या तप करते जाओ, उसी से ही सब कुछ हो जायगा, परन्तु आध्यात्मिक जगत् में ये बाते मिथ्या सिद्ध हो चुकी हैं। मनुष्य चाहे जितनी क्रिया करे, ग्रीष्मऋतु में भयकर आतापना ले, शीत-ऋतु में ठड सहन करे, कायक्लेश करे अथवा विविध प्रकार के तप या जप करे, मन पर काबू किये बिना ये सब निष्फल हैं। चाहे जितने रजोहरण, मुखवस्त्रिका या अन्य वेष धारण कर ले, परन्तु मन को वश मे नही किया तो ये सब निरर्थक हैं। उसी की साधना, या क्रिया सफल होती है, जो मन को वश मे कर लेता है। मन को जीते बिना ये सब कोरी कष्टक्रियाएँ हैं। इसलिए यह बात सत्य से परिपूर्ण है कि जिसने अपने मन को नियत्रण मे कर लिया, उसने सब कुछ साध लिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'एह बात नहिं खोटी'।

जगत् मे मन को वश मे करने की बात सबसे बडी है

कई लोग झूठमूठ दावा करते हैं कि 'मैंने अपना मन वश मे कर लिया है।' परन्तु उनकी कोरी बातो पर से सच नही माना जा सकता। यो तो कोई भी रास्ते चलता आदमी कह देगा—'अजी! मन को वश करने मे क्या धरा है?

थोडी-सी योगक्रियाएँ करो, वह वश मे हुआ ही पड़ा है।" परन्तु इस दावे को सत्य नही माना जा सकता। क्योंकि ऐसे दावेदार लोग एक ओर मन को वश मे करने का दावा करते हैं, दूसरी ओर कायक्रिया का फल भी चाहते हैं, फल के बिना बेचैन हो उठते हैं। इस प्रकार वे 'वदतो व्याघात' जैसी परस्पर विरोधी बात करके ही अपनी बात को मिथ्या सिद्ध करते हैं। यह उनका कोरा बकवास है। जिनकी रीति, नीति, आदेश, उपदेश-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष राग-द्वेष से भरी दिखाई देती है, उनकी बात में कोई सत्यता नहीं है। वास्तव मे जिन्होंने मन को जीत लिया हो, वे अपने मुंह से कदापि नहीं कहते हैं कि 'मैंने मन को वश में कर लिया है, मेरे मे राग-द्वेष नहीं है।' मन को साध लेने वाले की तमाम प्रवृत्तियां जगत् के हित के लिए होती हैं।

अत श्रीआनन्दघनजी अन्त में एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—'एक ही बात छे मोटी' ससार मे और सब बातें आसान हैं, मन को साधना ही सबसे दुष्कर, कठिन और दुर्गम है। अत जगत् में सबसे बडी बात मैं मानता हूँ, वह एक ही है, वह है—मन को वश में करना। इसी के लिए साधक का विशेष प्रयत्न होना चाहिए। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी अब अपने मनो-विजय के बारे में ही प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

मनडु दुराराध्य में वश आण्यु, आगमथी मति आणु।
'आनन्दघन' प्रभु माहरू आणो, तो साचु करी जाणु हो० ॥
कुन्थु० ॥ मनुडु ० ॥६॥

अर्थ

ऐसे दुराराध्य (मुश्किल से अधीन किया जा सके, साधा जा सके, ऐसे) मन को आप (प्रभु) ने वश मे किया यह बात मैं आगमो (मूलसूत्रो) से जानता हूँ, स्वीकार करता हूँ। परन्तु हे आनन्द के समूह! वीतराग प्रभो! आप मेरे मन को काबू (वश) मे करा दें (ला दें), [मेरे मन को वश मे करने के लिए आप सहायक बनें] तभी इस बात को सत्यरूप मे मान सकता हूँ।

भाष्य

प्रभु से मनोवशीकरण की प्रार्थना

श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तवन के प्रारम्भ मे एक बात बार-बार प्रभु

के समक्ष निवेदन की है— 'कुथुजिन ! मनडु किम हि न बाझे ।' और उसके बाद मन के सम्बन्ध मे ऊहापोह करने के पश्चात् अन्त मे प्रभु के सामने वे फिर वही पुकार करते है । वे कहते हैं, मन अत्यन्त कठिनता से वश मे आता है, यह बात हम अनुभव और महापुरुषो के वचनो पर मे जानते हैं। इसी स्तुति की पूर्वगाथाओ मे मन की दुराराध्यता का वर्णन भी कर चुके है। परन्तु हे प्रभो ! आपने तो वडी मुश्किली से वश में हो सकने वाले मन को अपने कावू मे कर लिया है, यह वात मैं अपनी मनकल्पित नही कह रहा हूँ। मैंने आगम पढे है, और उन आगमो से तो यह वात मैंने बुद्धि मे उतार ली है, जान ली है। अर्थात् आपने अतिदुर्गम्य दुःसाध्य मन को साध लिया है, इस बात को मैंने आगमप्रमाण से तो जान ली है, किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण से भी जानना चाहता हूँ कि आपने मन को वश मे कर लिया है या नही। आगमो के प्रति मेरी श्रद्धा है, क्योकि सम्यक्त्वी को आगमो की वात पर श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। इसलिए आगमो के अध्ययन, पठन, श्रवण एव चिन्तन पर से तो मै इतना मानने को तैयार हूँ कि आपने अपने दुराराध्य मन को जीत लिया है। आपका जीवन-चरित्र सुनने से यह वात सत्य प्रतीत होती है कि मन को वश मे करना आवश्यक था, अत आपने अपने मन को वश मे कर लिया, परन्तु हे आनन्द के घन ! मैं इस बात को प्रत्यक्षप्रमाण से तभी सच्ची मानूगा, जब कि आप मेरे मन को कावू मे कर देंगे, यानी मेरा मन मेरे वश मे कर देंगे। आप चाहे जिस उपाय से कृपा करके मेरे मन को मेरे अधीन वना दे, तो प्रत्यक्षप्रमाण से भी आपके द्वारा मन को वश मे करने की वात सिद्ध हो जाय और ऐसा होने से मेरा काम भी सिद्ध हो जाय ।

वीतराग प्रभु से अपने मन के वशीकरण की प्रार्थना का रहस्य

यहाँ प्रश्न यह होता है कि वीतराग प्रभु न किसी का मन विषयो मे भटकाते है और न किसी के मन को वश मे कर देते हैं। वे तो निरजन निराकार परमात्मा है, उन्हे किसी से लागलपेट (राग) या (द्वेष) नही है। तव फिर योगी आनन्दघनजी ने वीतरागप्रभु से ऐसी प्रार्थना की, उसके पीछे क्या रहस्य है ? इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी तत्वज्ञ थे, और वे इस वात को भलीभाँति जानते थे कि वीतरागप्रभु किसी से कुछ लेते देते नही, वे रागद्वेष से, सासारिक मोहमाया से बिलकुल रहित है, परन्तु भक्ति-

बाद मे इस भाषा को क्षम्य माना जाता है। जब अपना कोई वश नही चलता है, तो भक्त प्रभु का ही आश्रय लेता है। वह मानता है कि वैसे प्रभु दूसरो के कर्त्ता-धर्ता-हर्ता नहीं बनते, किन्तु अगर मेरे पुण्य प्रबल हो, मेरा शुभ कर्मोदय हो तो कदाचित् प्रभु प्रबल निमित्त बन सकते हैं। मनको वश मे करने का पुरुषार्थ मुझे ही करना है, मेरे बदले प्रभु पुरुषार्थ नही करेंगे, न मेरा हाथ पकड कर प्रभु मेरा मन वश मे करायेंगे, लेकिन मैं जो कुछ पुरुषार्थ करू उसमे वे प्रबल निमित्त, प्रेरक एव सहायक तो बन ही सकते हैं। क्योंकि प्रभु अनन्तशक्तिमान है, आनन्दघनमय है, इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा तो दे ही सकते हैं, मेरे अन्दर अन्त स्फुरणा तो जगा ही सकते हैं। मेरे परोक्ष सहायक तो बन ही सकते हैं, मेरे प्रबल पुरुषार्थ मे प्रोत्साहनरूप आशीर्वाद तो उनकी अन्तरात्मा से मिल सकते हैं। इसलिए व्यवहारदृष्टि से इस पक्ति की अर्थसगति यो की जा सकती है कि मेरे मन को वश (अधीन) करने मे आप सहायक बनें, प्रेरक बनें, मुझमे इस प्रकार की आत्मशक्ति जगा दे कि मैं अपने मन को वश मे कर सकू। अथवा मैं अपने मन को आपके स्वरूप मे लीन करना चाहता हूँ, आप कृपा करके मेरे अन्दर कोई अन्त स्फुरणा या आत्मशक्ति जगा दे कि मेरा मन आपके स्वरूप मे लग जाय, जिससे मेरा जन्ममरण का चक्कर समाप्त हो जाय।

निश्चयदृष्टि से इस प्रकार की अर्थसगति हो सकती है—'हे आनन्दघन प्रभो! मेरा चचल मन आपके शुद्धस्वरूप मे लग जाय और मैं भी आत्मानन्द परमानन्दघन बन जाऊँ और सदा-सर्वदा अनन्त आनन्द [सुख] मे रमण करता रहूँ। आपकी कृपा से (या मेरे पुरुषार्थ से) मेरा आत्मलक्ष्य न छूटे, आपके स्वरूप मे लगा हुआ मेरा मन विषयो मे इधर-उधर न भटके, वह मेरी आत्मा मे ही लीन हो जाय, तभी यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जायेगा कि मैंने आपकी आराधना की और दुराराध्य मन को भलीभाँति साध लिया। वस्तुत निश्चयदृष्टि से ऐसा निवेदन अपनी आत्मा के प्रति अतीव सगत है कि श्रीआनन्दघनजी अनन्तशक्तिमान अपनी आत्मा से प्रार्थना करे कि 'आत्मा! तू अनन्त शक्तिमान है, आनन्दघन है, इसलिए अपनी आत्मशक्तियो के पुज पर विचार करके समस्त पौद्गलिक आसक्ति का त्याग कर अपने दुराराध्य मन को अपने वश मे करके बता। तभी तेरी अनन्तशक्तिमत्ता को मैं प्रत्यक्ष जान सकू गा, आगमप्रमाण से तो मैं तेरी

अनन्तशक्तिमत्ता को जानता ही हूँ। मन को वशमे करने का उपाय अव तेरे ही हाथ मे है। अपने आपको इतना सक्षम, इतना शक्तिशाली, आत्मवली वना कि मन तेरे आगे स्वयमेव झुक जाय, तेरा दास वन जाय, तेरे इशारो पर चले।'

सारांश

इस महत्वपूर्ण स्तुति मे श्रीकुन्थुनाथ वीतरागप्रभु से मनोविजय के लिए लिए प्रारम्भ से ले कर अन्त तक जोरशोर से प्रार्थना की गई है। शुरूआत मे मन की शिकायत प्रभु से की है, अपने साथ मन के होने वाले विविध सघर्षों का वयान किया है— रात-दिन, आकाश-पाताल, वस्ती-उजाड सर्वत्र मन की अवाधगति है। वडे वडे मुमुक्षु, साधक, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी मन को वश मे करने के लिए पच पच कर थक गये, परन्तु मन किसी के कावू मे नही आता। यहाँ तक कि वडे वडे आगमवली भी मन को अकुश मे न ला सके, जवरदस्ती करने पर भी मन कावू मे नही आता, न किसी भी वात को सुनता-मानता है, यहाँ तक कि देव, मानव, पण्डित सभी ने समझा लिया, फिर भी स्वच्छन्दकारी मन किसी की एक नही मानता, नपु सकलिंगी होते हुए भी वडे-वडे जवाँमर्दों को यह पछाड देता है, अन्य वातो मे समर्थ भी मन के आगे असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए अन्त मे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सर्वप्रथम और सवसे वडी वात है— मन को साधना। इसको साध लेने से सभी वाते सध जायेगी। अत वे वर्तमान स्थिति मे मनको वश मे करने मे अपने आपको दुर्वल जान कर प्रवल अनन्तशक्तिधर वीतराग प्रभु से प्रार्थना करते है कि आपने अपने मन को पूर्णतया वश मे कर लिया, आगम-प्रमाणित यह वात तभी सच्ची मानी जा सकती है, जव मेरे मन को वश मे ला दें, या वश करने मे आप प्रवल निमित्त वन जाँए। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना मे सर्वोपरि मनोविजय पर श्रीआनन्दघनजी ने जोर दिया है और इसके लिए प्रवल पुरुषार्थ करने की वात भी ध्वनित कर दी है।

१८ : श्री अरहनाथ-जिन-स्तुति –

वीतराग परमात्मा के धर्म की पहिचान

(तर्ज— ऋषभनो वंश रयणायरो, राग-परज या मारु)

धरम परम अरहनाथनो किम जाणु भगवंत रे।
स्व परसमय समझावीए, महिमावंत महंत रे ॥ धरम०॥१॥

अर्थ

हे भगवन् ! मैं श्री अरहनाथ नामक वीतराग-परमात्मा का जो उत्कृष्ट (स्वभावस्वरूप) धर्म है, उसे किस प्रकार समझूं-कैसे जान सकता हूँ ? उसके लिए महामहिम महान् प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करके स्वसमय (स्वधर्म) और परसमय) परधर्म या केवलज्ञान से पहले की निर्विकल्प ध्यानस्थ आत्मा की दशा=स्वसमय और इससे अतिरिक्त दशा=परसमय अथवा आत्मा का जिनेश्वरो द्वारा प्रकाशित निर्ग्रन्थ सिद्धान्त एवं निर्ग्रन्थेतर सिद्धान्त, दोनो के बारे मे समझाइए।

सर्वोत्कृष्ट वीतरागधर्म की जिज्ञासा

पूर्वस्तुति मे मन को वश मे करने की प्रार्थना परमात्मा से की थी, किन्तु मन को वश मे करने का एक कारण धर्म है। धर्म को भलीभाँति जाने समझे बिना उसमे प्रवृत्ति नही हो सकती और प्रवृत्ति के बिना सफल परिणाम नही आ सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के धर्म को जानने-समझने की दृष्टि से कहते हैं—'धरम परम अरहनाथनो किम जाणु भगवन्त रे।'

ससार मे अनेकविध धर्म हैं। कई धर्म तो परस्पर इतने विरोधी हैं कि उनमे पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन सा धर्म यथार्थ, सच्चा, हित-कारक और सुखदायक या तारक है और कौन-सा अन्यथा, वर्तमान मे अहित कर, व क्षणिक सुखदाता है ? ससार मे धर्मो का जगल इतना लबा-चौडा है कि उसमे पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा धर्म औषधरूप है, सजीवनी

बूटी के समान सयमायु की वृद्धि करने वाला है, चारित्ररूपी प्राणो को धारण कर सकता है ? दुर्गति मे गिरती हुई आत्मा को बचा सकता है, उत्तम सुख मे या सुगति मे आत्मा को पहुँचा सकता है ? क्योकि जब तक धर्म की यथार्थ पहिचान न हो, जीवनयात्रा मे धर्म के उपयोग की सही जानकारी न हो, वीतराग-परमात्मा के द्वारा बताये हुए या पाले हुए धर्म का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक धर्म का शुद्ध आचरण नहीं हो सकता । जिस व्यक्ति को धर्म का शुद्ध ज्ञान नही होगा, वह धर्म के नाम पर विविध धर्म-सम्प्रदायो मे प्रचलित युगबाह्य क्रियाकाडो, कुरूढिपोषक आचारो, विकासघातक परम्पराओ, दम्भ-वर्द्धक विधि-विधानो, हानिकारक कुरूढियो और समाज की अकल्याणकारी कुप्रथाओ को ही प्राय धर्म समझ कर उन्ही का पालन करने मे धर्मपालन की इतिश्री समझ लेगा । ऐसी स्थिति मे वह यथार्थ धर्म को भी सीधे रूप मे न पकड कर उलटे रूप मे ही पकडेगा, जिससे विकास के बदले उसकी आत्मा का पतन एव ह्रास ही अधिक होगा । ऐसे व्यक्ति की स्थिति भ महावीर की दृष्टि मे विपरीत हो जाती है—'जिस प्रकार कोई कालकूट विष को पी कर जी नही सकता, उलटे रूप में पकडा हुआ शस्त्र उसे पकडने वाले को ही मार डालता है, किसी को वैताल लग जाने पर वह उसके प्राणो का नाश कर डालता है, वैसे ही विषयो या विषमरूप से युक्त धर्म को स्वीकार कर लेने पर वह आत्मा का विनाश कर डालता है।"[1] कई बार यह देखा जाता है कि गुरु-परम्परा या सम्प्रदायपरम्परा से प्रचलित किसी रीति-रिवाज या व्यवहार अथवा घातक गतानुगतिक प्रथा को ही धर्म समझा जाता है । जैसे अमुक समाज मे शराब पीना, मासाहार करना, स्त्रियो का पर्दा रखना, अमुक ढग से चौकेबाजी करना, जनेऊ या चोटी रखना, अमुक तरह का तिलक लगाना आदि को धर्म समझा जाता है, अथवा अमुक मनमाने आचार-विचार को या विकासघातक क्रियाकाण्डो के पालन को धर्म समझा जाता है । यह तो दूर रहा, जो सच्चा और व्यापक धर्म माना जाता है, वीतरागता, अनेकान्त, समता एव सरलता को

१—विसतु पीय जह कालकूड, हणाइ सत्थ जह कुग्गहीय ।
एसो वि धम्मो विसओ (मो) ववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ।।
—उत्तराध्ययन० अ० २० गा ४४

धर्म का प्रधान अंग समझा जाता है, उसी धर्म के अनुयायी-गण सम्प्रदायभेद, परम्पराभेद, या आचार-विचार के जरा से भेद को ले कर दूसरे से लड़ने झगड़ने और गालीगलौज करने लग जाते हैं, एकांत आग्रही एवं आचार-विचार में सर्वथा असहिष्णु बन कर एक दूसरे पर मिथ्या-आरोप लगाने लगते हैं, सरलता को ताक में रख कर कुटिल राजनीति का आश्रय ले लेते हैं, समता के बदले जाति, वर्ग, रंग, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि के नाम पर वे विषमता फैलाने लगते हैं, जरा-जरा सी बात से उनके कषाय और राग-द्वेष का पारा चढ़ जाता है, वे स्वयं विषम बन जाते हैं, उनके वीतराग-विज्ञान का सिद्धान्त उस समय न जाने कहाँ गायब हो जाता है ? उस समय वे आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के बदले शरीर व शरीर से सम्बन्धित कषायों व राग-द्वेष आदि विकारों को ही मानो अपने मान कर अपना लेते हैं। ऐसे गोरखधंधे में साधारण व्यक्तियों को पता ही नहीं चलता कि कौन-सा वीतराग-परमात्मा का धर्म है, कौन सा पर धर्म है ? बहुधा धर्म के नाम से भक्तिवाद के नशे में या सम्प्रदायवाद की धुन में अथवा गुरु-परम्परा की ओट में आमजनता विविध आडम्बरों की चकाचौंध में सच्चे मार्ग से भटक जाती है। वह कई दफा ऐसा गलत रास्ता अपना बैठती है, जिसे बाद में छुड़ाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ये और इनके जैसे अन्य कारणों को देख कर श्रीआनन्दघनजी स्वयं सच्चे धर्म की जिज्ञासा को ले कर वीतराग-परमात्मा के सामने उपस्थित हुए हैं कि वीतराग-परमात्मा (श्रीअरह-नाथ) का उत्कृष्ट और यथार्थ धर्म कौन-सा है ? कौन-सा यथार्थ धर्म है, जो जीवन और जगत् के लिए परमकल्याणकारी, आत्मविकासक, स्वपरहितकर, चार गतियों और ८४ लक्ष जीवयोनियों से छुटकारा दिलाने वाला, व कर्मों को निर्मूल करने में समर्थ है ?

धर्म की जिज्ञासा का दूसरा पहलू

धर्म के विषय में जिज्ञासा का एक और पहलू है। वह यह है कि आत्मा के लिए कौन-सा धर्म उत्कृष्ट है, और कौन-सा निकृष्ट है ? कौन-सा आत्मा का धर्म है, और कौन-सा अनात्मा = आत्मा से पर मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा पुद्गलों का धर्म है ? अथवा कौन-से आत्मा के निखालिस धर्म हैं यानी आत्मा के अनुजीवी (निजी) गुण (धर्म) हैं और कौन-से आत्मा में पर के, किन्तु आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध से संश्लिष्ट होने से आत्मा के वैभाविक गुण (काम-

क्रोधादि धर्म) हैं ? अथवा निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से जब हम इस प्रश्न पर विचार करते है तो श्रीआनन्दघनजी वीतराग-परमात्मा के सामने सीधा ही प्रश्न पूछते हैं— प्रभो ! मैं तो अज्ञान हूं, ससार मे फँसा हुआ हूं, मैं स्पष्टरूप से जान नही सकता कि आपका अपना (आत्मा का) धर्म कौन-सा है ? और परकीय धर्म कौन-सा है ? अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा का शुद्ध धर्म कौन-सा है, व्यवहारदृष्टि से कौन-सा धर्म है ? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भगवान् से प्रार्थना है कि 'स्वपरस-समय समझावीए' प्रभो ! आपकी महिमा अपार है। आप अणिमा-महिमा आदि योगसिद्धियो से सम्पन्न हैं, आप महान् त्यागी-महनीय-पूजनीय पुरुष हैं। अत आप मुझ पर कृपा करके समझाइए कि स्वधर्म क्या है, परधर्म क्या है ? अथवा स्वसमय=स्वसिद्धान्त और परसमय=पर सिद्धान्त (पूर्वोक्त अर्थों के अनुसार) क्या है ? अथवा इन दो वाक्यो को एक करके ऐसा अर्थ भी घटित हो सकता है कि—'महिमामय प्रभो ! स्वसमय-परसमय की दृष्टि से यह समझाइए कि वीतराग परमात्मा का धर्म कौन-सा है ?

जैनधर्म मे तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रश्नोत्तर-शैली प्रसिद्ध है। भगवतीसूत्र मे गणधर गौतम द्वारा महावीर से पूछे गये ३६ हजार प्रश्न और उत्तर है। अगली गाथा मे इसी प्रश्न का समाधान किया जाता है—

शुद्धातम अनुभव सदा, स्वसमय एह विलास रे।
परवड़ी छांहडी जे पड़े, ते परसमय-निवास रे ॥धरम०॥२॥

अर्थ

जहां पर्यायार्थिक नय को गौण रखकर द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से शुद्ध आत्मा का सदा साक्षात् अनुभव हो, वहा स्वसमय (मेरा धर्म) है। वहा स्वात्मा का ही विलास (स्वात्मरमणता) है। जहां कभी-कभी वार त्यौहार पर देर से छाया पडती हो, उसका आत्मानुभव हो, वहां परसमय (मेरे सिवाय पर का धर्म) है, अथवा पर=आत्मा से पर अनात्मभाव वाली - बहिरात्मभाव वाली जो आत्मा की बड़ी छायामात्र जिन जिन ग्रन्थो मे पडती है, वहा परसमय =अन्यतीर्थीय सिद्धान्तो का निवासस्थान है। अथवा पर की=अन्य आत्मा की या दूसरे द्रव्यो की, द्रव्य के सिवाय गुणो या पर्यायो की प्रतिच्छाया जहाँ जहा पड़ती है, वहां वहां परसमय का स्थानक है। अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

की दृष्टि से विचारणा हो, वहाँ शुद्ध स्वसमय तथा परद्रव्य की या पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, उसे परसमय समझो।

भाष्य

स्वसमय-परसमय का लक्षण और रहस्य

पूर्वगाथा मे परमात्मा के धर्म को समझने के लिए स्व-परसमय की जिज्ञासा प्रस्तुत की गई थी। इस गाथा मे उसी का समाधान किया है। वास्तव मे 'समय' शब्द अनेकार्थक और रहस्यमय है। अमरकोष के अनुसार 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' समय का अर्थ शपथ, आचार, काल (समय या प्रसग), काल का एक सूक्ष्मविभाग, सिद्धान्त एव धर्म तथा द्रव्यात्मा (आत्मा) इत्यादि है।

यहाँ प्रसगवश तीन अर्थ 'समय' के हो सकते हैं— आत्मा, सिद्धान्त (आगम) और काल। इन तीनो की पृथक पृथक व्याख्या इस प्रकार से है-विशुद्ध (कर्ममल से रहित) आत्मा का जहाँ अनुभव होता है, जिसमे आत्मानुभव की बाते की गई हैं। यानी आत्मा निश्चय से कर्मरहित, परभाव से रहित, अपने गुणो से परिपूर्ण, अनादि अनन्त, प्रकट ज्ञायक ज्योतिस्वरूप, एक, नित्य, सम्पूर्ण ज्ञानघन है, इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव जहाँ होता हो, वहाँ स्वसमय समझना। इसे विस्तृतरूप मे यो कहा जा सकता है कि मोक्ष मे आत्मिक दशा कैसी होती हैं? अर्थात आत्मा मोक्ष मे अपनी असली स्थिति मे कैसा रहता है, इसके अनुभव करने की जो बाते हो, वे सब स्वसमय की बाते हैं। यानी आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से वह बात उसके अनुभव की होती है। आत्मा की अलग-अलग कौन-कौन सी दशाएँ होती हैं? वह मूल स्वभाव मे कैसा रहता है? ये उन्नतगामी (ऊर्ध्वगामी) सब बाते स्वसमय की हैं। इसकी मूल विशुद्ध अवस्था मे आत्मानुभव कैसा होता है? उसका जहाँ-जहाँ वर्णन किया जाय, वहा-वहाँ स्वसमय की बात है, यह समझ लेना चाहिए। शुद्ध निर्मल आत्मा के सम्बन्ध मे जितनी भी बाते कही जाती हैं, वे सब

१—किसी किसी प्रति मे 'पर पडिछायडी' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है- जहा पर की प्रतिच्छाया (परछाई) पड़ती है।

स्वसमय की बातें हैं। आत्मा कर्ममलरहित दशा मे कैसा निर्मल होता है ? वह कैसे रहता है ? इस सम्बन्ध मे हुई अनुभव की बातें जहाँ हो, वहाँ स्वसमय (स्वधर्म=परमात्मा का धर्म) है, यह जान लेना चाहिये। मतलब यह है कि आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और पुद्गल का स्वभाव है—अधोगामी। जहाँ आत्मा के मूल गुणो का अनुभव होता हो, यानी आत्मा निर्मल हो, तब कैसा होता है क्या करे ?) ये सब बातें स्वसमय की है। इस प्रकार के शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचार या कथन स्वसमय हैं। तथा शुद्ध आत्मा का सदा के लिए जो साक्षात् अनुभव हो, वही स्वसमय है, वही स्वात्मा का अपना विलास है, आमोद-प्रमोद है, मौज है। कारण यह है कि शुद्ध आत्मानुभवरूप =आध्यात्मिक विलासरूप महाधर्म की सम्भावना आत्मा मे ही हो सकती है आत्मार्थियो के लिए उसी की विचारणा आवश्यक है, अन्यथा विचारणा करने की आवश्यकता ही क्या है ? (२) ऐसा ही आत्मकथन करने वाला शास्त्र स्वसमय=स्वशास्त्र=स्वसिद्धान्त कहलाता है, (३) समस्त परद्रव्यो से निवृत्त हो कर आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अपने स्वभाव मे एकत्वरूप से जिस समय प्रवृत होता है, उसे भी स्वसमय कहते हैं। (आ) १ आत्मा के अतिरिक्त जो परवस्तु, पुद्गल या भौतिक सुखो का जिसमे विधान हो, अथवा आत्मा से भिन्न दूसरे द्रव्यो की या द्रव्य मे अतिरिक्त गुणो या पर्यायो की (पर की) प्रतिछाया (परछाई) जहा पडती हो, अर्थात् अनादि अविद्यारूप लता के मूलमोह के उदय से आत्मा अपने ज्ञानदर्शनादि स्वभाव से च्युत हो कर मोह-राग-द्वेष आदि परभावो मे एकत्वरूप से प्रवृत हो, उसे परसमय कहते हैं। अथवा परद्रव्य की पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, वहा परसमय का निवास है। (२) ऐसे शास्त्र जिसमे आत्मा के अतिरिक्त बहिरात्मभाव की लौकिक बातें हो, ऐसे सिद्धान्त या शास्त्र परसमय कहलाते है, इनमे पर्व या किसी विशिष्ट दिवस या प्रसग पर कभी कभी छाया की तरह आत्मानुभाव की बातें आ जाती हो या की जाती हो, वहाँ परसमय का निवास समझना चाहिये। परसमय या परधर्म मे आत्मानुभव की बातें कभी कभी होती हैं, उसमे पौद्गलिकभाव की बातें ही अधिक होती हैं। मतलब यह है कि जिनमे मुख्यतया आत्मानुभव की बातें नही होती, कभी कभार जरा आत्मानुभव की बात आ जाती है, उस सिद्धान्त, शास्त्र या धर्म को परसमय ही समझना चाहिए, जैसे बृहस्पति जैसे

चार्वाक परलोक को नही मानते, उसमे आत्मस्वभाव से विपरीत बाते है। (३) आत्मा जिस समय परभाव मे एकत्वरूप मे प्रवृत्त हो, उस समय को परसमय कहते है।

इस प्रकार इन तीन अर्थो के अनुसार स्वसमय-परसमय को पहिचानने की कुंजी प्रस्तुत गाथा मे बता दी है। परसमय को जाने बिना स्वसमय की विशुद्ध जानकारी नही हो सकती और जब तक स्वसमय का विशुद्ध ज्ञान न हो, तब तक साधक स्वसमय मे प्रवृत्त नही हो सकता। अमुक तत्त्वज्ञान स्वसमय है या परसमय, इसके जानने का तरीका इसमे बताया गया है, वह दोनो मुख्य नयो की दृष्टि से है, इसलिए नयो का ज्ञान भी होना आवश्यक है।

इसलिए अगली गाथा मे प्रसगवश स्वसमय=विशुद्ध आत्मा के अनुभव की बात विविध नयो की दृष्टि से कही जा रही है—

तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी ज्योति दिनेश मोझार रे।
दर्शन-ज्ञान-चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे ॥धरम०॥३॥

अर्थ

जिस प्रकार तारो, मगल आदि ग्रहो, अश्विनी आदि नक्षत्रो और चन्द्रमा की ज्योति (कान्ति) सूर्य (सौरमण्डल) मे अन्तर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन सबकी शक्ति अपनी आत्मा मे जानो।

भाष्य

शक्ति का केन्द्र : आत्मा

पिछली गाथा मे स्वसमय और परसमय का अन्तर बता कर स्वसमय को अपनाने की बात ध्वनित कर दी है। इस गाथा मे प्रकारान्तर से स्वसमय की बात की पुष्टि की गई है। सूर्य की उपमा दे कर इस बात को स्पष्ट किया गया है कि शुद्ध आत्मा (परमात्मा) मे स्वधर्मरूप अनन्त शक्ति छिपी हुई है, पर बाहर मे वह अलग-अलग रूप मे दृष्टिगोचर होती है, मगर है वह शुद्ध आत्मा की ही, और उसी मे वह अन्तर्हित हो जाती है। जगत् मे ऐसी प्रसिद्धि है कि तारा, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा वगैरह प्रकाशमान पदार्थो मे सूर्य का ही प्रकाश सक्रमित होता है। जब सूर्य प्रकाशित होता है, तो इन

सबका प्रकाश सूर्य मे समाविष्ट हो जाता है। वर्तमान विज्ञान का भी यह मत है कि ग्रहो और चन्द्रमा का प्रकाश स्वतन्त्र नही है, वे सूर्य के प्रकाश के बल से प्रकाशित होते है। यही कारण है कि सूर्य के उदय होते ही इन सबका प्रकाश फीका पडने लगता है। इसीलिए कहा गया—जिस प्रकार आकाश के ग्रह, नक्षत्रादि की ज्योति सूर्य के प्रकाश मे है, उसी प्रकार सामान्य ज्ञानरूप दर्शन (अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन), विशेषज्ञानरूप ज्ञान और सामायिकादि चारित्र, सबमे आत्मा की शक्ति ही है। इन सबकी शक्ति का समावेश भी आत्मा मे हो जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से देखे तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी आत्मा से अभिन्न हैं, ये सब आत्ममय ही हैं, एक आत्मा ही भासमान होता है। मतलब यह है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह के अनेक पर्याय होते हैं। दर्शन से निराकार ज्ञान होता है, 'यह मनुष्य है या पशु ?' वगैरह विशेष बाते ज्ञान से जानता है। सामायिक चारित्र से ले कर यथाख्यातचारित्र तक अनेक पर्याय जानता है। परन्तु वे सब एक ही आत्म-द्रव्य को बताते है, उसे ही उद्देश्य करके होते है। जैसे पर्याय अनेक हैं, आत्मिक द्रव्य एक ही है। उसी के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनेक पर्याय होते हैं। वे अन्त मे एक आत्मा मे ही समा जाते हैं। ये सब एक आत्मिक द्रव्य के ही परिणाम हैं, आत्मा के गुण है, आत्मा के ही ये सब पर्याय है, यह भली-भाति जान लो। आत्मा न हो तो उसके पर्याय भी नही होगे, यो समझ कर एक आत्मिक द्रव्य की महत्ता समझ लो। जैसे सभी प्रकार के तेज—फिर वे चाहे तारो के हो, चन्द्रमा के हो, सूर्य के तेज मे समा जाते हैं, वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अनेक पृथक्-पृथक् पर्याय होते हैं, पर उन सबका समावेश एक आत्मानुभव मे हो जाता है। इससे यह भी द्योतित हो जाता है कि ज्ञानदर्शन-चारित्र की शक्ति शुद्धात्मानुभव=स्वसमय मे समाविष्ट हो जाती है, किन्तु अपर-ज्योतिरूपपरसमय का उसमे समावेश नही होता। पर्यायचाहे जितने हुआ करे, पर वे मूल द्रव्य एक आत्मा से सम्बन्धित हैं, यह बात भलीभाँति हृदयगम कर लेनी चाहिए। आत्मा एक है, पर्याय अनन्त हैं। आत्मा के अनन्त पर्याय होते हुए भी उसे एक ही द्रव्य समझना, यही आत्मानुभव (स्वसमय) की, आत्मा को भलीभाँति पहिचानने की कुँजी है।

अगली गाथा मे इसी बात को और स्पष्ट कर रहे है—

भारी पीलो चीकणो कनक, अनेक तरंग रे ।
पर्यायदृष्टि न दीजिए एक ज कनक अभंग रे ॥ धरम० ४ ॥

अर्थ

वजन मे भारी-रग मे पीला, गुण से चिकना (स्निग्ध) सोने के ऐसे अनेक प्रकार दिखाई देते हैं, परन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि न दें। द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह अभग (अखण्ड =अभेदरूप) द्रव्यरूप मे एक सोना ही दिखाई देता है ।

भाष्य

सोना एक : प्रकार अनेक

पूर्वगाथा मे कही हुई बात को दूसरी तरह से सोने का दृष्टान्त दे कर आनन्दघनजी समझाते हैं— सोने के साथ पर्यायरूप मे तीन गुण निहित है- भारीपन, पीलारग और चिकनापन । मतलब यह है कि सोना तीन मे वजनदार धातु होता है । सोने की यह विशेषता है कि वह दूसरे धातुओं की अपेक्षा वजन मे भारी होता है । उसका रग भी विशिष्ट प्रकार का पीला है, जो दूसरे किसी धातु से मिलता नही है । और वह दूसरे धातुओ की अपेक्षा चिकना भी अधिक होता है, सोना दूसरे धातुओ के बजाय नरम और लचीला होता है । इसी कारण उसके परमाणु एक दूसरे से चिपक जाते हैं, जल्दी टूटते नही । एक ही सोने के हार, करधनी, कंकण आदि अनेक आभूषण बनाये जाते हैं । जिनके नाम और आकार भिन्न-भिन्न होते है, परन्तु उन सबमे जो सोना होता है, उसे देख-परख कर ही सबकी कीमत आंकी जाती है । सोने के व्यापारी की सोने के विषय मे द्रव्यार्थिक दृष्टि है, मगर आभूषण बनाने वाले सुनार या उन्हे पहनने वाले की दृष्टि मे आभूषण मुख्य होने से पर्यायार्थिक दृष्टि होती है । कुम्भार घडा, कोठी, सुराही वगैरह बनाने के लिए जगल मे मिट्टी लेने जाता है, तब वह घडे, कोठी आदि को मिट्टी ही देखता है, मिट्टी ही उसके खयाल मे बसी रहती है । मगर कुम्हार के यहाँ से बर्तन खरीदने वालो की दृष्टि मे मिट्टी नही आती, घडा आदि बर्तन ही आते है । इसलिए कुम्हार की दृष्टि द्रव्यार्थिक होती है, जबकि ग्राहक की दृष्टि पर्यायार्थिक होती है । इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड कर एक और अखण्ड सोना ही है, इसके भेद

नही हो सकते। सोना तीनो काल मे सोना ही रहता है। अत. सोने मे भारीपन, पीलेपन या चिकनेपन अथवा विभिन्न गहनो की कल्पना करना पर्याय दृष्टि है। पर्यायदृष्टि को गौण कर दे, उसका इस समय उपयोग न करें तो वही सोना सबमे एकरूप अभेदरूप प्रतिभासित होगा।

पदार्थ के असली स्वरूप को समझने की कुंजी

किसी भी पदार्थ के वास्तविक वस्तुस्वरूप को समझने के लिए द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि को मुख्य रखें तो उसके पर्यायो की दृष्टि गौण हो जायेगी। ऐसा करने मे पर्याय भी उस द्रव्य मे समाविष्ट हो कर द्रव्यरूप ही गिने जायेंगे। इसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि को मुख्य रख कर देखें तो द्रव्य गौण हो जायेगा, वह प्रतिभासित नही होगा। ऐसा करने से द्रव्यत्व भी पदार्थ के एक प्रकार के पर्यायरूप मे गिना जायेगा। द्रव्यार्थिक दृष्टि को सामान्य, शक्ति, द्रव्य, अभेद इन शब्दो से समझा जाता है, जब कि पर्यायार्थिक दृष्टि को विशेष, व्यक्ति, स्वभाव, गुण, धर्म, पर्याय, भेद आदि शब्दो से समझा जाता है, भारीपन, चिकनापन या पीलापन सोने से अलग वस्तु नही है। कोई सोना खरीदता है तो उसके साथ उसके ये गुण आ ही जाते हैं। यह सोने के विषय मे स्वसमय है। सोने के तौल, रंग, गुण की दूसरे के गुणो के साथ तुलना करते समय सोना गौण हो जाता है। परन्तु सोने के गुण मुख्यतया ध्यान मे रखे जाते हैं। पर्यायार्थिक दृष्टि की मुख्यतया के समय द्रव्यार्थिक दृष्टि गौण होती है, परन्तु उपचार से उसमे गौणरूप से द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि भी होती है, इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि के समय गौणरूप से उपचार से पर्यायार्थिक नय की दृष्टि मुख्य होती है। अगर ऐसा न हो तो वे दोनो नय एकान्त होने से नयाभास बन कर मिथ्या साबित हो जाते हैं। अत एक नय मे गौण रूप से उपचार से दूसरा नय होता ही है, तभी नय की सापेक्षता टिकती है और वे सुनय बनते है। इस प्रकार आत्मार्थी को द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि भलीभाँति समझ लेनी चाहिये।

आगे की गाथा मे इसी विषय को आत्मा पर घटाते हुए कहते हैं —

दर्शन-ज्ञान चरण थकी अलखस्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरजन एक रे॥ धरम०॥५॥

अर्थ

उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से आत्मा को देखें तो उसके लक्ष्य मे न आ सकें, ऐसे (अलक्ष्य) अनेक स्वरूप प्रतीत होते हैं, क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण है। द्रव्य-पर्याय के भेदरहित (अभेद) रूप मे देखें तो सर्वविकल्पो का विलय हो कर आत्मा का ज्ञानादिक भेदरहित, एक, अखण्ड, शुद्ध, निर्लेप, निरंजन, चैतन्य रूपमे अनुभव होता है। आत्मा के सिवाय दूसरा कुछ भी द्वैतरूप भासित नहीं होता, ऐसे आत्मा का शान्त स्वभाव [illegible] र निर्विकल्परस पीजिए।

भाष्य

पर्यायदृष्टि से अनेक आत्मा, द्रव्यदृष्टि से एक

पूर्वोक्त गाथा मे सोने का दृष्टान्त देकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का तत्व समझा गया है। उसी बात को आत्मा पर घटित किया है, जैसे सोने के अनेक प्रकार (तरगें) होते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अलक्ष्य (अरूप) आत्मा के अनेक तरगे=पर्यायें होती हैं। सामान्य उपयोग से वह जातियो को देखता है। उनमे वह तन्मय हो जाता है, वही उसका दर्शन बन जाता है। उसमे वह मनुष्यो, जानवरो या पक्षियो को एव सुख-दुःख को सामान्य प्रकार से देखता है। फिर जरा ज्ञान-उपयोग होता है, तब वह अधिक ब्योरेवार तथ्यो को देखता है। मनुष्य के नाम, उनका रग, उनकी जातियाँ और अनेक विवरण उसके जानने मे आता है। यह सब ज्ञान का परिणाम है। इसी प्रकार चारित्र मे उपयोग लगाता है, उनकी चर्चा करता दिखाई देता है, वह सामायिक मे स्थिर होता है तो उसमे तथा यथाख्यात आदि चारित्र मे रमण करता दिखाई देता है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विविधता मे वह जैसा उपयोग लगाता है, वैसा उसका पर्याय दिखाई देता है। यानी आत्मा जब ज्ञानक्रिया मे होता है, तब वह ज्ञानात्मा है, जब दर्शनक्रिया मे होता है, तब वह दर्शनात्मा है और जब वह चारित्रक्रिया मे होता है, तब चारित्रात्मा है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध पर्याय सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि है। उनके क्रियाकारण ही भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत हो, परन्तु एक ही शुद्ध आत्मद्रव्य का कार्य तो एक ही सिद्ध होता है।

एक तरह से शुद्ध पर्याय की दृष्टि से अलक्ष्य, अरूपी, निरजन, निराकार आत्मा के दर्शनोपयोगयुक्त, ज्ञानोपयोगयुक्त और चारित्रोपयोगयुक्त आदि अनन्त आत्मगुण के विकल्प से आत्मा का ज्ञानावधान करने से वह अनेक प्रकार का अनत पर्याय वाला है, इसके उपरान्त कर्मों के सयोग से अनेक अशुद्ध पर्याय होते हैं। उसके एकेन्द्रिय से ले कर पचेन्द्रिय तक की प्राप्ति तथा देव, मनुष्य तिर्यञ्च, नारक आदि गति की प्राप्ति आदि अनेक पर्याय होते हैं। इसी अलख आत्मा को जब निर्विकल्पभाव से देखते हैं, शान्तभाव से निहारते हैं। तो सोने की तरह अकेला ही प्रतीत होता है। आत्मा के ज्ञानादिभाव से या कर्मसयोग से अनेक पर्याय हो सकते हैं, पर सकल्प-विकल्प छोड कर शान्तभाव से अकेले आत्मा को देखें तो निरावरण ही दीखेगा। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—"निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे" अर्थात जब अकेले द्रव्य का ही ध्यान करना होता है, एक निर्विकल्प आत्मा के ध्यान का अमृतरस पीना होना है, उसका आनन्द भी अनोखा होता है। उस समय आत्मा एकरूप शुद्धरूप एव निरजनरूप प्रतिभासित होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने पातजल योगदर्शन पर टिप्पणी मे भी यही लिखा है—निर्विकल्पध्यान मे शुक्लध्यान के दूसरे पाद में एक स्वात्मद्रव्य का-पर्यायरहित द्रव्य का शुद्ध ध्यान होता है। और वह इसलिए वह स्वसमयनिष्ठा है। उस अवस्था मे द्रव्यार्थिक प्रधान शुद्धनिश्चयनय की मुख्यता होती है।

अगली गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो दृष्टियो से आत्मा का कथन स्पष्ट करते हैं—

परमापथ-पंथ जे कहे, ते रंजे एकतंत रे।
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनन्त रे॥

धरम० ॥६॥

अर्थ

परमार्थरूप (निश्चयात्मक आत्मद्रव्य की सिद्धि के) मार्ग का जो कोई सत्पुरुष कथन करता है, वह (निश्चयदृष्टिप्रकाशक वक्ता या श्रोता) एक निश्चयात्मक तत्त्व की विचारणा करके (या एक ही तन्त्र मे) प्रसन्न होता है। किन्तु जो व्यवहारनय की दृष्टि से लक्ष्यरूप आत्मा में रहते (रमण करते) हैं,

उनकी दृष्टि से आत्मा के अनन्तपर्यायों की अपेक्षा से अनन्तभेद प्रतिभासित होते हैं।

भाष्य

निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से आत्मा का कथन

पूर्वगाथा मे भी आत्मा के अनेक और एक भेद बता कर अन्त में निर्विकल्प-दशा प्राप्त करके आत्मा के आत्मतत्त्व का ध्यान करने और उसे प्राप्त करने की बात पर जोर दिया गया है। उससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि आत्मा के ये जो अनन्त पर्याय इस समय दिखाई दे रहे हैं, इन्हे दूर करके इनकी असली स्थिति से निरावरण, एकाकी आत्मा का ही सोने की तरह विचार करना और अन्त मे उसे ही प्राप्त करना चाहिए। अब इस गाथा मे पुन दोनो दृष्टियो से आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। वास्तव मे निश्चय और व्यवहार दोनो अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं। कोरे निश्चय से भी काम नही चल सकता, क्योकि साधक को चलना व्यवहार की धरती पर है। निश्चय के आकाश मे उडने के लिए व्यवहार की धरती पर पहले पैर जमाना आवश्यक है। निश्चय के पर्वत-शिखर पर चढने के लिए व्यवहार की तलहटी से ही आगे कदम बढाना होता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि साधक की आँखें निश्चय की ओर टिकी हो, और उसके पैर टिके हो—व्यवहार की धरती पर। एकान्त निश्चय की ओर देखते रह कर व्यवहार को दृष्टि से ओझल नही करना है, तथैव एकान्त व्यवहार की धरती पर चलते रहने की धुन मे निश्चय को आँखो से ओझल नहीं करना है। साधक जब तक ससार-दशा मे है, तब तक दोनो दृष्टियो का उसे उपयोग करना है, किन्तु प्रगति की दिशा मे आगे बढने और आध्यात्मिक गगन मे ऊँचे उडने के लिए उसे निश्चय-दृष्टि को मुख्यता देनी होगी, क्योकि वास्तविक सद्भूतार्थ मार्ग निश्चय की पगडडी को पकडने से ही प्राप्त होगा।

वास्तविक दृष्टि से आत्मा एकरूप भी है और अनेकरूप (अनन्तरूप) भी है। परन्तु परमार्थदृष्टि के साधक उसे एक रूप मे देखते हैं, वे उसे एकतन्त्र मे—आत्मा के एकत्व मे—देख कर प्रसन्न होते हैं, जबकि व्यवहारदृष्टि के साधक उसे अनन्तरूप मे देखते हैं। परमार्थपथ (निश्चयनय) के साधक विकल्प-

रहित शुद्धस्वरूपी अनन्तगुण सम्पन्न आत्मा को एकरूप मे प्रतिपादन करते हैं, जबकि व्यवहारमार्गी लोग आत्मा के अनन्त विकल्पो को ले कर अनन्तभेद बताते हैं। एक दूसरे की दृष्टि मे एक दूसरा नय गौण होता है। अपेक्षावाद (स्याद्वाद) की दृष्टि से दोनो मार्ग अपने-अपने ध्येय के अनुसार ठीक हैं। एकान्तरूप से निश्चय का कथन करना और व्यवहार का निषेध (अपलाप) करना ठीक नही, तथैव निश्चय को बिलकुल अनुचित मान कर एकान्तरूप मे व्यवहार का आग्रह रखना भी ठीक नही। सात नयो मे से भी प्रथम के तीन या चार नय व्यवहारनय के नाम से परिचित हैं, तथा पिछले तीन नय पारमार्थिक रूप के प्रतिपादनकर्त्ता होने से निश्चयनय के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु एक बात निश्चित है कि उच्चभूमिका पर आरूढ जीवो का विकासक्रम परमनिश्चयनय की मुख्यता (व्यवहारनय की गौणता) से ही आगे बढता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अध्यात्मोपनिषद्' तथा 'अध्यात्मसार' मे इसी बात की ओर अगुलिनिर्देश किया है—[१] "जो पर्यायो मे ही रत हैं, वे परसमय मे स्थित हैं, और जो आत्मस्वभाव मे लीन हैं, उनकी स्वसमय मे ही निश्चलता-पूर्वक स्थिरता होती है।" [२] "इस प्रकार शुद्धनय का अवलम्बन लेने से आत्मा मे एकत्व प्राप्त होता है, क्योकि पूर्णवादी (परमार्थवादी) आत्मा के अशो (पर्यायो) की कल्पना नही करते। (पर्याय जितने जानते हैं, उतनो से पूर्णद्रव्य ज्ञात नही होता। सिर्फ अश ही प्रतीत होते हैं।) स्थानाग आदि सूत्रो मे 'एगे आया' (एक आत्मा) के कथन का जो पाठ है, उसका आशय भी यही माना गया है।" अत जब व्यवहारनय का आश्रय ले कर कोई बात करता है तो आत्मा के अनन्त भेद हो जाते हैं, यह हम सोने के दृष्टान्त पर से पहले जान चुके हैं। सोने की जैसे अनेक चीजें बनती हैं, वैसे ही व्यवहारनय से हम प्रत्येक वस्तु के

---

१ ये पर्यायेषु निरतास्ते ह्यन्यसमयस्थिताः।
आत्मस्वभावनिष्ठानां ध्रुवा स्वसमयस्थिति ॥२६॥
—अध्यात्मोपनिषद

२ इति शुद्धनयायत्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि।
अंशादिकल्पनाऽप्यस्य, नष्टा यत्पूर्णवादिनः ॥३१॥
एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाऽऽशयो मत ॥
—अध्यात्मसार

अनेक प्रकार जानते हैं। परन्तु वस्तु (आत्मा) तो मूल में एक ही है, ये नय उसके अलग-अलग रूप है। जब आत्मा के विषय मे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कोई बात करता है, तो आत्मा के विभिन्न पर्यायो और विकल्पों को गौण करके मुख्यतया एक शुद्ध निरजन आत्मतत्व को ही देखना है। अगर कोई व्यक्ति एकान्त एक ही दृष्टि का आग्रह रख कर दूसरे का बिलकुल निषेध करता है, वहाँ यथार्थनय नही, नयाभास है, यह बात छह अन्धो के दृष्टान्त पर से समझ लेनी चाहिए। अन्धो ने हाथी कभी देखा नही था, अत जिसके हाथ मे कान आए, उसने झट कह दिया—हाथी सूप जैसा है, जिसके हाथ मे सूड आई, उसने दूसरे को झूठा कह कर कह दिया—हाथी मूसल जैसा है, तीसरे के हाथ मे पेट आया, तो उसने कहा—"हाथी तो कोठी जैसा है। चौथे के हाथ मे पैर आए तो वह बोला—हाथी तो स्तम्भ जैसा है। पाचवें के हाथ मे हाथी के दात आए तो उसने कहा—"हाथी भूंगले की तरह है, छठे के हाथ मे पूछ आई तो उसने कह दिया—हाथी तो रस्से जैसा है। इस प्रकार छहो अपने-अपने आग्रह पर दृढ थे, सभी दूसरो को झूठे व अपने को सच्चा बता रहे थे। इसी प्रकार जो एकान्तरूप से एक बात को ही पकड कर जिद्द ठान कर बैठ जाय, दूसरो को झूठा बताए, वह नयाभासी है, वह दूसरे का निषेध करता है। परन्तु जो पूर्णांश को बता कर एकरूप को गौण रखता है, अथवा एकरूप को बता कर अनेक पर्यायो को गौण रखता है, वह सापेक्षवादी यथार्थनयवादी है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय की उपयोगिता पात्र के भेद से अलग-अलग समझनी चाहिए।

इतनी बात स्पष्ट होने के बाद अब निश्चयनय और व्यवहार नय के लाभालाभ के विषय मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

व्यवहारे लख दोहिलो, कांई न आवे हाथ रे।
शुद्धनय-थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे॥

धरम०॥७॥

अर्थ

व्यवहारनय का आश्रय लेने पर लक्ष्यस्वरूप को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन

हो जाता है, क्योंकि इसमे कुछ भी हाथ नहीं आता ; जबकि शुद्ध (निश्चय) नय की स्थापना (अभेदस्थापना) के सेवन करने से (आत्मसाक्षात्कार हो जाता है), किसी प्रकार की दुविधा (सशय) (कर्ममलरहित) आत्मा के साथ नहीं रहती ।

भाष्य

व्यवहारनय और निश्चयनय से लाभालाभ

पूर्वगाथा मे व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो के पात्र कौन-कौन हैं तथा वे इनका उपयोग किस-किस तरह से करते हैं ? दोनो की अपने-अपने स्थान मे गौण-मुख्यरूप मे क्या उपयोगिता है ? यह द्योतित किया गया है, लेकिन दोनो नयो से क्या-क्या लाभ-अलाभ हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान नही हुआ, वह इस गाथा द्वारा किया गया है ।

वस्तुत गम्भीरता से सोचा जाय तो व्यवहारनय का अवलम्बन लेने पर साधक नाना पर्यायो और विकल्पो मे इतना भटक और बहक जाता है कि मूल लक्ष्य छूट जाता है, साधक आत्मा के विविध पर्यायो के भवरजाल मे फँस कर आत्मा के अभेद-एकत्व को पाना ही भूल जाता है । न ही वह आत्मा को व्यवहारनय के द्वारा पूर्णरूप से साध पाता है। उसके पल्ले केवल ऊपर के छिलके ही हाथ आते हैं, आत्मारूपी फल का जो असली तत्त्व या सारभूत पदार्थ है, वह हाथ नही आता । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे अध्यात्मयोगी को कहना पडा—"व्यवहारे लख दोहिलो" अर्थात् व्यवहारनय का आधार लेने पर लक्ष्य मिलना दुर्लभ हो जाता है । व्यवहारनय से शुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार व कर्मपरमाणु से रहित आत्मा की सिद्धि नही होती । व्यवहार से चाहे जितनी क्रियाएँ की जाय, चाहे जैसा वेश पहना जाय, चाहे जितने कर्मकाण्ड किये जाय, उसमे आत्मलक्ष्य सिद्ध नही होता । कारण यह है कि व्यवहारदृष्टि मे मन, वचन, काया के योगो की चपलता रहती है, और योग कर्मबन्ध का कारण है , इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले आखिरकार अपने आप को केवल शारीरिक कष्ट मे ही डालते हैं, क्योंकि उससे कर्मबन्ध सर्वथा समाप्त न होने से भले ही देवलोक आदि सुगति में मनुष्य गया, उनमे उसे अनेक सुखसुविधाएँ मिली, खूब ऐश-आराम मिला, लेकिन उससे जन्म-

मरण का चक्कर मिटा नही। केवल एक खड्डे मे से निकल कर दूसरे खड्डे मे पडने सरीखी बात हुई। यो तो व्यवहारचारित्रपालक साधक ने मेरुपर्वत जितने रजोहरण-मुखवस्त्रिका, पात्र आदि ढेरो अपना लिए, परन्तु इससे कोई वास्तविक लाभ—जन्ममरण से मुक्तिरूप फल नहीं मिला। इसीलिए कहा गया—"काई न आवे हाथ रे" व्यवहारनय की दृष्टि से चाहे जितनी क्रिया की जाय, आत्मसाक्षात्कार नही होता, कुछ पल्ले नही पडता। अलबत्ता, उसे सासारिक लाभ तो मिलता है, अच्छी गति और सुखसुविधाएँ मिल जाती हैं, पर उसे जो पारमार्थिक लाभ मिलना चाहिए, उसके अनुपात मे तो यह लाभ बिलकुल नगण्य है। कोई भी दीर्घद्रष्टा मनुष्य ऐसे तुच्छ लाभ के लिए काम नही करता, वह तो किसी स्थायी लाभ के लिए ही प्रयास करता है। जैसे किसी मजदूर को सारे दिन मेहनत करने पर एक पैसा मिले, वैसे ही बात सारी जिंदगीभर बिना समझ के क्रिया करने की है। इस तरह तो एक नही, अनेकों जिंदगियाँ बीत जाँय, फिर भी कुछ वास्तविक लाभ नहीं होता। यही कारण है कि व्यवहार के आश्रय से लक्ष्य—शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार—प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि जब तक आत्मा के साथ कर्म का एक भी परमाणु होगा, तब तक आत्मा संसारी कहलाएगा, इस परमार्थ को लक्ष्य मे रख कर कहा गया है,-'व्यवहारे लख दोहिलो'। निष्कर्ष यह है कि व्यवहार से द्विधाभाव मिटता नहीं लक्ष्य—आत्मा का लक्ष्य पाना कठिन हो जाता है। जबकि शुद्धनय=निश्चयनय की स्थापना को स्वीकार करने पर किसी प्रकार की दुविधा नही रहती, आत्मदशा=स्वस्वरूप का सेवन करने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, आत्मा कर्मपरमाणु से रहित हो कर सदा के लिए शुद्ध बन जाता है। द्वैतपन या भिन्नत्व जरा भी नही रहता, अद्वैत या एकत्व का अनुभव होता है। फिर यह सवाल नही रहता कि पौद्गलिक भाव और आत्मिक भाव दोनो मे से किसको स्वीकार किया जाय? निश्चयनय के आश्रय से ही साधक मोक्ष के समीप हो सकता है।

इस गाथा के परमार्थ पर विचार करने वाले मुमुक्षुओ को आगम-प्रतिपादित धर्म-शुक्लध्यान पर विचार करना चाहिए। शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद के विषय मे कहा है—'समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति' अर्थात् जब आत्मा केवल

आत्मस्वरूप में ध्यान में आरूढ हो जाता है, तब शरीर की श्वास-प्रश्वास क्रिया आदि सूक्ष्मक्रिया भी बंद हो जाती हैं। इस दशा को परम निर्विकल्प भी कहते हैं, क्योंकि इस दशा में कोई भी स्थूल, सूक्ष्म, कायिक, वाचिक या मानसिक क्रिया नहीं की जाती। इस आत्म-स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद उनका परिवर्तन नहीं होता। सम्भव है, इसी अर्थ का अनुसरण करते हुए इस गाथा में कहा गया है—'शुद्धनय-स्थापना सेवता नवि रहे दुविधा साथ रे'

निष्कर्ष दोनों का उपयोग

परन्तु साधक जब तक संसारी है, अथवा इतनी उच्चभूमिका तक नहीं पहुँचा है, वहा तक वह व्यवहार को बिलकुल फैंक नहीं देगा। उसे अपनाये बिना कोई चारा ही नहीं है, परन्तु कोरे व्यवहार को पकड कर चलेगा तो उससे कोई लाभ नहीं है, जब साधक (छद्मस्थ) शुद्ध निश्चयनय को ले कर चलेगा तो उसे यह निर्णय करना पडेगा कि आत्मा का मोक्ष (कर्मबन्धन से छुटकारा) कैसे हो ?, और उसी प्रकार का व्यवहार अपनाना पडेगा। 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इस सूत्र के अनुसार समझ-(ज्ञान) पूर्वक जो क्रिया मोक्षसाधक होगी, संसारपोषक नहीं होगी, उसे ही अपनाएगा। अन्यथा, बिना ज्ञान के केवल क्रियाएँ करने से संसार में जन्ममरण का चक्कर नहीं मिटेगा। मतलब यह है कि केवल व्यवहार की रक्षा के लिए चाहे जितनी क्रियाए की जाएँ, उनमें वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आत्मिक दृष्टि से यथार्थ एवं स्थायी लाभ नहीं होता। वह तो ज्ञानपूर्वक क्रिया की जाय, तभी मिलता है। अतः शुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों का समन्वय करना चाहिए। इस प्रकार आत्मस्वरूप का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए निश्चयदृष्टि के साथ ज्ञानपूर्वक व्यवहार का संयोजन कर लेना चाहिए। पौद्गलिकभाव और आत्मिक भाव इन दोनों में अन्तर को ध्यान में रखते हुए निश्चयनय से सिर्फ आत्मिकभाव ही उपादेय समझना चाहिए, ताकि किसी प्रकार की दुविधा या गडबड न रहे और अन्त में अपना कार्य सिद्ध हो। इस पर से श्रीआनन्दघनजी अन्त में प्रभु से शुद्ध निश्चयदृष्टि की प्रार्थना करते हैं—

एकपखी लख प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे।
कृपा करी ने राखजो, चरणतले ग्रही हाथ रे ॥धरम०॥८॥

अर्थ

हे जगन्नाथ प्रभो ! आपके साथ मेरी प्रीति का वर्तमान मे लक्ष्य एकपक्षीय (एकतरफी) है, व्यवहारनय तक है; अथवा आपके साथ मेरा प्रेम एकतरफी है, इसे देख कर भी मुझ पर कृपा करके मेरा हाथ पकड़ कर आप अपने चरणकमल के नीचे रखना, अथवा आप अपने चरण (सामायिक आदि चारित्रभाव) मे पकड कर रखना, वहाँ से जरा भी खिसकने न देना ।

भाष्य

परमात्मा के साथ एकपक्षीय प्रीति

श्री आनन्दघनजी पूर्वगाथा मे निश्चयनय का लाभ समझने के बाद निश्चयनय के साक्षात्प्रतीक वीतराग प्रभु के साथ एकत्व साधना चाहते हैं, लेकिन अपनी निबलता को भी वे प्रकट कर देते हैं कि श्रीअरहनाथ प्रभो ! मेरी प्रीति तो आपके साथ एकतरफी है । उसका कारण यह है कि आपके और मेरे बीच मे काफी अन्तर है । मैं निश्चयदृष्टि को मानता हुआ भी व्यवहारदृष्टि को मुख्यता देता हूँ, जबकि आप तो एकमात्र निश्चयनय के मूर्तिमान प्रतीक हैं, व्यवहार से बिलकुल दूर, अतिदूर ! इसलिए आपकी और मेरी प्रीति कैसे टिकेगी ? 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' इस नीतिसूत्र के अनुसार आपकी और मेरी मैत्री या प्रीति टिकनी कठिन है । क्योंकि समान शील और समान स्वभाव वालो मे आपस मे मैत्रीभाव शोभा देता है, और मैं अपनी बात आप से क्या कहूँ ? आप तो जानते ही है कि मैं अभी तक रागी-द्वेषी हूँ, आप वीतराग, द्वेषरहित हैं । मैं हास्य-रति आदि मे फँसा हुआ हूँ, आप इनसे बिलकुल रहित हैं, मैं वेदी हूँ, आप निर्वेद हैं, ऐसी परस्परविरुद्ध मेरी आपके प्रति प्रीति है । इनके बावजूद भी मैं आपके प्रति चाहे जितना प्रेम करूँ, फिर भी वह एकपक्षीय है, क्योंकि आप तो राग-द्वेषरहित होने के कारण किसी के प्रति प्रेम करते नही, इस दृष्टि से भी आपके प्रति मेरी प्रीति एकपक्षीय है, मैं व्यवहारदृष्टि से आपके व मेरे बीच मे कई पर्यायो व विकल्पो का फासला देख रहा हूँ परन्तु आप चाहे जितने बडे जगत् के नाथ हो, निश्चयनयदृष्टि से तो मैं भी आपके जैसा ही हूँ, शुद्ध-बुद्ध हूँ । इसलिए आप मेरी एक प्रार्थना अवश्य स्वीकार करना—"हे जगन्नाथ (अरहनाथ) भगवन् ! आप जगत् के प्राणिमात्र के हितकर्त्ता हैं, सबका क्षेम-कुशल करने वाले हैं,

आपका धर्म, आपका स्वरूप आदरणीय है, क्योंकि निर्दोष और परम उदार स्वामी का शरण किसे प्रिय न होगा ? मैं सद्गुरु की कृपा से स्वसमय-परसमय का एव परमात्मा के धर्म का महत्व समझा हूँ। इसीलिए मैं आपके साथ प्रीति करता हूँ। यद्यपि मेरी प्रीति एकपक्षीय है, तथापि मुझे विश्वास है कि मैं आपके आदर्श का सेवन कर रहा हूँ, वह बारबार मुझे मिला करे, इस प्रकार की कृपा करना। 'मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुह्य चलणाण' —आपके चरणो की सेवा मुझे भव-भव मिला करे। निश्चयदृष्टि से मैं आपके जैसा शुद्ध आत्मा हूँ, इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरा हाथ पकड कर मुझे अपने चरण-कमलो की सेवा अवश्य दें, मेरे जीवन को अपने चरणो (चारित्रगुणो) मे लगाए रखें। मैंने जब आपको आदर्श, आपके परमधर्म का स्वीकार किया है, और आपके आदर्श के अनुरूप होने का निश्चय किया है। मैं अभी तक सिद्धदशा मे नही आया, साधकदशा मे ही हूँ। अत उससे मेरा पतन न हो, इसलिए आप मेरा हाथ पकड कर अपने चरणो मे रखने की कृपा करें, ताकि भविष्य मे मैं परमार्थ प्राप्त कर सकूं। अगर आप सरीखे समर्थ पुरुष मेरा हाथ पकडेंगे और आपकी चरणसेवा का लाभ मिला करेगा, तो जो इस समय मेरी एकपक्षीय प्रीति या सेवा है, उसका लाभ मुझे जरूर मिलेगा और सभी कार्य सिद्ध हो जायेंगे।

परमात्मा के प्रति एकपक्षीय प्रीति क्यों ?

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि जब परमात्मा किसी से प्रीति नही करना चाहते, तब एकपक्षीय प्रीति करने से क्या लाभ है ? इसका समाधान यो किया जा सकता है कि वर्तमान मे साधक भले ही रागद्वेषादि से लिपटा है, लेकिन अगर वह दोषी वृत्ति वालो के साथ ही प्रीति करता रहेगा तो उसके दु खो का कभी अन्त ही नही आएगा। उसके विभावभाव मे परिवर्तन नही होगा, न कभी स्वभावभाव का अनुभव होगा और न आत्मानन्द का ही। काम, क्रोधी, लोभी, रागी और द्वेषी देवादि के साथ तो इस जीव ने अनन्तबार प्रीति की है, उन्हे अपने स्वामी माने, लेकिन इससे उसका दु ख बढता ही गया, जन्ममरण कम न हुआ। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी पहले अपने आपकी असलियत को स्पष्ट कर देते हैं—

'एकपखी लख प्रीतनी तुम साथे जगनाथ रे'। अर्थात् यद्यपि आप वीतराग हैं, मैं रागद्वेषप्रधान हूँ, तथापि एक वस्तु अवश्य विचारणीय है कि मैं आपके साथ जो प्रीति कर रहा हूँ, एकपक्षीय होते हुए भी उसे कृपा करके आपको निभानी है। क्योंकि भक्त के हृदय में जब भावभक्ति जागृत हो जाती है, तब भगवान् स्वयं भक्त का हाथ पकड़ कर अपने चरणकमल में रख लेते हैं। और आपके चरणकमल में रहने वाले में रागद्वेष की वृत्तियाँ रहेंगी ही कहाँ? वे दुर्वृत्तियाँ तो अपने-आप भाग जाएँगी। राग-द्वेष या तो रागी द्वेषी की सोहबत से बढते हैं या राग द्वेष के कार्यों से बढते हैं। आपके पास तो रागद्वेष का अंश भी नहीं है, और रागद्वेष बढाने वाला कोई पदार्थ भी नहीं, आप तो परम वीतरागी है, तब रागद्वेष बढेगा ही कैसे? आपके पास तो सिर्फ आत्मानन्द है। भक्त जब बारबार इसी का लक्ष्य रख कर आपके चरण (सामायिकादि चारित्र) का सेवन करेगा तो वह अवश्य ही आपके जैसा बन जाएगा। इसलिए मैं अन्तःकरणपूर्वक आपके साथ प्रीति करने की भावना प्रगट कर रहा हूँ। अत हे जगत्पति! आप मुझे हाथ पकड कर अपने चरणकमलों में रख लें, मैं इससे अवश्य ही कृतकृत्य हो उठूंगा। इसलिए एकपक्षीय प्रेम होते हुए भी निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा का शुद्ध आत्मा के साथ प्रेम है, और वह उचित भी है, वही अन्ततोगत्वा, मेरा कार्य सिद्ध कर सकेगा।"

अन्तिम गाथा में श्री आनन्दघनजी परमात्मा का व्यवहारिक रूप कैसा है? इसे बताते हुए उनके परम धर्म के सेवन का फल बताते हैं—

चक्री धरमतीरथतणो, तीरथ फल ततसार रे।
तीरथ सेवे ते लहे, 'आनन्दघन' निरधार रे॥ धरम॥०८॥

अर्थ

आप तो धर्मतीर्थ के बडे चक्रवर्ती हैं। आपके तीर्थ का सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्षफल या फल तो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के साररूप अनन्त-चतुष्टय या आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। ऐसे सच्चे तीर्थ की कोई भक्तिभाव से सेवा करता है, वह आनन्दघनरूप (आत्मानन्द समूहरूप) निर्वाणपद को अवश्य ही प्राप्त करेगा।

भाष्य

वीतरागप्रभु के धर्म की प्राप्ति कैसे और क्यों?

पूर्वगाथाओं में वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथ के परमधर्म की प्राप्ति की

जिज्ञासा के सन्दर्भ मे स्वसमय-परसमय, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक व निश्चयव्यवहार की बातें समझाई थी। अत उसी सन्दर्भ मे यहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष मे वीतरागप्रभु के धर्म का दर्शन और उनके स्वीकार का फल बताया गया है। वास्तव मे परमात्मा का धर्म निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे सकता, निश्चयदृष्टि मे तो अमूर्त एकत्वस्वरूप अखण्ड अरूपी आत्मा का केवल कथन हो सकता है, या आत्मस्वरूपरमण की बात कही जा सकती है। उसका आचरण तो व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है। हा तो, इसी दृष्टिकोण से यहाँ परमात्मा के तीर्थंकररूप का वर्णन किया गया कि 'चक्री धरमतीरथतणो।' वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथजी सिद्ध हो गए, तब तो उनके परमधर्म को कोई जान नही सकता, सिद्धत्वदशा प्राप्त किए बिना, उस आदर्श के सम्बन्ध मे यथार्थ कल्पना तो हो सकती है, अनुमान एव आगम प्रमाण से भी वे जाने जा सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्षरूप मे नही। प्रत्यक्ष साकार एव सदेहरूप मे भगवान् को जानने के लिए उनका तीर्थंकर या उससे पहले का रूप जानना-देखना आवश्यक है। तीर्थंकर पद से पहले का उनका गृहस्थ-जीवन या चक्रवर्तीजीवन खास प्रेरणादायक या धर्म के आदर्शरूप मे प्राय अनुकरणीय नही होता। इसी हेतु से यहाँ [1] धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती के रूप में भगवान् का निरूपण किया है। यद्यपि दीक्षा लेने से पहले श्रीअरहनाथ प्रभु चक्रवर्ती (राजराजेश्वर) थे, किन्तु उसका इतना मूल्य नही, जितना धर्मचक्रवर्ती का मूल्य है। आप स्वसमयरूप परमधर्म की प्राप्ति जगत् के भव्यजीवो को कराने और उन्हे ससारसागर से पार उतार कर मोक्षप्राप्ति कराने के लिए धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती बने। धर्मतीर्थ एक ऐसा तीर्थ है, जो जीव को नरकादि दुर्गति से बचा कर सद्-गति प्राप्त कराता है, अथवा जन्म, जरा, व्याधि और मरणरूप भय से सर्वथा मुक्त करके अजर-अमर सिद्धत्व (मोक्ष) पद को प्राप्त कराता है। धर्मतीर्थ का मतलब ही होता है—जो तारे, सामने वाले किनारे जाने का रास्ता बताए, वह तीर्थ कहलाता है। भगवान् ने सभी भव्यजीवो को ससारसमुद्र से तारने के लिए [1] धर्मतीर्थ (धर्ममय सघ) की स्थापना की। धर्म का आसानी से आचरण कर सकने के लिए उसे सघबद्ध किया।

---

१ — 'धम्मवर-चाउरत चक्कवट्टी'- नमोत्थुण-शक्रस्तव

साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चारो धर्माचरण करने वाले साधकों के सघ (समूह) को धर्मतीर्थ माना गया। नदी या तालाव आदि पर वंधे हुए घाट को भी तीर्थ कहते हैं। घाट वन जाने पर प्रत्येक व्यक्ति नदी या तालाव के पानी का आसानी से उपयोग कर सकता है, उसमे तैर भी सकता है। उसी प्रकार धर्म का घाट तीर्थंकर द्वारा वांध दिये जाने पर उस धर्मतीर्थ के के माध्यम से प्रत्येक भव्यजीव धर्मरूपी जल का आसानी से सेवन, आचरण और उपयोग कर सकता है और उस परमधर्म के द्वारा तैर भी सकता है इसीलिए आपने केवल अपना ही आत्म-कल्याण नहीं किया, केवल स्वय ही नही तिरे, जगत् के जिज्ञासु भव्यजीवों का भी इस धर्मतीर्थ की स्थापना करके कल्याण किया और उन्हे भी ससारसागर से तारा। इसी प्रकार भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। धर्मचक्र ने सूर्य के चक्र से दसगुनी भव्यता होती है, तीर्थंकर भगवान् के मुक्ति पधारने के बाद भी उनका धर्मचक्र ससार के लिए आदर्श होता है वह धर्मचक्र अपनी शरण में आने वालो की चारों गतियो का अन्त कर देता है।

धर्मतीर्थ के आश्रय का फल

प्रभो[1] आपके तीर्थ के अस्तित्व का फल जगत मे सारभूतरूप उत्तमतत्व का प्राप्त होना है अथवा तीर्थ का आश्रय करने का फल सारभूत तत्वो का बोध होना है। जीव, अजीव आदि नौ तत्वो का ज्ञान और उनमे से हेय और उपेक्ष्य का त्याग, और उपादेय और ज्ञेय का स्वीकार, तथा उपादेय एव ज्ञेय तत्वो पर श्रद्धा रखना, यही तीर्थ प्राप्त करने का उत्तम फल है। और परम्परागत फल ससार-सागर के पार हो कर मोक्ष प्राप्त करना है साधु साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ का आप जैसे महापुरुष भी 'नमो तित्थस्स' कह कर नमस्कार करते हैं, ऐसे तीर्थ को मैंने प्राप्त किया है, इसे नमस्कार करके उसकी सेवा कर सकूं, यही मेरा अहोभाग्य होगा। ऐसे तीर्थ का स्वीकार करने के बाद तो आपश्री को मैं अपने आदर्श नाथ (स्वामी) के रूप मे स्वीकार करूँ, उसका अनुसरण करूँ और आपके परमधर्म को प्राप्त करके आत्मा-

---

१ 'धम्मतित्थयरे जिणे'-लोगस्ससूत्र १

नन्दघन प्राप्त करू, यही मेरी जिज्ञासा है। और मेरा निश्चय है कि मैं अवश्य आनन्दघनमय मोक्षपद या आत्मानन्दमय सिद्धपद प्राप्त करूंगा।

इस गाथा मे एक बात स्पष्ट ध्वनित कर दी गई है कि जहाँ तक सर्वोच्च भूमिका प्राप्त न हो जाय, वहाँ तक व्यवहार-दृष्टि मे तीर्थ का आलम्बन लेना और तीर्थसेवा करना मुख्य आधार है। तीर्थ-निरपेक्षरूप मे बाहुबलिमुनि की तरह चाहे जितनी साधना की जाए, फिर भी तत्व प्राप्त नही होता। प्रत्युत कई बार तो विपरीत भाव या तीर्थ या तीर्थंकरो अथवा महापुरुषो या साधको के प्रति घृणाभाव पैदा हो जाने से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता हैं। स्वय तीर्थंकर भगवान् भी अपने कल्प का अनुसरण करते हुए तीर्थसापेक्ष होकर प्रवृत्ति करते हैं। सभी भूमिका वाले साधको के लिए जैनशासन मे तीर्थ का आलम्बन लेना आवश्यक होता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी जैसे उच्च आध्यात्मिक साधको ने अपना नया मत, पथ या सम्प्रदाय नही चलाया, बल्कि अन्त तक तीर्थ (सघ) का ही आश्रय लिया, तीर्थपति के ही चरणो मे अपना सर्वस्व समर्पण करके अपनी साधना का विकास किया। इससे फलित होता है कि साधकों को सर्वोच्च भूमिका पर पहुँचने से पहले तक निश्चयदृष्टि को आखो से जरा भी ओझल नही होने देना चाहिए, साथ ही व्यवहारदृष्टि को भी सर्वथा नहीं छोडना चाहिए।

निश्चयनय और व्यवहारनय से सिद्ध आत्मधर्मो का विचार दो तरह से करना चाहिए —एक तो ज्ञानदृष्टि से, दूसरा चारित्रदृष्टि। से ज्ञानदृष्टि वस्तु का सिर्फ ज्ञान कराने मे मुख्य होती है, जबकि चारित्रदृष्टि आचरण-प्रधान होती है। किसी जीव के कितने ही कर्म ज्ञानबल से टूटने योग्य होते हैं, जबकि कितने ही कर्म आचरण करने से, तपस्यादि करने से टूटने योग्य होते हैं। अत ऐसे कर्मो को तोडने के लिए आचरण करना पडता है। और वह क्रमश ही हो सकता है। प्राथमिक क्रम व्यवहारनयसिद्ध आचरण का आता है, और फिर निश्चयनयसिद्ध आचरण का आता है। इसमे धर्मध्यान और शुक्लध्यान-निर्विकल्प (असग) ध्यान मे समताभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए चिदानन्दमय आत्मा के अनुभव आदि का समावेश होता है। उस स्थिति मे व्यवहारनय की क्रिया छोडनी होती है, जिसे धर्मसंयासामर्थ्ययोग कहते हैं और वह ८ वे अपूर्वकरण नामक गुणस्थान से ही प्राप्त हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कोई भी जीव व्यवहारमार्ग में क्रमशः ही आगे बढ़ सकता है। किसी जीव की अनादिकालीन तथाभव्यता ऐसी होती है कि व्यवहारनयसिद्ध मार्ग में उसे बहुत ही कम चलना पड़ता है, वह सीधा निश्चयनयसिद्ध मार्ग पर चढ जाता है और तुरन्त मोक्ष में चला जाता है। जैसे—मरुदेवी माता। भरतचक्री आदि ने तो पूर्वभव में सर्वविरतिचारित्र की आराधना की हुई थी, इसलिए वे तो व्यवहारमार्ग से गुजरते-गुजरते ही निश्चय-सिद्ध आचरण के मार्ग पर आ कर केवलज्ञान प्राप्त कर सके हैं। मगर बीच की भूमिकाएँ पार किये बिना सीधे निश्चयनय की भूमिका पर आरूढ होने वाले जीव बहुत ही थोड़े होते हैं। अधिकसंख्यक जीवों की तथाभव्यता क्रमशः चढ़ाने की होती है, इसलिए अपुनर्बन्धकभाव की अवस्था से ले कर ठेठ सर्वविरति-अवस्था तक में चलने वाले बहुत जीव होते हैं। प्रत्येक ग्राहक प्रत्येक किस्म के माल को नहीं खरीदता, परन्तु दूकानदार को तो सभी किस्म का माल रखना पडता है। इसी प्रकार धर्म-(शासन) तीर्थ को भी भिन्नभिन्न कोटि के धर्मनिष्ठ जीवों को लक्ष्य में रख कर आत्म-विकास के छोटे-बड़े तमाम साधनों का प्रचार और सुविधा जुटानी पड़ती है।

इसीलिए जिनशासन में व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की दृष्टि से पहले से ले कर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों को स्थान है। गौतमादि गणधर भी संघशासन के अनुशासन में रहते थे। जो व्यक्ति नीची भूमिका का हो, उसे का निश्चयनय की ऊँची भूमिका की बात कह कर हटाना ठीक नहीं और न निश्चय की उच्चभूमिका की योग्यता हो, उसे नीची भूमिका पर आना है। परन्तु उच्चभूमिका वाले में नीची भूमिका वाले जितनी चारित्र की मात्रा (नैतिक भूमिका) तो होनी ही चाहिए। किन्तु नीची भूमिका वाले उच्च-भूमिका के अयोग्य व्यक्ति में बुद्धिभेद पैदा करके इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट करना बिलकुल अनुचित है, पाप है। यही निश्चय और व्यवहार का रहस्य है।

सारांश

इस प्रकार इस स्तुति में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से परमात्मा के परमधर्म की जिज्ञासा प्रकट की है। परन्तु आगे चल कर यह बताया गया है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मानुभव एक वस्तु है, इसी आत्मा के अनन्त

पर्याय हैं। पर्यायदृष्टि से अनेक रूप धारण करते हुए भी आत्मा तो सोने की तरह एक ही है। अत. जैसे सोने के विविध गुण और पर्याय सोने से अलग नही हैं, उसी में समा जाते हैं, वैसे ही आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि गुण या देव-मनुष्यादि पर्याय आत्मा से अलग नही है, उसी मे समा जाते हैं। अत निष्कर्ष यह है कि आत्मा को द्रव्यदृष्टि से एक और नित्यरूप मे देखने और निजस्वरूप सिद्ध करने का,यह सब प्रयास है। इसी प्रकार पर्यायदृष्टि (व्यवहार-नय) को छोड कर द्रव्यदृष्टि से देखने का भी मुख्य सकेत यहाँ किया गया है। जहाँ तक पर्यायदृष्टि नही छूटेगी, वहाँ तक ससार-परिभ्रमण है, व्यर्थ प्रयास है। अत निश्चयदृष्टि से आत्मा को अनन्त, नित्य, अव्याबाध, रत्नत्रयमय जान कर ही निर्विकल्प रस पीने पर आनन्दघनपद की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय को मद्देनजर रखते हुए ज्ञानपूर्वक जो व्यवहार हो, तीर्थसेवा हो, उसमें पीछे नही रहना चाहिए, तभी वीतराग-परमात्मा का परम धर्म हस्तगत हो सकता है।

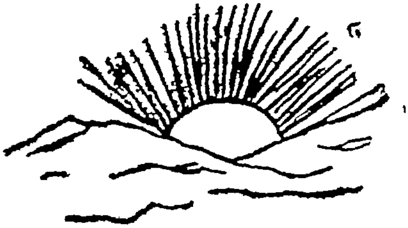

१९: श्रीमल्लिनाथ जिन-स्तुति--

दोषरहित परमात्मा को सेवकों के प्रति उपेक्षा

(तर्ज—काफी, सेवक किम अवगणीए,देशी)

सेवक किम अवगणिये हो, मल्लिजिन ! ए अव शोभा सारी।
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारी, हो॥
मल्लि ० ॥ १॥

अर्थ

हे मल्लिनाथ तीर्थंकर प्रभो ! आप (आपकी आत्मा को अनादिकाल से सेवा करने वाले) इन सेवकों (काम, क्रोध, रागद्वेषादि) की अवगणना (उपेक्षा) क्यों कर रहे है ? दूसरे जीव जिन काम-क्रोधादि) को बहुत ही आदर देते हैं, उन्हें आप तो जड़मूल से नष्ट कर रहे हैं ! क्या इस समय यह सब आपके लिए शोभास्पद है ? (व्यंग में)

भाष्य

मधुर उपालम्भ

पूर्वस्तुति मे वीतराग परमात्मा के परम धर्म की जिज्ञासा की बात थी, इसमे वीतराग परमात्मा की उन सेवको के प्रति उपेक्षा के लिए श्रीआनन्दघनजी भक्ति के आवेश मे आ कर मधुर उपालम्भ देते हैं कि आप तो वीतराग हो गए, जो लोग आपके स्वसमय या स्वधर्म के अन्तर्गत आ गए, उनके प्रति तो आपका कुछ लगाव प्रत्यक्ष नही तो, परोक्षरूप से है ही, वे लोग तो आपको अपना ही मानते हैं, इसलिए उन्हे आपके द्वारा नही तो, आपके भक्त कहलाने वाले लोगो द्वारा आदर-सत्कार मिलता है, लेकिन जो लोग आपके स्वधर्म या स्वसमय के अन्तर्गत नहीं आए, उनके प्रति आपका भी उपेक्षाभाव है और आपकी देखा देखी आपके भक्तो और अनुयायियो का भी उपेक्षाभाव है ! अत हे रागद्वेष-रहित प्रभो ! आपको न तो किसी के प्रति जरा-सा भी राग (लगाव) होना चाहिए और न किसी के प्रति उपेक्षा या घृणा (द्वेष) का भाव ! आपको तो समभाव होना चाहिए। परन्तु मैं मानता हूँ कि आपको वीतराग हो जाने के बाद न तो भक्तो के प्रति राग है और न अभक्तो के प्रति द्वेष, मगर वे लोग या हम लोग आपकी तटस्थता और उदासीनतारूप समता को देख कर यह

अनुमान लगा लेते हैं कि आप बिलकुल चुप हैं या बिलकुल संकेतरहित हैं, इसलिए आपका उन सेवकों के प्रति वर्तमान में उपेक्षाभाव है, जिन्होंने लाखों-करोड़ों वर्षों तक आपकी सेवा की थी, आपकी सेवामें वे रात-दिन रह रहे थे, आपको एक क्षण भी अकेला नहीं छोड़ते थे। मेरा संकेत उन सेवकों के प्रति है, जिनसे आपने अब एकदम मुख मोड़ लिया है? आप बड़े आदमी है, महान् पुरुष हैं, क्या आपके लिए अपने सेवकों को एकदम छिटका देना, और अपने भक्तों को भी उनके प्रति तिरस्कार करने की प्रेरणा करना शोभास्पद है। जो (रागद्वेषादि) आपके अत्यन्त निकटवर्ती थे, उन्हें बिलकुल दूर ठेल देना और जो आपसे दूर-दूर रहते थे, उन्हें अपने नजदीक ले लेना, उनसे आत्मीयता स्थापित करना, क्या आप जैसों के लिए न्यायोचित है? माना कि आप महापुरुष हो गए और वे बेचारे एकदम नीची कोटि के रह गए, पर उन्हें ठुकराना तो नहीं चाहिए था, उन्हें उचित स्थान तो आपको देना ही चाहिए था? परन्तु आपने उन्हें उचित स्थान देना तो दूर रहा, उन्हें अपने पास भी नहीं फटकने दिया, आपने तो उनकी जड़े ही काट दी, उन्हें अपने पास से हटा दिया सो हटाया ही, अपने भक्तों को भी हिदायत दे दी कि वे भी उन्हें किसी प्रकार की तरजीह न दें, किसी प्रकार से अपनाएँ नहीं, जो उन्हें अपनाएगा, वह मेरे तीर्थ या धर्मचक्र का अनुयायी नहीं रह सकेगा, रहेगा तो भी उसका स्थान और दर्जा नीचा होगा। आप जानते ही हैं कि जो सेवक बेदिल हो जाता है, वह दुश्मन का-सा काम करता है, आपके वे पुराने तथाकथित सेवक अब आपके शत्रु बन गए और आपके भक्तों या अनुयायियों को सता रहे हैं, आपके साथ वैर का बदला उनसे ले रहे है।

एक बात और है, आपने जिन सेवकों को उपेक्षित समझ कर निकाल दिया, उन्हें दूसरे सामारिक जीव या मिथ्यादृष्टि देव बहुत ही आदरसम्मान देते हैं, मगर आपने तो उन्हें जड़मूल से नष्ट कर दिया और कह दिया—'तुम्हें कहीं स्थान नहीं मिलेगा।, क्या वर्तमान में आपके ऐसा करने से, आपकी सुन्दर शोभा होती है? अथवा वर्तमान स्थिति में उनके प्रति ऐसा करने में ही आपकी सारी शोभा है? पहले उन्हें आदर देने में ही आपकी सुशोभा थी, अब उन्हें सर्वथा छुट्टी दे देने में ही आपकी सारी शोभा है? यह सच है कि पुराने से पुराने सेवक होते हुए भी यदि वे अपना अहित करते हों,

गुनहगार साबित हो, उन्हे अपनाने मे दारुण परिणाम ही आता हो तो उन्हें निकाल देने मे सच्ची शोभा है। 'सेवक किम अवगणीए' के बदले यहाँ 'सेवक किम अव गणीए' यो पाठ हो तो उसका अर्थ सगत हो जाता है कि दोषी सिद्ध हो जाने के बाद अब सेवक कैसे गिना (समझा) जा सकता है ?

अथवा इस गाथा का एक और पहलू से भी अर्थ किया जाता है— हे मल्लिनाथ भगवान् ! मैं आपका सेवक हूँ। आप मेरे स्वामी हैं, फिर भी आप मेरे प्रति उपेक्षा क्यो करते हैं ? आप जैसे सुज्ञ पुरुष मुझ सरीखे सेवा करने वाले की अवगणना क्यो करते हैं ? क्या इसमे आपकी कुछ शोभा या महत्ता बढ जाती है ? मैं जानता हूँ कि आप महान् विजेता हैं, क्योकि आपने ससार के सभी दुःखो को देने वाले राग-द्वेषादि शत्रुओ को जीत लिए हैं और उन राग-द्वेषादि के नीचे दबी हुई अपनी अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर ली। आपकी इस प्रकार की शोभास्पद एव सर्वोच्च होते हुए भी आप मेरे सरीखे एक सेवक की अवगणना करे, उपेक्षा करें, क्या आपके लिए यह शोभारूप है ? यह तो सर्वविदित है कि स्वामी को जब विशेष लाभ या जय मिलता है तो सेवक को कुछ इनाम मिलता है, परन्तु आप तो सेवक की अवगणना (तिरस्कार) कर रहे हैं ?

इस गाथा के प्रारम्भ मे 'सेवक किम अवगणीए, के बदले जब 'सेवक किम अव गणीए' पढते हैं तो इसका समाधान हो जाता है, शायद श्रीआनन्दघनजी उसी बात को हृदय मे रख कर कहते हो कि 'भगवन् ! आप ऐसे सेवक को कब सेवक गिन (समझ) सकते है, जो आपके शत्रुओ को अपनाता हो, आदर देता हो ? आपके प्रति भक्तिभावना से मुझे अपनी एक भूल नजर आती है कि आपने जब अनन्तकाल के साथी वैभाविक गुणो—राग-द्वेष, काम, क्रोध, तृष्णा आदि को निर्मूल कर दिया है, उन्हीं राग-द्वेषादि को मैंने अपना रखे हैं, उन्हे मेरे जैसे अनेक जीवो ने आदर दे रखा है, दे रहे हैं, तब उस नामधारी तथाकथित सेवक (मेरे जैसे सेवक) को आप कैसे आदर दे सकते है ? जहाँ तक अज्ञानी जीव मे इन दुर्गुणो के साथ मेल रहे, वहाँ तक आप सरीखे पूर्ण गुणी के साथ उनका मेल कैसे बैठ सकता है ?

इस प्रकार भक्ति के आवेश मे श्रीआनन्दघनजी द्वारा वीतरागप्रभु

को मधुर उपालम्भ पहले लाखो करोडो वर्ष पुराने राग-द्वेषादि तथाकथित सेवको को ले कर, और दूसरे अर्थ की दृष्टि से स्वय को ले कर दिया गया उसका वे स्वयमेव समाधान पा लेते हैं।

वास्तव मे तीर्थंकर मल्लिनाथ सम्यग्दृष्टि बनने से पहले राग-द्वेषादि को अपने आत्मीय मानते थे, बाद मे समझ आने पर एक मल्ल (पहलवान) की तरह आत्मा का अहित करने वाले, की-कराई साधना को चौपट करने और चारगतियो मे भटकाने वाले उन रागद्वेषादि को शत्रु-सा कार्य करने वाले समझ कर उनमे भिड पडे और उन्हे बिलकुल पछाड दिया, जडमूल से उखाड़ कर फेंक दिया। उन पुराने तथाकथित सेवको के उन अपराधो-दोषो को देख कर वीतराग भगवान् उनकी सेवको मे गणना कैसे कर सकते थे? उन्होंने अवगणना की और अपने तीर्थ के अनुयायियो को भी उनसे सावधान रहने का निर्देश किया। उनका यह कार्य शोभास्पद ही है।

इसीलिए उन पुराने तथाकथित १८ सेवको (वैभाविक गुणो और आत्मा के अहित करने वाले दोषों) को चुन-चुन कर वीतराग प्रभु ने फैंक दिये, उनके पैर उखाड दिये, अपने पास तक नही फटकने दिये।

भगवान् ने उन अठारह दोषो को किस प्रकार, किस क्रम से और कैसे निकाल दिये? उनके निकालने पर क्या प्रतिक्रिया हुई? इसका विवरण श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे दिया है।

सर्वप्रथम आशा-तृष्णा का त्याग

श्री आनन्दघनजी ने 'अवर जेहने आदर अति दीए, तेने मूल निवारी' इस पद मे यह वीतराग परमात्मा के द्वारा आशा-तृष्णा-त्याग का भाव द्योतित कर दिया है। दूसरे (छद्मस्थ) लोग जिस आशा (तृष्णा) को अत्यन्त आदर-सत्कार देते हैं, उसे आपने मूल से ही रोक दी, अपने पास तक फटकने नही दी। आपको किसी भी सासारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति आशा, स्पृहा या तृष्णा-लालसा नही रही। यहाँ तक कि आपने मुक्ति तक की आशा छोड दी थी। वीतरागप्रभु के जिन १८ दोषो का त्याग इस स्तुति मे बताया गया है, उनमे आशा का त्याग सर्वप्रथम दोष का त्याग है। पराई आशा हमेशा निराशा मे परिणत हो जाती है। हममे जो कुछ सत्त्व हो, उसी

से पूरा-पूरा जी-तोड पुरुषार्थ करके काम लेना चाहिए, परन्तु दूसरा मेरा काम कर देगा, यह सोचना ही गलत है। इसी कारण वीतरागप्रभु ने आशा-दासी का जडमूल से त्याग कर दिया, वह यहाँ तक कि जब वे १२ वें गुणस्थानक पर चढ़े, तब तो आपने मोक्ष की आशा भी छोड दी। इस प्रकार आप मूल से आशा के त्यागी हैं, इस पर जब मैं सोचता हूँ और अपनी ओर या दुनिया की ओर देखता हूँ तो मुझे आप से एक प्रश्न पूछने का विचार हो उठता है कि आप इस सेवक की अवगणना क्यो करते हैं ? कहाँ तो आपका आशा-त्याग का गुण और कहां लोगो की आशा ? इन दोनो का मेल कहाँ ? इसलिए आशा पर आपकी विजय मुझे आश्चर्य-चकित कर देती है कि आपकी शोभा मेरे जैसे नम्र सेवक का त्याग करने में नहीं, किन्तु उसे अपने बराबर बनाने मे है। अब श्रीआनन्दघनजी प्रभु से अपने हृदय की बात निवेदन करके चुप हो जाते है और आगे किन दोषो (तथाकथित सेवको) का कैसे कैसे त्याग किया यह बताने में लग जाते हैं—

ज्ञानस्वरूप अनादि तमारु ते लीधुं तमे ताणी।
जुओ अज्ञानदशा रिसावी, जातां काण न आणी, हो ॥मल्लि०॥२॥

अर्थ

प्रभो ! आपका अनादिकाल से ज्ञानमय (ज्ञानचेतना) स्वरूप था। (परन्तु अज्ञानदशा के कारण वह दबा हुआ था) उसे अपने केवलज्ञान प्राप्त करके खींच लिया (ऊपर ले लिया]। उसके कारण, देखिये, जो आपकी अज्ञानदशा [अज्ञानपन मे जो अवस्था] थी, उसे आपने इतना अधिक रुष्ट (क्रुद्ध) कर दिया कि वह रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर आपने उसके जाने का कोई अफसोस [शोक[नहीं किया। वास्तव मे सर्वज्ञता प्राप्त होते ही आपकी अज्ञानदशा का चले जाना, पूरा शोभारूप था।

भाष्य

अज्ञानरूप दोष का त्याग

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा मे बताते हैं कि प्रभु दूसरे दोष=अज्ञानदशा का त्याग किस तरह करते हैं और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ? प्रभु ने जब यह देखा कि यह 'अज्ञान' मेरे साथ बहुत बहुत समय से लगा हुआ है और

इसी कारण मैं जीवादि तत्त्वो के यथार्थ वोध नही कर पाता। अतः उन्होने अज्ञानदोष को, दूर करने का प्रयत्न किया।

वास्तव मे आत्मा के साथ लगा हुआ यह अज्ञानदोष अनादिकालीन है। उसके रहते आत्मा क्या है? शरीर क्या है? ये सुख-दुःख किन कारणो से आते हैं? प्राणी शरीर के कारण, कुटुम्व के दुःख को देख कर दुःखी होता है; सुगुरु, सुदेव और सुधर्म को क्रमश कुगुरु, कुदेव और कुधर्म मान कर तथा पाँचो इन्द्रियो के विषयों मे लुब्ध हो कर दुःख पाता है। धन, कुटुम्ब आदि जो पर-वस्तुएँ हैं, उन्हें अपनी मान कर दुःख पाता है, वह कर्म क्या हैं, वे क्यो और कैसे उदय मे आते हैं? उन्हे कैसे काटा जा सकता है? प्राणी इन सब बातो के अज्ञानवश अनेक बुरे (पाप] कर्म करते हैं, षट्द्रव्य को न पहिचानने के कारण स्वपर का भेदज्ञान नही हो पाता। इस प्रकार अज्ञान-दशा से ग्रस्त जीव अनादिकाल से ससार मे परिभ्रमण करता आ रहा है। इस अज्ञानदशा का सर्वथा त्याग करके ज्ञानगुण का स्वीकार करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण वात है। ज्ञान से लोकालोक प्रगट हो जाता है, और जो विचार केवलज्ञानी प्रगट कर सकता है, वही श्रुतज्ञान से श्रुतज्ञानी कह सकता है। ज्ञान से जीवाजीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध हो जाता है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, अनुजीवी गुण है। जहाँ तक आत्मा अपना स्वरूप नही जानता, वहाँ तक उसे बारबार ससार मे ठोकरें खानी पड़ती है, इसी कारण जीव ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति का सचय कर लेता है। जब आत्मा अपना ज्ञान-स्वरूप धर्म समझ लेता है, तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृति से अपने आप छुटकारा पा लेता है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'ज्ञानस्वरूप अनादि तमारू, ते लीधु तमे ताणी।' अर्थात् आपने अपना जो अनादि-स्वरूप स्वभाव, अज्ञानदशा के नीचे दवा हुआ था, अज्ञान की एडी तले कुचला जा रहा था, उसे जान कर ऊपर खींच लिया। मतलब यह है कि अज्ञान के चगुल से ज्ञान को आपने छुडा लिया और अज्ञान को छुट्टी दे दी। जब वह आपका अनादिकालीन साथी अज्ञान रूठ कर चला जा रहा था, तब भी आपने उसे मनाया नही। आप विचार तो करिए। अज्ञानदशा को आपने रुष्ट कर दिया। वह आपसे रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर भी आप उसके लिए अफसोस नही करते। अपना कोई स्नेहीजन किसी को छोड कर चला जाता हो, तो

लौकिक व्यवहार मे उसके वियोग मे लोग अश्रुपात करते हैं, शोक मनाते है, छाती कूटते है, पर आप तो किसी प्रकार का शोक करते ही नही, क्योंकि शोक आदि सब अज्ञान के कारण होता है, आपने अज्ञान को समूल नष्ट कर दिया है, और केवलज्ञान को अपना लिया, इसलिए शोक आदि का तो कोई सवाल ही नही है। आपने अज्ञानदशा का त्याग करके ज्ञानदशा अपनाई, यह भी मामूली काम नही है। आपने ज्ञान से स्वय को और ससार को प्रकाशित किया, महापुरुष बने, परन्तु इन सेवक की अवगणना क्यो कर रहे हैं ? भूल क्यो रहे है ? इन्हे भी अपनाइए, यह प्रार्थना है। आपकी यह गुणसरणी देख कर मुझे आनन्द होता है।

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरीय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दशा रीसाणी, जाणी न नाथ ! मनावी, हो ० ॥ म० ३ ॥

अर्थ

निद्रावस्था, स्वप्नावस्था, जागृत अवस्था और उजागरता=सदा जागृत-अवस्था (केवलदर्शनमय अवस्था), इन चार अवस्थाओं मे से आपको तुरीय (केवलदर्शनमय-उजागर) अवस्था प्राप्त हुई, (इसे देख कर निद्रावस्था और स्वप्नदशा और उपलक्षण से जागृत अवस्था ये तीनो आपसे बिलकुल नाराज हो गईं। आपने उन्हे रुष्ट होते जान लिया, 'फिर भी नाथ ! आपने उन्हें मनाई नहीं।

भाष्य

निद्रा और स्वप्न दोनो दोषो का त्याग

वीतराग सदा जागृत रहते हैं। उनमे द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से सतत जागृति रहती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे स्पष्ट कर दिया कि-'निद्रा सुपन जागर'........ .. .. तुरीय अवस्था आवी' वीतराग प्रभु के ज्ञानवरणीय कर्म के साथ-साथ दर्शनावरणीय कर्म भी नष्ट हो जाता है। दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियाँ होती है—(१) निद्रा, ( ) निद्रानिद्रा, (३) प्रचला (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानर्द्धिनिद्रा, (६) चक्षुदर्शनावरणीय, (७) अचक्षुदर्शनावरणीय, (८) अवधिदर्शनावरणीय और (९) केवलदर्शनावरणीय। इनमे से प्रथम निद्रादशा है, जिसमे ५ प्रकार की निद्रा का समावेश हो जाता है। निद्रा=सरलता से प्राणी जागृत हो

जाय, वह निद्रा है, निद्रानिद्रा—जिसमे प्राणी बहुत ही हिलाने, झकझोरने या जोर से आवाज देने पर जागे, उसे निद्रानिद्रा कहते हैं, प्रचला-उठते बैठते नीद आए, उसे प्रचला कहते हैं,प्रचला-प्रचला-चलते फिरते नीद आए, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। और स्त्यानर्द्धिनिद्रा-दिन को विचारा हुआ काम रात को नीद ही नीद मे कर ले, उसे स्त्यानर्द्धिनिद्रा कहते है। निद्रा की ही दूसरी अवस्था स्वप्नदशा है, जिसमे विचित्र-विचित्र स्वप्न आते हैं, यह भी नीद की ही एक दशा है। इसमे भी निद्रादशा की तरह दर्शन एक बिलकुल जाता है। यह निद्रा भी खराब है। निद्रा लेने और जागने के सम्बन्ध मे तीसरी जागृतदशा है। मनुष्य जागता हो, तब तो सभी चीजो को देख सकता है। उसका दर्शन भी उस समय जागृत रहता है। यह जागृतदशा निद्रादशा से बिलकुल उलटी है। और चौथी तुरीय अवस्था होती है। इस दशा मे सतत जागृति होती है, सर्वदा सतत दर्शन भी उपस्थित रहता है। चारो दशाओ मे से किसकी कौन-सी दशा होती है? यह विंशतिका में बताया है १ मोह अनादिनिद्रा है, भव्यबोधि परिणाम स्वप्नदशा है। जागृतदशा अप्रमत्तमुनियो की होती है। और उजागरदशा वीतराग को प्राप्त होती है। तीर्थंकरो और सिद्धो को उजागरदशा हमेशा रहती है। वे नीद चाहते ही नही। रातदिन सतत जागृत रहते हैं। यहाँ श्री आनन्दघन-जी प्रभु को मीठा उपालम्भ देते हुए कहते हैं—"नाथ! आपने जब उजागरदशा (केवलदर्शनमय अवस्था) अपना ली तब आपकी चिरसगिनी निद्रादशा और स्वप्नदशा ये दोनों आपसे पूरी तरह रुष्ट हो गई, उनके साथ आपको चिरकालीन परिचय होते हुए भी आपने उन्हे मनाने का प्रयास भी नही किया।

मतलब यह कि जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, इन चारो अवस्थाओ में से जागृत मे व्यक्ति चर्मचक्षुओ से तमाम पदार्थों को यथार्थ (यथावस्थित) रूप मे देख सकता है, स्वप्न मे जागृत अवस्था मे देखी हुई वस्तुओ को देखता है, सुषुप्ति दशा मे व्यक्ति गाढ निद्रा का अनुभव करता है, देखी-सुनी हुई किसी चीज को निद्रा मे नही देख पाता और चौथी तुरीयावस्था होती है, जिसे केवलावस्था या समाधि-अवस्था भी कहा जाता है। इसमे समस्त

---

१ "मोहो अणाइनिद्दा, सुवणदशा भव्वबोहिपरिणामो।
अपमत्तमुणी जागर, जागर उजागर वीयराउत्ति॥"

सांसारिक भाव नष्ट हो कर आत्मभाव की जागृति हो जाती है। तभी इस अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था मे तमाम वस्तुओं के गुणदोष देखे जा सकते है, इसलिए वस्तु के अवश्य मूलस्वरूप की ओर उसकी दृष्टि रहती है, यही अवस्था साक्षात्कार की है।

इस तुरीय अवस्था के समय जीव की जागृत और स्वप्नदशा चली जाती है। आत्मा तब केवलज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार कर लेती है। तब उसका अनादि अनात्म-स्वभाव निद्रा-स्वप्न आदि प्रकृति नष्ट हो जाती है। इन दोनो अवस्थाओ के चले जाने पर फिर आत्मा उनको मनाने और वापिस मोड कर लाने का प्रयास नही करता।

त्याज्य अठारह दोषो मे से तीसरे दोष-निद्रादशा और चौथे दोष स्वप्नदशा के त्याग की बात आती है। वीतरागप्रभु इन ने दोनो दोषो का त्याग करके दो गुणो को अपनाया तो उपर्युक्त दोनो दोष रुष्ट हो कर चले गए। आपने उन्हें मनाने का प्रयास नही किया। आपके लिए यही शोभास्पद है।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवारशु गाढी।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घरथी बाहिर काढी, हो ॥ म०४ ॥

अर्थ

आपने तो परिवारसहित शुद्ध सम्यकत्व के साथ गाढ सम्बन्ध (सगाई) कर लिया, यानी शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) और उसके परिवार के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ लिया। इस कारण मिथ्यामति (सत्य को असत्य मानने वाली बुद्धि) को अपराधिनी (गुनहगार) जान कर घर (आत्मरूपी गृह या मनमन्दिर) से बाहर निकाल दी।

भाष्य

प्रभु ने मिथ्यात्वदोष कैसे निवारण किया?

प्रभो! अपने पाँचवें मिथ्यात्वदोष का निवारण कैसे किया? इसकी कहानी भी आश्चर्यजनक है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के साथ मोहनीयकर्म अवश्य होता है, जिसकी मूल प्रकृति दो हैं—मिथ्यामति और मिथ्याविचारणा। प्रभु (शुद्ध आत्मा) जब आत्मभाव मे स्थिर होते हैं, तब स्वपर की यथार्थ प्रतीति होती है, और तभी से वे अपने कुटुम्बियो के साथ

सम्बन्ध जोडते हैं एव दुःख तथा व्यामोह उत्पन्न करने वाले परस्वभावी सम्बन्धियो से सदा के लिए नाता तोड देते हैं—सम्बन्धविच्छेद कर लेते है। आत्मा की आत्मीय सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का परिवार है—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य और भेदविज्ञान, विवेक आदि। अथवा सम्यक्त्व के ६७ बोलो का समावेश भी परिवार मे शुमार है।

भगवान् मल्लिनाथ जब वीतराग हो कर स्वरूप मे स्थिर हुए, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, तब क्षायिक सम्यक्त्व और उसके समस्त परिवार के साथ उन्होने ऐसा गाढ सम्बन्ध जोडा कि फिर वह कभी टूट न सके। सादि-अनन्त भग की दृष्टि से उन्होंने जब अटूट सम्बन्ध जोड लिया तो मिथ्याबुद्धि (मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्व) ने आपत्ति उठाई, और अपने हक का दावा करने लगी। किन्तु जब तक क्षायिक सम्यक्त्व नही था, तब तक तो वह चुपके-चुपके घुस जाती और अपनी मोह माया को फैला कर आत्मा को चक्कर मे डाल देती थी, लेकिन जब भगवान् ने क्षायिक सम्यक्त्व पा लिया तो उसकी पोलपट्टी का पता लगा, आत्मा के अहित करने वाले विविध अपराधो का भी पता चला। अत वीतराग परमात्मा ने कुदृष्टि (मिथ्यामति) के कारण बारबार होने वाले आत्मगुण के अवरोधो को दूर करने हेतु उसे अपराधिनी सिद्ध करके उसमे सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला और उसे अन्तरात्मारूपी घर से बाहर निकाल दी। मतलब यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही भगवान् ने मिथ्यादृष्टि का आत्यन्तिक क्षय कर डाला। बाद मे उसकी कोई परवाह नही की। इससे प्रभु के स्वभाव का पता लग गया कि वे गुणो का आदर और अवगुणो का अनादर करते हैं।

मिथ्यात्व के द्वारा होने वाले अपराध

मिथ्यादर्शन (दृष्टि) आत्मा का विविध प्रकार से अहित करता है। शास्त्रो मे मिथ्यात्व के अनेक भेद बताए गए हैं—धर्मको अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, मोक्षमार्ग को ससार का मार्ग और ससार के मार्ग को मोक्षमार्ग समझना, आठ कर्मो से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त समझना, जीव को अजीव और अजीव को जीव मानना, ये सब मिथ्यात्व हैं, जो आत्मा को वस्तु का असली स्वरूप समझने-मानने

नही देते। खरे को खोटा और खोटे को खरा मानना ही वस्तुतः मिथ्यात्व है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के मुख्य ५ एव २५ भेद हैं। ५ भेद इस प्रकार हैं—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक एव अनाभोगिक मिथ्यात्व।

(१) आभिग्रहिक—कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सुगुरु एव कुधर्म को सुधर्म माने, पकडी हुई जिद्द छोडे नही, वहाँ यह मिथ्यात्व है। (२) अनाभिग्रहिक—सभी देव, सभी गुरु और सभी धर्मो को विना सोचे-समझे एक सरीखे माने, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। (३) आभिनिवेशिक—सच्चे देव आदि को न माने, पर बाप-दादो ने जो किया, उसे ही किया करे, गतानुगतिक हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। (४) सांशयिक—वीतराग आप्तपुरुषों के वचनो पर कुशका करे, सशय-निवारण न करे, वहाँ ऐसा मिथ्यात्व होता है। (५) अनाभोगिक मिथ्यात्व—मूढता और बौद्धिक जडता के कारण अच्छे-बुरे का या हिताहित का भान न हो, धर्माधर्म का भी कुछ पता न चले; जहाँ एकेन्द्रियादि जीवो की तरह ओघसज्ञा से प्रवृत्ति हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है।

मिथ्यात्व के इन प्रकारो को देखते हुए सहज ही यह पता लग जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा का सबसे ज्यादा अहित करता है, वह सारी साधना को, सद्ज्ञान को, सद्बुद्धि को चौपट कर देता है, आत्मा जिन अच्छे विचारो को कार्यरूप मे परिणत करना चाहती है, मिथ्यात्व उन सब कार्यक्रमो को उलटा कर देता है। यही कारण है कि वीतराग प्रभु इसे अपराधी एव अहितकर समझ कर सर्वथा बहिष्कृत कर देते हैं।

अब अगली गाथा मे भगवान् ने हास्यादि ६ दोषो का कैसे निवारण किया, इस विषय मे कहते हैं—

हास्य, अरति, रति, शोक, दुगुंछा, भय पामर करसाली।
नोकषाय गजश्रेणी चढतां, श्वानतणी गति झाली, हो ॥म०॥५॥

अर्थ

हास्य, अरति (चित्त का उद्वेग), रति [पाप मे प्रीति], शोक [अनिष्ट के सयोग और इष्ट के वियोग से होने वाली ग्लानि], दुगुछा (जुगुप्सा—घृणा, मानसिक ग्लानि), भय इन ६ पामर एव कर्म की खेती करने वाले कृषक

अथवा कर्मों को बटोर कर संग्रह करने वाली दंताली (करपाली) रूप नोकषायों (आत्मा को थोड़ी मात्रा मे बिगाडने वाली कषायभावना) के क्षय करके आत्मगुणो पर आरोहण कराने वाले क्षपकश्रेणीरूपी हाथी पर आपके चढते ही इन सब नोकषायो ने कुत्ते की चाल पकड़ ली। यानी उस क्षपकश्रेणीरूपी हाथी को देख कर भौंकने लगे और जब वह नजदीक आया तो दुम दबा कर भाग गए।

भाष्य

हास्यादि षड्दोषो के निवारण के बाद

अप्रमत्त-अवस्था मे प्रभु मे ये ६ दोष थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि इन नोकषायरूपी (हास्यादि ६, और ३ वेद) कुत्तो को ज्यो-ज्यों पुचकारते है, त्यो त्यो नजदीक आते हैं, और जब इन्हे दुत्कारते हैं तो ये भौंकने लगते हैं। अत आपने इन ६ को आत्मा के प्रति गैरवफादार देख कर इन्हे दूर करने का प्रयत्न किया। जब तक आपकी वृत्ति और आत्मस्वभाव मे रमणता का मुझे पता न था वहाँ तक मे अपने मन मे यह समझता था कि हास्यादि नौ नोकषाय आपके सेवक होंगे, मैं भी हास्यादि मे सुख मानता था, लेकिन जब से आपके वास्तविक स्वरूप और सुख को मैंने समझा, मुझे असलियत का पता चल गया कि नौ नोकषायो मे सुख मानता तो पागलपन है, ये तो कषाय के ही छोटे भाई हैं, मोहनीय कर्म के बेटे हैं, इसलिए बडे भयकर हैं, ये सुख के ही नहीं, आत्मगुणो के घातक हैं।

और मैंने देखा कि जब से आपने अपना स्वरूप सभाला, उग्र तप सयम द्वारा आपने क्षपकश्रेणी पर चढ़ना शुरू किया, तब मुझे ऐसा लगा मानो कोई विजयी पुरुष हाथी पर चढा जा रहा है, और उसके पीछे कुत्ते भौंक रहे हैं। सचमुच जब आप क्षपकश्रेणीरूपी हाथी पर चढ़े तो ये हास्यादि छह कुत्तो की तरह भौंकने लगे, परन्तु आपने उनकी ओर देखा तक भी नहीं, आप तो चुपचाप मोक्षपुरी के दरवाजे के सामने पहुँच गए। बेचारे कमजोर हास्यादि नोकषायो की जब दाल नही गली तो चुपचाप दुम दबा कर भाग गए। किन्तु इन सबका स्वभाव कुत्ते की नाई खिच आने का (करसाली) है, कुत्ते को जितना पुचकारेंगे, उतना नजदीक खिचता चला आएगा, वैसे ही ये है।

हास्यादि ६ नोकषाय प्रत्येक आत्मा का बहुत बड़ा अहित करते हैं, वीतराग प्रभु के भी ये शत्रु बने थे। हास्य इन सबका अगुआ है। हँसी-मजाक कितना बड़ा नुकसान कर बैठती है, उससे मित्र भी किस प्रकार शत्रु बन जाते हैं, और एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हो जाते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए हास्यकषाय आत्मार्थी के लिए त्याज्य है। रति भी दूसरा नोकषाय है, इससे व्यक्ति अनुकूल पौद्गलिक पदार्थ या पद, प्रतिष्ठा आदि मिलते ही मन में प्रसन्न हो उठता है। इससे भी कर्मबन्ध करता है। इसी तरह तीसरा नोकषाय अरति है, जिससे व्यक्ति प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्ति या पदादि पा कर घृणा कर बैठता है, घबरा जाता है। चौथा है—शोक, जिसमें प्रियवस्तु या व्यक्ति के वियोग में या अप्रिय के संयोग में व्यक्ति हायतोबा मचाता है, अफसोस करता है, छाती-माथा कूटता है। इसके बाद का नोकषाय है-भय, जो आत्मा को अपने स्वभाव से बहुत जल्दी विचलित कर देता है। वह भी जब अपने दल-बलसहित आता है, तो व्यक्ति की बुद्धि पर हमला कर देता है। इसके बाद छठा नोकषाय है—जुगुप्सा, इसे व्यक्ति किसी गंदी, घिनौनी या अपवित्र वस्तु को, शरीर को या जगह को देख कर घृणा से मुँह मचकोड़ लेता है। यह भी वस्तुस्वरूप की नासमझी का परिणाम है। परन्तु वीतरागप्रभु को क्षपकगज पर देखते ही ये भाग गए। ज्यों-ज्यों प्रभु संयमस्थान पर चढ़ते गए, त्यों-त्यों इन छहों को चले जाना पड़ा। कमजोर को देख कर तो ये उस पर हावी हो जाते हैं। परन्तु भगवान् के आगे जब अनन्तानुबन्धी आदि बड़े बड़े दिग्गज हार मान कर चले गए तो इन बेचारों की क्या बिसात थी? इनका चले जाना भगवान् के लिए शोभारूप ही हुआ।

प्रभो! आपका यह अद्‌भुत तेजस्वी स्वभाव देख कर मुझे भी यह प्रेरणा मिली है कि मुझे हास्यादि ६ दोषों से सावधान रहना चाहिए, इन्हें जरा भी मुँह नहीं लगाना चाहिए। आप मेरे आदर्श हैं, इसलिए मुझे भी आपकी तरह गजगति पकड़ कर इन नोकषायों पर विजय पाना चाहिए।

इसके बाद श्रीआनन्दघनजी चारित्रमोहनीय कर्म के दिग्गज सुभटों को भगवान् के द्वारा पराजित करने की कहानी लिख रहे हैं—

राग, द्वेष, अविरतिनी परिणति, ए चरणमोहना योधा।
वीतराग-परिणति परिणमतां, उठी नाठा बोधा, हो ॥मल्लि० ॥६॥

अर्थ

चारित्रमोहनीय के सबसे बडे योद्धा (दोष) राग, द्वेष और अविरति की परिणति ऊधम मचा रहे थे, लेकिन आपके (आपकी आत्मा के) वीतराग-परिणति मे परिगत होते ही ज्ञानी का दम्भ करने वाले ये बोधक अथवा बोधा या जाग कर, झटपट खडे हो कर भाग गए।

भाष्य

राग, द्वेष और अविरति का त्याग

आत्मा के सबसे बडे घातक दुश्मन राग, द्वेप और अविरति हैं। ये १२ वें, १३ वें, और १४ वें दोष हैं, वीतराग के लिए। राग मनोज्ञ वस्तु पर प्रीति करने से और द्वेष अमनोज्ञ वस्तु के प्रति तिरस्कार करने से होता है। राग और द्वेष ही वास्तव मे कर्मबीज हैं, जो मुक्तिपथ पर आगे बढने से प्रत्येक साधक को रोकते है। ये ऐसे मीठे और कातिल दुश्मन हैं कि इनका पता बडे बडे उच्च कहलाने वाले साधको को नहीं चलता। राग-द्वेष के नशे मे प्राणी मन और इन्द्रियो के अनुकूल सयोगो मे इतना मशगूल हो जाता हैं कि बाजदफा तो वह अपना सर्वस्व होमने को तैयार हो जाता है, अपमान सह लेता है, भूख, प्यास और नीद तक को हराम कर बैठता है। इस घातक विषो से साधक की आत्मा अपने स्वभाव से मर जाती है, वह पनप नहीं पाती। बार-बार जन्म-मरण के चक्कर मे डाल देते हैं, ये ही हमलावर! मोहनीयकर्म के ये बडे जबर्दस्त लडाकू योद्धा हैं। तीसरा है—अविरति नामक दोष। जब साधक के जीवन और अन्तर्मन मे अविरति पैदा हो जाती है तो वह आत्मा को विरूप बनाने वाले भावो का त्याग नही कर पाता, हिंसादि पाँचो आश्रवो को वह आत्मघातक समझते हुए भी छोड नही पाता, हिंसादि को छोडने का विचार करते ही कभी तो अभिमान बीच मे आ कर रोक देता है, कभी अपनी गलत आदत, दुर्व्यसन, कुटेव या कुप्रकृति उसमे रोडे अटकाती है, कभी कभी क्रोध, कपट और लोभ आ कर विरति का हाथ पकड लेते हैं और उसे पीछे धकेल देते हैं। मोहराजा का आदेश होते ही ये तीनो एकदम आत्मा की स्वभाव-

परिणति पर धावा बोल देते हैं। सामान्य साधक को तो ये झटपट पराजित कर बैठते है, उसकी स्वभावपरिणति की साधना को मिनटो मे चौपट कर देते हैं, परन्तु वीतरागप्रभु यह सब उपद्रव जानबूझ कर कैसे सह सकते थे? उन्होने वीतराग-(शुद्ध आत्मभाव) की परिणति पकडी। इनको जरा भी मुँह नही लगाया, इन्हे पपोला नही। अत प्रभु को वीतरागपरिणति में रमण करते करते देख कर राग, द्वेष और अविरति इन तीनो परिणतियो के कान खडे हुए, वे झटपट जागे और उठ कर ऐसे भागे कि खरगोश के सीग की तरह उनका कोई अतापता ही नही चला। प्रभु ने उन्हें जाते देख कर बुलाए या अपनाए नही। प्रभो! आपके इस स्वभाव को देख कर मुझे भी बडी प्रेरणा मिली है कि आपने जिस प्रकार मन मजबूत करके हिम्मत के साथ इन तीनो महादोषो की ओर जरा भी नही देखा, न इन्हे तरजीह दी, और डट गए अपने शुद्ध आत्मभावो में, इसी प्रकार मैं भी अपनी स्वभावपरिणति मे डटा रहूँ, अडिग रहूँ, बशर्ते कि आप इस सेवक की अवगणना न करें!

अब श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के द्वारा त्यक्त काम्यक रसनाम के १५ वें दोष की कथा अकित करते —

वेदोदय कामा परिणाम, काम्यकरस१ सहु त्यागी।
निष्कामी करुणारससागर अनन्त-चतुष्क-पद पागी, ॥हो॥ म०॥७॥

अर्थ

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद के उदय से काम के जो परिणाम होते हैं [रतिसभोग या काम वासना के प्रति विषय की जो लहरें उठती हैं] उन्हे तथा समस्त काम्यकरस काम के अनुकूल विषयास्वाद अथवा कामनाजनित अनुकूल विषयो, कर्मों या पदार्थों के आस्वाद का आपने त्याग कर दिया और निष्कामी काम=इच्छाकाम-मदनकाम दोनो से रहित हो गए। इन समस्त कामरसो का त्याग करने के बावजूद भी आप करुणारस के सागर बन गए।

---

१ 'काम्यकरस' के बदले किसी प्रति मे 'काम्यकरम' शब्द मिलता है, उसका अर्थ होता है—कामना (इच्छा) से जनित कर्म का प्रभु ने सर्वथा त्याग कर दिया।

निष्काम होने के कारण आप मे अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय-पद पनपा, प्रगट हुआ।

भाष्य

काम्यकरसदोष का त्याग क्यो और कैसे ?

वीतरागप्रभो ! आपने वेदोदयजनित चौदहवें दूषण समस्त काम अथवा काम्यकरस का त्याग कर दिया, परन्तु सवाल यह होता है कि वेद क्या है ? काम क्या है ? उससे आत्मा की क्या हानि होती है ? इस बात को समझ लेने पर काम पर विजय प्राप्त करना आसान होता है। काम का एक मदन-काम के रूप मे आविर्भूत होना वेद है। कामवासना जब उदित या उत्तेजित होती है तो बडो-बडो के काबू मे नही आती, उस समय मन मे कामभोगो की प्रबल इच्छाओ का वेदन=अनुभव होता है, कामोत्तेजना का मानसिक वेदन ही वेद है, चाहे वह क्रियान्वित हो, चाह न हो। और काम का दायरा तो इससे भी बढकर व्यापक है। जैसे इच्छाए आकाश के समान अनन्त हैं वैसे ही इच्छा-काम भी अनन्त हैं। उन सब पर विजय पाना बडी टेढी खीर है। पाँचो इन्द्रियो के विषयो से जनित विकार भी इच्छाकाम के अन्तर्गत है। कोई सुन्दर एव मनोज्ञ वस्तु उपलब्ध न हो, उसकी इच्छा को दबा लेना, फिर भी आसान है, किन्तु वस्तु उपलब्ध हो सकती हो, फिर भी उसकी इच्छा को दबाना ही नही, उत्पन्न ही न होने देना, बहुत ही कठिन काम है। परन्तु वीतराग परमात्मा ने पूर्वोक्त दोनो ही प्रकार के कामो के स्वाद का ही जड-मूल से त्याग कर दिया, कामो को पूर्ण करना तो दूर रहा, उनका मन मे परि-णाम (भाव) ही नहीं पैदा होने दिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—
"वेदोदय कामा परिणामा, काम्यकरस सहु त्यागी रे।"

वास्तव मे वेद मोहनीय कर्म के अग हैं नोकषायो मे से तीन हैं। इससे पहले हास्यादि छह दोषो के त्याग का वर्णन किया था। एक कामशब्द मे ही इन तीनों वेदो का समावेश हो जाता है। तीन प्रकार के वेद ये हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। मोहनीय कर्म (वेद) के उदय से जब किसी पुरुष को स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा पैदा हो, उसे पुरुषवेद, स्त्री को पुरुष के साथ रतिसहवास की इच्छा हो, तब स्त्रीवेद एव पुरुष और स्त्री दोनो के साथ

सहवास की इच्छा हो, तब नपुंसकवेद कहलाता है। इसी प्रकार पांचो इन्द्रियो के विविध विषयो, वस्तुओ या सम्मानादि की कामनाओ का उत्पन्न होना इच्छाकाम है। किसी वस्तु, विषय या सम्मान आदि को प्राप्त करने लालसा मन को गुदगुदाने लगती है, मनुष्य इच्छाओ से व्याकुल होकर उन्हे पूरी करने मे तन, मन, धन सर्वस्व लगा देता है, फिर भी बीमारी विघ्न, इन्द्रियनाश आदि कारणवश उसकी वे इच्छाए पूरी नही हो पाती। इच्छाए मनुष्य को व्याकुल कर देती हैं, उन्हे पूरी करने के लिए मनुष्य उतावला हो उठता है। एक इच्छा पूरी होते न होते, दूसरी आ धमकती है। फिर इच्छा पूरी न होने पर मनुष्य निराश और दुःखी होकर कई बार आत्महत्या तक कर बैठता है। दूसरे की इच्छाए पूरी होते देख कर उसके प्रति ईर्ष्या, द्रोह और द्वेष का भाव मनुष्य के मन मे आ जाता है। अभीष्ट इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी उसके वियोग मे मनुष्य तडपता है, फिर उसे पाने की इच्छा बलवती हो उठती है, कनक और कामिनी ये काम के स्थूल प्रतीक हैं, जिसके लिए मनुष्य ने बडे-बडे युद्ध किए, और पतगे की तरह अपने प्राणों को होम दिया।

वीतराग प्रभु ने इन दोनो प्रकार के कामो को इसलिए मन से भी त्याग दिये कि ये आत्मा का बहुत बडा अहित करते है। जन्म-जन्म में प्राणी को ये रुलाते हैं, दुःखी करते है, इनका गुलाम बना हुआ व्यक्ति अपने धर्म, अपना आत्मस्वभाव, अपनी नैतिक मर्यादा, अपनी विकास की सब बातें ताक मे रख देता है। जिसमे मदनकाम ((वेदोदय) तो इतना प्रबल है कि बड़े-बडे साधकों को पछाड देता है। बाहर से किसी प्रकार से उपलब्ध न होने या न हो सकने पर भी साधक मन ही मन उसे पाने की धुन मे उधेडबुन करता रहता है। आग मे घी डालने पर जैसे आग शान्त होने के बदले अधिकाधिक भडकती है, वैसे ही काम को भोगने पर वह शात होने के बदले अधिक भडकता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे कहना पडा—'जो काम (दोनो प्रकार के काम) का निवारण नही कर पाता, वह श्रमणधर्म का कैसे पालन कर सकता है? वह पद-पद

---

१ "कहं नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयतो, सकप्पस्स वस गओ॥
—दशवै० अ. २ गा १

पर सकल्पो के वशीभूत होकर दुख पाता रहता है। यही कारण है कि वीतरागप्रभु के (मल्लिनाथ) ने दोनो प्रकार कामो और उनके परिणाम के रसास्वाद को बिलकुल तिलांजलि दे दी और निष्कामी बन गए।

कोई यह प्रश्न उठा सकता है जब भगवान् कामरस से बिलकुल खाली हो गए तो सूखे, मनहूस और नीरस बन गए होगे, किन्तु यह बात नही है। वे वीतराग हो जाने पर सर्वथा उदासीन या उपेक्षाग्रस्त नही होते। उन्होने ससारी जीवो को अज्ञानवश दु:ख मे पडे देख कर तीर्थस्थापना की, सघव्यवस्था की, साधु-साध्वियो के विकास के लिए उनके द्वारा पुरुषार्थ हुआ, दया और करुणा से प्रेरित हो कर ही उन्होने उपदेश दिया। इसलिए वे नीरस नही, अपितु करुणारस से परिपूर्ण समुद्र हो गए। उन्होने अपने अनुभव भव्यजीवो को दिये। स्वय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) इन चारो पदरूप मोक्षपद के अधिकारी बने। प्रभो ! सचमुच, आप जब इतने अनन्तचतुष्कवान बने हैं तो अपने इस सेवक को मत भूलिए।

अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग मे जो भी विघ्न हैं, उन्हे प्रभु कैसे दूर करते हैं, यह अगली गाथा मे देखिए—

दान-विघन वारी सहु जन ने, अभयदान-पददाता।
लाभ-विघन, जग-विघन-निवारक, परमलाभरस-माता, हो॥
म०॥८॥

वीर्यविघन पंडितवीर्य हणी, पूरणपदवी योगी।
भोगोपभोग दोय विघन निवारी, पूरणभोग सुभोगी हो॥
म०॥९॥

अर्थ

दान देने मे विघ्न (दानान्तराय) का निवारण करके प्रभो ! आप सबको (दानों मे सर्वश्रेष्ठ) अभयदान (भयनिवारणरूप दान) के पद (अधिकार) अथवा निर्भयपद (स्थान)=मोक्ष के देने वाले बने। लाभ (पदार्थ मिलने) मे जो अन्तराय (विघ्न) था, उसके तथा जगत् के जीवो के अन्तराय (सारी दुनिया के लाभ मे जो अन्तराय आए, उसे रोकने वाले हो कर स्वय परमलाभ (सर्वोच्च लाभ) के पद=मोक्षप्राप्तिरूपी परमपद मे मस्त (लीन) बने। और

फिर वीर्यान्तराय (आत्मशक्ति की स्फुरणा=प्रकटीकरण को रोकने वाले विघ्न) को भी पण्डितवीर्य (आत्मज्ञान की शक्ति) से नाश करके पूर्ण पदवी (मोक्षपद) के साथ जुड गए। यानी मोक्षपदयोगी बन गए। इसी प्रकार भोगान्तराय एवं उपभोगान्तराय इन दोनों अन्तरायकर्मों को निवारण (रोक) कर पूर्णरूप से आत्मसुख के भोग और उपलक्षण से उपभोग के भोगी (भोगने वाले) बन गए।

भाष्य

प्रभु पाच प्रकार के अन्तरायदोष के त्यागी बने

वीतराग परमात्मा के लिए जिन दोषो से रहित होना अनिवार्य है, उनमे से पूर्वगाथा तक १४ दोष से रहित होने तक की बात कही गई है। अब इन दो गाथाओ में ४ अन्तरायजनित दोषो से प्रभु के रहित होने की बात बताई गई है। वे चार दोष इस प्रकार हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, [उपलक्षण से उपभोगान्तराय भी] और वीर्यान्तराय।

अन्तरायकर्म भी मूल मे घातीकर्म का अग है। उसका लक्षण है—आत्मा द्वारा की जानी वाली दान, लाभ, भोगोपभोग एव वीर्य की उपलब्धि मे अन्तराय (विघ्न) डालना। अभयदान तथा अन्य जो भी आत्मा से सम्बन्धित उपलब्धिया हैं, आत्मगुण हैं, उनमे रुकावट डालना, उनके विकास को रोकना है। ये अन्तरायकर्म पाच प्रकार के हैं, जो सिवाय वीतराग के प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। दान देने वाला मौजूद है, फिर भी आदाता को दान नहीं दिया जाना, अथवा दान लेने वाला सामने खडा है, दाता भी दान देना चाहता है, लेकिन लेने वाला इस दानान्तरायकर्म के फलस्वरूप दान ले नही सकता, ये दोनो प्रकार दानान्तराय के हैं। वैसे तो दान ५ प्रकार का है—[१] अभयदान, [२] सुपात्रदान, [३] अनुकम्पादान, [४] कीर्तिदान, और [५] उचितदान। इनमे अभयदान सर्वश्रेष्ठ है, सुपात्रदान भी उत्कृष्ट है, अनुकम्पादान भी किसी हद तक उचित है, किन्तु कीर्तिदान [कीर्ति=प्रतिष्ठा के बदले दान देना] और उचितदान [अपने परिवार-समाज आदि मे योग्य व्यक्ति को पुरस्कार आदि देना] ये दोनो दान आत्मा से सम्बन्धित दान की कोटि मे नही हैं। इन पांचो प्रकार के दानों मे से बहुत-

से व्यक्तियों को हम देखते हैं कि वे स्वय किसी को नही देते मो नही देते, दूसरो को भी देने मे भी किसी न किसी इन्कार कर देते है। अथवा गुणवान् व्यक्ति मे दुर्गुण का आरोपण करके उसे दान से वचित कर देते हैं। ऐसा व्यक्ति दानान्तरायकर्म के उदय से देने वाले पर रुष्ट हो कर उससे द्वेष करने लगता है। दानो मे सर्वश्रेष्ठ अभयदान है, उसमे बाहर से कोई वस्तु देते-लेते हुए दिखाई नही देती, लेकिन अभयदान वही दे सकता है, जो स्वय निर्भय हो, जिसमे आत्मशक्ति या अन्त प्रेरणा का बल हो, मन मजबूत हो। प्रभु ने देखा कि दानान्तरायकर्म ने मेरी आत्मा का बहुत बडा नुकसान किया है, इसलिए पहले दीक्षा लेने के एक वर्ष पहले से लगातार एक वर्ष तक दान दिया, और खूब उमग से, बहुत ही मुक्त मन से दान दिया, और मुनि बनते ही अभयदान की साधना शुरू कर दी, जो वीतरागपद प्राप्त होते ही परिपक्व हो गई। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—'अभयदानपददाता' अर्थात् प्रभु ने जगत् के समस्त जीवो को उपदेश और ज्ञान का दान करके उन्हे निर्भयता सिखाई। तथा बाद मे जो भव्य जीव थे, उन्हे अभयदानपद=निर्भय स्थान (मोक्ष) के दाता (अभयदयाण) बने। इसी प्रकार उपलक्षण से चक्षु (ज्ञान) दानदाता तथा मार्गदर्शक बने।

दानान्तराय के बाद आत्मा के गुणों का घात करने वाला, लाभान्तराय बचा, जो आत्मा का बहुत बडा अहित करने वाला एव आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आत्मसुख का लाभ नही लेने देता था। यह कर्म ऐसा है कि ज्ञानादि का लाभ होता हो तो रोडे अटकाता है। प्रभु ने लाभान्तराय कर्म को समूल नष्ट करके जगत् की आत्माओ के लाभ मे जो विघ्न थे, उन्हे मिटाए। और स्वय ससार मे सर्वोच्च लाभ के पद (मोक्षप्राप्तिरूप परमपद) मे लीन (मस्त) हो गए।

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु जगत् के लाभान्तराय के निवारक कैसे हो सकते हैं ? उनके द्वारा जगत् के लोगो की सासारिक लाभ की पूर्ति करने का मतलब है—उनकी भौतिक इच्छाओ या कामनाओ की पूर्ति करना। जैनधर्म मे वीतराग परमात्मा को इस प्रकार का कर्त्ता हर्त्ता या सासारिक लाभदाता नही माना गया है, फिर इस पद की सगति कैसे होगी ? इसके उत्तर मे यही निवेदन है कि लाभ दो प्रकार के होते हैं-सासारिक लाभ और

आत्मिक लाभ। वैसे तो प्रभु किसी भी प्राणी के सांसारिक लाभ तो क्या आत्मिक लाभ के भी सीधे कर्ता-धर्ता नही बनते, न किसी को हाथ पकड कर वे सीधा लाभ देते हैं। परन्तु जहाँ तक सासारिक जीवो का सवाल है, वे किसी सासारिक व्यक्ति के कर्म मे हस्तक्षेप नही करते, न कर सकते हैं। इसलिए सासारिक लाभ में आने वाले विघ्नो को दूर करने मे वे हाथ नहीं डालते। अब रहा आत्मिक लाभ। सासारिक प्राणियो को आत्मिक लाभ होने मे जो-जो विघ्न होते हैं, उन्हे वे बता देते हैं, उन विघ्नों को नष्ट करने के लिए जप-तप या अन्य संयमादि साधना का वे निर्देश कर देते हैं, इसमे अर्जुनमाली, चण्डकौशिक, चन्दनवाला आदि को जैसे भगवान् महावीर के निमित्त से आत्मिक लाभ मिल गया, वैसे ही जगत् के भव्य जीवो के विघ्न दूर हो कर उन्हे आत्मिक लाभ मिले। इस प्रकार वीतरागप्रभु जग के जीवो का विघ्न-निवारण स्वयं नही करते, करते तो वे जीव स्वय ही हैं, परन्तु भगवान् की प्रेरणा या निर्देश से करते हैं इसलिए वीतराग परमात्मा को निमित्तकर्ता कहा जा सकता है। अत. जगत् को आत्मलाभ मिलने मे जो विघ्न हैं, उन्हे मिटाने के लिए भगवान् प्रेरक हैं। हाँ, भगवान् ने अपने लिए तो दोनो प्रकार के लाभों के अन्तरायो को दूर कर दिये हैं। स्वस्थ शरीर, इष्टविद्या, वस्तु आदि का लाभ भी आपको मिला है, और सर्वोच्च अनन्तसुखादि का आत्मिक लाभ भी। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने आपके लिए कह दिया—'परमलाभ-रसमाता।' इसी तरह भगवान् ने आत्मशक्ति को नाश करने वाले वीर्यान्तरायकर्म का क्षय पण्डितवीर्य (आत्मज्ञान व आत्मविकास के लिए आत्मबल को जागृत करके तदनुकूल मन-वचनकाया की प्रवृत्ति करके सर्वथा योगरहित होने के बल, तप, संयम आदि के जोर) से करके सम्पूर्ण पदवी जो मोक्ष मे मिलती है, उसका योग आपने साध लिया है, यानी आप उस स्थान पर पहुच गए हैं। उस शक्ति को आपने आत्मकार्य मे लगा दी है। अथवा आपने सम्पूर्ण आत्मबल और आत्मऋद्धिसिद्धि प्राप्त की, और शरीर से ही तीर्थंकर बने। इससे अतिरिक्त एक बार भोग्य पदार्थ को भोगने मे रुकावट डालने वाले भोगान्तरायकर्म एव बार-बार भोग्य पदार्थ को पुन-पुन भोगने मे रुकावट डालने वाले उपभोगान्तराय कर्म को आपने स्व-उपयोग स्वसुखास्वाद से दूर कर दिये। इससे आप अनन्त आत्मसुख के भोक्ता बने।

वीर्यान्तराय कर्म के उदय से लोग इधर-उधर मटरगश्ती करते फिरेंगे, पर धर्मकार्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि करने मे अपनी शक्ति के न होने का बहाना बनाएँगे। तपस्या करने मे असमर्थता बताएँगे, किन्तु यो किसी मतलब के लिए भूखे-प्यासे रह लेंगे। धर्मश्रवण के लिए अवकाश नही मिलेगा, किन्तु गप्पें मारने मे घडी बिता देंगे यो मन को कमजोर बना लेते हैं। इस सबसे वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध होता है। परन्तु प्रभु ने पूरी शक्ति अजमाकर इस अन्तराय का क्षय किया है। सासारिक जीवो को पौद्गलिक वस्तु न मिले तो भोगान्तराय समझना चाहिए। यही बात उपभोगान्तराय के सम्बन्ध मे है। दोनो को एक दोष न कर १८ वाँ दोष भगवान् के द्वारा त्यक्त बताया है। ये दोनो अन्तरायकर्म इन वस्तुओ के देने वाले की मजाक उड़ाने से, स्वय न देने तथा दूसरो को भी न देने की सलाह देने से, देने वाले की निन्दा करने मे बधते हैं। प्रभो! आपने तो आत्मिक और पौद्गलिक दोनो वस्तुओ मे अन्तराय न पडे, इस रूप मे भोग-उपभोगान्तराय कर्मरूप दोष को जीत लिया। मुझे आपके ही आदर्श का अनुसरण करना है। आपने दुनिया को अपने उदाहरण द्वारा सही रास्ता बता दिया है।

ए अढारदूषणवर्जित तनु, मुनिजनवृन्दे गाया
अविरति-रूपक-दोष-निवारण निर्दूषण मन भाया हो ॥१०॥

अर्थ

इन उपर्युक्त १८ दोषों से रहित आपकी असख्यप्रदेशी आत्मा या काया का पच-महाव्रतधारी गणधरादिमुनि वृन्द ने वर्णन किया है। अविरति वगैरह दोषो से आच्छादित आत्मा का रूपक दे कर दयास्वरूप बताकर दोषों का निवारण कराने वाले (आप ही हैं, तथा आप स्वय) सब दोषों से रहित हैं। मेरे मन को आप अच्छे लगे हैं।

भाष्य

अठारह दोष से रहित भगवद्रूप

जब छद्मस्थावस्था छोड कर, वीतराग बनते हैं, तब वे स्वतः ही निम्न-लिखित १८ दोष से रहित हो जाते है—१ आशा-तृष्णा, २-अज्ञान, ३ निद्रा या निन्दा), ४ स्वप्नदशा, ५ मिथ्यात्व, हास्य, ७ रति, अरति, ८ शोक ९-

भय, १० जुगुप्सा, ११ राग, १२ द्वेष, १३ अविरति १४ काम्यकदशा, १५ दानान्तराय, १६ लाभान्तराय, १७ भोगोपभोगान्तराय और १८ वीर्यान्तराय। प्रभु की काया (अथवा असंख्यप्रदेशी आत्मा) इन १८ दोषो से सर्वथा रहित है। आत्मा को दूषित बनाने वाले इन बहिरात्मभावो को छोड कर प्रत्याख्यान न करने रूप मे अविरति (मिथ्यात्व का यथार्थ कथन करने वाले होने से आपके गुणो के कारण ही त्यागी, वैरागी व तपस्वीवृन्द ने आपका गुणगान किया है। श्रीआनन्दघनजी भी अन्तिम गाथा मे इसी दृष्टि से प्रभु का गुणगान करते हुए इस स्तुति का उपसहार करते हैं—

इणविध परखी मन विसरामी, जिनवरगुण जे गावे।
दीनबन्धुनी नेहर नजर थी, 'आनन्दघनपद' पावे, हो ॥ म० ११॥

अर्थ

इस प्रकार अष्टादशदोषरहित एव अनन्तचतुष्टययुक्त श्रीमल्लिनाथप्रभु को भलीभाँति देख परख कर उन अन्त करण के विश्राम रूप श्रीजिनवर के ज्ञानादिगुणो का जो मुमुक्षु गुणगान करता है, आठ प्रकार के दुःखो से दीन बने हुए जीवो को भाव से आत्मगुणो से समृद्ध करने मे बन्धुसमान श्रीतीर्थंकरदेव की परमकृपादृष्टि से वह आनन्दघनपद (मोक्षपद) प्राप्त करता है।

भाष्य

प्रभु का गुणगान और उससे लाभ

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है, उसके मन पर अपने आराध्य आदर्श के गुणो की छाप बार-बार गुणगान से अकित हो जाती है। मन ऐसा टेपरिकार्डर है, जिस पर बार-बार उच्चारण एव श्रद्धा के स्पन्दनो की छाप अकित हो जाती है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'जिनवरगुण जे गावे . . . 'आनन्दघन' पद पावे।'

परन्तु प्रभु या भगवान् के नाम पर दुनिया में बहुत-से अन्धविश्वास पनप रहे हैं। बहुत से लोग स्वय जीते-जी भगवान् तीर्थंकर या पैगम्बर के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इसीलिए आनन्दघनजी परीक्षाप्रधानी बन कर बाह्य चमत्कारों या आडम्बरो, से प्रभावित न हो कर कहते हैं—'इणविध परखी

मन विसरामी'। पूर्वोक्त अठारह दोषों से रहित के रूप में वीतरागप्रभु या भगवान् कहलाने वाले की भलीभाँति परीक्षा करके हृदय को विश्राम दे सकने वाले प्रभु का स्वीकार करें और तब गुणगान करें। जैसे जौहरी रत्न की परीक्षा करके ही उसे अपनाता है, सर्राफ सोने की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद खरा उतरने पर अपनाता है इसी तरह भगवान् या प्रभु कहलाने वाले महानुभावों को १८ दोषरहितता की कसौटी पर कसना चाहिए। हमारे बाप-दादे या पूर्वज उन्हें मानते-पूजते आए हैं, बहुजन इन्हें मानता है, इसलिए हम भी इन्हें पूजते हैं, यह तो गतानुगतिकता है, अन्धविश्वास है, इससे आत्मा का बहुत बड़ा अहित होता है। इसलिए परीक्षा करके, अपनी परीक्षा में जो १८ दोषरहित जँचें, उनकी ही पूजा करनी, उनके ही गुणगान करने चाहिए।

परीक्षापूर्वक प्रभु का स्वीकार करने और तदनुरूप उनके गुणगान करने से दीनबन्धु भगवान् की कृपादृष्टि हो जाय तो बेड़ा पार हो जाय, संसारसागर को पार करके मुक्ति के परमानन्दधाम में वह उनकी कृपा से जा विराजता है।

मल्लिनाथ प्रभु के स्वरूप (की तरह तमाम वीतरागी पुरुषों का स्वरूप) आगम में १८ दोषों से रहित और अनन्त-चतुष्टयसहित बताया है। इस प्रकार का स्वरूपकथन नरेन्द्र, देवेन्द्र और मुनियों की परिषद् में निश्चित किया हुआ है। फिर भी देवागम-स्तोत्र में कथित परीक्षा-प्रधान तरीके को अपना कर तथाकथित भगवान् की परीक्षा से परख कर प्रभुगुणों के प्रति अनुरागपूर्वक का गुणानुवाद करने से मन पर वे संस्कार दृढरूप से जम जाते हैं, इस प्रकार से गुणगान के बाद उन दीनबन्धु की अहैतुकी कृपादृष्टि हो जाने पर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इसका रहस्य यही है कि प्रभु की कृपादृष्टि यानी काल की परिपक्वता ऐसा भव्य एवं सम्यग्दृष्टि जीव समय आते ही अवश्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैनदर्शन के पंचकारण-समवायी सिद्धान्त की दृष्टि से काल की परिपक्वता बहुत महत्वपूर्ण है। प्रभु हाथ से किसी को कुछ देते लेते नहीं, न किसी पर कृपादृष्टि डालते हैं, क्योंकि वे निरंजन-निराकार हैं। स्वयं के पुरुषार्थ से ही मोक्षपद की प्राप्ति करनी चाहिए।

सारांश

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने इन दोषो को पुराने तथाकथित सेवक और साथी के रूप मे गिना कर उनके प्रति प्रभु द्वारा अवगणना के लिए उन्हे मधुर उपालम्भ दिया है, स्वय के प्रति अवगणना का भी उपालम्भ है। परन्तु बाद में स्वत समाधान प्राप्त करके प्रभु के सच्चे स्वरूप को जान कर उन्होंने उनके द्वारा क्रमश. १८ दोषों के निवारण की कथा कह दी है। और अन्त मे समस्त साधको को हिदायत दे दी है कि भगवान् या प्रभु आदि के नाम से तथाकथित महानुभावो को केवल 'आडम्बर चमत्कार, या गतानुगतित्व से मत मानो। उनकी १८ दोषो रहित होने की कसोटी करो। पास होने पर ही उन्हे मानो। इस प्रकार यह परीक्षा करके भक्ति या पूजा करने की बात ही फलित होती है।

२० : श्री मुनिसुव्रतजिन-स्तुति-
परमात्मा से आत्मतत्व की जिज्ञासा

(तर्ज-राग काफी 'आघा आम पधारो पूज्य !')

श्रीमुनिसुव्रत-जिनराज ! एक मुझ विनति निसुणो ॥ मु० ॥ध्रुव॥
आतमतत्त्व कयु जाण्यु[1], जगद्गुरु ! एह विचार मुझ कहियो ।
आतमतत्व जाण्या विण निर्मल-चित्तसमाधि न वि लहियो ॥
श्रीमुनिसुव्रत० ॥ १ ॥

अर्थ

इस अवसर्पिणीकाल के वीसवें तीर्थंकर श्रीमुनिसुव्रतदेव ! जिनराज ! प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना सुनिये । हे जगद्गुरो ! आपने शुद्ध आत्मतत्व (परमात्म-स्वरूप) किसे जाना ? अथवा मैं किसे जानू ? यह तत्वज्ञान (विचार) मुझे कहिए । क्योकि शुद्ध आत्मतत्व को जाने बिना मै अपने मन की निर्मल निरुपाधिक समाधि, स्थिरता, एकाग्रता या धीरता नहीं प्राप्त कर सकता ।

भाष्य

आत्मतत्व की जिज्ञासा क्यो और किससे ?

पूर्वस्तुति मे सर्वज्ञ वीतरागप्रभु की पहिचान के लिए १८ दोष से रहित होने की कसौटी बताई थी, किन्तु जब तक उस शुद्ध आत्मा की पहिचान न हो, उसका स्वरूप क्या है ? और उसके विषय मे विभिन्न अध्यात्मवादी क्या क्या मानते हैं ? यह प्रश्न हल न हो जाय तब तक सर्वज्ञता और वीतरागता की बात कैसे हल हो सकती है ? इसलिए इस स्तुति मे परमात्मा के सामने भक्त योगी ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की है—आत्मतत्व कयु जाण्यु ? वीतराग प्रभो ! आपने आत्मतत्व किसे या कैसे समझा ? अथवा मैं उस आत्मतत्व को

---

१ 'जाण्यु' के बदले किसी प्रति मे 'जाणु' शब्द भी मिलता है, उसका अर्थ होता है—प्रभो ! मैं आत्मतत्व किसे जानूं ?

कैसे समझूं ? अथवा किसे मानूं ? " कारण यह है कि योगी श्री आनन्दघनजी 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' (मुंह है, इसलिए बोलना ही चाहिए), अपनी उपस्थिति बतानी ही चाहिए, इस दृष्टि से नही बोल या पूछ रहे हैं। उनके अन्तर मे सच्ची लगन लगी है। वे आत्मा की उस अवस्था के विषय मे या उस शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध मे जानना चाहते हैं, जो मोक्षरूप या परमात्मरूप बन सकती है ?

वास्तव मे किसी वस्तु की तह तक पहुँचने और उसके सम्बन्ध मे जितने भी मुद्दे उपस्थित हो सकते हैं, उसकी छानबीन करके तत्वज्ञान का सिरा पाने के लिए शका (जिज्ञासा) प्रस्तुत करनी चाहिए। भगवतीसूत्र मे भगवान् महावीर स्वामी से गणधर इन्द्रभूति गौतम के द्वारा किये हुए ३६ हजार प्रश्नोत्तरो का उल्लेख है। यह तो जैनदर्शन की प्राचीन शैली है कि जिज्ञासा शका या पृच्छा प्रस्तुत किये बिना उत्तमरूप से तत्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह किसी भी वस्तु का सागोपाग ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन जैन दार्शनिको ने बताया था—[1] प्रमाणो और नयो से ज्ञान होता है, इसी प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, विधान, सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि प्रश्नो के द्वारा प्रत्येक वस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। इसलिए इस प्रकार के प्रश्न-प्रतिप्रश्न एव शका-समाधान की पद्धति बहुत ही उत्तम है, तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आसान भी है, शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से लाभ के लिए समीचीन भी है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्व के सम्बन्ध मे अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर दी है।

आत्मतत्व के सम्बन्ध मे ही जिज्ञासा क्यो ?

प्रश्न होता है कि योगी श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्व के विषय मे शका प्रस्तुत क्यो की ? इसका परमात्मा की स्तुति से क्या ताल्लुक है ? इस जिज्ञासा का एक [समाधानरूप] कारण तो स्वय श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे बताया है। परन्तु समाधान का मुख्य मुद्दा यह नही है। मुख्य मुद्दा तो यह है कि जैनधर्म की तमाम साधनाओ, व्रतो, नियमों एवं

---

१ 'प्रमाणनयैरधिगम., निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-विधानत:' ।
'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च'—तत्वार्थसूत्र

क्रियाओ अथवा तत्वज्ञानप्राप्ति या शास्त्रो के अध्ययन आदि के मूल मे आत्मतत्व का ज्ञान होना अनिवार्य है। आत्मा का स्वरूप भलीभाँति जाने विना किसी भी धर्मतत्व का आचरण, क्रिया, शास्त्राध्ययन या व्रतनियमपलन का कोई अर्थ नही रहता। अगर आत्मा को जाने विना ही किसी क्रिया को मात्र देखादेखी या गतानुगतिकता अथवा लकीर के फकीर वन कर परम्परागतरूप से की जाएगी, अथवा अन्धविश्वास या शुभभावना से की जाएगी, तो वह केवल स्वर्गादि शुभफल दे कर समाप्त हो जाएगी, परन्तु वह जन्म-मरण के बंधन काट कर मोक्षफल-दायिनी नही हो सकेगी। इसीलिए आत्मस्वरूप जानने के बाद ही कोई भी साधना या प्रवृत्ति अथवा धर्मक्रिया आदि सार्थक प्रतिफल दे सकती है, और उसी का फल मोक्ष है। इसीलिए भगवान् महावीर ने फरमाया था—'जो आत्मवादी है, वही लोकवादी (लोकपरलोक को मानने वाला) है, जो लोकवादी है, वही कर्मवादी (कर्मों के कर्तृत्व भोक्तृत्व-वन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध मे विश्वस्त) है, तथा जो कर्मवादी होता है, वही क्रियावादी (कर्म-बन्धन से बचने और कर्मों से मुक्त होने के लिए आत्म-स्वरूप-लक्षी पुरुषार्थ करने वाला) १ होता है। इस दृष्टिकोण से योगी-श्री द्वारा सर्वप्रथम आत्मतत्व की जिज्ञासा प्रस्तुत करना न्यायोचित है।

आत्मतत्व की जिज्ञासा का दूसरा कारण, जो श्रीआनन्दघनजी के स्वय प्रस्तुत किया है, वह यह है कि आत्मतत्त्व का जानना सर्वप्रथम इसलिए जरूरी है कि जिनशासन का यह नियम है कि मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन अनिवार्य है। आत्मतत्व की सम्यक् जानकारी और सच्ची तत्वश्रद्धा के विना निर्मल (शुद्ध) चित्तसमाधि (मन-स्वस्थता) नही होती। मन स्वस्थता के विना किसी भी प्रवृत्ति, क्रिया या ज्ञान-प्राप्ति आदि को साधक बिना मन से, सूने मन मे विना भावो का तार जोडे ही करेगा, उससे उस क्रिया या प्रवृत्ति में सजीवना, स्फूर्ति या चेतना नही आएगी। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—आतमतत्त्व जाण्या विण

---

१ "जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई, जे कम्मावाई से किरियावाई।
—आचारागसूत्र प्रथम श्रु०

निर्मल चित्त-समाधि न वि लहियो'। निष्कर्ष यह है कि पवित्र चित्तशान्ति के लिए और पवित्रचित्तसमाधि मे शुद्धात्मा (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आत्मतत्व का ज्ञान होना जरूरी है।

परमात्मा से आत्मतत्त्व की जिज्ञासा क्यों?

अब सवाल यह होता है, कि ठीक है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होना सर्वप्रथम जरूरी है, पर किसी धर्मगुरु, दार्शनिक या मतपथवादी से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान हो सकता था, परमात्मा से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान पाने की इच्छा क्यो प्रगट की? इसका समाधान यह है कि धर्मगुरु, दार्शनिक या मतपंथवादी वीतराग या सर्वज्ञ नही हुए, तब तक वे छद्मस्थ या अल्पज्ञ ही कहे जा सकते हैं, भले ही वे पद, प्रतिष्ठा और वैभव मे कितने ही महान हो। इसलिए उनके कथन मे, कही जरा-सा भी पथराग, परम्पराराग, गुरुराग आदि आ सकता है, भले ही वह प्रशस्तराग ही क्यो न हो! इसलिए छद्मस्थ द्वारा कथित आत्मतत्त्वज्ञान मे कही स्वत्वमोह, परम्परामोह आदि के कारण यथार्थ वस्तुस्वरूप के यथार्थ कथन मे कही दोप आ सकता है। इसलिए पूर्व-स्तुति मे कथित १८ दोपरहित, वीतराग, अपक्षपाती, यथार्थ वक्ता, आप्तसर्वज्ञ के समक्ष ही श्री आनन्दघनजी ने अपनी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है, ताकि उन्हें यथातथ्यरूप से आत्मतत्व का सांगोपांग समाधान मिल सके।

परमात्मा के समक्ष शुद्ध आत्मतत्त्व की जिज्ञासा इसलिए भी प्रस्तुत की है कि वीतराग परमात्मा इस मार्ग के यथार्थ अनुभवी हैं। सच्चा मार्गदर्शक वही हो सकता है। जिसने मार्ग को स्वय तय किया हो। जिसने मार्ग का स्वय अनुभव नही किया, वह मार्गज्ञ न होने पर भी विविध धर्मग्रन्थों या शास्त्रो के अध्ययन परसे उस मार्ग के सम्बन्ध मे जानकारी भी दे देगा, लेकिन उसकी वह जानकारी स्वत अनुभूत नही होगी, परत (ग्रन्थो या शास्त्रो से) अनुभूत होगी। वीतराग परमात्मा तो आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेषादि विकारो से जूझ कर एक दिन आत्मा के परमशुद्धस्वरूप (परमात्मतत्त्व को) पा चुके है, इसलिए आत्मा के शुद्धतत्त्व का उनका ज्ञान उधार लिया हुआ नहीं है, स्वत अनुभूत है, स्वयसाक्षात्कृत है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सीधा ही प्रश्न पूछते हैं—प्रभो! आपने किस आत्मतत्त्व को यथार्थ जाना है? अथवा कौन-सा आत्मतत्त्व आपकी दृष्टि मे यथार्थ

है ? अथवा शुद्ध आत्मतत्त्व को आपने कैसे जाना था ? मैं उसे कैसे जान सकता हूँ ? इस प्रश्न मे 'कयु' शब्द से यह भी द्योतित होता है कि आत्मा के सम्बन्ध मे उस युग मे विभिन्न मान्यताएं (या दर्शन व मत) प्रचलित थी, उन्हे देखते हुए वीतरागप्रभु को निष्पक्ष वक्ता मान कर उन्हे न्यायाधीश के रूप मे समझ कर उनसे निर्णय मांगा गया है कि कौन-सा आत्मतत्त्व यथार्थ है ? यानी आत्मा के सम्बन्ध मे प्रचलित विभिन्न दर्शनो के मतो को देखते हुए आपने कौन-सा मत (तत्त्व) यथार्थ जाना है? वास्तव मे श्रीआनन्दघनजी ने तत्त्वज्ञान के एक मूल सिद्धान्त (Fundamental Point) जिज्ञासा के रूप मे प्रस्तुत किया है।

इसी के सन्दर्भ में वे अगली गाथाओ मे विभिन्न दार्शनिको के मन्तव्य क्रमश प्रस्तुत कर रहे हैं—

कोई अबन्ध आतमतत माने, किरिया करतो दीसे।
किरियातरण फल कहो कुरण भोगवे, इम पूछ्यु चित्त रीसे ॥मु० २

जड़चेतन ते आतम एक ज, स्थावरजंगम सरिखो।
सुख-दु.ख-संकर दूषरण आवे, चित्त विचार जो परिखो ॥मु०॥३॥

एक कहे नित्य ज आतमतत, आतमदरसरण लीनो।
कृतविनाश अकृतागम दूषण, नवि देखे मतिहीरणो ॥मु० ॥४॥

सौगतमतरागी कहे वादी, क्षरिणक जे आतम जारणो।
बन्ध-मोक्ष, सुख-दु ख नवि घटे, एह विचार मन आणो ॥मु०॥५॥

भूतचतुष्कवर्जित आतमतत सत्ता अलगी न घटे।
अंध शकट जो नजर न देखे, तो शु कीजे शकटे ? ॥मु०॥६॥

अर्थ

कोई-कोई दार्शनिक (वेदाती और साख्यमतवादी) आत्मतत्त्व को कर्मबन्ध-रहित (अबन्ध) मानते हैं, फिर भी वे शुभाशुभ मानसिक आदि क्रियाएँ (जप, तप, दान, सेवा आदि) करते देखे जाते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि बताइए, जब आत्मा बन्धरहित है तो, इन क्रियाओ का फल कौन भोगता है ? तब वे मन मे गुस्से हो (क्रुद्ध) जाते हैं ॥२॥

कोई दार्शनिक (अद्वैतवादी) यो मानते हैं—पौद्गलिक जड (चैतन्यरहित) पदार्थ और चेतन (चैतन्यशक्ति सहित) ये दोनो स्थावर (पृथ्वीकायादि और जगम (चलने फिरने त्रसकायादि) के समान हैं, सबमें एक ही आत्मा है; इन सबमे कोई अन्तर नहीं है। किन्तु ऐसा मानने पर सुख और दु ख का सांकर्य दोष आएगा, (यानी एक दूसरे का सुखदु.ख एक दूसरे का भोगने का प्रसंग आएगा। अगर इस बात प' ठडे दिल से विचार करेंगे तो हमारी बात मे सत्यता की परीक्षा कर सकेंगे ॥३॥

एक दार्शनिक (अद्वैतवादी वेदान्ती) कहता है—आत्मतत्त्व सदा एकान्त (कूटस्थ) नित्य है। इस प्रकार नित्यात्म वादी अपने माने हुए आत्मदर्शन में लीन (ओतप्रोत) रहता है। परन्तु अपने कृत (किये हुए कर्म के फल) का विनाश और अकृत (नहीं किये हुए कर्मो का आगम (फल) मिलने लगेगा, इस दोष को मान्यता वाला मदबुद्धि नहीं देखता ॥४॥

सौगत (बौद्ध मतरागी वादी कहते हैं—यह (देहस्थित) आत्मा क्षणिक है क्षणभर मे उत्पन्न और विनष्ट होता है) ऐसा समझ लो। किन्तु ऐसा मानने पर आत्मा मे बन्ध-मोक्ष (कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का बन्धन एव कर्मपुद्गलो से आत्मा का छुटकारा) तथा सुख-दु ख आत्मा मे घटित नहीं हो सकते। कम से कम अपने दिल मे यह विचार तो कर लो ॥५॥

कुछ भौतिकवादी कहते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार मूल भूतो (पदार्थों) के सिवाय आत्मतत्त्व का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। अन्धा अगर रास्ते मे पड़ी हुई गाड़ी को आँखों से नहीं देख सकता तो इसमें गाडी बेचारी क्या करे ? गाड़ी का क्या दोष है ? ॥६॥

भाष्य

सांख्य और वेदान्त की दृष्टि मे आत्मा

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा के सामने आत्म तत्त्व कौन-सा है, जिसे आपने यथार्थ जाना ? इस प्रकार की जिज्ञासा प्रगट की है। उस युग मे आत्मा के बारे मे विभिन्न दार्शनिक अपना-अपना राग अलाप रहे थे, सभी एक दूसरे को मिथ्या और नास्तिक तक कह देते थे। ऐसे विवाद के घनान्धकार मे श्रीआनन्दघनजी को रास्ता नही सूझ रहा था कि कौन-सा आत्मतत्त्व यथार्थ है, और वह परमात्मा के निकट ले जाता है, किसमे और कब मोक्ष जाने की योग्यता होती है ? इन शकाओ का समाधान पाने की दृष्टि से वे उस युग मे आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओ का सारा पुलदा प्रभु के सामने रख देते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर अपनी द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका

मे जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं—[1]जो विवेकविकल लोग आत्मा को वन्धरहित, एक, नित्य (एकात), क्षणक्षयी, असद्रूप सर्वथा-एकान्तरूप से मानते हैं उन विवेकमूढ लोगों की समझ मे वह भलीभाँति नही आया। अत उसे समझने के लिए वही एकमात्र जिनेन्द्रपरमात्मा मेरे लिए शरणरूप हो।" इस स्तुतिपाठ मे विविधरूप से आत्मा को मानने वाले ५ दार्शनिको की मान्यता का जिक्र किया है, यही बात श्रीआनन्दघनजी ने क्रमश दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी गाथा मे प्रस्तुत की है।

सर्वप्रथम आत्मा के सम्बन्ध मे साख्यादि दर्शनो की मान्यता प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं– "कोई अवध आतमतत माने।' अर्थात् साख्यदर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को निर्लेप, नि सग एव निर्वन्ध मानते है। वे कहते हैं, 'असगो ह्यय पुरुष' आत्मा कर्मों आदि से बिलकुल निर्लेप, है, इसलिए 'त्रिगुणो न बध्यते, न मुच्यते, इस वेदवाक्य के अनुसार आत्मा-सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणो से रहित है, निर्लेप है, वह कुछ करता धरता नही है, सब कर्मों से विलकुल अलग-थलग असग रहता है। जो असग रहता है, उसके बन्ध भी नही होता। प्रकृति ही त्रिगुणात्मका है, वही सब कार्य करती-धरती है, कर्म का बन्ध उसी को होता है। इस मान्यता मे दोष बताते हुए योगीश्री कहते हैं—आत्मा को निर्लेप निर्बन्ध मानने वाले अपने सम्प्रदाय मे प्रचलित विविध क्रियाएँ (दान देना, काशी मे जा कर गगास्नान करना आदि) करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव से दिखाई देता है कि वे मानसिक शुभाशुभ विचार, वाचिक सत्यासत्यवाणी का व्यापार, कायिक हलचल आदि स्पन्दमान क्रियाएँ करते हैं। सवाल होता है कि जब आत्मा अबन्ध है, तो ये क्रियाएँ कौन और किसके लिए करता है? जो क्रिया की जाती है, उसके करने वाले को फल भी अवश्य मिलता है। उनके शास्त्र का वचन

---

१ अबन्धस्तथैक. स्थितो वा क्षयी वाऽ—
प्यसद् वा मतो यैर्जडैस्सर्वथाऽऽत्मा ।।
न तेषा विमूढात्मनां गोचरो यः।
स एक परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ।।२६।।

है—'करेगा सो भोगेगा', 'सर्वा क्रिया फलवती प्रसिद्धा' (सभी क्रियाएँ फल देनेवाली होती हैं) तव उनसे पूछा जाता है कि जब आप ये धार्मिक क्रियाएँ करते हैं अथवा आत्मा मन, वाणी और शरीर द्वारा स्थूल-सूक्ष्म क्रियाएँ करता नजर आता है, यह मेरा, आपका और सबका अनुभव है, तव यह बताइये कि इन क्रियाओं के फलस्वरूप पुण्य और पाप को कौन भोगता है ?

इसी प्रकार वेदान्ती भी आत्मा को निर्गुण मानते हैं। निश्चयनय से तो जैन-दर्शन भी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय एव अकर्ता मानता है, व्यवहार नय से कर्मों का कर्ता-भोक्ता भी मानता है। परन्तु वेदान्ती तो आत्मा को अवन्ध मानते हैं। तव जप, तप, अनुष्ठान वगैरह क्रियाएँ वे किसके लिए किस प्रयोजन से करते हैं ? आत्मा और क्रिया का सम्बन्ध क्या ? और फिर उन क्रियाओं का फल कौन भोगेगा ? पूर्वोक्त दोनों दार्शनिकों के सामने इस प्रकार का प्रतिप्रश्न रखा जाता है कि वेदान्ती या सांख्यों की इन क्रियाओं का फल कौन भोगेगा ? आत्मा तो कर्म वांधता या तोडता नहीं, फिर भी आपकी क्रियाएँ चालू हैं, ऐसी परस्पर असगत बातें क्यों करते हैं ? तव वे निरुत्तर हो कर रोष मे आ जाते हैं और मन मे कुढने लगते हैं। अत. प्रभो ! इसका यथार्थ उत्तर आपसे मिलेगा, तभी मुझे सत्यतत्त्व की प्राप्ति होगी।

ब्रह्मैकत्ववादी की दृष्टि मे आत्मा

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि जड और चेतन दोनो ही ब्रह्म (आत्मा) रूप हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि स्थावर तथा त्रसकायादि जंगम इन दोनों मे आत्मा की दृष्टि से समानता है। सारा चराचर जगत् ब्रह्म (आत्म) मय है। उनके सूत्र हैं—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन' 'एक ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' 'जले विष्णु स्थले विष्णुः विष्णु पर्वतमस्तके' (सारी सृष्टि मे एक ही ब्रह्म (आत्मा) है, ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नही है। यह सारा चराचर जगत् ब्रह्म है, यहाँ नाना दिखाई देने वाला कुछ भी नही है। आत्मा एक है, वह सर्वत्र व्यापक है, नित्य है। इस चराचर मे सब कुछ ब्रह्म है और कुछ भी नहीं है। जल मे, स्थल मे और पर्वतशिखर पर भी विष्णु (शुद्ध आत्मा) है।

इस प्रकार अद्वैतवादी की दृष्टि मे जड और चेतन, चर और अचर समस्त पृथक्-पृथक् जीवो का अस्तित्व नहीं है, तथैव जड का अस्तित्व भी

अलग नहीं है। सभी जड और समस्त चेतन मिल कर एक ही आत्मा (ब्रह्म) इस जगत् मे है। तथा सभी चराचर आत्माओ का एक ही स्वभाव है, एव सारा जगत् ब्रह्ममय होने से जड भी चेतन मे मिल जाता है और चेतन भी जड मे मिल जाता है, तब दोनो एकमेक हो जाते हैं। इस अद्वैतमत के तीन प्रकार हैं-[१] शुद्धाद्वैत, [२] द्वैताद्वैत और [३] विशिष्टाद्वैत।

आत्मतत्त्व को अद्वैतमत की दृष्टि से स्वीकार करने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यो मानने पर प्रत्यक्षप्रमाण से पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले स्थावर और जगम, जड और चेतन दोनो प्रकार के पदार्थ एकसरीखे हो जायँगे। ऐसा होने पर सकर[1] [एक दूसरे मे परस्पर मिश्रण] दोष [न्यायशास्त्र का दोष] आएगा। जैसे—जड को सुख-दु ख का अनुभव नही होता, चेतन को दोनो का अनुभव होता है। जड और चेतन के लक्षण और उनकी व्यवस्था में अन्तर है। जडचेतन-एकत्वमत को मानने पर ये लक्षण और व्यवस्था दोनो समाप्त हो जाएँगी। क्योकि जड को भी चेतन की तरह सुख-दु ख मानने पडेंगे और चेतना को भी जड के तरह सुखदु खरहित मानना पडेगा। और स्थावरजीवो का परिणाम जगमजीवो को और जगमजीवो का परिणाम स्थावरजीवो को भोगना पडेगा, परन्तु वस्तुत ऐसा होता नही। जगत् के सभी प्राणियो को ऐसा अनुभव नही होता। अत यह सकरदोष भी आएगा। और फिर सुख [साता] का मीठा और दु ख [असाता] का कडवा अनुभव सर्वत्र सब जगह एक ब्रह्म मे ही मानने से अच्छे-बुरे अनुभवो का घोटाला हो जाएगा। दोनो प्रकार के अनुभव मिश्र हो जाएँगे। पशु और पक्षी, कीडा और रेंगने वाले सर्पादि सबका लक्षण [साकर्य] एक हो जाएगा। यह घोटाला भारी उलझन पैदा करेगा। इसलिए इसमे हेत्वाभास दोष तो स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। इसलिए श्रीआनन्दघनजी उन अद्वैतवादियो से कहते हैं—'चित्त विचार जो परिखो'। अर्थात् अपने मत [विचारधारा] पर ठडे [शान्त] चित्त

---

१ सकरदोष वह है, जिसमे अलग-अलग पदार्थों के लक्षण किसी एक ही लक्ष्य मे घटित हो जाय। अत लक्षणो का परस्पर एक दूसरे मे मिल जाना संकरदोष है।

से विचार करके परखो तो सही। ऊपर बताए हुए तीन प्रकार के अद्वैतमत में से विशिष्टाद्वैत विष्णु-उपासक हैं, वे स्थावरजगम सभी वस्तुओं में विष्णु को देखते हैं। उनके मत में जीवात्मा कभी परमात्मा नहीं होता। इसी प्रकार द्वैताद्वैत [निम्बार्क] मत में सुख और दुःख दोनों को एक माना जाता है, यह बात किसी तरह गले नहीं उतरती नहीं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से वास्तविक आत्मतत्त्व को बताने की प्रार्थना करते हैं।

यद्यपि द्रव्यत्व की दृष्टि से सामान्यधर्म को स्वीकार करने वाले सग्रहनय की अपेक्षा से जड और चेतन जरूर एक हैं, परन्तु व्यवहारनय कीअपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् भी हैं, मगर एकान्तरूप से दोनों को एक मानने पर सांकर्यदोष आता है।

आत्मतत्त्व को एकान्त नित्य मानें तो

अब श्रीआनन्दघनजी आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य मानने वाले अद्वैतवादी वेदान्त अथवा साख्यदर्शन की परीक्षा करते हैं। अद्वैतवादी वेदान्त की एकान्त मान्यता है कि आत्मा सदोदित एक समान रहता है, वह कूटस्थ (घन की तरह स्थिर) है, उसमें कहीं भी परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार आत्मदर्शन करने में लीन हुए वेदान्ती अपनी मान्यता में उपस्थित होने वाले दोषों को मतिहीन बन कर देख नहीं सकते। इस मान्यता में दोष ये है—इस जीवन में प्राणी को सुख-दुःख के कारण मीठे या कड़वे फल का अनुभव होता है। एकान्तरूप से स्वरूप में लीन कूटस्थनित्य आत्मा तो कुछ भी करणी=क्रिया नहीं कर सकता, तथपि आत्मा तो अच्छे-बुरे परिणाम भोगता है, यह तो हम प्रतिदिन देखते हैं। हम सृष्टि में बड़े-बडे दानकर्ताओं को देखते हैं, तपजपादि अनुष्ठान करते भी देखते हैं। आत्मदर्शन में लीन आत्मा तो भोक्ता नहीं हो सकता। तथापि हम राजा और रक, धनाढ्य और दरिद्र का अन्तर देखते हैं। ये सब बातें एकान्त नित्य आत्मा में घटित नहीं हो सकती।

आत्मा को एकान्त नित्य मानने से सर्ववादीसम्मत और प्रत्यक्षादि से ज्ञात होने वाला कार्य-कारणभाव कथमपि किसी भी काल में घटित नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य-कारणभाव में एक पदार्थ कार्यरूप में होता है, जबकि दूसरा पदार्थ कारणरूप होता है। अथवा एक ही पदार्थ की एक पर्याय (अथवा) कारणरूप और दूसरी पर्याय कार्यरूप बनती है। जैसे लोहे नामक

एक पदार्थरूप कारण से ताररूप कार्य उत्पन्न हुआ। और उस तार मे से एक कडा बना लिया गया। इस तरह तार अन्न पर्याय होते हुए भी कारण बन गया और कडा हो गया कार्य। परन्तु अगर लोहा सदैव, नित्य एक अखण्डस्वरूप मे ही रहे तो उसमे से तार या कडा कैसे बन सकते हैं? इसी प्रकार प्रत्यक्ष भौतिक विज्ञान के अनुसार घटित होने वाले कार्यकारणो को देखते हुए कुछ न कुछ सगति बिठानी ही पडेगी। जिस किसी भी तरह से आप (एकान्त नित्यवादी) कार्यकारणभाव बताएँगे, उसमें आपको अपने एकान्त नित्यवाद की मान्यता को काल्पनिकरूप से, चाहे वास्तविक रूप से बदलना ही होगा। इसके बिना कोई चारा ही नही है। आत्मा को नित्य मानने मे हमे कोई आपत्ति नहीं ,है लेकिन उनमे जरा भी परिवर्तन किये बगैर एकान्त नित्य मानने में आप सफल नही हो सकेंगे। अत विश्व मे प्राणियो मे होने वाले परिवर्तनो की सगति बिठाने के लिए आत्मा को कथचित् अनित्य मानना ही पडेगा। अगर कथचित् अनित्य नही मानेंगे तो कार्यकारणभाव से इन्कार करना पडेगा। यह तो बीज के बिना फल पैदा करने के समान होगा। एक जाति के नर और मादा-प्राणियो से दूसरे प्राणियो की उत्पत्ति तथा बीज से अन्न वगैरह की उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती देखी जाती है, उसके (फल के) बिना ही काम चला लेना होगा।

यदि कहे कि ये सब बातें काल्पनिक हैं, भ्रम हैं, स्वप्नवत् आभास या अविद्या-जनित अध्यास है, तब तो सारी दृश्यमान सृष्टि अविद्याभासित भ्रान्ति हो जाएगी। फिर सवाल होगा कि ब्रह्म के सिवाय आपके मत मे और कुछ नही है तो यह भ्रान्ति या माया कहाँ से आ गई? यदि कहें कि यह तो मन की भ्रमणा है तो मन की भ्रमणा और मन की शुद्धि ये कहाँ से आ गए, एक ही ब्रह्म होने के बावजूद? यदि ये सब ब्रह्म (आत्मा) मे आए हैं, तब तो ब्रह्म एक और एकस्वरूप (नित्य) नहीं नही रह सका। इसलिए आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य माने बिना कोई छुटकारा नही है। इतनी आपत्तियाँ होते हुए भी एकान्त नित्य मानेंगे तो आपके मत मे अविद्या (अज्ञान) का नाश करने के लिए जो वेदान्तविधिशेषत्व का उपयोग करते हैं, विधि भी बताते हैं। अगर ब्रह्म सदा नित्य ही हो तो उसमे अविद्या से जनित अशुद्धि को दूर करने की विधिशेषत्व की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? एकान्तनित्य आत्मा

मानने पर जो कुछ भी प्रवृत्ति अविद्यानाशादि के लिए करेंगे, उसका फल तो आपको मिलेगा नही, इस दृष्टि से[1] कृत (फल) का नाश होगा और अकृत का आगम (दोष) होगा। आत्मा एकान्त नित्य एकरूप रहेगी, तो शुभाशुभ जो कर्म वेदान्ती करेगा, उसका तो नाश हो जाएगा, और व्रत नियमादि शुद्ध कर्म य नही करते हुए भी उनका फल मिला करेगा। यानी ऐसी स्थिति मे कृतकर्म का फल नष्ट हो जाएगा और अकृतकर्म का फल मिलने लगेगा। अथवा अविद्या का नाश था ही, ब्रह्म ही अकेला था। वह आज भी है। अविद्या का नाशरूप फल तो विधिशेषत्व किए विना भी था। इस तरह किये हुए पुरुषार्थ का नाश और नही करे हुए, की प्राप्ति ये दूषण अवश्यमेव आएँगे। आत्मा को नित्य मानने वाले की नजरो मे मनुष्य मनुष्य के बीच मे जो आज राई और पर्वत का-सा अन्तर है, वह क्यो नहीं आता ? क्या ये धनवान-गरीब मदबुद्धि-तीव्रबुद्धि आदि भेद नित्य आत्मा में हो सकते हैं परन्तु व्यवहार मे दोनो ही हैं। अपनी बुद्धि मे इस निष्पक्ष विचार का गज डाल कर देखें तो तुरन्त समस्या हल सकती है। अत. एकान्त नित्य आत्मतत्त्व का विचार दिमाग मे जचता ही नही है, इसीलिए प्रभो ! मैं आपसे निर्विवाद सत्य शुद्ध आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ।

आत्मा क्षणिकवाद की दृष्टि मे

क्षणिकमतवादी बौद्धमतानुरागी लोग कहते हैं—आत्मा क्षणविध्वंसी है, प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होता रहता है। प्रत्येक का-आत्मा सदा एक समान नही रहता, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। पहले क्षण मे जो आत्मा था, वह दूसरे क्षण नही रहता। पहले क्षण जो आत्मा विचार करता है, वह अलग और दूसरे क्षण विचार करता है, वह आत्मा अलग है। पृथक् पृथक् विचार करने वाला प्रतिक्षण बदलता रहता है। बौद्ध विज्ञानस्कन्ध को आत्मा कहते हैं, उससे ज्ञान होता है। अर्थात् अह [मैं] का ज्ञान जिससे होता है, वह स्कन्ध और दूसरे स्कन्ध क्षण-क्षण मे बदलते हैं, क्योकि ज्ञान तो क्षण-क्षण मे बदलता

१. कृतनाश का अर्थ है —पूर्ण कारण-सामग्री मिलने पर भी कार्योत्पत्ति न होना तथा अकृतागम का अर्थ है—कारण के विना ही कार्य उत्पत्ति होना।

है जब आत्मा क्षणिक है तो सुखदुःख का अनुभव जरा-सी देर मे कैसे सम्भव हो सकता है ? जब आत्मा एक ही क्षण टिकती है तो प्रत्येक बौद्ध शुभाशुभ अध्यवसायपूर्वक क्रिया करते हैं, चार आर्यसत्य, अष्टाग सत्य आदि के पालन की बात भी वे करते हैं, तब फिर शुभाशुभ कर्मबन्ध कैसे घटित होगा ? क्योकि कर्म बँधने वाला तो क्षणभर मे नष्ट हो गया, तथा कर्म से छुटकारा पाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रत्यत्न करने वाला आत्मा भी नष्ट हो गया, तब कर्मों से मुक्ति किसकी होगी ? पुण्यकर्म या पापकर्म करने वाला आत्मा जब क्षणभर मे नष्ट हो गया तो फिर उसका शुभाशुभ फल कौन भोगेगा ? 'बुद्धदेव ने ४६ दिन तक समाधिसुख का उपभोग किया' ऐसा उनके सम्प्रदाय द्वारा मान्य पुस्तको मे है। वह क्षणिक आत्मा मानने वाले के लिए कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योकि ४६ दिनो मे तो कई आत्माएँ बदल चुकी है।

दूसरी दृष्टि से देखे तो क्रिया से आत्मा के साथ कर्मरज लगते हैं। आत्मा के साथ उन कर्मों का क्षीरनीरन्यायेन बध होता है, आत्मा आत्मा मे स्थिर हो कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप आदि क्रिया करता तथा स्वरूपरमण करता है, उससे पूर्वबद्धकर्मों का आत्यन्तिक छुटकारा [मोक्ष] हो जाता है, भला आत्मा को क्षणिक मानने पर बन्ध और मोक्ष कैसे घटित होगे ?

इस प्रकार एकान्त क्षणिक आत्मा मानने पर उसका बन्ध-मोक्ष, पुण्यजनित कर्मफलस्वरूप सुख या पापजनित अशुभफलरूप दुःख उसमे घटित नही हो सकेगा। क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा को एक ओर तो क्षणिक मानते हैं, दूसरी ओर, आत्मा के बन्ध और मोक्ष को भी मानते हैं। यह वदतो व्याघात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है, जो गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है, बौद्ध दार्शनिको के लिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु से प्रार्थना करते हैं—प्रभो ! किस प्रकार का आत्मतत्व सच्चा मानूं, यह कृपा करके मुझे बताइए।

चतुर्भूतवादियो की दृष्टि मे आत्मतत्व

अब श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि दुनिया मे चार भूतवादी भी आत्मा तो मानता है, मगर वह कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार

महाभूतो के सिवाय आत्मा नाम का कोई पदार्थ जगत् मे है ही नहीं। इसलिए चार भूतो का समूह ही आत्मा है। यह चार्वाक का मत है। चार्वाक प्रत्यक्ष-वादी है। वह कहता है — आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई तो देता नही। न कोई परलोक वगैरह प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, और उक्त ४ भूत तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जैसे गोबर, गोमूत्र, आदि पदार्थों के एकत्र होते से ही विच्छू बन जाता है, अथवा Chemical Compound के मिलने से एक दवा बन जाती है। वैसे ही इन चार भूतो का सयोग होने ही आत्मा का प्रादुर्भाव इनमे से होता है। और इन्ही चारभूतों के खत्म होते ही आत्मा भी खत्म हो जाता है। बस, यही आत्मा है। इसके अलावा कोई आत्मा प्रत्यक्ष नही दिखाई देता। उनसे पूछा जाय कि आत्मा जब भूतो के नष्ट होते ही यही नष्ट हो जाता है तो उसने जो शुभाशुभ कर्म किये है, उनका फल कब, और किसको मिलेगा? अगर कहे कि फल यही मिल जाता है, तब तो मुक्ति के लिए की जाने वाली या असत्यादि से निवृत्त होने और न होने वाले व्यक्तियो का धर्माचरण, जप-तप आदि व्यर्थ हैं, फिर तो पापकर्म करने वाले को भी कोई खटका नही रहेगा, क्योकि आत्मा का फिर कुछ खेल है, वह यही पर है, परलोक मे नही, ऐसा आश्वासन मिल जाने के कारण व्यक्ति क्यो धर्माचरण शुद्धात्मरमण आदि करेगा? वह निःशक हो कर पापकर्म करेगा। क्योकि चार्वाक की उक्ति उन्हे प्रेरणा देती है—"जब तक जीओ। सुख से जीओ। कर्ज करके घी पीओ। मृत शरीर के राख हो जाने पर उसका पुन. आगमन नही होता, यही खेल खत्म हो जाता है।"[1]

इसका खण्डन श्रीआनन्दघनजी इसी गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं कि अंधा आदमी एक गाड़ी पर बैठ कर मुसाफरी कर रहा है। रास्ते मे ही उससे किसी ने पूछा—"क्यो सूरदासजी! गाडी देख रहे हो न?" अगर वह गाड़ी से इन्कार करता है, अथवा उसकी नजरो मे गाडी नही दिखाई देती तो क्या गाडी नही है? इसमें गाडी का तो कोई दोष नही है। किन्तु तर्क यह है कि उस गाडी को चाहे वह अंधा आँखो से न देख सकता हो, परन्तु हाथ के स्पर्श से, गाडी की खड-खड आवाज से, अथवा किसी विश्वस्त

---

१ "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ?"

सत्यवादी मनुष्य के द्वारा बतलाने पर कि 'गाडी पास मे ही है, इससे उस अधे को मालूम हो जाता है कि गाडी मेरे पास ही है। क्या वह अधा तब उस गाडी के अस्तित्व मे इन्कार कर सकता है ? कदापि नही। क्योकि स्पर्श से, आवाज से, प्रामाणिक पुरुष के वचन से, शाब्दप्रमाण से एव अनुमानप्रमाण से उसने गाडी की जानकारी कर ली है। इसके बावजूद वह आँखो से गाडी न देखने के कारण हठपूर्वक इन्कार करता है, तो उसकी जिद्द ही कही जाएगी। इसी प्रकार चार्वाकमतवादी नास्तिक की नजर मे कदाचित् पचभूतो से अतिरिक्त आत्मा न आए, परन्तु उससे आत्मा के अस्तित्व या उपस्थिति से इन्कार कैसे किया जा सकता है। क्योकि आत्मा अनुमान, आगम, आदि प्रमाणो अनुभव आदि से ज्ञात होता है ? चारभूत को ही आत्मा मानने से अनेक दोष आते हैं। इसलिए आत्मा के लिए चाहे वे हठपूर्वक इन्कार करें, क्या उससे दुनिया मे आत्मतत्त्व अभाव या अतिस्त्व हो जाएगा। मृत मनुष्य या पशु मे चारो भूत होते हुए भी वह चलता फिरता क्यो नही ?' इससे मालूम होता है, इन चार भूतो से अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदार्थ है, जिसकी शक्ति से इन्द्रियाँ, मन या शरीरादि काम करते हैं।

वर्तमान भौतिक विज्ञान भी प्राय. प्रत्यक्ष को मान कर चलता है, परन्तु वह पूर्वज आप्तपुरुषो की रची हुई थ्योरी पर से पहले पहले प्रेक्टिकल एक्सपेरिमेंट (प्रयोग) करता है, अनुमानप्रमाण से भी काम लेता है, इसलिए वह आत्मा का सर्वथा इन्कार करे, ऐसा जिद्दी नही है। युक्तियो से समझाने पर आधुनिक विज्ञान आत्मतत्त्व के विषय मे मान भी सकता है। अत इन भौतिकवादियो के प्रवाह मे न बह कर प्रत्येक अध्यात्मसाधक को आत्मतत्त्व की छानबीन अवश्य करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीआनन्दघनजी आत्मा के विषय मे विविध दार्शनिको की अटपटी मान्यताओ को प्रस्तुत करके उनकी बात क्यो सच नही लगती ? क्यो गले नही उतरती ? इसे भी साथ ही साथ निवेदन करके पुनः भगवान् के चरणो मे प्रार्थना करते है —"आपने जिस प्रकार के आत्मतत्व को सच माना हो, उसके विषय मे बताइए। अब श्रीवीतराग परमात्मा इसके उत्तर में क्या कहते हैं, यह अगली गाथा मे पढिए—

एम अनेक वादी मतविभ्रम सकट पड़ियो न लहे ।
चित्त समाध ते माटे पूछुं, तुमविण तत कोई न कहे ॥मु० ७॥

अर्थ

इस प्रकार अनेक एकान्तवादियो दार्शनिको) ने (आत्मतत्व के विषय मे अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम मे डाल दी है । इस कारण मे धर्मसकट मे पड़ गया हूँ । मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, ख्वासतौर से शान्ति के लिए। इसके बारे पूछता हूँ । मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्षरूप से) कोई आत्मा के विषय मे सत्यतत्व क्या है ? इसे नहीं कह सकता ।

भाष्य

श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिको के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यों नही जचती ?, इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुन निवेदन कर रहे हैं कि "प्रभो ! इस प्रकार मैं अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के सकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता । मैं भी अपने मन की शान्ति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ अतएव निरुपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है । क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्व (यथार्थ स्वरूप कह नही सकता । आप ही आत्मा का यथार्थ तत्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए ।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्व के सम्बन्ध में प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम में हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित हो कर वास्तविकता को न समझ पा रही हो । तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओ में उन्होने जो कहा है-'इम अनेक वादी मतिविभ्रम संकट पडियो न

लहे, इस बात के साथ कैसे सगति बैठेगी ? इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नही कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होंने आम आध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के सम्बन्ध मे पृथक् पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगो की परस्पर विरोधी एव अपनी अपनी युक्तियो की छटा से युक्त बातें सुन कर स्वाभाविक है कि आम (आदमी जिसका विविध दर्शनशास्त्रो का अध्ययन नही है, जो जैनतत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ है, सहसा सशय मे पड जाता है कि यह मत सच्चा है या वह मत ? आज भी पाश्चात्य सस्कृति या कामभोगोत्तेजक विचारधारा सुन कर बडे-बडे प्रभावित हो जाते हैं, वैसे भोगपरायण किन्तु भगवान्, पैगम्बर आदि पदो से विभूषित तथाकथित वाक्पटु लोगो की लच्छेदार और झटपट गले उतर जाने वाली युक्तियो, हेतुओ, दृष्टान्तो तथा आडम्बरो को देख कर वे हतप्रभ हो जाते हैं। हजारो-लाखो लोगो की भीड देख कर वे सोचने लगते हैं—इतने लोग इनकी बात सुनते हैं, तो क्या ये सब बुद्धू हैं ? इस प्रकार उनकी बुद्धि झटपट डावाडोल हो उठती है। उनके दिमाग मे तूफान खडा हो जाता है कि इतने बडे माने जाने वाले व्यक्ति की बातें मिथ्या या सब कुछ असत्य कैसे हो सकती है ? जब तक उनके मन का प्रबल युक्तियो से यथार्थ समाधान न कर दे, तब तक उन्हे शान्ति नही होती। और यथार्थ समाधान तो नि स्पृह, निष्पक्ष, वीतराग आप्तपुरुष ही कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि छद्मस्थ व्यक्ति चाहे कितने ही महान् पद पर हो, बाहर से कितना ही त्यागी कहलाता हो, उसके द्वारा बेलाग और बेराग कहा जाना कठिन है। इसीलिए आनन्दघनजी ने अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के साथ साथ जगत् के आम साधको को आत्मतत्त्व की सच्ची राह मालूम कराने हेतु अथवा सर्वसाधारण की बुद्धि को ऐसे वाक्पटु लोगो के जाल से निकालने के लिए वीतराग परमात्मा से यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा है ? पूर्वोक्त दर्शनो की बातो मे सचाई कितनी है ? यह जिज्ञासा पुन प्रकट की है और यह भी प्रकट कर दिया है कि आपके (वीतराग) के सिवाय आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कोई नही कह सकता। इसका कारण भी पुन उन्होंने दोहराया है कि यथार्थ आत्मतत्त्व जाने बिना चित्तसमाधि (मन शान्ति) प्राप्त नही हो सकती।

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक की मन शान्ति जहाँ तक नहीं होती, वहाँ तक वह शुद्धात्मस्वरूप में रमणता, या परमात्मा मे तन्मयता कर नहीं सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने अपनी और समस्त मुमुक्षु साधकों की मन शान्ति के लिए यह जिज्ञासा न्यायोचित ही प्रस्तुत की है।

जैनदर्शन के अनुसार यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा और कैसा है ? वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? यह अगली गाथाओ मे पढिए—

वलतु जगगुरु इणि परे भाखे, पक्षपात सब छडी।
राग-द्वेष-मोह-पखवर्जित, आतमशु रढ मडी ॥श्री मु०॥८॥

आत्मध्यान करे जे कोऊ, सो फिर इण मे नाऽऽवे।
वाग्जाल बीजु सहु जाणे,[1] एह तत्त्व चित्त[1] चावे ॥श्री मु० ९॥

जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत(त्व)ज्ञानी कहिये।
श्रीमुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहिये ॥श्री मु०॥१०॥

अर्थ

पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर मे जगद्गुरु वीतराग प्रभु इस प्रकार (निम्नलिखित रूप मे) कहते हैं -सब प्रकार का पक्षपात (एक मत का एकान्त आग्रह) छोड कर राग [मनोऽनुकूल इष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति मोह-आसक्ति]-द्वेष [मन के प्रतिकूल अनिष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति घृणा या अरुचि) मोह (ममत्व के कारण होने वाला उत्कट राग) तथा सभी प्रकार के पक्षपात से रहित जो अनन्तगुणमय आत्मा है, यों विचार करके उसके साथ दृढतापूर्वक एकाग्र हो जाओ, जुट जाओ ॥ ८ ॥

जो कोई साधक उस आत्मा का निर्विकल्प-समाधिरूप—द्रव्यार्थिक दृष्टि से ध्यान करता है, वह फिर राग-द्वेष, मोह, पक्षपात आदि के चक्कर मे नहीं

---

१. जाणे' के बदले किसी-किसी प्रति मे 'जाणो' है, तथा 'चावे' के बदले 'लावे' पद भी है।

आएगा, वास्तव मे वह आत्ममय बन जाएगा। इसके सिवाय और जो भी वर्णन है, अलग-अलग विचार है, वह सब वाग्जाल है, वाणीविलास है। मन या आत्मा मे इसी तत्त्व का बार-बार मनन-चिन्तन करे, यही बात हृदय मे भलीभाँति जमा ले, इसी मे तन्मय हो जाय ॥६॥

जिसने सत्यासत्य का विवेक करके ऊपर बताए हुए पक्ष (मार्ग या अभिप्राय) का ग्रहण (स्वीकार) कर लिया, उसे ही वास्तविक तत्वज्ञानी कहना चाहिए हे मुनि सुव्रतनाथ ! आप कृपा करें तो हम [इस आत्मतत्त्व को आपके बताए अनुसार समझ कर) आनन्दघन [सच्चिदानन्दमय] पद (मोक्षस्थान) प्राप्त कर सकते हैं।

भाष्य

वीतरागप्रभु का उत्तर

यो तो वीतरागप्रभु नि स्पृह और निर्लेप है, वे किसी के प्रश्न का सीधा उत्तर दें, यह वस्तु उनके तीर्थंकरकाल में तो सम्भव हो सकती है, लेकिन सिद्धत्वकाल मे नही। अत श्रीआनन्दघनजी वीतरागद्वारा प्ररूपित शास्त्रो पर से आत्मतत्त्व के विषय मे जो स्फुरणा हुई, उसे उन्ही का उत्तर समझ कर उन्ही के श्रीमुख से उत्तर दिलाते हैं, इसमे उनकी नम्रता, समर्पणवृत्ति और जिज्ञासावुद्धि परिलक्षित होती है। भगवान् वीतराग होने से सब प्रकार का पक्षपात छोड कर बिना किसी लागलपेट, मुलाहिजे अथवा किसी एक ओर झुकाव के सबकी समझ मे आ सके, इस प्रकार (वीतराग-मुनिसुव्रतप्रभु) उत्तर देते हैं—भव्य जिज्ञासु ! वेदान्त, साख्य, बौद्ध और नास्तिक आदि सभी एकान्तवादियो के पक्ष को छोड कर, साथ ही अपने अन्दर रहे हुए राग, द्वेप, मोह (स्वत्वमोह, कालमोह) का त्याग कर अथवा राग-द्वेप-मोह-पक्षरहित शुद्ध (निर्दोष) निजात्मस्वरूप मे तल्लीन (तन्मय) हो कर तीव्रता से जुट जाने से चित्तसमाधि अवश्य प्राप्त होगी। अर्थात् राग-द्वेष-मोह-पक्ष-जनित कर्मपुद्गलो से रहित आत्मस्वरूप मे पूर्ण प्रीति करना आवश्यक है। इसका एक स्पष्ट अर्थ यह भी है कि आत्मा के अनुजीवी गुणो—ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे लीन हो जाना चाहिए।

यथार्थ आत्मतत्वज्ञान के लिए राग द्वेप-मोह-पक्ष का त्याग जरूरी

सच्चा आत्मतत्त्वज्ञान कुछ त्याग की अपेक्षा रखता है। वह केवल पोथियो,

ग्रन्थो, शास्त्रो या गुरुओ से नही हो पाता । उसका कारण यह है कि पोथियाँ, ग्र थ या शास्त्र अपने आप मे मूक होते हैं, वे किसी को बोल कर कुछ नही कहते, परन्तु अपनी निमल प्रज्ञा, जिज्ञासा एव सरलबुद्धि ही सत्यासत्य का निर्णय कर सकती है । जब बुद्धि पर राग, द्वेप, मोह, पक्षपात, स्वार्थ या लोभ का पर्दा पडा रहता है, तब तक तत्त्व का सही निर्णय नही हो सकता । जैसे वैद्य द्वारा रोगी को रसायण दिये जाने से पहले उसकी मलशुद्धि की जानी आवश्यक होती है, वैसे ही शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने के लिए आत्मा, मन एव बुद्धि पर लगे हुए विभिन्न आवरणो—मलो को दूर करना आवश्यक है। आत्मा मे (मन, बुद्धि एव हृदय मे) जब तक राग का जोर रहता है, तब तक व्यक्ति निष्पक्ष निर्णय नही कर पाता । राग के कारण वह हर वस्तु पर अपनेपन की या अपने पुरानेपन की छाप लगाने लगता है, अपनेपन मे ममत्व, मेरेपन, अहत्त्व, अहकार, अपनी जाति आदि का मद, स्वार्थ आदि गर्भित होते है। अत उसके कारण बडे बडे साधक यथार्थ तत्त्वनिर्णय नही कर पाते । यह राग की ही कृपा है कि जामाली जैसे उच्च साधक ने अपने मत की अलग प्ररूपणा करके आवेश मे आ कर स्वमत की स्थापना की । यही हाल गोशालक आदि का था । आत्मतत्त्वज्ञान मे दूसरा बडा बाधक कारण द्वेष है । जब व्यक्ति को किसी अमनोज्ञ या अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति एकान्तरूप मे घृणा उपेक्षा, उदासीनता या रूखापन अथवा अरुचि हो जाती है अथवा किसी व्यक्ति या सस्था के प्रति ईर्ष्या या पूर्वाग्रह-हो जाता है, तो वह उसके प्रति बेरूखी या द्वेपदृष्टि रखने लगता है, और नही तो उसकी तरक्की देख कर तेजोद्वेप पैदा होता है । इसलिए द्वेष भी आत्मतत्त्व के जानने मे विघ्न है । तीसरा बाधककारण है- मोह । मोहमोहित, मानव कल्याण-अकल्याण भले-बुरे या कर्तव्याकर्त्तव्य का भाव नही कर सकता । वह मोहवश बुराई को भी अच्छाई मानता है, जहर को भी अमृत मानता है, कुरूढि को भी सुरूढि, अनिष्ट को ईष्ट मानने लगता है । जैसे आँख मे रतोंधी हो जाने पर सब चीजें लाल लाल या रगीन दिखाई देती है । वैसे ही आत्मा पर मोह का रोग लग जाता है, उसे आत्मा के विषय मे सीधी और सच्ची बात उलटी लगती है, दु खकारी परिग्रह उसे सुखकारी लगता है, विषयो की आसक्ति, जो दु खकारक है, वह सुखदायक-सी लगती है, कषायो का शत्रुताभरा स्वभाव उसे मैत्री-पूर्ण लगता

है। इसलिए आत्मतत्त्व के जिज्ञासु को मोह से दूर ही रहना चाहिए। पक्षपात भी मोह का ही एक प्रकार है। पानी मे मुह तभी दिखाई दे सकता है, जब वह शान्त हो, चंचल न हो, गदा न हो, मटमैला न हो, स्वच्छ हो, स्थिर हो। इसी प्रकार उसी आत्मारूपी दर्पण पर आत्मस्वरूप का यथार्थ चित्र दिख सकता है, जो स्वच्छ हो, मोह, राग द्वेप आदि से मलिन, चचल या पूर्वाग्रह से रहित हो। यही कारण है कि प्रभु ने अपने उत्तर मे सीधी-बात कह दी है—जिसे यथार्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान करना हो, उसे किसी भी एकान्तवाद का पक्ष नही लेना चाहिए, साथ ही राग, द्वेष, मोह आदि से रहित हो कर निष्पक्षभाव से आत्मस्वरूपरमण मे जुट जाना जाहिए।

शास्त्रो, विकल्पों, पक्षों, मतो आदि से इन्कार

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु पक्षो एव राग-द्वेष-मोह आदि को छोडने का कहते हैं, लेकिन अब तक जिन सस्कारो मे पले-पुसे है, जिस सम्प्रदाय से शिक्षा-दीक्षा पाई है, पहले से जिस मत, पथ आदि को स्वीकार कर रखा है, जो विकल्प अब तक सुन-समझ रखे हैं, उन्हे कहाँ फैंक दे ? उन्हे कैसे दफना दें ? उन्हे फैंके या दफनाए बिना तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान नही होगा, यह तो भारी धर्मसकट आ पडा है, जगद्गुरो! इसका कोई अनुकूल समाधान दीजिए, जिससे मेरे चित्त मे समाधि हो।"

इसका समाधान भगवान् यो करते हैं—**आतमध्यान करे जो कोऊ, सो फिर इण मे नावे**। बात यह है कि सम्प्रदाय मत, पथ आदि के पूर्वसस्कार या लगाव वैसे तो छूट नही सकता, कोरी बाते करने से या थोथी डीग हांकने से ये सब नही छूट सकते। इनके छोडने का सीधा और सच्चा उपाय यही है कि आत्मा को ध्येय बना कर जो व्यक्ति उसी का ध्यान करता है, उसी मे तल्लीन हो जाता है, बाह्य व्यवहारो के समय निखालिस आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करने लगता है, और यो करते-करते जब उसका अभ्यास इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मा के सिवाय दूसरी ओर मन-वचन, काया जाते ही नही, तब वह फिर राग, द्वेष, मोह आदि के चक्कर में नही आएगा। यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति निखालिस आत्मा की ओर ध्यान देगा तो अपने-आप ही राग-द्वेषादि की ओर से उसकी वृत्ति विमुख हो जायगी। और राग-द्वेपादि को जब मुँह

नही लगाया जायगा, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखा जाएगा, तो वे स्वयमेव उपेक्षित हो कर चले जाएँगा। अब दूसरा एक सवाल यह खडा होता है कि साख्य, वेदान्त आदि दर्शन जो अपनी-अपनी ओर से वजनदार युक्तियाँ, तर्क और हेतु दे कर आत्मतत्त्व के विषय मे अपना-अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं, क्या राग-द्वेषरहित हो कर समभावपूर्वक उनकी बात को भी यथार्थ मान ली जाए ? इसके उत्तर मे प्रभु कहते है – रागद्वेषरहित होने का अर्थ यह नही है कि विवेक छोड़ दिया जाय और सबकी जीहजूरी की जाय, 'गगा गए गगादास और यमुना गए यमुनादास' की तरह सब की हाँ मे हाँ मिलाई जाए। इसके लिए तो वे साफ कहते हैं—"जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत्वज्ञानी कहिए" अर्थात् जो अपने विवेक की आँखे खुली रख कर मेरे (परमात्मा के) बताए हुए इस विचार-परामर्श को ग्रहण करेगा और तदनुसार चलेगा, वही असल मे तत्त्वज्ञानी कहलाएगा) बाकी तो जो समता या वीतरागता की लम्बी-चौडी बातें करके प्रसिद्धि के चक्कर मे पडे हुए हैं, जिनका मकसद अपनी नामवरी करने के लिए दुनिया की आँखो मे धूल झौंकना है, वे लोग नकली या फसली तत्त्वज्ञानी हैं। उनसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

रही बात उनके द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यो को मानने की, सो हमने पहले ही कह दिया है कि जितने भी एकान्तवादी, मिथ्याग्रही या कोरी आत्मा की बातें बघारने वाले हैं, उनका पिड छोडो, उनके चगुल मे मत फसो। उनके मत-पक्ष के घेरे मे फँसने से कोई लाभ नही है, सिवाय बौद्धिक व्यायाम या बहसबाजी के कुछ भी पल्ले पडने वाला नही है। साथ ही प्रभु ने एक बात और स्पष्ट कर दी है कि जिसे आत्मतत्त्व को पाना है, उसे दुनियादारो या मत-पक्षवालो की बातें [1] वाग्-जाल और चित्तभ्रम का कारण समझनी चाहिए। उनके शब्दजाल मे कतई नही फसना चाहिए।

केवल आत्मतत्त्व के ध्यान मे डूब जाओ

इससे यह फलित होता है कि जो व्यक्ति आत्मतत्त्व के ध्यान मे लीन हो जाता है, उसे फिर लम्बे चौडे शास्त्रज्ञान की, पैनी बुद्धि करके तर्क-वितर्क

---

१ 'शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्'—शकराचार्य

प्रस्तुत करने की, या वहस-मुवाहिसे की, अथवा किसी सम्प्रदाय, मत, पथ, पक्ष, या परम्परा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं। उसे इन सवको गौण करके केवल आत्मा के विषय मे चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना चाहिए। फिर यह स्वाभाविक है कि जव उस महाभाग का ध्यान मुख्यतया आत्मतत्त्व की ओर ही होगा तो धन-सम्पत्ति, व्यापार-व्यवसाय, कुटुम्ब- परिजन, मित्र, पुत्र, पत्नी, माता, भगिनी, घर, ग्राम, देश, शरीर, अहंता--ममता, मोह, स्वार्थ मिथ्यात्व, राग,द्वेप, किसी सम्प्रदाय-मत-पक्ष का पक्षपात, वादविवाद शास्त्र-चर्चा, व्यवहारदृष्टि-ज्ञान-चारित्र, क्रियाकाड, या दुनियादारी की, चेलाचेली की या पथ वढाने की सव वातें गौण हो जाएंगी। वह आत्मा के ध्यान मे ही तल्लीन हो कर गुण-पर्यायो के भेदो को गौण करके एक आत्मा का ही निश्चय-दृष्टि से ध्यान करेगा। निश्चयनय (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से आत्मा ही एक तत्त्व है, उसी तत्त्व में चित्त को तन्मय वना लेगा, इसके सिवाय सब वाणीविलास है, शब्दजालवत् हैं, शब्दादि का जाल है।

निष्कर्ष यह है कि यथार्थ आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए तीन शर्तें हैं— उसमें ही [१] राग, द्वेप, मोह और पक्ष का त्याग करना, [२] आत्मा का ध्यान करना, उसमें ही एकाग्र हो जाना, [३] एक वार रागद्वेपादि का कर्म छोडने के वाद ससार मे कभी लौट कर न आना।

परमात्मा की कृपा : साधक के लिए महालाभ

श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा से आत्मतत्त्व प्राप्त करने की जिज्ञासा का समाधान पा कर अपने को धन्य और कृतकृत्य समझा। और अपनी नम्रता पूर्वक प्रार्थना भगवच्चरणो में की है--**श्रीमुनिसुव्रत** ! कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहीए'। परमात्मा की कृपायाचना भक्ति की भाषा में सीधी प्रार्थना है, इसका तात्पर्यार्थ यह है कि आप मेरे आत्मविकास में परमावलम्वन वन कर प्रवल निमित्त वन जायँ तो मैं आपकी आत्मा के साथ (पूर्वगाथा में कहे अनुसार) अभिन्नभाव से रहूँ। अगर मुझे अपनी आत्मा में स्थिर होने की शक्ति मिल जाय तो अवश्य ही आनन्दमय शुद्धस्वरूप— वाला शुद्धात्मपद परमात्मपद प्राप्त हो जाय। फिर मैं ऐसे सच्चिदानन्दपद में प्रविष्ट हो जाऊँगा कि वहाँ से फिर लौट कर जन्म-मरण के चक्र में नही आना पडेगा।

सारांश

इस स्तुति मे योगीश्री ने सर्वप्रथम प्रभु के सामने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है, प्रभु से इस जिज्ञासा के समाधान का कारण भी उन्होंने बताया है। फिर वेदान्त, सांख्य, अद्वैतनित्यवादी एव नास्तिक आदि दर्शनो के मन्तव्य प्रस्तुत करके पुन: प्रभु के सामने अपनी उलझन रखी है। जिसका उत्तर प्रभु ने निष्पक्षरूप से दिया कि राग द्वेष-मोह आदि से दूर हो कर केवल आत्मतत्त्व मे डुबकी लगाओ, सभी वादविवादो को छोड कर एकमात्र आत्मध्यान मे लीन हो जाओ। अन्त मे, श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मतत्त्व को पाने की कृपा-प्रार्थना की जिस कृपा से सच्चिदानन्दमय शुद्धात्मस्वरूप मोक्षपद का लाभ प्राप्त होने की आशा भी प्रगट की है।

२१ : श्रीनमिजिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक

तर्ज- धन धन सम्प्रति राजा साचो, राग-आशावरी ।

षड्दर्शन जिन-अंग भणीजे, न्यास षड़ंग जो साधे रे।
नमिजिनवरना चरण-उपासक, षड्दर्शन आराधे रे ॥षड्० १॥

अर्थ

साख्य, योग, बौद्ध,मीमासक, लोकायतिक और जैन आदि ६ दर्शन जिन (वीतराग परमात्मा) के ६ अग हैं, बशर्ते कि छहो अगो की स्थापना ठीक ढग से की जाय। जो नमिजिनवर (वीतरागप्रभु) के परम चरण-उपासक हैं, वे छहो दर्शनो की यथार्थ आराधना करते हैं। उन्हे सत्कारपूर्वक अपनाते हैं।

भाष्य

वीतराग-उपासक का दर्शन : उदारदृष्टिपूर्ण

पूर्वस्तुति मे श्री आनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मा के स्वरूप के विषय मे पूछा था, उसमे आत्मा के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिको के मत बता कर एकान्त मतवादियो के मत में क्या-क्या दोष हैं? यह बताया था। उसी सिलसिले मे एक प्रश्न गर्भित है कि तो फिर वीतराग-परमात्मा के उपासक का दर्शन कैसा होगा? आत्मा-परमात्मा, जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे विचार करने वाले विविध दर्शनो के विषय मे उसका क्या दृष्टिकोण होगा? वीतराग परमात्मा के अनेकान्तवाद का उपासक अपनी दृष्टि से उन छहो दर्शनो मे से किसको कहाँ स्थान देगा? ये और इन्ही कुछ उठने वाले प्रश्नो के उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी ने इक्कीसवें तीर्थंकर श्रीनमिजिनवर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के चरण-उपासक के उदार विचारदर्शन को स्पष्ट किया है। साथ ही यहाँ यह भी ध्वनित कर दिया है कि वीतराग-परमात्मा का सच्चा चरण-उपासक कौन

संसार मे विचार बहुत से लोग करते हैं, पर वे दीर्घदर्शिता तथा व्यापकदृष्टि से विचार नही करते, उनका विचार एकागी, एकपक्षीय होता है, अपने मत-पक्षकी चहारदीवारी मे सीमित होता है। ससार की प्रचलित विचारधाराओ की छानबीन करने मे उनकी सत्यग्राही जिज्ञासा नही होती, इसी कारण उनमे मतसहिष्णुता, विचारसहिष्णुता तथा आचारसहिष्णुता नही होती, वे बात-बात मे झल्ला उठते हैं, सत्य की तह तक पहुँचने के लिए जो धैर्य, विवेक और अनेकान्तदृष्टि होनी चाहिए, उसकी उनमे कमी होती है। असल मे, जिसमें विशालदृष्टि, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता और युक्ति एव अनुभूति नही होती, वह भगवान् सत्य के चरणो का उपासक नही हो सकता। दर्शनविशुद्धि, चारित्रशुद्धि और ज्ञानशुद्धि का प्रथम अग है, उसके बिना कोई भी क्रिया, जप,तप आदि सफल नहीं हो सकते। चूँकि सम्यग्दृष्टि होने पर उसकी दृष्टि मे जादू आ जाता है, वह जिस शास्त्र, मत, विचारधारा या आचारपद्धति को देखता है, उसे जैनदृष्टि मे समाविष्ट करने और सत्याश को विनयपूर्वक अपनाने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इसीलिए नदीसूत्र मे कहा है—एआइ चेव समदिट्ठिस्स समत्तपरिग्गहत्तेण सम्मसुयं, मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहत्तेण मिच्छासुयं।' ये जो तथाकथित मिथ्याश्रुत मे परिगणित शास्त्र हैं, वे सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यग्रूप से ग्रहण करने के कारण सम्यक्श्रुत हैं और ये ही सम्यक्श्रुत मे परिगणित शास्त्र मिथ्या दृष्टि के लिए मिथ्याशास्त्र हैं, क्योकि वह विपरीतरूप मे अपनाता है।

वीतरागपरमात्मा का चरण-उपासक कौन, क्यों, कैसे ?

यही कारण है कि श्री आनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा के चरणोपासक बनने के लिए इस स्तुति मे कुछ शर्तें प्रस्तुत की हैं, निम्नलिखित मुद्दो में आ जाती हैं—

१—विविध दर्शनो के सम्बन्ध मे सहिष्णुता और यथायोग्य स्थापना की दृष्टि हो।

२—सबको अपने मे समाने की सम्यग्दृष्टि हो।

३—सत्याग्राही जिज्ञासा, धैर्य, विवेक, एव दीर्घदर्शिता हो।

४—वीतराग की सर्वांगीण आज्ञा का पालन ही सर्वांगसेवा हो।

५—जैनदृष्टि मुख्यत अभेदवादी होने से आचारसहिष्णुता हो।

६—तथाभव्यता की-सी महाकरुणा हो, ज्ञानादि के प्रति विनयभावना हो।

जगत् मे सामान्यतया विविध मत, पथ, दर्शन या धर्मसम्प्रदाय के लोग अपने मतादि को मानने वाले को ही प्रभु का भक्त या भगवान् के चरणो का उपासक कह देते हैं। वे न तो उसकी विचारधारा की यथार्थ छानबीन करते हैं, और न ही उस तथाकथित प्रभुभक्त के आचरण की कोई कसौटी निर्धारित करते हैं। परन्तु जैनदर्शन मे वीतराग-परमात्मा का भक्त या चरण-उपासक वशपरम्परा से, पैतृकपरम्परा से, अन्धभक्ति से, भगवान् की महिमा बढाने के लिए सिर्फ धन खर्च कर देने से, या किसी अमुक उच्च माने जाने वाले कुल, वश, जाति, धर्मसम्प्रदाय या राष्ट्र मे पैदा होने से अथवा किसी सत्ता को हथिया लेने से या लौकिक पद को पा लेने मात्र से नही हो सकता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही वीतराग के चरणसेवक, परमात्मा, उपासक या श्रावक के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य माने जाते हैं। यहाँ तो किसी भी जाति कुल, वश आदि की परम्परा से नही, रत्नत्रय के आचरण से ही किसी को भक्त या उपासक माना गया है। हरिकेशीबल-मुनि जाति से चाण्डाल थे, धर्मपरम्परा से भी शायद वे अपने पूर्व-जीवन—गृहस्थाश्रम मे जैनधर्म-परम्परा के नहीं रहे, किन्तु उनका दर्शन, ज्ञान और चारित्र उज्ज्वल था, अर्जुनमालाकार का पूर्वजीवन भी हिंसक बना हुआ था, न वह जातिपरम्परा से जैन था, लेकिन अपने जीवन मे उसने रत्नत्रय को अपनाया और क्षमाशील बन कर अपूर्व श्रद्धा के साथ चारित्रपालन किया, जिसके कारण वीतराग तीर्थंकर महावीर का वह परम-उपासक साधु बना। लेकिन कोणिक सम्राट् जैसे व्यक्ति सत्ता, जाति, कुल परम्परा या अन्धभक्तिवश भगवान् वीतराग का भक्त बनने चले, वे सच्चे माने मे प्रभुभक्त बनने मे सफल न हुए। इसी प्रकार जिन्होंने ने अपने अहत्व और ममत्व (मेरा धर्म, मेरे भगवान्, मेरा पथ आदि) की दृष्टि से भगवान् का आश्रय लिया, अपने पापो पर पर्दा डालने या अपनी नामवरी या प्रसिद्धि के लिए अथवा जनता मे अपनी धाक जमाने के लिए वीतराग प्रभु के नाम और स्थूल चरण को पकडा, वे भी यहाँ सफल न हो सके। सफल वे ही हुए, जिन्होने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यक् धर्माचरण (चारित्रपालन) के लिए अपने को तैयार किया, ऐसे महानुभाव चाहे जिस

देश, वेप, जाति, कुन, धर्म-सम्प्रदाय या दर्शन के रहे हो, वे गृहस्थाश्रम मे रहे हो, वे स्त्री हो, पुरुप हो, या चाहे नपुंसक, उन्होने अपने आप वोध प्राप्त किया हो, या वे किसी की प्रेरणा से प्रतिवुद्ध हुए हो, जैनदर्शन ने उन सत्य के पुजारियो को कभी पराये नही माने और न उन्हे प्रभु के भक्त, श्रावक, उपासक या साधु कहने से इन्कार किया है और न ही उनके मोक्ष (परमात्म-मिलन), मुक्ति या कर्मवन्धन से छुटकारे की साधना पर कोई प्रतिवध लगाया है, न किसी प्रकार की अपने माने हुए तथाकथित नामो की ही पावदी लगाई है। यही कारण है कि जैनदर्शन मे १५ प्रकार मे से किसी भी प्रकार से मुक्त (परमात्मा) होने को मुक्त माना है, जवकि दूसरे दर्शनो में अपने माने जाने वाले धर्मसम्प्रदाय, भगवान् या प्रवर्तक (मसीहा या पैगम्वर) के मानने वालो या अमुक जाति, कुल या वेप वालो को ही मुक्त, परमात्मभक्त, या साधक माना है, दूसरो को नही। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के चरण-उपासक की सर्व-प्रथम कसौटी यह वताई है कि परमात्मा-वीतराग के चरण उपासक की दृष्टि इतनी व्यापक, सत्यग्राही, उदार और सहिष्णु हो कि वह छही दर्शनो को वीतराग (परमसत्य) प्रभु के अग माने, कहे और उनका समायोजन या स्थापन इतने सुन्दर ढग से करे कि सवको यथायोग्य स्थान मिल जाय, सवको जिनवर के दर्शन मे समाविष्ट कर सके। कोई भी दर्शन उसके लिए पराया न रहे। और ऐसा तभी हो सकता है, जव मनुष्य अनेकान्त की केवल वातें न करे, अपितु अनेकान्त को जीवन मे आचरित करके वताए।

वहुधा ऐसा होता है कि जैन और वीतरागभक्त कहलाने वाले तथाकथित आचाय, धर्मोपदेशक, मुनिपुगव, श्रमणोपासक या जिनभक्त जनता के सामने तो समता और अनेकान्त की वडी-वडी वाते करेंगे, किन्तु जहाँ आचरण का प्रश्न आएगा, वहाँ वे पीछे हट जाएँगे, वहाँ वे वगलें झाकने लगेंगे और कहेंगे-अपना अपना है, पराया पराया है। जरा से विचारभेद के कारण दूसरे को मिथ्यादृष्टि, नास्तिक या न जाने क्या क्या घृणासूचक शब्दो से पुकारेंगे, वहाँ उनका ममतादर्शन या अनेकान्त-दशन छूमतर हो जाएगा। इतना ही नही, वल्कि तथाकथित सम्यग्दृष्टि जिनभक्त अदर ही अदर अपने भक्तो या अनुयायियो मे जरा-सी विचार-आचारभिन्नता को ले कर चलने वालो की निन्दा, झूठी आलोचना और व्यर्थ छीछालेदर मे घटो विता देंगे, अपने समत्व को,

मानसिक सन्तुलन को, अपने सम्यग्दर्शन की व्यापक सर्वभूतात्मदृष्टि को ताक मे रख कर जैनधर्म और दर्शन की मिट्टी पलीद करने लगेंगे । इसी कारण वीतराग के चरण-उपासक की कसौटी मे योगी श्रीआनन्दघनजी की अनुभूति के स्वर फूट पडे—**षड्दर्शनजिन-अंग भणीजे, न्यास षडग जे साधे रे, नमि-जिनवरना चरण-उपासक षड्दर्शन आराधे रे।**" तात्पर्य यह है कि इस गाथा मे वीतराग-चरण-उपासक की सभी कसौटियाँ आ जाती है।

कई तथाकथित जिनभक्त यह तर्क प्रस्तुत किया करते हैं कि ऐसा करने से तो गुड-गोवर सव एक हो जाएगा, कहाँ वीतराग का शासन, धर्म या दर्शन और कहाँ ये क्षुद्राशय मत या दर्शन ! इन सबको एक ही पलडे मे रखना कैसे ठीक रहेगा ? क्या वीतरागभक्त, या सम्यग्दृष्टि के लिए अपना-पराया कुछ नही रहेगा ?

फिर दूसरी युक्ति यह देते हैं कि इन एकांगी और एकान्तवादी मतो या दर्शनों को हम सच्चे दर्शन या वीतराग के अंग कैसे कह सकते हैं ? कदाचित् हम ऐसा कह भी दें तो वे लोग (विभिन्न दर्शनो के अनुयायी या मानने वाले लोग) तो अपने ही धर्म-सम्प्रदाय, मत-पथ या दर्शन को सच्चा और अन्य सबको झूठे मानते हैं, ऐसी दशा मे हम उन्हे जिनवर के अग कैसे कह दे ? कैसे उन्हें अपने दर्शन की तरह मान लें ?

इसका समाधान यो किया जा सकता है, जिसे इस स्तुति मे आगे श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्टरूप से द्योतित भी किया है कि वीतराग परमात्मा का उपासक सकीर्ण, राग-द्वेषवर्द्धक, ममत्ववर्द्धक दृष्टि का नही हो सकता। वह अपना सो सच्चा, इस सिद्धान्त के वदले 'सच्चा सो अपना' इस सिद्धान्त का हिमायती होगा। और इस सिद्धान्त की दृष्टि से वह सत्यग्राही होगा, जिज्ञासु होगा, नम्र होगा, जहाँ-जहाँ सत्य (सम्यग्ज्ञान) मिलता होगा, बिना किसी सकोच के छही दर्शनो मे जो सत्य निहित है, उसे नम्र वन कर अपनाएगा, उसकी दृष्टि अनेकान्त की स्पष्ट, उदार, व्यापक, सर्वांगी और सबको अपने मे समाने की होगी। उसमे विचार-आचारसहिष्णुता होगी। जव ३६३ पाषण्ड-मतो का का समन्वय जैनधर्म और जैनदर्शन मे किया गया है, तव इन छह दर्शनो का का समावेश करना, समन्वय करना कौन-सी वडी वात है ? परन्तु वीतराग-प्रभु का चरण-उपासक सबकी जी-हजूरी करने वाला, सबकी हाँ मे हाँ

मिलाने वाला, अविवेकी नही होगा, वह सबको विविध नयो की दृष्टि मे अपना-अपना उचित स्थान मिले, सबको न्याय मिले, किसी एक के प्रति या अपने माने जाने वाले के ही प्रति पक्षपात न हो, यही समता का यथार्थ अर्थ मानना है। इस दृष्टि से समता का अर्थ सबको एक सरीखा मानना और सबकी एक ही दृष्टि समझना, गलत है। ऐसा होना भी असम्भव है। यही कारण है कि तीर्थकरो ने १५ प्रकार से सिद्ध (मुक्त) होने का जो निर्देश किया है, उसमें किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नही किया, अपितु यथायोग्य न्याय दिया है, न कि सबको राजी रखने की नीति अपनाई है। इसी दृष्टिकोण से श्रीआनन्दघनजी नमिजिनवर (वीतराग के चरण-उपासक की दृष्टि, व्यवहार, आचरण और विचार को यहाँ पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं कि वह छहो दर्शनो का आराधक (आदरपूर्वक अपनाने वाला) होगा, सभी दर्शनो को यथायोग्य स्थान पर स्थापित (न्यस्त) करेगा, और छहो दर्शनो मे निहित सत्य के कारण उन्हें जिनवर के अग मानेगा। वही नमिजिनवर का चरण-उपासक होगा।

अब रहा सवाल, दूसरो के द्वारा अपने दर्शन के सिवाय अन्य सबको झूठे मानने और एकान्त एकपक्षीय मत वाले दर्शन को जिनवर के अग कहने का। हो सकता है कि दूसरे दर्शनो वाले ईर्ष्यावश या अन्य राग-द्वेषादि विकारवश अनेकान्तदृष्टि से हमारी तरह सब दर्शनो को न माने, न समन्वय करे और एकान्तमत की ही प्ररूपणा करे, परन्तु वीतराग के चरणो का उपासक ऐसा नहीं कर सकता। यहाँ तो स्पष्ट आराधना-सूत्र बताया गया है—'उवसमसारं खु सामण्ण' श्रमणसस्कृति का सार कषायो [रागद्वेषो] का उपशमन [शान्त] करना है। दूसरा कोई उसकी बात सुने या न सुने, माने या न माने, सत्यग्राही दृष्टि वाला अपनी अनेकान्त और नयप्रधान दृष्टि से सबको उचित स्थान देगा, वह दूसरे दर्शनो की देखादेखी अपने मत को ही सच्चा और दूसरे सब मतो को झूठा कहने का पक्षपातपूर्ण, राग-द्वेषयुक्त रवैया नही अपनाएगा। जैसे कल्पसूत्र के आज्ञाराधना सूत्र मे बताया गया कि दो व्यक्तियो मे परस्पर विवाद, कलह या मनमुटाव खडा हो गया है, तो उनमे से जो आराधक होगा, वह सामने चला कर दूसरे से क्षमायाचना करके, उसका मन समाधान करने का प्रयत्न करेगा, यदि दूसरा व्यक्ति उसके द्वारा की गई क्षमायाचना को स्वीकार नही करता, बात सुनी-अनसुनी कर देता है, तो आराधक को इस बात का ख्याल नही करना चाहिए, उसे अपनी ओर से उपशमन कर लेना चाहिए।

यही बात वैचारिक क्षेत्र मे वीतराग के चरण-उपासक के लिए समझ लेनी चाहिए। उसे अपनी दृष्टि से प्रत्येक दर्शन के सत्याश को कथचित् रूप मे अमुक नय की दृष्टि से ग्रहण करके उसे यथायोग्य स्थान देना चाहिए, दूसरे चाहे उस रूप मे मानें या न मानें।

सत्यग्रहण करने के लिए वीतराग-उपासक को इतना नम्र, मृदु, और सरल होना चाहिए कि वह चाहे जहाँ से भी सत्य, मिलता हो, ग्रहण कर ले।

भगवती सूत्र आदि आगमो मे अनेक विचारधाराओ एव आचारधाराओ का समन्वय किया गया है, जो वीतरागदर्शन की परम उदारता का सूचक है। यहाँ भी श्रीआनन्दघनजी ने जैनदर्शन के सिवाय छही दर्शन को वीतराग परमात्मा के अग बता कर यह भी सूचित कर दिया है कि ये समय-पुरुष के अग है। जैसे दो हाथ, दो पैर, पेट और मस्तक ये शरीर के ६ अग हैं, वैसे ही छह दर्शन जिनवर के एक-एक अग हैं। जैसे शरीर के इन अगो मे से कोई भी अग काटने पर प्राणी अपाहिज कहलाता है, वैसे ही ६ दर्शनो मे से किसी भी दर्शन को काट डालना=खण्डन करना जिनवर के अग को काटना है। यह यह दुर्भवी का लक्षण है। मुख्यतः दर्शन ये हैं—बौद्ध, नैयायिक, साख्य, वेदात लोकायतिक [चार्वाक] और जैन। इन छही दर्शनो मे से प्रत्येक के मुद्दो को भलीभाँति समझ कर उनकी किसी प्रकार की निन्दा, खोटी आलोचना, या व्यर्थ की टीका-टिप्पणी न करना। जितने अशो मे जिस दर्शन ने सत्य की प्ररूपणा की है, उतने अश मे उसे अपना कर उसे उचित स्थान देना। बल्कि वाणी से भी यह प्रगट करना कि ६ दर्शन वीतरागप्रभु के पृथक्-पृथक् अग हैं, और अमुक अग के रूप मे ही उपयोगी हैं, उसे उतने अश सत्य के रूप मे उपयोगी समझ कर उसकी यथायोग्य स्थान पर स्थापना करना और उसे अपनाना उचित है। किन्तु द्वेष-घृणावश अन्य दर्शनो की खोटी आलोचना करना, अथवा उनका खण्डन करना अनुचित है। सत्य दो प्रकार के हैं—सर्वसत्य और दृष्टिविन्दुसत्य। जैनेतर दर्शनो मे सर्वसत्य नही है, परन्तु दृष्टिविन्दु तक तो वे सच्चे हैं ही, ऐसा मानने मे व्यवहारदक्षता है। वीतरागप्रभु का चरणसेवक इस प्रकार षड्दर्शन को स्वीकार करता है। वीतरागप्रभु की भी परमकारुणिकता है कि वे ६ ही नही, दुनिया की तमाम विचार-

धाराओ को अपने दर्शन मे समाविष्ट कर लेते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि छहो दर्शनो की आराधना करने मे वीतराग के चरणसेवको (जैनो) को कोई हर्ज नही है। इसके पीछे दृष्टिकोण यह है कि नैगमादि सात नयो मे से दूसरे नयो की अपेक्षा रख कर एक नय से कथन करने वाला जैनदर्शन का आराधक है। इसके विपरीत ७ नयो मे से सिर्फ एक नय पर आग्रह रख कर अन्य नयो के प्रति उपेक्षादृष्टि रखना, जिनाज्ञा से विरुद्ध है।

अत. अगली गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी यह विवेक बताते हैं, जिनप्रवचनतत्त्वज्ञान के षड्दर्शनरूप अगो मे से किस दर्शन का किस अवयव पर किस नय की दृष्टि से न्यास [स्थापन] करना चाहिए,

जिनसुरपादप पाय वखाणो, सांख्य-योग दोय भेदे रे।
आतमसत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे॥ षड्०॥२॥

अर्थ

राग-द्वेषविजेता वीतराग परमात्मारूपी या जैनदर्शन के समयपुरुषरूपी कल्पवृक्षके दो मूल अथवा वीतराग परमात्मा के कल्पवृक्ष-समान दो पैर के तुल्य सांख्यदर्शन और योगदर्शन इन दोनों को कहना चाहिए। ये दोनो आत्मा की सत्ता [आत्मा के अस्तित्व] का विवरण [ब्योरा=विवेचन] करते हैं। इसलिए इन दोनो की जोड़ी को विना किसी खेद या सकोच के जिनमत या जिनभगवान् के दो अंग(दो पैर) समझो अथवा स्वीकार कर लो।

भाष्य

जिन-कल्पवृक्ष के दो मूल अथवा दो पैर

'जिन-सुर पादप पाय' पद के दो अर्थ निकलते हैं—एक तो यह कि जिनेश्वररूपी कल्पवृक्ष दो पैर (मूल) और दूसरा अर्थ यह होता है कि जिन=वीतराग के कल्पवृक्षरूप दो पैर। कल्पवृक्ष का दोनो के साथ सम्बन्ध है। कल्पवृक्ष वह दिव्यतरु होता है, जिसके नीचे बैठ कर मनोवाछित पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। जिनभगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं, उनमे सभी दर्शनो का अस्तित्व है, अथवा जिन शब्द से यहाँ उपलक्षण से जिनेश्वर का अनेकान्त

दृष्टियुक्त तत्त्वज्ञान = समयपुरुष अर्थ गृहीत करने पर भी यह अर्थ घटित हो सकता है जिनतत्त्व ज्ञान अनरूप या समयपुरुषरूप इस कल्पवृक्ष मे समस्त प्रमाणो और नयो का समावेश है, सभी द्रव्यो या पदार्थों का सामान्य-विशेषरूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार वर्णन समाविष्ट है, क्योकि सभी प्रमाणो और नयों से इसमें आत्मादि तत्त्वो का विवेचन है, सभी पदार्थों का सामान्य, विशेष आदि सभी दृष्टियो से कथन है, इसलिए कल्पवृक्ष की तरह यह समस्त पदार्थों के अस्तित्व का भडार है। इस दृष्टि से इसे कल्पवृक्ष कहने मे कोई अत्युक्ति नही है।

वृक्ष का सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि आधार मूल [पैर] होता है। मूल न हो तो कोई भी वृक्ष टिक नही सकता। मूल से रहित वृक्ष एक ही हवा के झोके से धराशायी हो जाता है। अगर मूल हो तो ऊपर के पत्ते आदि झड जाते हैं या डालियाँ काट ली जाती हैं, तो भी एक दिन वह वृक्ष फलदाता बन जाता है। अतः यहाँ मूलभूत वस्तु आत्मा को दोनो दर्शन मानते हैं, दोनो दर्शनो के आत्मवादी होने से दोनो को जिनतत्त्वज्ञान या वीतरागरूपी कल्पवृक्ष के दो मूल उचित ही कहा है। समस्त दर्शनो का मूल आधार आत्मा है, और आत्मा के अस्तित्त्व को माने बिना ये दोनो दर्शन आगे नहीं चलते। इस कारण जिनतत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष को स्थायी और मजबूत रखने के लिए दोनो दर्शन वृक्ष के मूल की तरह खडे हैं।

दूसरे अर्थ की दृष्टि से सोचें तो साख्यदर्शन और योगदर्शन को वीतराग [जैनतत्त्वज्ञान या समयपुरुष] के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहे हैं। वीतराग के तत्त्व-ज्ञान को मजबूती से टिकाए रखने के लिए साख्य और योग दोनों दो पैर का काम देते हैं। मनुष्य के पैर हो तो वह स्थिरता एव मजबूती मे खड़ा रह सकता है, इसी प्रकार वीतराग [समय] पुरुष या वीतराग तत्त्वज्ञान के दोनो पैरो को मजबूत और स्थिर रखने के लिए ये दोनो दर्शन हैं। आत्मा को न मानने वालो को आत्मा का अस्तित्त्व समझाने का काम करके ये दोनो दर्शन वीतराग-परमात्मा के या वीतरागतत्त्वज्ञान के पैर मजबूत बनाते हैं, उसे स्थिर रखने का काम बखूबी करते हैं। आत्मा के अस्तित्त्व के बिना कोई भी आत्मवादी-दर्शन खडा ही नही हो सकता, न खडा रह सकता है। इसलिए

इन दोनो दर्शनो को वीतराग परमात्मा [या उनके तत्त्वज्ञान] के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही है।

सांख्य और योग वीतरागतत्वज्ञान के मूलाधार

साख्यदर्शन और योगदर्शन दोनों को जिनवर-जिनतत्त्वज्ञान-कल्पवृक्ष के दो पैर क्यों बताए हैं? इनका मेल जैनतत्त्वज्ञान के साथ कहां-कहां खाता है? इस पर जब तक विचार न कर लिया जाय, तब तक उपर्युक्त बात गले नहीं उतरेगी।

वीतरागरूप-कल्पवृक्ष के मूल अथवा वीतरागतत्त्वज्ञान [समयपुरुष] के पैर के समान ये दोनो अग हैं। क्रमश हम इन दोनों पर विचार कर लें।

वीतराग-परमात्मा ने निश्चयरूप से कहा है—'आत्मा है और वह अनन्त है निश्चयदृष्टि से आत्मा स्वय कर्म का कर्ता नही है। अगर आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानना हो तो वह स्वस्वभाव का कर्त्ता और भोक्ता माना जा सकता है। यद्यपि शुद्धस्वरूप सिद्धात्मा (परमात्मा) में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख हैं, परन्तु मोक्षदशा में आत्मा अकरणवीर्य होने से वह इनका उपयोग नही करता, इस अपेक्षा से उसे अकर्ता माना है।

साख्यदर्शन भी आत्मा को मानता है, परन्तु उसे कर्मों मे असग (निर्लेप) एवं अकर्ता मानता है। साख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कर्ता नहीं है, भोक्ता भी नही है, वह तो सिर्फ द्रष्टा है, साक्षीभाव से सब कुछ जानता-देखता है। कर्ता प्रकृति है, राग-द्वेष वगैरह सब प्रकृति के कार्य हैं। साख्यदर्शन मे मूल २५ तत्त्व माने गए हैं। उनमें से २४ तत्त्व [५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ महाभूत ५ तन्मात्रा, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, ये प्रकृतिजन्य हैं और पच्चीसवां सबसे भिन्न, आत्मतत्त्व है। आत्मा नि सग, अकर्ता, साक्षीभूत एव चेतनायुक्त है। ज्ञान से ही क्लेश का नाश और ज्ञान से ही मोक्ष [दु खत्रयविनाश] होता है।

जैनशास्त्रानुसार साख्यदर्शन के प्रणेता (सस्थापक) कपिल-मुनि माने जाते हैं। वर्तमान इतिहासकार आज से लगभग २७०० वर्ष पूर्व,

ईस्वीसन्-पूर्व छठी-सातवी शताब्दी मे कपिलमुनि और साख्यदर्शन की स्थापना मानते हैं। परन्तु जैन-आगमानुसार तो कपिल आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव समकालीन माने जाते हैं, इस दृष्टि से तो हजारो लाखो वर्ष पूव इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैन आगमिक कथन पर से प्रतीत होता है—कपिल-मुनि मरीचि मुनि के शिष्य थे,। मरीचिमुनि निर्ग्रन्थमुनिधर्म के आचार का पालन पूर्णतया न कर सकने के कारण मुनित्व की स्मृति के रूप में पृथक् वेष धारण करके लगभग उन्ही सिद्धान्तो की प्ररूपणा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के साथ विचरण करते रहे। अपने द्वारा प्रतिबोधित शिष्यो को भी वे ऋषभदेवप्रभु के पास भेजते थे। किन्तु जब कपिल [शिष्य] आया तो उन्हे मरीचिमुनि का वेश और उपदेश दोनो रुचिकर लगे, इस कारण शिष्यलालसा-वश कपिल को अपना शिष्य बनाया। गृहस्थाश्रमपक्ष मे मरीचिमुनि श्री-ऋषभदेव प्रभु के पुत्र भरतचक्रवर्ती के पुत्र थे और भ० महावीर स्वामी के जीवरूप मे अनेक भवो मे भटकते हुए तीसरे भव मे तीर्थंकर नामकर्म बाँध कर अन्त मे भ० महावीर स्वामी के रूप मे २४ वे तीर्थंकर हुए और मोक्ष मे पधारे। अत जैनागमो के अनुसार साख्यदर्शन-सस्थापक कपिल मरीचिमुनि के शिष्य सिद्ध होते हैं।

जो भी हो, हमे इतिहास की गहराई मे न उतर कर तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही साख्यदर्शन पर विचार करना है। तत्वज्ञान की दृष्टि मे निश्चयनय की अपेक्षा से जैनतत्त्वज्ञान द्वारा मान्य आत्मा की बात साख्यदर्शन मे हूबहू उतरती है। जैनदर्शन की निश्चयदृष्टि से साख्यदर्शन बहुत ही निकट है। साख्य और योग दोनो दर्शन तत्त्वो की दृष्टि से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। योगदर्शन एक ईश्वरतत्त्व को अधिक मानता है, जबकि साख्यदर्शन ईश्वर-तत्त्व को अलग से नही मानता, पुरुष [आत्मा] मे ही उसका समावेश कर लेता है। इसी कारण दर्शनशास्त्र के इतिहास मे ये दोनो क्रमश निरीश्वरसाख्य और सेश्वरसाख्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। असली साख्य निरीश्वरवादी है। जैन-दर्शन की तरह वह ईश्वरतत्त्व को पृथक् न मान कर आत्मा मे ही समाविष्ट कर देता है, आत्मा की परमशुद्ध-मुक्तदशा को ही वह ईश्वर मानता है, जिसका जैनदर्शन से बहुत अधिक साम्य है। जैनदृष्टि से मोक्षदशा मे आत्मा

मे अनन्तवीर्य माना है, परन्तु मुक्त-मोक्षप्राप्त आत्मा कभी उस वीर्य का प्रस्फुरण – प्रयोग नहीं करते। साख्यदर्शनोक्त पुरुष [आत्मा] भी अकर्ता, निष्क्रिय और नि सग माना गया है, वहाँ भी वीयप्रस्फुरण करके कुछ करना-धरना नहीं है, इसलिए अन्ततोगत्वा निश्चयदृष्टि से दोनो दर्शन एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।

योगदर्शन के प्रतिपादक प्रवर्तक महर्षि पतजलि हैं। ये भी कपिलमुनि के समकालीन माने जाते हैं। योगदर्शन में भी साख्यदर्शन-प्रतिपादित २५ तत्त्व माने जाते हैं, और २६ वाँ ईश्वरतत्त्व अधिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन न्यायदर्शन दोनो ने ६ तत्त्व माने हैं—पचमहाभूत, काल, दिशा आत्मा और मन। आत्मा को आठवाँ तत्त्व माना है। तथा चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करने मे क्लेश-कर्मरहित आत्मा मुक्ति को प्राप्त करती है। चित्तवृत्ति को ज्ञानद्वारा रोकने से मोक्ष होता है, ईश्वर कर्ता है, आत्मा कार्य का कारण है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अग हैं, जिनका सम्बन्ध हठयोग, जपयोग और राजयोग आदि से है।

सांख्य और योग दोनो ही दर्शन आत्मा का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानते हैं। दोनो ही आत्मा को अकर्ता, द्रष्टा, साक्षी और असग मानते हैं। पतजलिमुनिप्रणीत योगदर्शन का मुख्य ग्रन्थ—योगदर्शन [योगसूत्र] है। उसमे आत्मा, आत्मा का आध्यात्मिक विकास, उसका क्रम, उसके यम-नियमादि उपाय, आत्मा की विभूतियाँ—कैवल्य और मोक्ष आदि बातो का व्यवस्थित-रूप से विवरण आता है। परन्तु वह कहाँ अपूर्ण है? उसकी अपेक्षा विशेष क्या-क्या सम्भव है? अथवा वर्तमान में है? इस विषय में उपाध्याय यशोविजयजी ने योग-दर्शन के कई सूत्रो पर अपनी टिप्पणी लिख कर तथा द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिकाओ में से कुछ मे अध्यात्म-योग पर विवेचन लिख कर जैन-दर्शन के साथ योगदर्शन की तुलना की है। यही नहीं, समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि ने पतंजलिऋषि को आध्यात्मिक विषय के ऐसे व्यवस्थित शास्त्र की रचना की योग्यता के कारण तथा तीर्थकरदेवो के अनेक तत्त्वो के बहुत-से अशो पर निरूपण करने के कारण एव मोक्षाभिलाषी होने पर ही ऐसे आध्या-

त्मिक शास्त्र की रचना करने की इच्छा हो सकती है, इत्यादि गुणो से आकर्पित हो कर सम्यग्यदृष्टि तो [निश्चय से] नहीं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के पूर्वाभास के रूप मे मार्गानुसारी तो मान ही लिये हैं।

परन्तु इतना निश्चित है कि दोनो दर्शन आत्मा के अस्तित्व (Existance) का स्वीकार करते हैं, जो बुनियादी बात है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा —"आतम-सत्ता-विवरण करतां, लहो दुग अग अखेदे रे।" 'अखेदे' को अग के साथ भी जोड कर भी कई लोग अर्थ करते हैं—इन दोनो दर्शनो का खेद-रहित अग-पैर को मानो। जो पैर थकान एव खेद से रहित होते हैं, वे ही मजबूती से खडे व जमे रह सकते हैं। 'लहो' के साथ 'अखेद' को जोडने से अर्थ निकलता है–बिना किसी खेद [चिन्ता] या सकोच के इन दोनो को अंग [चरणयुगल] मान लो। यह अर्थ विशेष उचित लगता है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व भी होता है, शक्ति भी। आत्मा की शक्तियो का विवरण दोनो दर्शन प्रस्तुत करते हैं, यह कहना भी यथार्थ है।

किन्तु ये दोनो दर्शन व्यवहार से भी आत्मा को अकर्ता मानते हैं, वहां जैन दर्शन के साथ इनका विरोध आता है। फिर जैनदर्शन मे हठयोग का स्थान बिल्कुल नगण्य है, जबकि योगदर्शन इसे अधिक महत्व देता है, तथापि राजयोग को दोनो स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार परमतसहिष्णु जैनदर्शन के अनुसार जिनकल्पवृक्ष के एकदेशीय तत्व (अमुक दृष्टि से सत्य) को ग्रहण करने वाले आत्मवादी साख्य-योग दर्शनो को जिन भगवान् के या वीतराग तत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के पैर (मूल] के स्थान पर स्थापित किया है।

अगली गाथा मे आत्मा के अन्य रूपो के उपासक दो दर्शनो का समन्वय जैनतत्वज्ञान के साथ करते हुए कहते हैं—

भेद-अभेद-सुगत-मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक आलम्बन भजिये, गुरुमुखथी अवधारी रे॥
षड्० ॥ ३ ॥

अर्थ

सुगत=बौद्धदर्शन आत्मा को भेदरूप-(पृथक पृथक्] मानता है, और

मीमासक वेदान्ती आत्मा को अभेदरूप (अभिन्न,एकतत्व) मानते हैं। ये दोनों वीतराग-परमात्मा के तत्वज्ञान (समय पुरुष) के दो बड़े-बड़े हाथ हैं। लोक और अलोक इन दोनों के अवलम्बन को यथार्थ तत्ववेत्ता गुरु की उपासना गुरुगम) से जान कर (निश्चय करके मानिये, । इसका आश्रय लीजिए।

भाष्य

जिनेश्वर (समयपुरुष) के दो हाथ : बौद्ध और मीमांसक

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने आत्मा को भिन्न और अभिन्नरूप मे मानने वाले बौद्ध और मीमासक दर्शन को वीतरागपरमात्मा के तत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के दो बड़े-बड़े हाथ माने हैं। जैसे मनुष्य के दोनो हाथ सारे शरीर पर फिरते हैं और शरीर के कार्यों के अलावा अन्य जो भी करने योग्य कार्य हैं, उन्हे भी करते हैं। हाथ पुरुषार्थी और क्रिया करते रहने से बलिष्ठ होते हैं, वैसे ही वीतराग परमात्मा के तत्वज्ञानरूपी पुरुष के दोनो कर (हाथ) रूपी दोनो नय (द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय) समस्त लोकालोक के यथार्थ तत्वज्ञान को बताते हैं। हाथ जैसे मार्गदर्शन देते हैं, वैसे ही ये दोनो नय (कर) भी सारे जगत् को मार्गदर्शन देते हैं। इन्हे बड़े हाथ इसलिए कहा कि ये केवल एक क्षेत्र या प्रदेश मे नही, सारे विश्व मे और लोक के बाहर अलोक मे भी मार्गदर्शन व प्रेरणा देते हैं। बौद्धदर्शन आत्मा को भेदरूप (पृथक् पृथक्) मानता है, यानी उसका कहना है कि आत्मा भिन्न-भिन्न है, खण्ड-खण्डरूप है एव क्षणिक है। आत्मा विज्ञानघन है, लेकिन वह प्रति व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न है तथा प्रत्येक क्षण मे बदलता रहता है। दुनिया की प्रत्येक नाशवान् वस्तु अलग-अलग है। इस क्षण जो घडा है, वही दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, फिर दूसरे ही क्षण वह उत्पन्न हो जाता है, फिर नष्ट होता है, यो उत्पत्ति और नाश की परम्परा चलती है, सामान्य व्यक्ति को ऐसा मालूम होता है कि 'एक ही घडा है,' परन्तु कितने ही घडे उत्पन्न हुए और नष्ट हो गए, अत वे उत्पन्न और नष्ट होने वाले घडे अनेक हैं, वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु द्रव्य को छोड कर पर्याय भिन्न नहीं है 'जलतरगवत् स्वर्णाकारवत्' यानी पानी और उसकी तरगो की तरह, अथवा सोना और उसके आकार की तरह पहले क्षण जो आत्मा था, वही दूसरे क्षण बदल जाता है, इस प्रकार बौद्धदर्शन भेदवादी पर्यायवादी है, एकान्तपर्यायास्तिक नय के आधार पर चलता है, वह अनित्य-वादी है और जैनदृष्टि से ऋजुसूत्रनयवादी है।

जैनदर्शन मे अपेक्षा से यह भी बताया है कि ज्ञेय के ज्ञानस्वरूप-स्वभाव है और विभाव मे कर्माश्रित पौद्गलिक देह मे भी, प्रतिक्षण बदलते हुए देह मे पर्यायें बदलती रहती हैं, इस कारण भेद दिखाई देता है। इस प्रकार की जैनमान्यतानुसार बौद्धदर्शन को भी पर्यायार्थिक नय (प्रमाण) की दृष्टि से देखा जाय तो बौद्धदर्शन सत्य है, यो मान कर इसे समयपुरुष के अग (हाथ) के रूप मे समझना चाहिए।

मीमासादर्शन को वीतराग परमात्मा के अग का बाया हाथ माना गया है। मीमासा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा। पूवमीमांसा-दर्शन के नियमानुसार सस्थापक जैमिनी हैं, जिनका जीवनकाल ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी मे माना जाता है। पूर्वमीमासादर्शन वेदो को ही सर्वस्व आधार मानता है। इस दर्शन का विषय मुख्यतया वैदिक कर्मकाण्ड है, जिसमे यज्ञादि कर्मकाण्ड द्वारा इस लोक और परलोक मे स्वर्गादि के सुख-दु खादि प्राप्त करने का विधान है। इस प्रकार पूर्व-मीमासादर्शन अत्यन्त सूक्ष्मविचार करके वेद के शब्दो पर से ही समग्र आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण करता है।

उत्तरीमीमासा का दूसरा नाम 'वेदान्तदर्शन, है वह मुख्यतया ज्ञानवादी और आत्मवादी है। उसके क्रमिक व्यवस्थाकर्ता बादरायण (व्यासजी) हैं, जो ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी मे हुए माने जाते हैं। इसके मुख्यग्रन्थ उपनिषद् हैं, ब्रह्मसूत्र है, जिन पर आद्यशकराचार्य ने व्यवस्थितरूप से भाष्य लिखे हैं। इस दर्शन को व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का श्रेय भी आद्य शकराचार्य जी को है। वेदान्तदर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि से पृथक्-पृथक् होते हुए भी समष्टि से एकतत्त्वसूत्र मे पिरोया हुआ है। वह एक तत्व—ब्रह्मरूप है। ब्रह्म (आत्मा) एक है, वही 'सर्वत्र व्यापक है—एक सर्वगतो नित्य विगुणो न बध्यते न मुच्यते' ब्रह्म (आत्मा) एक है, है, सर्वव्यापक है, नित्य है, गुणातीत है, बन्धन-मुक्तारहित है। वेदान्तदर्शन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तब फिर जगत् मे भिन्न आत्माएँ दृष्टिगोचर होती है, इसका क्या समाधान है? तब वह कहता है—एक ही आत्मा (ब्रह्म) प्राणिमात्र मे व्यवस्थित है, जैसे एक चन्द्रमा होते हुए भी जल मे अनेक चन्द्रमा दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा एक होते हुए भी जलचन्द्र की

की तरह अनेक रूप मे दिखाई देता है । तात्पर्य यह [1] है कि एक ही ब्रह्म सकल पदार्थों के रूप मे परिणमित व प्रतिभासित होता है । इस दृष्टि से वेदान्त (उत्तरमीमांसा) दर्शन अभेदवादी है, द्रव्यवादी है, द्रव्यार्थिक नय की एकान्त दृष्टि रखता है, परमसग्रहवादी और नित्यवादी जैनदर्शन के निश्चयनय (शुद्धसग्रहनय) की दृष्टि से 'एगे आया' आत्मा एक ही है, क्योंकि आत्मा के असख्यप्रदेश सर्वप्राणियो मे समान हैं तथा सर्वप्राणियो के आत्मा का लक्षण उपयोग (ज्ञाताद्रष्टा) एक समान है । समस्त आत्माओ की सत्ता एक है, सब आत्माओ मे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप धर्म एक ही है । निश्चयनय आत्मा के बन्ध को नही मानता । परन्तु आत्मा मुक्त भी नही होता, यह बात निश्चयदृष्टि से इस प्रकार घटित हो सकती है शुद्ध आत्मा न तो बन्धता है, न मुक्त होता है, क्योंकि जो बधता ही नही , उसके मुक्त होने की भी जरूरत नही रहती, वस्तुत. आत्मा सर्वथा सर्वदा मुक्त ही है । निश्चयनयानुसार यह बात सत्य है । इसलिए इसे जिनवरतत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष का एक हाथ कहना उचित ही है । यद्यपि वेदान्त की पूर्वोक्त बाते अशसत्य है, अंशसत्य को सर्वसत्य नही समझना चाहिए ।

भेद और अभेद मे लोक—अलोक का आलम्बन कैसे ?

जैनदर्शन की विश्व-व्यवस्था भेद और अभेद दोनो तत्त्वो पर व्यवस्थित है । जगत् मे कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जिसमें भेद और अभेद दोनो न हो । दीपक से ले कर आकाश तक तमाम पदार्थ भेद और अभेद से युक्त हैं । उदाहरणार्थ —नट एक होते हुए भी वह अलग-अलग वेश धारण करता है तब पृथक् -पृथक् (भिन्न-भिन्न) वेश मे, भिन्न भिन्न नाम से पहचाना जाता है । इस प्रकार उसमे पृथक्त्व और एकत्व दोनो दिखाई देते हैं । पुस्तक एक होते हुए भी उसके पन्ने अलग-अलग होते हैं । पुस्तक यदि सर्वथा एक ही हो तो अलग अलग पन्ने क्यो पढ़े जाते ? और पन्ने अगर सर्वथा अलग-अलग होते तो एक पन्ने के विषय-सम्बन्ध दूसरे पन्ने के साथ न मिलता, पुस्तक भी एक नही कहलाती ।

---

१. 'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'

दूसरी दृष्टि से देखें तो द्रव्यास्तिकनय जीवादि तत्व का प्रतिपादन करता है।, पर्यायास्तिकनय जीवादि तत्व को अनन्तपर्याय से प्रतिादन करता है। द्रव्य और पर्याय पर समस्त लोकालोक का आधार है। १ द्रव्यास्तिकनय का आलम्वन अलोक (आकाशास्तिकाय) है, जबकि पर्यायास्तिकनय का आलम्वन लोक (पञ्चास्तिकायात्मक) है। अथवा लोक रूपीद्रव्यरूप होने से पर्यायार्थिकनय का आलम्वन है, जबकि अलोक अरूपी होने से द्रव्यार्थिकनय का आलम्वन हुआ। इस दृष्टि से भेद का आलम्वन लोक और अभेद का आलम्वन अलोक हुआ। अथवा लोक और अलोक के अवलम्बन के साथ श्रीआनन्दघनजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है — **'गुरुगमथी अवधारीए'** अर्थात् तत्वज्ञानी को गुरुदेव की उपासना से इसका रहस्य समझ लेना चाहिए।

'परमार्थ' के लेखक ने इस पर लिखा है—'ब्रह्मरन्ध्र से नीचे का भाग 'लोक' है और ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर का भाग 'अलोक' है। इस प्रकार लोकालोक की कल्पना करके सालम्बन-निरालम्बन ध्यान सूचित किया गया है। रेचक-पूरक-कुम्भक आदि क्रियापूर्वक किया गया ध्यान सालम्बन है, और निरालम्बन ध्यान का विषय गम्भीर एव वेदान्तदर्शन मे प्रतिपादित होने से इसमे जहाँ समझ मे न आए, वहाँ ध्यान के अभ्यासी महान् योगी तत्वज्ञ गुरुदेव से जान (समझ) लेना चाहिए।

अब अगली गाथा मे चार्वाकदर्शन का समावेश जिनेश्वर के तत्वज्ञान के एक अग के रूप मे बताते हैं।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंशविचार जो कीजे रे।
तत्त्वविचार-सुधारसधारा गुरुगम-विण किम पीजे रे ?
॥षड्०४॥

अर्थ

नास्तिक बृहस्पति-प्रणीत चार्वाक (लोकायतिक) दर्शन वीतरागदेव (समय-

---

१ इस विषय मे इस विषय के विशेष विद्वान् गुरु से अथवा जैनन्याय के अनेकान्त-जयपताका, अनेककान्तमतव्यवस्था, स्याद्‌वादमजरी, स्याद्वाद-कल्पलता, आदि ग्रन्थो का अध्ययन करके समझ लेना चाहिए।

पुरुष) की कुक्षि (उदर) है। इस दर्शन के एक खास हिस्से पर यदि ध्यान से विचार किया जाय तो इस बात की (आंशिक) सत्यता समझ मे आ सकती है। लेकिन सद्गुरु द्वारा प्रदत्त बुद्धि-ज्ञानशक्ति के बिना तत्वज्ञानविचाररूपी अमृतरस की धारा का पान कैसे हो सकता है ?

लोकायतिक को वीतराग की कुक्षि की उपमा क्यों ?

लोकायतिक का अर्थ है - लोक मे विस्तृत—फैला हुआ दर्शन। इसे नास्तिक दर्शन या बृहस्पति-आचार्यप्रणीत चार्वाकदर्शन भी कहते हैं। क्योंकि इस दर्शन वाले परलोक,स्वर्ग-नरक, पुण्य पाप,धर्म-अधर्म,आत्मा-परमात्मा और बध-मोक्ष को नही मानते। वे तो यथाशक्ति इन्द्रियसुख भोग लेने मे ही यानी वर्तमान पौद्गलिक सुखो को प्राप्त करने मे ही जीवन की इतिश्री मानते हैं। क्योंकि चार्वाकदर्शन का मूलसूत्र है—'जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ। शरीर की राख होने पर फिर पुनरागमन कहाँ ?'[1] वर्तमानयुग मे इन्हें भौतिकवादी (Materialists) कह सकते हैं। इस प्रकार नास्तिकदर्शन वालो ने सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाण को पकड लिया, अन्य प्रमाणो को छोड दिया। प्रत्यक्ष मे भी इन्द्रियार्थ प्रत्यक्ष को ही माना, आत्मप्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वथा छोड़ दिया है। चार्वाकदर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन ५ भूतो को मानता है, और इनके सयोग से चेतनायुक्त प्राणी दिखाई देते हैं। आत्मा नाम का स्वतत्र कोई पदार्थ नही है।

प्रश्न यह होता है कि चार्वाक जैसे नास्तिकदर्शन को श्रीआनन्दघनजी ने जिनवर के उदर का स्थान क्यो दिया ? यानी इसे जैनतत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष का उदररूप अग क्यो माना ?

इस शंका के समाधान के लिए हमे जरा तत्व की गहराई मे उतरना पड़ेगा।

जैनदर्शन मे पाच ज्ञान प्रमाण माने हैं—१ प्रत्यक्ष, २ परोक्ष, ३ आगम, ४उपमान, और ५अनुमान। इन पाच प्रमाणो से नयों का सत्यार्थ विवेचन है।

---

१. "यावज्जीवेत्, सुख जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥"

चार्वाकदर्शन द्वारा इन्द्रियप्रत्यक्ष (जैनदर्शनमान्य साव्यवहारिक प्रत्यक्ष) को स्वीकार करने के कारण उसे अशत जिनवर के उदर की उपमा दी।

शरीर मे पेट का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह सारे शरीर मे भोजन पहुँचाता है, विविध अगो को यथायोग्य भोजन पहुँचा कर शक्ति देता है, और मलहरणी नाडी द्वारा मल को धकेल देता है। उदर मे तो भोजन का अशभर ही शेप रहता है। इस दृष्टि से लोकायतिक दर्शन भी दुनिया मे अध्यात्मवाद के नाम पर ठगे गए, अथवा अध्यात्मवाद के नाम पर मचाई गई लूट के कारण ऊबे हुए लोगो को पेट की तरह अपने मे स्थान देता है, तथा उन्हें यह भी आश्वासन देता है कि परलोक का स्वर्ग नरक थोडी देर के लिए न मानो तो भी इहलोक मे जो कुछ प्रत्यक्ष गलत काम करोगे, उसका फल भी प्रत्यक्ष यही पर मिल जाएगा। परलोक मे नरक के डर से और स्वर्ग के प्रलोभन से जो दानादि धर्म या अहिंसादि पालन करते हो, वह भी उचित नही है, क्योकि भय और प्रलोभन के कारण हटते ही या भय-प्रलोभन का विचार दिमाग से निकलते ही तुम अधर्म के कार्य करने पर उतारु हो जाओगे। इसलिए हम कहते हैं, समाज, परिवार, सघ या राष्ट्र की व्यवस्था सुचारुरूप से चलाए रखने के लिए विवेकयुक्त सस्कारो —प्रत्यक्षहृदय मे जमे हुए सुसस्कारो से प्रेरित हो कर धर्म या कर्तव्य, नीति या पथ्य (हितकर) बातो का पालन करो। जैसे पेट अपने पास कुछ भी न रख कर बिना किसी बदले की आशा से सारे अगो को दे देता है, वैसे ही तुम अपने पास अधिक न रख कर समाज, राष्ट्र आदि को नि स्वार्थभाव से दे दो। पेट शरीर के दूसरे अवयवो को सब कुछ देने पर जब खाली हो जाता है, तभी तो भोजन की रुचि जागती है, पेट मे एक से अधिक दिन भोजन जमा पडा रहे तो कब्ज, अपच आदि अनेक रोग हो जाते हैं, वैसे ही जीवन मे त्याग न करने पर यानी परोक्षज्ञान आदि अधिक जमा होने पर विचारो का अजीर्ण, अहकार, सडान एव परिग्रह हो जाता है। अत परोक्षज्ञान का सग्रह न करके लोकायतिक दर्शन प्रत्यक्षज्ञान पर ही दारोमदार रख कर परोक्ष विचारो को निकाल कर प्रत्यक्ष उपयोगी व्यवहारिक विचारो को रखता है, इसी कारण आध्यात्मिक विचारो की भूख जागती है। यह दर्शन अध्यात्मविचार के भोजन [illegible] रुचि जगाता है। आज अमेरीका, जर्मन आदि भौतिकवादी देशो [illegible] सुखाभासो एव तज्जनित रोगो

व दु खो से ऊब (घवरा) कर वहाँ की जनता मे आध्यात्मिक रुचि जगी है। इस कारण यह दर्शन भी जगत् मे विस्तृत है जगत् के अनेक लोगो को नीति का पाठ पढा कर यह अध्यात्म की भूख जगाता है। इसलिए इस दर्शन को जिनवर-तत्व-ज्ञान का उदर कहा है।

तत्त्वज्ञान के प्राथमिक अभ्यास के लिए प्रवेश करने वाले जिज्ञासु को शरीर और आत्मा, इन दोनो मे से शरीर ही निकटवर्ती एव प्रत्यक्ष दिखाई देने से इसके पचभौतिक स्थूलरूप का सर्वप्रथम ज्ञान चार्वाकदर्शन करा देता है, इस प्रकार विश्व का सर्वप्रथम तत्वज्ञान होने पर उस पर से जिज्ञासु आगे वढ सकता है, किन्तु प्राथमिक तत्वज्ञान मे ही प्रवेश न हो तो वह आगे कैसे बढ सकता है ? इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन भी प्राथमिक तत्वज्ञान-प्रवेश मे सहायक होने से जिनवर-दर्शन का उदररूप एक अग माना गया है। भले ही वह अनुमानादि प्रमाणो को न माने, सिर्फ एक प्रत्यक्षप्रमाण को माने, परन्तु एक प्रमाण को भी प्रमाणरूप मे मानेगा तो उसे कभी न कभी दूसरे प्रमाणो को मानने-समझने का मौका मिलेगा, इतना भर यह जैनदर्शन का अग माना जाय तो अनुचित नही होगा।

योगदृष्टि से जब उदर पर विचार करते हैं तो एक महत्वपूर्ण बात प्रतीत होती है। उदर मे नाभि एक ऐसा केन्द्रस्थान है,जहाँ से कुडलिनी' जागृत होने पर छहो चक्रो का भेदन हो सकता है। आत्मा के विकास का साक्षी एव प्रमाण यही स्थान है, जहाँ से चारो ओर सभी नाडियाँ फैली हुई हैं। सबको यही से वल, वुद्धि, और विकास की स्फुरणा मिलती है, इसलिए चार्वाकदर्शन को समयपुरुष का उदररूप अग वताना भी उचित है। वह प्रत्यक्षभूत इस साधना के लिए प्रेरणा करता है और कहता है,—अगर इस साधना को सिद्ध कर लोगे तो तुम्हारी पाचो इन्द्रियो के विषय की तृप्ति अन्दर ही अन्दर हो जाएगी, अमृत का वह झरना, आनन्द का वह स्रोत तुम्हारे अन्दर ही फूट पडेगा, जिससे तुम्हें फिर वाहर की भूख-प्यास नही सताएगी, और न ही इन्द्रियो के विविध मोहक विषयों की ओर तुम्हारी रुचि रहेगी। तुम अपने अन्तर मे ही तृप्त हो जाओगे। हाला-कि यह सव अनुभव की बातें हैं, लेकिन ये सब परोक्ष नही हैं। इसलिए चार्वाक कहता है—यही और इसी जन्म मे इस साधना के द्वारा

आनन्द लूट लो, अन्दर का ही यह खजाना प्राप्त कर के अपने आप मे तृप्त हो जाओ। यही स्वर्ग है, यही से मोक्ष है। ऐसी साधना न करने या मौका चूकने पर (प्रमाद करने पर) यही नरक, तिर्यंच आदि दुर्गति है। इस दृष्टि से चार्वाकदर्शन को उदररूप अग बताना बहुत ही अर्थपूर्ण है।

उदर का यह भाग बहुत ह उपेक्षित रहता है, कधे के नीचे दवा रहने से दबा हुआ रहा है, इसलिए इसे भी जैन-तत्वज्ञान के एक व्यवहारिक अग के रूप मे स्थान दिया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने आगे चल कर इसी गाथा मे इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है—'अंश विचार जो कीजे रे'

३६३ पाखण्डीमतो (क्रियावादी १८०, अक्रियावादी ८४, अज्ञानवादी ६७ और विनयवादी ३२=कुल ३६३) को भी जब जैनदर्शन मे उदारतापूर्वक स्थान दिया है, तब चार्वाकदर्शन को पूर्वोक्त कारणो से स्थान देने मे उदारता की हो, इसमे तो कहना ही क्या है? परन्तु इन सबके तत्वो (रहस्यो) पर विचाररूपी अमृतरसधारा का पान किसी योग्य एव अनुभवी उदारचेता गुरुवर के विना हो नही सकता। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को भी कहना पडा -'तत्वविचार-सुधारसधारा गुरुगम विण किम पीजे रे?'

जैन जिनेश्वर उत्तम अग, अन्तरग-बहिरगे रे।
अक्षर-न्यास धरा आराधक, आराधे धरी सगे रे॥

॥ षड्० ॥ ५ ॥

अर्थ

जिनेश्वर परमात्मा के तत्वज्ञान द्वारा बताया हुआ दर्शन (जैनदर्शन) तीर्थंकर सयोगी केवली जिनका सर्व श्रेष्ठ अग=मस्तक है। वह अतरग और वहिरंग दोनो रूप मे उत्तमाग है। अथवा अतरग शुद्धि (रागद्वेष की मलिनता से रहित आत्मप्रत्यक्ष से) तथा वहिरगशुद्धि (व्यवहार ज्ञानबलचरित्रबल के शुद्ध अनुभव से प्रदर्शित जैनदर्शन की स्थापना करने वाले, अथवा व्यजनाक्षर-सज्ञाक्षर का न्यास =ज्ञानार्थ अक्षरस्थापनारूपी धरा=पृथ्वी (अक्षरावली वर्णमाला) का विन्यास या आज्ञाधर्मरूपी धरा के आराधक (आज्ञापालक) का परिचय करके

या प्रत्येक अग को अपनी आत्मा मे रमा कर आराधना करते हैं—आज्ञा पालते हैं। वे ही वास्तव मे जैनदर्शन के आराधक होते है।

भाष्य

जैनदर्शन : वीतराग का उत्तमांग

छठे अग के रूप मे जैनदर्शन को वीतराग-परमात्मा का उत्तमाग=मस्तक कहा गया है। वह समयपुरुष के मस्तक के समान कहा है। इसका कारण यह नही है कि श्रीआनन्दघनजी जैन थे, इसलिए उन्होंने जैनदर्शन को उत्तम अग के रूप में बताया है। अपितु इसका कारण यह है कि जैनदर्शन किसी वस्तु को सिर्फ एक ही, एकागी दृष्टि से नही देखता, किसी भी विषय पर उसके सभी दृष्टिविन्दुओ को मद्देनजर रख कर तदनुकूल नयसापेक्ष कथन करता है, तथा इस दर्शन मे सभी विचारधाराओ को यथायोग्य स्थान दिया गया है, सभी पर सत्यग्राही दृष्टि से विचार किया गया है, इस कारण इसे उत्तमाग कहा गया है। शरीर के अवयवो मे मस्तिष्क का स्थान सर्वोपरि, अनिवार्य और उत्तम इसलिए बताया गया है कि वह सभी अवयवो को विचार देता है, शरीर मे मस्तिष्क न हो तो सभी अवयव बेकार हो जाते हैं, इसी प्रकार जैनदर्शन सभी दर्शनो को यथायोग्य स्थापन करने वाला है। यह नही होगा तो सभी दर्शन एकागी व एकान्त बन कर सापेक्षवाद को भूल कर अपनी-अपनी ढपली और अपना-राग अलापने लगेंगे। इसलिए जैनदर्शन उस उच्चस्थान को अपनी योग्यता के कारण ही पा सका है। इस उच्चता को प्राप्त करने मे उस पर कोई मेहरबानी नही की गई है, अपितु, उसने वास्तविक रूप मे ही इसे प्राप्त किया है। और अपनी महिमा और योग्यता भी सिद्ध कर दी है। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह सभी दृष्टिबिन्दुओ के उपरान्त प्रमाणसत्य को स्वीकार करता है, इस कारण सर्वथा उत्तम है।

जैनदर्शन का अतरग और बहिरग

जैनदर्शन के दो अंग हैं—अन्तरग और बहिरंग। रागद्वेष का सर्वथा त्याग करके आत्मा के गुणो को प्रगट करना इसका अन्तरग है तथा बाह्यक्रियाएँ करना, समचारी का ऊपर-ऊपर से पालन करना एव चरणसत्तरी व करणसत्तरी का पालन यह बहिरग है। इसमे अन्तरगविभाग मे वैराग्य एव आत्मा के

अनेक गुण कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? इस सम्बन्ध मे कारण और परिणाम के साथ बताया गया है।

अथवा जैनदर्शन अन्तरग और वहिरग-शुद्धि से प्रसिद्ध है। अन्तरगशुद्धि का अर्थ है—राग-द्वेष,मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व से अशुद्ध हुए विचारो द्वारा आए हुए बुरे परिणामो से रहित शुद्ध आत्मभाव एव समत्वयोग से प्रगट हुआ वीतरागभाव। वहिरगशुद्धि का अर्थ है--आरम्भ=पट्कायिक जीवो की हिंसा से और व कामभोग विषयसेवन से आए हुए विकारी परिणामो से अशुद्ध बने हुए जगत् के व्यवहार को सामायिकादि यथाख्यातचारित्राचरण से शुद्ध करना।

अक्षर-न्यास धरा-आराधक कौन और क्या ?

इस प्रकार बताए हुए अन्तरग और वहिरग दोनो रूप जैनदर्शन का स्थान समयपुरुष के उत्तमाग (मस्तिष्क) के रूप मे समझना और दोनो का विभाग जैसा और जिस प्रकार का बताया गया है, नि शक और निष्काक्ष होकर, विना किसी अपवाद के उसका अक्षरश अनुसरण करना, यह भी अक्षरन्यास-धरा का एक अर्थ है। अक्षरश न्यास (स्थापन) करने से यह भी तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार वे अक्षर बताए गए हैं,उसी तरीके से उसकी स्थापना यानी सेवन, आराधन, आचरण करने का आग्रह रखना अक्षरन्यास है। अमुक मुद्रा से नमोत्थुण का पाठ बोलना है, अमुक विधि से 'इच्छामि खमासमणो कहना है, इत्यादि जैसी अक्षर—सत्य की स्थापना है, उसी प्रकार से अक्षरन्यासरूप धरा=पृथ्वी का आराधन करना चाहिए।

इसका दूसरा अर्थ यह है—पूर्वोक्त प्रकार से अन्तरग-वहिरग-शुद्धि से प्रगट हुआ तत्त्वज्ञान अक्षरन्यासरूप है। फिर जिनभाषित आचारागादि द्वादशागी आगम, जिन स्वर-व्यजन-अक्षरादि से न्यास किया (रचा) हुआ है, उस द्वादशागीमय जैनदर्शन की धरा (आज्ञा) को अक्षरन्यासधरा कहते हैं। क्योकि द्वादशागीमय जैनदर्शन ही अक्षरन्यासधरा है, वही सर्वदर्शनो से ऊपर है मस्तक-स्थानीय है। सारे दार्शनिक विचारो का समन्वय-सापेक्षदृष्टि से कथन, अनेकान्त,नय, प्रमाण आदि से स्थापन मस्तिष्क से ही होता है। अत द्वादशागामय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यासधरा का आराधक—इसी जैनदर्शन की आज्ञा का पालन है। तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक को द्वादशागीमय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यास की आज्ञा की आराधना अन्त करणपूर्वक करनी चाहिए , क्योकि इसमे हेयोपादेय का यथायोग्य विधान है, समस्त पदार्थो का

विवेक है। सर्वदर्शनों का समन्वय नयप्रमाणदृष्टि से किया गया है। अतः 'तमेव सच्चं निसंकं ज जिणेहिं पवेइयं' उसे ही यथार्थ, सत्य, निशंक समझ कर उसकी आराधना करनी चाहिए।

तीसरा एक और अर्थ निकलता है—पूर्वोक्त गाथाओं में जिनवर के ६ अंगों में ६ दर्शनों के न्यास की बात पूरी करने के साथ ही जैनदर्शन का परिचय धारण करके 'अक्षरन्यास' की ध्यानप्रक्रिया यहाँ सूचित की गई है। इस ध्यान-प्रक्रिया के अनुसार शरीर के अलग-अलग अंगों में अक्षरों का न्यास (स्थापना) करके आराधना करनी चाहिए, तभी जिनवर का सर्वांगदर्शन होगा। यानी वीतराग-परमात्मा का सर्वांगमय सम्पूर्ण दर्शन (झांकी) करने के लिए, परमात्मा की दिदृक्षा पूर्ण करने हेतु पूर्वपुरुषों ने जो अक्षरन्यास के रूप में महाध्यान की प्रक्रिया बताई है, तदनुसार आराधना करनी चाहिए। इसीलिए अन्त में कहा गया—'आराधे धरी संगे रे'।

यही कारण है कि जैनदर्शन को अन्तरंग-बहिरंग दोनों दृष्टियों से जिनेश्वर का उत्तमांग कहा है।

जिनवरमां सघला दर्शन छे, दर्शने जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटिनी सही तटिनीमां सागर भजना रे॥

षड् ०॥६॥

अर्थ

जिनवर (वीतराग पुरुष के तत्त्वज्ञानरूप दर्शन) में समस्त दर्शनों का समावेश हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रत्येक दर्शन में जिनवरप्रणीत जैनदर्शन का समावेश हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, निश्चित नहीं है। जैसे समुद्र में तो सभी नदियों का समावेश हो जाता है, परन्तु किसी एक नदी में सागर का समावेश होना एकान्त निश्चित नहीं होता। हो भी सकता है, नहीं भी।

भाष्य

वीतरागप्ररूपित जैनदर्शन में सबका समावेश

पूर्वोक्तगाथाओं में वीतरागपरमात्मा के चरण-उपासक को उदार व एवं सर्वदर्शनसमन्वयी बनने की बात कही गई है। परन्तु जबतक साधक के के मनमस्तिष्क में यह बात न जम जाय कि जिनेश्वर या जिनवर का क्या

अर्थ है ? क्या यह कोई व्यक्तिविशेष है या गुणवाचक सज्ञा है ? जिनेश्वर मे सभी दर्शनो का समावेश क्यो किया जाय ? उनकी ऐसी क्या विशेषता है, जिससे उनके द्वारा प्ररूपित दर्शन को उत्तमाग माना जाय ? ये और ऐसे अनेक प्रश्न उठते हैं। इससे पूर्वगाथाओ के विवेचन मे हम जिनवर की चरण-उपासना के सन्दर्भ मे भलीभाँति विवेचन कर आए हैं कि जिनवर की च॰ण-उपासना के लिए कितनी उदारता, परमतसहिष्णुता, विचारकता, समता और व्यापक समन्वयदृष्टि होनी चाहिए। जिनवर कोई एक व्यक्तिविशेष नही है, वह एक गुणवाचक सज्ञा है। जो सर्वोच्च उदार, निरपेक्ष, नि स्पृह, सत्यग्राही है रागद्वेषरहित होकर सबको अपने मे समाने की और महाकारुणिक बन कर जगत् के सामने वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करने की व्यापक दृष्टि है, वही जिनवर हो सकते हैं। चाहे उनका नाम कोई भी हो। जैनदर्शन को मानने की बात का समाधान पहले हो चुका है।

पूर्वोक्त गाथाओ मे जिनवर के ६ दर्शनो का समावेश किया गया है, उसके अलावा विश्व मे और भी अनेक दर्शन हैं, विभिन्न विचारधाराएँ हैं, मत-मतान्तर हैं, उन सबका समाविश जिनवर (सर्वदशनयुक्त वीतरागदर्शन) मे हो सकता है।

जैसे अनेक गड्ढो, टीलो, घाटियो आदि को पार करती हुई अनेक नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, परन्तु किसी नदी मे समुद्र कदाचित् ही मिलता है, प्राय नही मिलता। जब समुद्र मे ज्वार आता है, तब नदी के मुख मे थोडे-बहुत अशो मे सागर दिखाई देता है। उसी प्रकार जैनदर्शनरूपी समुद्र इतना विशाल है कि उसमें समस्त दाशनिक विचारधाराएं व दृष्टियाँ समा जाती है, वह अपनी अनेकान्तदृष्टिरूपी राजहसी चोच से समस्त दर्शनो को विभिन्न नयो, प्रमाणो और हेतुओ-युक्तिओ से यथायोग्य स्थान पर स्थापित कर देता है। परन्तु अन्यदर्शन नदी के समान हैं। जैनदर्शन मे किसी न किसी एक नय या प्रमाण से सभी दर्शनो का समावेश हो जाता है, जबकि अन्यदर्शनो मे किसी-किसी स्थल, पर जैनदर्शन का एकाध अश दिखाई देता है, बशर्ते कि अनेकान्तदृष्टि से देखा जाय यदि एकान्तदृष्टि से देखा जाय तो अन्य दर्शनों मे जैनदर्शन का अश भी नही दिखाई देता। इसका कारण यह है कि

जैनदर्शन ने अपनी एकदेशीयता मिटा कर सर्वदेशीयता स्वीकारी है, जबकि अन्य दर्शनो मे से किसी ने भी इस प्रकार की सर्वदेशीयता स्वीकृत नही की। नदियाँ जैसे अनेक गड्ढों, टीलो और घाटियो को पार करती हुई समुद्र मे मिलती हैं, वे गड्ढे, टीले और घाटियाँ विविध क्रियाएँ, हैं विविधपरम्पराएँ हैं। उन्हे छोड देने पर ही नदियाँ समुद्र मे मिल सकती है, इसी प्रकार अन्य दृष्टियाँ या विचारधाराएँ भी ऊपरी आवरणो, परम्पराओ, क्रियाओ आदि को त्याग करके ही जैनदर्शनरूपी समुद्र मे तत्त्वदृष्टि से समाविष्ट होती हैं। जैनदर्शन इतना विशाल और व्यापक है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के बहाने से सूचित कर देते हैं कि जैनदर्शन को इतना विशाल, व्यापक तथा सर्वदर्शनशिरोमणि बताने का यह मतलब नहीं है कि किसी भी अन्य मत, दर्शन की मान्यता का द्वेषभाव से खण्डन या तिरस्कार करें, उसे हीन बता कर निन्दा करें। ऐसा करना वीतरागता और समता के मार्ग से विरुद्ध होगा और कोरा दिखावा होगा—समता का, अनेकान्तवाद का। हाँ, किसी दर्शन का कोई अंश प्रतिकूल हो, तो उसके प्रति माध्यस्थ्यभाव रखना चाहिए। अत जैनदर्शन को भी यथार्थरूप मे समझ कर आत्मीयभाव से यथार्थरूप से उसकी आराधना करनी चाहिए।

जिनस्वरूप थई जिना आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥ षड्० ॥७॥

अर्थ

जो इस प्रकार रागद्वेषविजेता वीतरागपरमात्मा के तुल्य हो कर (यानी-रागद्वेष को उपशान्त करके जिनसमान हो कर) जिनभाव की आराधना करता है, वह महान् आत्मा अवश्य (निश्चित) ही वीतरागदेव बन जाता है। जैसे भौंरी ईलिका (लट) नामक कीड़े के डंक मारती है, उसके सामने गुंजारव करती है तो वह ईलिका कुछ ही दिनो मे भ्रमरी के रूप मे जगत् के लोग देखते हैं, अनुभव करते हैं :

१— उदधाविव सर्वसिन्धव समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टय.।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥
सिद्धसेन दिवाकर चौथी द्वात्रिंशिका

भाष्य

वीतराग बनने का नुस्खा : वीतराग आराधना

पूर्व गाथाओ मे जिनवर के चरणोपासक बनने के लिए वैचारिक दृष्टि मे विचार-सहिष्णुता, समता, निष्पक्षता, उदारता आदि गुणो को ले कर षड्दर्शन को जिनाग मानने की शर्त थी, परन्तु चरण-उपासक बनने का सुफल क्या है ? इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—**जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।** अर्थात् जिनेश्वर भगवान् जैसे बन कर (रागद्वेषादि वृत्ति निवारण करके) जो साधक आज्ञापालनसहित मन-वचन काया से निर्वद्य भक्तिपूर्वक तन्मय हो कर आराधना करते हैं, वे अवश्य ही जिन—(वीतराग) बन जाता है।

इसके लिए वे लौकिक दृष्टान्त दे कर समझाते हैं—शरद् ऋतु मे भौंरी को जब मद चढता है, तब वह मिट्टी का घरोदा बनाती है, फिर हरे घास मे से भौंरी ईलिका (लट) को ला कर उसे डक मार कर के मिट्टी घरौंदे मे डाल देती है, फिर उस घरौंदे के आसपास गुंजारव करती है। ईलिका डक की पीडा और भ्रमरी का गुंजारव याद करती-करती प्राण त्याग देती है। और कहते हैं, मोहसज्ञावश वह उसी कलेवर द्वारा भ्रमरीरूप बन जाती है। कम से कम १७ वें दिन बाहर निकालती है—हूबहू भौरी बन कर यह सब एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने का परिणाम है। ज्ञानी पुरुष इसे 'कीटभ्रमरन्याय' कहते हैं। शास्त्र मे बताया गया है—'कीटोऽपि भ्रमरी ध्यायन् लभते तादृश वपु'। बस यही न्याय जहाँ जिन-भक्तो के लिए है। 'यो यच्छ्रद्ध स एव स।' जिसकी जैसी श्रद्धा, भावना होती है, वह वैसा ही बन जाता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह निश्चय होना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्धस्वरूप है, दोनो के बीच केवल रागद्वेषादि के कारण ही मेरी भगवान् मे दूरी बढती जा रही है। अब मुझे अपना मूलस्वरूप प्राप्त करना है। यो निश्चय करके स्वात्मा मे जिनेश्वरदेव की प्रतिष्ठा करके उसे ध्येयरूप मे सामने रख कर—स्वात्मा को भी जिनेश्वररूप मे देखने लगता है, जिनदेव मे एकाग्रता करता है, धर्म-शुक्लध्यान द्वारा एक ध्यान से स्थिरचित्त हो कर जिन-जिन' यो रटन करता है, वह आत्मा अन्त मे राग-द्वेष कषाय-मोह से मुक्त हो कर अवश्य ही वीतराग परमात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विकारी जिनदेव का दत्तचित्त हो कर ध्यान करने से साधक जन्ममरण तथा उससे सम्बन्धित असख्य दुःखो का निवारण करके स्वय जिन हो जाता है,

चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर-अनुभव रे।
समयपुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे॥

षड् ०॥ ८॥

अर्थ

चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति और परम्परा का अनुभव; इन सबको समयपुरुष के अग कहे हैं। जो इनका उच्छेद करता है (इन्हें नहीं मानता) वह दुर्भव यानी दूरभव्य (बहुत लम्बे काल बाद मोक्षगमन के योग्य) है।

भाष्य

समयपुरुष के छह अंगो की आराधना

जैनदर्शन को वीतरागपरमात्मा का उत्तमाग कहा है। उत्तमाग मे ही विविध विचारधाराएँ, तत्वज्ञान या दृष्टियाँ भरी पडी हैं, परन्तु उन विचारधाराओ के परिपक्व बनाने और गहराई मे चिन्तन करके उनका विकास कर सके, परस्पर सामञ्जस्य व समन्वय बिठा सके, इसके लिए जैनदर्शनरूपी उत्तमाग के विविध अवयवरूप इन छह अगो की यथायोग्य आराधना करनी चाहिए।

प्रश्न होता है—इन ६ अगो की आराधना करने का क्या उद्देश्य है? इन ६ अगो की आराधना कैसे और किस तरीके से करनी चाहिए? वास्तव मे ये छह अग ज्ञान प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण अग हैं। मूलसूत्र न होते तो परापूर्व से तीर्थंकरो से ले कर गणधरो, और कुछ प्रभावक आचार्यो का ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता? इसी तरह मूलसूत्रो पर व्याख्या, टीका, नियुक्ति, चूर्णि और गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुभवो की रचना न होती तो इतने आध्यात्मिक ज्ञान का विकास कैसे होता? इसलिए सूत्र से ले कर परम्परानुभव तक का जो ज्ञानवैभव है, बोध की अपूर्व सामग्री है, उसको ठुकराना, उसका अनादर करना, उसके लाभ से वचित रखना कहाँ की बुद्धिमानी है? जो व्यक्ति ज्ञान के इन उत्तम निमित्तो की उपेक्षा कर देता है या इनका खण्डन व अपलाप करता है, वह इस जन्म मे तो उस अमूल्यनिधि से वचित रहता ही है, अगले अनेक जन्मो मे भी उसे वैसी अभूतपूर्व ज्ञाननिधि नही मिलती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'जे छेदे ते दुर्भव' अर्थात् जो समय पुरुष के इन अगो को काटता है (इनका छेदन करता है।

वह ज्ञान (सम्यक्‌बोध) से रहित हो करससार मे दुर्गति मे, परिभ्रमण करता है। इसलिए प्रत्येक वीतराग-चरण-उपासक को इन छह अंगो की विधिवत् आराधना करनी चाहिए।

सूत्रादि षडग क्या हैं? उनकी विशेषता क्या है?

जैनदर्शन को समझने के लिए मूलसूत्रो अगोपागो का पठन-पाठन बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मूलसूत्र प्राकृत अर्धमागधी भाषा मे है। बिना टीका आदि के वे दुरूह आगम समझ मे नही आ सकते। इसलिए समयपुरुष के ये छहो अंग अत्यन्त उपयोगी हैं, स्वपरहितकारी हैं, और ज्ञानगुण के विकास के लिए प्रबल निमित्त हैं। यद्यपि जैनतत्व-ज्ञान का विपुल अमूल्य साहित्य— जिसे 'पूर्व' कहते हैं, कालक्रम से अनुपलब्ध हो गया है, फिर भी जितना सूत्रादि साहित्य उपलब्ध है, उसी का उपयोग किया जाय तो बहुत ज्ञान-लाभ हो सकता है। अब हम क्रमश इन छहो की सक्षेप में परिभाषा दे रहे हैं—
चूर्णि—पूर्वधरो द्वारा अर्धमागधी मे किये हुए कठिन प्रकीर्णक पदो के अर्थ, भावार्थ।

भाष्य—चौदह पूर्वधरो या गणधरो द्वारा रचित मूलसूत्रो पर अर्धमागधी या वर्तमान प्रचलित भाषाओ में सम्पूर्ण पद का विस्तृत अर्थ
सूत्र—तीर्थंकरो के गणधरो द्वारा रचित मूल सूत्र। ११ अग वर्तमान मे उपलब्ध हैं, जो श्रीसुधर्मास्वामी द्वारा रचित हैं।
निर्युक्ति—व्युत्पत्ति के द्वारा शब्दो का अर्थ करना। वह प्राय अर्ध-मागधी भाषा में होती है।

वृत्ति—सूत्र पर सस्कृत टीका, चाहे जिस पूर्वाचार्य द्वारा लिखित हो, बहुत ही प्रकाश डालती है— मूलसूत्रोक्त बातो पर।
परम्परागत अनुभव—गुरुशिष्यपरम्परा से प्राप्त अनुभवज्ञान, धारणाओ का ज्ञान।

समयपुरुष के ये ६ अंग हैं। अगर जैनदर्शन की आराधना करनी हो तो उपर्युक्त छहो अगो को समझना, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन करना और उनका आदरपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। छहो अग अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं, उपयोगी हैं। आध्यात्मिक विज्ञान के लिए इनसे बढकर और कोई धर्मशास्त्र

-सग्रह नजर नही आता। बौद्ध साहित्य मे भी प्राय मध्यमकोटि के धर्मोपदेश हैं। वैदिक साहित्य मे उपनिषद्विभाग महत्त्वपूर्ण है, उसके सिवाय किसी पदार्थ की ब्योरेवार स्पष्टता वेदो, पुराणो आदि मे नही प्रतीत होती। इसमे कुरान वाइबिल,अवेस्ता, ग्रन्थसाहब आदि अन्य अनेक धर्मों के मूलभूत धर्म-ग्रन्थ प्राय. अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय तक के सीमित दायरे का ही विचार करके इतिसमाप्ति कर देते हैं। वैसे तो जैनदर्शन इतना उदार है कि उन-उन धर्मग्रन्थो मे जो भी थोडी-बहुत अच्छी आत्महितकारी, यथातथ्य बातें होती हैं, उन्हें आदरपूर्वक स्वीकार करता है, जैसा कि पहले ६ दर्शनो को जिन-अग बना कर उनका यथायोग्य मूल्याकन करने का जोर, शोर से प्रयत्न किया गया है।

भगवान् की चरण-उपासना के सन्दर्भ मे छहो दर्शनो की आलोचना या निन्दा किये बिना तहदिल से अपनाने पर बल दिया है। किन्तु जब तक उसका कोई उच्च सालम्बन ध्यान न बना दिया जाय, तब तक पूर्णतः भगवच्च-रणोपासक कोई कैसे बन सकता है? इसी बात को लक्ष्य मे रख कर इस गाथा मे समयपुरुष के अग बता कर उनकी आराधना करने की बात कही गई, अगली गाथा मे इसी शास्त्रज्ञान पर सालम्बन पदस्थध्यान की प्रक्रिया बताते हुए कहा है—

मुद्रा, बीज, धारणा, अक्षर न्यास अर्थविनियोगे रे।
जे ध्यावे ते नवि वचीजे, क्रिया-अवचक भोगे रे॥ षड्० ॥ ८ ॥

अर्थ

मुद्रा (विविध आराधनाओ के लिए शरीर की पृथक् पृथक् आकृति), बीज (मंत्र का मूल बीजाक्षर या बीजक), धारणा (इन्द्रियजय के बाद और ध्यान की पूर्वभूमिकारूप पार्थिवी आदि धारणाएँ), अक्षरन्यास (अष्टकमलदल या अन्यत्र क, च, ट, त,प इत्यादि मत्राक्षरो की स्थापना करना), अर्थ (अर्थ, भावार्थ का आलम्बन), विनियोग (स्वय जानी हुई चीज योग्य पात्र को बता कर बोध कराना, गुरुगपूर्वक देना) इस प्रकार इन ६ आलम्बनों द्वारा (श्रीवीतरागदेव रूप या समयपुरुषरूप ध्येय का) जो भव्यसाधक ध्यान करता है, वह वचित (ठगाता) नहीं होता। और वह क्रियाऽवचकत्व का उपभोग करता है, अर्थात् उसे वह प्राप्त हो जाता है।

भाष्य

जिनवर या समयपुरुष का सालम्बनपदस्थध्यान

जिनवर के चरण-उपासक बनने के लिए समयपुरुष (जैनदर्शनरूप) को ध्येय बना कर ६ या ७ आलम्बनो द्वारा ध्यान करके वीतरागत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने बताई है।

यह गाथा मुख्यतया योगक्रिया स सम्बन्धित है। योग मे ध्यान की प्रक्रिया सर्वोत्तम है। 'पदस्थ' ध्यान जिसे करना हो, उसके लिए आलम्बन लेना परम आवश्यक है। प्रत्येक साधक को पहले उसका अर्थ समझ लेना चाहिए। अत सक्षेप मे अर्थ नीचे दिया जाता है।

सर्वप्रथम ध्यान, ध्येय और ध्याता तीनो की त्रिपुटी का योग्य होना चाहिए। अगर इस ध्यान के योग्य पात्र न हो तो, उसे पहले पात्र बनने का अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर यह चयन करना चाहिए कि मुझे कौन-सा ध्यान करना है? ध्यान के ४ प्रकार हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इन चारो मे यहाँ निर्दिष्ट ध्यान पिण्डस्थ है। इसलिए ध्याता साधक को मन मे निश्चित कर लेना चाहिए कि मुझे पिण्डस्थ ध्यान करना है, और उपर्युक्त ६ या ७ आलम्बन लेने हैं। तत्पश्चात् उसे ध्येय का भी चुनाव करना चाहिए। ध्येय वही चुनना चाहिए, जो ध्यान द्वारा प्राप्त होना सम्भव हो। यहाँ प्रसगवश जिनदेव के कल्पवृक्षसम पदरूप समयपुरुष को ध्येय-रूप मे चुनना है। और ध्येय के साथ ही ध्याता को भी तदनुकूल ध्यान मुद्रा आदि मे बैठना आवश्यक है। वे ६ या ७ अग इस प्रकार हैं—मुद्रा-ध्यान करते करते समय पद्मासन या सिद्धासन से बैठ कर अपने स्थूलशरीर को शान्त व एकाग्र बनाने के लिए शरीर की विविध आकृतियो (पोज) मे रखना होता है, उसे ही मुद्रा (पोज) कहते है। जैसे शखावर्त, पद्मावर्त, आवर्त, नवपदवर्त ह्रीवर्त, नन्दावर्त, ऊँवर्त आदि जप करते समय की मुद्राएँ हैं। इसी तरह हाथ, पैर, मुख, सिर आदि की मुद्राएँ भाष्य मे बताई गई हैं।

बीज—प्रत्येक मत्र के कुछ मूल बीज या बीजाक्षर होते हैं, उन्ही के आधार पर मत्र सिद्ध होता है, मत्र द्वारा जो साध्य करना होता है, वह बीजमत्र के द्वारा होता है। जैसे ऊँ ह्री, श्रीं, क्ली, ब्लूं ऐं आदि बीजमत्राक्षर हैं।

धारणा—ध्यान करने से पूर्व योग के अष्टांगोक्त धारणा करनी पड़ती है। जो इन्द्रियजय के बाद और ध्यान से पहले ध्यान की पूर्वभूमिकारूप में होती है। ये धारणाएँ कई प्रकार की होती हैं जैसे पार्थिवी, वारुणी आदि। अथवा अपने भावो मे १२ गुणो सहित अरिहन्त की, या ८ गुणसहित सिद्ध की, ३६ गुणो सहित आचार्य की, २५ गुणो सहित उपाध्याय की अथवा २७ गुणों सहित मुनिवर की धारणा (भावना) करनी चाहिए। अथवा बीजाक्षर-धारणा एक शब्द है, इसके अनुसार कौन-सी मुद्रा धारण कर के कौन-से अक्षर का कैसे ध्यान किया जाय? इसे बीजाक्षरधारणा कहते हैं। ध्येय पर चित्त को स्थापन करके उसमे एकाग्र करना पातजलयोग के अनुसार धारणा है, जो बाह्य मे सगुण (साकार) ईश्वर का ध्यान तथा आभ्यन्तर मे नासिका, जिह्वा आदि सात चक्रो की व्यवस्था बताई गई है।

अक्षर-न्यास—अ, इ, उ, आदि अक्षरो की शास्त्रसम्मत विधि मे स्थापना करना और उन्हीं स्थापित अक्षरो पर चित्त को एकाग्र करना अक्षरन्यास कहलाता है। मन्त्रशास्त्र मे इसकी अनेक विधियाँ बताई गई हैं। अथवा अक्षर और न्यास ये दो शब्द मान कर दोनो के अलग-अलग अर्थ किये गए हैं। जैसे अक्षर का अर्थ है— अकारादि अक्षरावली वाले सूत्रसिद्धान्त या किसी तत्त्वज्ञान पर मनन करना, मन को एकाग्र करना, न्यास का अर्थ है—गुरु की आज्ञानुसार कमल, हृदय आदि पर अक्षर की स्थापना करना, फिर द्रव्यअक्षर से निकल कर भाव अक्षर (आत्मा-परमात्मा, जो क्षर (विनाशी) नहीं है, उस पर मनन करना, साक्षात्कार करने हेतु मन को जोड़ना।
अर्थ—अर्थ या भावार्थ का अवलम्बन लेना।

विनियोग—दूसरों (योग्यपात्रो) को ध्यान के अर्थ (ज्ञान) का गुरुगम कराना, अथवा ध्यान मे लगाना। अथवा अर्थ-विनियोग दोनों मिल कर एक शब्द मान कर अर्थ किया गया है—परम अर्थ यानी ध्यान का विषय पिण्डस्थ हो या पदस्थ हो, रूपस्थ हो या रूपातीत, उसका आत्मार्थ (आत्महित के लिए) ही चित्तवृत्ति मे विनियोग करना। क्योंकि सासारिक या फलाकांक्षाविषयक अर्थ को ले कर अनर्थ की समावना है।

इस प्रकार विधिवत् (६, ७ या ८ प्रकार से युक्त विधि से) ध्यान (चित्त-

काग्र्य) करता है, वह क्रियाऽवचकता प्राप्त कर लेता है। क्रिया-अवचकता कैसे सिद्ध हो सकती है, इस विषय मे आठवें तीर्थंकर की स्तुति मे भलीभाँति विवेचन किया गया है, वहाँ से जान लें। इस प्रकार का अवचक—आत्मा कपट, कषाय, मोह, काम, रागद्वेषादि ६ रिपुओ से पराजित नही होता, सर्वत्र विजय पाता है और क्रिया-अवचक का यथार्थ उपभोग (आनन्दलाभ) करता है। जो लोग पुत्र, धन, परिवारादि तथा स्वर्गादि सासारिक सुख के लाभ के लिए दम्भयुक्त, प्रदर्शन के लिए, आश्रव एव पापसेवन करते हुए सावद्य, किन्तु तथाकथित धार्मिक क्रिया करते हैं, वे स्वपरवचना करते हैं, असत्य पदार्थ को ले कर सत्य को खोजते हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया—'जे ध्यावे ते नवि वचीजे' जो उपर्युक्त विधि से ध्यान-क्रिया करता है वह वचित नही होता। इसके अतिरिक्त जो दम्भादिपूर्ण क्रिया अपनाता है, वह तो मायिक है ही, वचित होता ही है।

श्रुत[1] अनुसार विचारी बोलु, सुगुरु तथाविध न मिले रे।
किरिया करी नवि साधी शकीए, ए विषवाद चित्त सघले रे॥
॥षड्० ॥१०॥

अर्थ

आचारागादि शास्त्रो (सूत्रो) मे जिस प्रकार कहा है, उसके अनुसार जब विचार करके बोलता हूँ तो तथाविध (जैसे होने चाहिये, वैसे) सुगुरु ढूँढने पर भी नहीं मिलते। (सुगुरु के मार्गदर्शन के विना) अपनी इच्छानुसार क्रिया करते रहें तो जिस साध्य को साधना चाहते हैं, उसे साध नहीं सकते। अथवा ऐसे किसी सद्गुरु का योग मिला नहीं है, जिनके सहयोग से पूर्वोक्त क्रियाऽवचकयोग साध सकें। यह सब विषवाद (विषाद या दुःख) सभी मुमुक्षुओ के चित्त मे है अथवा मन मे सब जगह ऐसी दुविधा-सी स्थिति रहा करती है।

भाष्य

क्रियावचकयोग के लिए सुयोग के अभाव का हार्दिक खेद

पूर्वगाथा मे जिस क्रियाऽवचकता की प्राप्ति का उल्लेख था, उस पर

---

१ 'श्रुत' के वदले कही कही 'सूत्र' शब्द मिलता है।

विचार करते हुए श्रीआनन्दघनजी गहरे विषाद मे डूब गये। वे अपना हार्दिक दुःख इस गाथा के द्वारा वीतरागपरमात्मा के सामने व्यक्त करते हैं। स्वच्छ-सरल-सरसहृदय साधक प्रभु के सामने अपने मन मे कोई गाठ नही रखता, वह अपने अबोध बालक की तरह प्रभु को माता-पिता समझ कर उनके सामने अपना हृदय खोल कर रख देता है- अपनी जैसी स्थिति, शक्ति, गति, मति है, उसे वह प्रभु के सामने प्रगट कर देता है। श्रीआनन्दघनजी ने जब उपर्युक्त साधना के विषय मे मथन किया तो वे प्रभु के सामने पश्चात्तापपूर्वक पुकार उठे—"प्रभो! जब मैंने आचारागादि शास्त्रो का गहराई से अध्ययन किया तथा सम्यक् श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से जो कुछ मुझे अनुभव हुआ है, उसे देखते हुए उस पर से जब मैं बोलता हूँ तो उक्त साधना के लिए जैसे सुगुरु चाहिए, वैसे अब तक मुझे नही मिले। मार्गदर्शन के बिना क्रियावचकता आदि कोई भी साधना यथार्थरूप से नही हो सकती। विश्वव्यापी ज्ञान की बडी-बडी बातें करने वाले, लच्छेदार भाषण देनेवाले, आत्मज्ञान की डीग हाकने वाले अनेक तथाकथित गुरु मिलते हैं, परन्तु शास्त्रो मे सुगुरुओ का जैसा वर्णन मिलता है, जो लक्षण आगमो मे बताये गए हैं, उनके अनुसार जब मे हृदय की कसौटी पर उन्हे कस कर जाचता-परखता हूँ तो मेरी कसौटी मे वे खरे नही उतरते। यह मैं कोई अभिम-नवश नही कह रहा हूँ, नम्रतापूर्वक मैं अपने दुर्भाग्य को प्रगट कर रहा हूँ। गुरु तो सबको मिलते हैं, परन्तु शास्त्रो मे बताए (जिनके लक्षण आदि के सम्बन्ध मे 'आगमधर गुरु समकिती' आदि के रूप मे शान्तिनाथभगवान् की स्तुति के प्रसग मे हम पर्याप्त विवेचन कर आए है। लक्षणो या गुणो के अनुसार वैसे सुगुरु का योग इस पचम (कलि) काल मे नही मिलता, एक प्रकार से ऐसे सुगुरुओ का तो दुष्काल सा ही है।

मालूम होता है, योगी श्रीआनन्दघनजी के समय मे तथाकथित नामधारी सूरी आचार्य,उपाध्याय,गणी, साधु आदि की कमी नही थी, परन्तु उन सबमे उन्हे प्राय धनिकभक्तो की गुलामी, क्रियाकाण्डपरायणता, रूढिग्रस्तता, सत्त्व-श्रद्धारहित क्रियाहीनता और आडम्बर, पद, प्रसिद्धि आदि की महत्त्वाकाक्षा दिखाई दी होगी, जिसके कारण अथवा उन्हे स्वय को उस समय के गुरुओ से बहुत ही कटु अनुभव हुआ होगा। तभी खेद के ये उद्गार निकाले होंगे—"सुगुरु तथाविध न मिले रे'

प्रश्न होता है—यदि श्रीआनन्दघनजी को अपनी परख के अनुसार वैसे सुगुरु न मिले तो न सही, वे अपने अन्तःकरण से सत्य समझ कर क्रिया या साधना करते, क्या जरूरत थी, उन्हें सुगुरु की या सुगुरु के सम्बन्ध में विचार करने की? अपनी मस्ती में रहते और यथेष्ट साधना करते! इसका उत्तर स्वयं वे ही दे देते हैं—'किरिया करी नवि साधी शकीए'। श्रीआनन्दघनजी वर्तमानयुग के तथाकथित साधकों की तरह उच्छृंखल नहीं थे, न स्वेच्छाचारवादी थे, वे योग्य गुरु के मार्गनिर्देशन में साधना करने के पक्ष में थे। सुगुरु के योग्य मार्गदर्शन में साधना करने से समय-समय पर साधना के मार्ग में आई हुई अड़चनें दूर हो सकती हैं, वे योग्य मार्गदर्शन दे कर मार्गभ्रष्ट साधक को ठिकाने ला सकते हैं। परन्तु श्रीआनन्दघनजी को ऐसे सद्गुरु की ओर से मार्गदर्शन, यथार्थ परम्परानुभव नहीं मिल सका, इसी बात का खेद वे प्रभु के सामने प्रगट कर रहे हैं। सद्गुरु के अभाव में योग्य मार्गदर्शन या प्रेरणा न मिलने से मोक्षफलदायिनी क्रिया करके वे लक्ष्यसिद्धि नहीं कर सके। परिणामस्वरूप साध्य को सिद्ध न करके, बाह्यक्रियाएँ करके पुण्यबन्ध में संसारभ्रमण ही कर पाए। वास्तव में ऐसी थोथी क्रियाओं से सिवाय पुण्यप्राप्ति के अधिक प्रायः मिलता नहीं, इसी बात का खेद या विषवाद रहा करता है। ऐसा लगता है कि इतनी सब क्रियाएँ करते हुए भी उनसे मोक्षप्राप्तिरूप फल तो सिद्ध नहीं होता, सिर्फ सांसारिक पौद्गलिकप्राप्ति मिल जाती है। यानी मेहनत पहाड़भर है, फल राई के दानेभर है। इसका कारण सद्गुरुदेव की कृपादृष्टि या सत्प्रेरणा का अभाव है।

"ऐसे सद्गुरु के अभाव की खटक केवल मेरे मन में ही नहीं, मेरे सभी सभी साधकसाथियों या मुमुक्षुओं के दिल में भी इसकी बड़ी खटक है। प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, आपके सामने अपनी गलती या विषाद की बात का स्वीकार करने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है। मुझे स्वयं इस बात का खेद है। अतः अब आप ही सुझाइए कि मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार की प्रार्थना वे अन्तिम गाथा में करते हैं—

तें माटे ऊभो कर जोड़ी, जिनवर आगल कहीए रे।
समय-चरणसेवा शुद्ध देजो, जिम 'आनन्दघन' लहिए रे॥

षड्०॥११॥

अर्थ

पूर्वोक्त अभावद्वय के कारण करयुगलवद्ध हो कर हम आप जिनवर के समक्ष (शुद्धहृदय से) निवेदन करते हैं, हमे समयपुरुष की या सिद्धान्तसम्मत (शास्त्रोक्त) रूप जिनवर की शुद्धचरणसेवा देना (पवित्र चारित्रसेवन की कृपा करना, ताकि हम भी आनन्दघन (परमानन्दस्वरूप) पद प्राप्त कर सकें।

भाष्य

भक्त की प्रभु वीतराग से चरणसेवा की प्रार्थना

भक्त के हृदय मे जव विषाद का भार वढ जाता है, तव उसे हलका करने के लिए वह भगवान् ने सामने अपना दिल खोलता है। इस प्रकार भगवान् के सामने हृदय की वात कह डालने से हलकापन तो महसूस होता ही है, कभी-कभी हृदय का कालुष्य धुल जाने से निर्मल अन्त करण पर अद्भुत आध्यात्मिक प्रेरणाएँ अकित हो जाती है, उस स्वत प्रेरणा को भक्त प्रभुप्रेरणा मान कर शिरोधार्य करता है। यही वात यहाँ श्रीआनन्दघनजी के सम्वन्ध मे है। वे शुद्ध अन्त करण से करवद्ध हो कर मन मे प्रभु की छवि अकित करके खडे हुए और प्रभु के सामने अपने अन्तर की पुकार करने लगे—'मेरे हृदयेश्वर ! अव जव कि मुझे सद्गुरु की प्रेरणा मिलने का कोई अवसर (Chance) नही दिखता और उसके अभाव मे मेरी साधना शुद्धमोक्षदायक नही हो सकती, तव निरुपाय हो कर आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मुझे आपके (वीतरागप्रभु के समयपुरुष के) शुद्ध चरणो (स्वरूपरमणरूप या स्वात्मानुभवरूप चारित्र) की सेवा (आराधना) का अवसर दें, जिससे मैं सच्चिदानन्दरूप (आनन्दघन) प्राप्त कर सकूँ।

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से शुद्ध चारित्र की माग की है, इसके पीछे निम्नोक्त कारण प्रतीत होते हैं एक तो यह कि शुद्ध चारित्र होगा, वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होंगे ही। परन्तु 'अगर वे सम्यग्ज्ञान मागते तो सम्यक्चारित्र नही प्राप्त होता। इसलिए सम्यक्चारित्र मागने के साथ-साथ उन्होने उक्त दोनो रत्न माँग लिए हैं। दूसरा कारण यह है कि प्राणी को तथाप्रकार के शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए अर्धपुद्गलपरावर्तन-काल शेष रहे तव तक प्रतीक्षा करनी पडती है। किन्तु प्रभुकृपा हो जाय और अन्त करण मे तीव्र सवेग प्राप्त हो जाय तो इतना लम्वा काल भी झपाटे के साथ

पार हो जाता है। समय-चारित्र की माग की है, इससे फलितार्थ निकलता है कि वे समयपुरुष की चरणसेवा के पूर्वोक्त उपायो को जानते हैं, केवल तदनुसार आचरण करना ही शेष है, वह आचरण (चारित्र) ही अतल समुद्र को पार करने के समान बहुत दुष्कर है, कोई सद्गुरु भी साथ मे मार्गदर्शक नही है, इसलिए प्रभु का हाथ पकड कर उनके अन्तर्निर्देश मे वे चारित्ररूपी महासमुद्र को पार होने के लिए उद्यत है। देखिए, कब उनकी आशा पूर्ण होती है!

सारांश

इस स्तुति मे वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक के लिए सर्वप्रथम छह दर्शनो को जिनवर के अंग मान कर उनको यथायोग्य स्थान पर स्थापित करना जरूरी बताया है। यहाँ तक कि लोकायतिक दर्शन को भी जिनवर का उदर माना है। इस प्रकार की विवेकपूर्ण श्रद्धा के स्वीकार के बाद छह दर्शनो को नदियो की और जैनदर्शन को समुद्र की उपमा दे कर जैनदर्शन के उत्तमाग होने की बात को और पुष्ट किया है। इसके बाद चरण-उपासना को नया मोड देकर उपास्य के अनुरूप उपासना की उच्चरीति बताई है। इसके पश्चात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो की उपासना को चरणोपासना मे गतार्थ करके उसकी उत्तम विधि बताई है। तदनन्तर चारित्र की उच्च कक्षा पर पहुँचने के लिए मार्ग-दर्शक सुगुरु के अभाव का खेद व्यक्त करके प्रार्थना की है। कुल मिला कर वीतराग-प्रभु के चरणउपासक बनने का सुन्दर तत्त्व श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे मे प्रगट कर दिया है।

२२ : श्रीनेमिनाथ-जिन-स्तुति

ध्येय के साथ ध्याता और ध्यान की एकता

(तर्ज घणरा ढोला, राग-मारुणी)

अष्टभवान्तर वालही रे, तु मुझ आतमराम, मनरा व्हाला!
मुगति-स्त्रीशु आपणे रे, सगपण कोई न काम, मनरा०। १॥

अर्थ

राजमती श्रीनेमिनाथस्वामी से कहती है—"आठ भवों (जन्मों) तक मैं आपकी प्रियतमा पत्नी थी और आप मेरी आत्मा (आत्मा के अन्दर के भाग) मे रमण करने वाले या सतत प्रेमपूर्वक आत्मा मे स्थान = आराम पाये हुए नाथ थे। हे मेरे मन के प्रियतम! मुक्तिरूपी स्त्री (शिवसुन्दरी) के साथ अपनी सगाई-सम्बन्ध जोडने (बाधने) से कोई काम (प्रयोजन) नहीं है।

भाष्य

इस परमात्म-स्तुति का प्रयोजन और रहस्य

इस बावीसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमिनाथस्वामी की स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने जो विषय छेडा है, उसे ऊपर से देखने वाले को यही प्रतीत होता है कि सासारिक पति-पत्नी का कोई प्रेम सवाद और खासकर पत्नी की ओर से पति को उपालम्भ और उपदेश दिया जा रहा हो इस प्रकार का दाम्पत्यराग है, इसमे आध्यात्मिकता का एक छीटा भी नही है। परन्तु इस स्तुति का गहराई से अध्ययन करने पर बताया गया है कि इसमे ध्येय (परमात्मा) के साथ ध्याता की एकता सततध्यान के कारण जुडती है, लेकिन बहिर्मुखी चित्त-वृत्ति की तरफ आत्मारूपी पति के आकर्षित हो जाने पर परमात्मा से दूरी बढती चली जाती है। प्रारम्भ मे १० गाथाओ तक श्रीराजीमती के द्वारा श्रीनेमिनाथ स्वामी को मोहाविष्ट, रागातुर एव सासारिक प्रीति की ओर आकृष्ट करने के लिए उपालम्भ-वचन आदि युक्तियो से प्रयत्न किया जाता है, फिर एक नया

मोड लिया जाता है, परमात्मा के वीतरागस्वरूप को पहिचानते हुए भी रागाविष्ट करने की कोशिश की जाती है, फिर १४ वी गाथा से राजीमती की मोहदशा कम हो जाती है, वह परमात्मा की वीतरागदशा का ध्यान करके स्वकर्तव्य का विचार करती है, स्वय परमात्मपद का ध्यान करके ध्येय के निकट पहुँच कर परमात्मा मे लीन हो जाती है, भगवान् नेमिनाथ की मुक्ति से ५४ दिन पहले राजीमती सती मुक्ति मे पहुँच जाती है। अर्थात् ध्याता राजीमती अपने स्वामी नेमिनाथ के चरणो का अनुसरण करके उनसे पहले ही अपने ध्येय-परमात्मा मे विलीन हो जाती है।

योगी श्रीआनन्दघनजी इसी प्रकार मोहादि षड्विकारो से पर हो कर मुक्तिपदप्राप्ति के इच्छुक भव्यमुमुक्षु आत्माओ को इस स्तुति द्वारा यही बोध दे रहे हैं कि बाह्य ध्येय तो निमित्त रूप ही होता है, सच्चा और अन्तिम ध्येय तो ध्याता के शरीर मे रहा हुआ आत्मतत्त्व ही है। इसलिए इस निमित्त का नाममात्र को अवलम्बन ले कर भी भव्यात्मा को स्व-आत्मतत्त्व के साथ ही एकता साधनी है। ऐसा होने से ध्याता और ध्येय की एकरूपता हो जाती है, जो इस स्तुति का खास प्रयोजन है।

दूसरी एक महत्त्व की वस्तु इस स्तुति मे गुप्त रहस्य के रूप मे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से यह मालूम होती है कि आत्मा जब भौतिक इन्द्रियो के भोगोपभोगो का त्याग करके आत्मदृष्टि मे स्थिर होने का प्रयत्न करता है, वह बहिर्मुखी इन्द्रियरूपी चित्तवृत्ति उसे अपने में रमण करते रहने के लिए ललचाती है, विविध मोहक प्रलोभनो (वचनो) से उसे खीचने का प्रयास करती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा जब उन बहिर्मुखी इन्द्रियो के भ्रामक मोह (राग) जाल मे नही फँस कर आत्मदृष्टि मे ही स्थित होने का दृढ प्रयत्न करती है, तब बहिर्मुखी बनी हुई वह चित्तवृत्ति ही अन्तर्मुखी हो जाती है। यह चित्तवृत्ति भी आत्मा के इस ऊर्ध्वगामी पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। फलत वह अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति आत्मा के परमानन्द मे मिलने से पहले ही आत्मस्थित बन कर परमानन्द प्राप्त कर लेती है।

इस तथ्य को महात्मा आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे रूपक के माध्यम से कथ्य के रूप मे बहुत ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। बहिर्मुखीवृत्ति वाली राजीमती के मुख से बहिर्मुखी बनी हुई चित्तवृत्ति सरीखे ही ताने, आक्षेप-

भरे उपालम्भ और मोहक एव भ्रामक शब्द कहलाए जाने पर भी श्रीनेमिनाथ स्वामी वापिस नही लौटते हैं, तब राजीमती स्वय ही भगवान् नेमिनाथस्वामी के मार्ग का अनुसरण करके अन्तर्वृ त्ति मे स्थिर हो जाती है।

यहाँ यह शका होनी स्वाभाविक है कि पहले की स्तुतियो मे और इस स्तुति से आगे की स्तुतियो मे किसी भी स्थल पर श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे के मुंह मे स्तुति नही कराई ? तो फिर यहाँ राजीमती के मुख से स्तुति क्यो कराई गई ? इसके समाधान मे हम यो कह सकते हैं कि मुमुक्षु भव्यात्मा अथवा श्रीआनन्दघनजी ने स्वय ने ही राजीमती के बहाने से परमात्मा नेमिनाथ के चरित्र का स्मरण करने के लिए ही ऐसा किया है।

इन्ही पूर्वोक्त गूढ अर्थो के प्रकाश मे इस स्तुति की विभिन्न गाथाओ का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

राजीमती-बहिर्मु खी चित्तवृत्ति द्वारा स्थितप्रज्ञ आत्मा रूप नेमिनाथ को प्रार्थना

यह सारी स्तुति स्तुतिकार ने उग्रसेनपुत्री राजीमती के मुख से करवाई है। दूसरे तीर्थकरो की अपेक्षा नेमिनाथप्रभु का चरित्र अद्भुत है। वे आजीवन बालब्रह्मचारी के रूप मे ही रहे हैं, किन्तु श्रीकृष्णजी की प्रेरणा से, विवाह के लिए उन्होंने मौन सम्मति दे दी। लेकिन जब वे राजीमती के साथ विवाह करने के लिए बरात ले कर स्वयं रथारूढ हो कर श्वसुरगृह की ओर प्रस्थान करते हैं, तो रास्ते मे ही उन्होने बरातियो को मांसभोज देने के लिए एक बाड़े मे बद पशुपक्षियो को आर्तनाद करते हुए देखे। नेमिनाथ उनकी पुकार को समझ गए और उन सब भद्रप्राणियो को बन्धनमुक्त करवा दिये। उन्हे यह खेद हुआ कि मेरे विवाह के निमित्त से इन सब निर्दोष प्राणियो की हत्या होती, अत वे इस विवाह से ही विरक्त हो कर विवाह किये बिना ही वापिस लौटने लगे। सारे बरातियो मे खलबली मच गई। राजीमती ने जब अपने भावी पति (वरराज नेमिनाथ) को विवाह किये बिना ही वापिस लौटते देखा तो उसके मन में भूकम्प का-सा झटका लगा। मोहवश एक बार तो वह मूर्च्छित हो गई. किन्तु फिर होश मे आ कर अपने साथ किये हुए सगाई (वाग्दान) सम्बन्ध को याद दिला कर वह नेमिनाथ से पुकार करने लगी। इस स्तुति की १३ गाथाओ तक स्तुतिकार ने सती राजीमती के मुख से जो पुकार (प्रार्थना)

नेमिनाथस्वामी के प्रति कराई है, वह बहुत ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत की गई है। खासतौर से श्रीराजीमती के ताने और उपालम्भो ने उस अद्भुतता मे और वृद्धि कर दी है। राजीमती कहती है—"हे स्वामिन्! पिछले आठभवो मैं मे आपकी प्राणवल्लभा थी, आप मेरे प्रियतम थे, मेरी आत्मा के एकमात्र आराम-स्थल आप थे। आपने मुझे अपनी प्राणप्यारी समझ कर मेरे मन के तमाम मनोरथ पूर्ण किये। अब इस भव मे आप क्या कर रहे हैं? मैंने तो जब से आपके साथ मेरा वाग् दान हुआ, तभी से आपको अपने आत्माराम समझ लिये हैं। परन्तु गजब की बात है कि आपने मेरे हृदय को न पहिचान कर, मेरी प्रीति को तोड कर मुझे अधबीच मे छटका कर, निष्ठुरतापूर्वक ठुकरा कर मुक्तिरूपी शिव-सुन्दरी के साथ विवाह करने चल पडे। मैं तो आपकी प्रतीक्षा मे यहाँ बैठी हूँ और आप हैं, जो मेरी पुकार को अनसुनी करके मुक्तिसुन्दरी से सगाई सम्ब-न्ध जोड़ने जा रहे हैं,। क्या आपका यह कदम उचित है? उपयोग की दृष्टि से सोचें तो मेरे साथ आठ-आठ जन्मो का पुराना सम्बन्ध था, उसे छोड कर मुक्ति-सुन्दरी के साथ नया सम्बन्ध जोडने मे आपको क्या लाभ होगा? सगाई सम्बन्ध समानशील वाले के साथ अच्छा होता है। मेरे सरीखी राजकुमारी के साथ सम्बन्ध तो समानता का सम्बन्ध है, लेकिन मुक्तिसुन्दरी के साथ आपकी कौन-सी समानता है? फिर उसके साथ तो आपकी कोई जान-पहिचान भी नहीं है! मेरे साथ तो इस जन्म की नही, पिछले ८ जन्मो की जानपहिचान है। भला मुझ जानी-मानी और सब तरह से चाहती आपकी प्रिय चरणसेविका को छोड कर आप बिना कुछ सोचे-विचारे, अज्ञातशीला मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोडने जाएँ, यह तो अनुचित है। इससे आपका कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। अत मेरी ओर देखकर मेरे साथ के सम्बन्धो को याद करिये, और अजानी मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोडने का विचार छोडिये। अगली गाथाओ मे फिर वह प्रार्थना करती है—

घर आवो हो, वालम ! घर आवो, मारी आशाना विशराम ॥
रथ फेरो हो, साजन ! रथ फेरो, मारा मनरा मनोरथ साथ ॥
॥ म० २ ॥

अर्थ

हे वल्लभ, प्रियतम ! आप मेरे (पिता का घर मेरा घर मेरा घर है, इसलिए)

घर पर पधारो, मेरे रहने के स्थान पर पधारो, क्योंकि आप तो मेरी आशा के विश्रामस्थल हैं। हे सज्जनपुरुष! आप रथ को वापिस मेरे घर की ओर मोड़िए, मेरे मन के मनोरथ को साथ ले कर आप रथ वापिस मोड़ कर घर पधारिए।

भाष्य

घर पर पधारने और रथ को मोड़ने की प्रार्थना

अब हे प्राणवल्लभस्वामिन्! आप मेरे घर (पीहर) पधारें। आप तो मेरी तमाम आशाओं के केन्द्रस्थान हैं आपको पा कर ही मेरे द्वारा सजोई हुई आशाओं के स्वप्न विश्राम पायेंगे, अन्यथा उन सब आशाओं पर पानी फिर जाएगा। आशाओं के महल उजड़ जाएँगे। और फिर आप सज्जन हैं, इसलिए किसी की आशाओं (बँधी हुई मनोकामनाओं) को ठुकरा कर आप नहीं जा सकते। सज्जन किसी को पहले आश्वासन (वाग्दान) दे कर आशा बंधा कर फिर उसे तोड़ते नहीं। इसलिए हे सज्जन! आप को रथ के वापिस मेरे घर की ओर मोड़िए और मेरे घर की ओर मोड़िए और मेरे मनोरथों को ध्यान में रख कर वापिस लौटिए। आपका रथ चला जा रहा है, साथ में मेरा मनोरथ भी चला जा रहा है। आपके साथ ८ भवों के प्रेम के कारण अब जो सगाई-सम्बन्ध हुआ, उसके बाद मन में जो-जो आशा के महल बाँधे थे वे सब टूट रहे हैं, आप रथ वापिस मोड़ेंगे तभी वे टिक सकेंगे। आपके रथ के जाने आने पर मेरे मनोरथों का जाना-आना निर्भर है क्योंकि आप ही मेरे मन के माने हुए विश्राम हैं। भारतीय आर्यकन्या के लिए वाग्दान से ही भावी वर पति हो जाता है, वही आजन्म पति रहता है। एक बार प्रियतम स्वीकार कर चुकने के बाद वह जीवनभर के लिए पति हो चुकता है। कुंवारी कन्या की समस्त आशाओं का दारोमदार भावी पति पर है। वह जागृत अवस्था में अनेक सपने सजोती है, उन सब स्वप्नों की साकारता पति पर अवलम्बित रहती है। इसीलिए राजीमती नेमिनाथस्वामी से आग्रहपूर्वक उक्त प्रार्थना कर रही है।

इस गाथा का अध्यात्मगर्भित अर्थ

राजीमती को आध्यात्मिक दृष्टि से बहिर्मुखी चित्तवृत्ति मान कर इसका अर्थ करते हैं तो यों होता है—"वह कहती है 'मेरे प्रियतम आत्मन्! मेरे यहाँ पधारो! मैं तो तुम्हारी पुरानी सेविका हूँ, मेरी आशा के तुम्ही तो विश्राम (आधार) हो। अगर तुम्हीं (स्थितप्रज्ञ आत्मा) मुझे ठुकरा दोगे, तो मेरा क्या

हाल होगा ? अत हे सज्जन ! रथ (सासारिक भाव-मनोरथरूपी रथ) वापिस मोडो। मेरे अनेकविध मनोरथो के साथ तुम वापिस आओ, और मेरे घर मे आ कर मेरी सुध लो।

नारी का प्रेम क्षणिक मान कर उपेक्षणीय नही है, इसी बात को अगली गाथा मे राजीमती कहती है—

नारी-पखो श्यो नेहलो रे, साच कहे जगनाथ; मन० ॥
ईश्वर अर्धांगे धरी रे तु मुझ झाले न साथ, मन० ॥ ३ ॥

अर्थ

नारीपक्ष का इकतरफी प्रेम (स्नेह) कौन सा प्रेम है ? "हे जगन्नाथ ! अगर आप सचमुच ऐसा कहते हैं तो मुझे सत्य कहना पडेगा कि महादेव जैसे ईश्वर कहलाने वाले बडे देव ने पार्वती को अपने आधे अगों मे धारण की थी, इसलिए वे अर्धनारीश्वर कहलाए। लेकिन तुम तो मेरा हाथ भी नहीं पकडते, वाग्दान दे कर भी अब पिंड छुडाते हो ?

भाष्य

नारी के प्रति स्नेह का मूल्य

इस गाथा मे राजीमती दूसरा मुद्दा उठाती है। वह कहती है—यदि आप यह कहते हैं कि स्त्रीपक्ष के क्षणिक स्नेह की क्या कीमत है ? "अत स्त्री के साथ प्रेम क्यो किया जाय ? इस प्रश्न मे एक बात और गर्भित है कि राजीमती यह भी कहना चाहती है कि कदाचित् कोई स्त्री अपने पति के साथ स्नेह न करती हो, तब तो उस पति के लिए उचित है कि वह ऐसा प्रश्न उठाए। और ऐसे पति ने कदाचित् अपनी स्त्री के साथ सम्बन्ध विच्छेद किया हो, तब भी ठीक है, लेकिन मेरे और आपके बीच तो ऐसी कोई बात नही हुई स्वामिन ! यदि सच कहूँ तो आप मेरे एक जन्म से नही आठ-आठ जन्मो से परिचित नाथ हैं। मेरा तो इस जन्म मे भी आपके प्रति स्नेह अत्यन्त अधिक है। पर वह स्नेह एकपक्षीय है, पत्नी के मन मे स्नेह हो, और पति के मन मे स्नेह जरा भी न हो, तो वह स्नेह कैसे टिक सकता है ? अत मेरे स्नेह के बदले मे आपको भी स्नेह करना चाहिए। आपको भी स्नेह का जवाब स्नेह मे देना चाहिए। जब पति के प्रति पत्नी का प्रेम हो तो पति भी पत्नी के प्रति अवश्य प्रेम करता है,

और उसके मनोरथ पूर्ण करता है। अन्यथा एकपक्षी-नारीपक्षीय स्नेह कैसे निभेगा ? परन्तु प्राणेश्वर! क्या आप भूल गये हैं- पार्वती के स्नेहवश शंकर ने उसे अपने अर्धांग मे स्थान दे दिया था। आज भी जगत् उन्हे अर्धनारीश्वरके नाम से पहिचानता है। अत आप तो मेरा हाथ भी नही पकडते, मुझे अर्धांगिनी बनाने की बात ही दूर रही। आपको जाना हो तो भले ही जाय पर एक बार मेरा हाथ पकड कर मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे अपनी अर्धांगिनी बना कर फिर जाय। मेरा हाथ छिटका कर न जाएँ। मेरे नाथ नही बनते तो आप जगन्नाथ कैसे कहलाएँगे ? मेरी इतनी-सी प्रार्थना नही मानेंगे तो क्या लोगो मे आप अच्छे कहलाएँगे ?

अध्यात्मदृष्टि से किसके साथ स्नेह ?

इस गाथा के आध्यात्मिक दृष्टिपरक अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि बहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अज्ञानचेतना) स्थितप्रज्ञ वीतराग आत्मा से कहती है —'मेरे प्रति प्रेम का हाथ बढाओ, मुझे छिटकाओ मत, मेरे साथ सम्बन्ध विच्छेद न करो, परन्तु स्थितप्रज्ञ उसके बहकावे मे नही आता, वह शुद्ध आत्मा मे स्थिर रहता है, स्त्री का स्पर्श तो मुनि करता ही नही है, बहिर्मुखी चित्तवृत्तिरूपी नारी का भी स्पर्श नही करता। शकर-पार्वती के दाम्पत्यप्रेम को आध्यात्मिक शुद्ध आत्मप्रेम नही कहा जा सकता। ऐसा वेदोदयजनित रागवर्द्धक प्रेम वीतरागप्रभु मे कैसे हो सकता है ? साधक के लिए सचमुच श्रीनेमिनाथ का यह आदर्श प्रेरणादायक है। राजीमती तो अपने स्वार्थ के कारण उपालम्भ देती है, साधक को बहिर्मुखी चित्तवृत्तियो के के द्वारा दिये जाते हुए प्रलोभन, उपालम्भ आदि को छोड कर आदर्श जीवन जीना हो तो नेमिनाथप्रभु का आदर्श ग्रहण करना चाहिए।

फिर उपालम्भ का दौर चलता है—

पशुजननी करुणा करी रे, आणी हृदय विचार ; मन० ।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर आचार ? मन० ॥ ४॥

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो योग धतूर; मन० ।
चतुराईरो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जगशूर, मन० ॥ ५ ॥

मारु तो एमां कई नहीं रे, आप विचारो राज, मन० ।
राजसभा मां बेसतां रे, किसड़ी बधशी लाज ? मन० ॥ ६ ॥

प्रेम करे जगजन सहु रे, निरवाहे ते ओर ; मन० ।
प्रीति करी ने छोड़ी दे रे, तेहशुं न चाले जोर; मन० ॥ ७ ॥
जो मनमां एहवु हतुं रे, निसपति करत न जाण; मन० ।
निसपति करी ने छाड़ता रे, माणस हुवे नुकशान; मन० ॥ ८ ॥
देतां दान संवत्सरी रे, सहु लहे वांछित पोष, मन० ।
सेवक वांछित नवि लहे रे, ते सेवकनो दोष; म० ॥ ९ ॥
सखी कहे-'ए शामलो रे,' हु कहु लक्षण सेत; मन० ।
इण लक्षण साची सखी रे, आप विचारो हेत; मन० ॥ १० ॥

अर्थ

आपने पशुसमूह के प्रति हृदय मे बहुत दीर्घदृष्टि से विचार करके अत्यन्त दया (करुणा) की, परन्तु आपके हृदय मे मनुष्य के (मनुष्यरूप मे मेरे = राजीमती के) प्रति जरा भी दया नहीं है। पता नहीं, यह किस घर (परिवार) का यह आचार (रीति-रिवाज या मर्यादापथ) है ? ॥ ४ ॥

आपने तो प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को काट डाला और उसके बदले उदासीनता का प्रतीक योगरूपी धतूरे का पेड पकड़ लिया है; अथवा धतूरे का वृक्षारोपण कर दिया है यह तो बताइए, आपको इस प्रकार के चातुर्य का पाठ पढ़ाने वाला जगत् मे शूर या शूल के समान कौन गुरु मिल गया ? ॥ ५ ॥

स्वामिन् ! मेरा तो इसमे कुछ भी नहीं बिगडेगा ? मेरी इज्जत इसमे कुछ भी नहीं जाएगी, राजकुमार ! आप अपने मन मे विचार करिए ! जब आप राजसभा मे बैठेंगे, और लोग आपके सामने इस तुच्छ व्यवहार की चर्चा करेंगे, तब आपकी इज्जत कितनी बढेगी ? ॥ ६ ॥ मैं तो यह समझी हूँ कि ससार मे प्रेम तो सभी लोग करते हैं लेकिन प्रेम करके उसे निबाहने वाले विरले (और) ही होते हैं। जो पुरुष किसी के साथ प्रीति करके छोड देते हैं, उन पर प्रेमी का क्या जोर चल सकता है ? ॥ ७ ॥ अगर आपके मन मे ऐसा (प्रेम जोडने के बाद तोडने का) विचार था, तो मैं पहले से ही इसे समझ कर सगाई-सम्बन्ध या प्रीति सम्बन्ध न करती। जब कोई सगाई (प्रीति) सम्बन्ध जोड़ कर फिर उसे छोड देना है, तब सामने वाले (दूसरे पक्ष) की कितनी हानि या हैरानी होती है ? इस पर आप जरा विचार करके तो देखें ॥ ८ ॥ जब आप

संवत्सरी (एक वर्ष तक लगातार एक करोड आठ लाख सोनैयो का, दान देते हैं, तो उससे सभी अपने-अपने भाग्य या इच्छा के अनुसार पोषण प्राप्त करते हैं लेकिन यह सेवक (आपके चरणो की आठ जन्म तक सेवा करने वाली सेविका राजीमती) विवाहदानरूप मे मनोवांछित दान नहीं पा सका, इसमे आपका तो क्या दोष है, सेवक के ही कर्मों का दोष समझना चाहिए। ॥ ६ ॥ आपको देख कर मेरी सखी ने कहा था कि "यह (नेमिकुमार) तो काले रग के हैं।' तब मैंने उसे जवाब दिया कि वे (आप) शरीर से भले ही काले हो लक्षणो-गुणो से श्वेत (गोरे) हैं। परन्तु आपकी अनुदारता और उदासीनता के इन लक्षणों को देखते हुए मेरी सखी ने जो कहा था, वह सच मालूम होता है। अब आप ही इस कथन के कारण पर विचार करिये कि वास्तव मे आप कैसे हैं ? ॥ १ ॥

भाष्य

राजीमती द्वारा नेमिनाथस्वामी को उपालम्भों का दौर

राजीमती नेमिनाथस्वामी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उपालम्भ के स्वर मे कहती है—"स्वामिन्! आप हैं तो बहुत ही दयालु! जब आप बरात ले कर विवाह के लिए पधार रहे थे तो रास्ते मे बरातियो के भोज के लिए बाडे मे अवरुद्ध पशुओ की करुण पुकार सुन कर आपका हृदय दयार्द्र हो उठा। आपने तुरत सारथी से कह कर उस बाडे के द्वार खुलवा दिये और तमाम पशुओ को मुक्त करवा दिये। यह आपकी पशुजन पर करुणा तो जगत् मे प्रसिद्ध हो गई, लेकिन आप पशुदया से भी बढकर मनुष्यदया को क्यो भूल गए ? जब से आप रथ वापिस मोड कर लौट गए, तब से मैं आपके वियोग मे तडप रही हूँ। मेरा अपमान करके और मुझे अधबिच मे धक्का दे कर आपने मेरे प्रति इतनी क्रूरता बरती, क्या मनुष्य को और उसमे भी मेरे जैसी आपकी सेविका को मरने देना, यह कहाँ का न्याय है ? यह आपकी कैसी करुणा है ? अनेक पशुओ पर दया ला कर भी मुझे छोड कर जाने को तैयार हो गए ? मेरी दुर्दशा का आपने विचार तक नही किया ? कुछ समझ मे नही आता, आपकी दया का यह कैसा ढग है ? इस उक्ति मे राजीमती ने तत्त्वज्ञान का एक महासूत्र स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रानुसार पशुपक्षी या एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक के जीवो की अपेक्षा मनुष्य का महत्व अधिक है। इसलिए इस क्रमानुसार भी मनुष्यो के प्रति दया पहले करनी चाहिए थी। "आपकी करुणा का आचार पूर्व-

तीर्थंकरो के शिक्षण से विरुद्ध है, अत यह आचार आप को शोभा नही देता।"

आध्यात्मिक दृष्टि से जब हम इस पर विचार करते हैं तो इसका समाधान तुरन्त हो जाता है कि पशुओ के प्रति भगवान् की जो दया थी, वह किसी राग या मोह से प्रेरित हो कर नही थी, वह तो सर्वजीवहित की दृष्टि से थी, मनुष्य और जिसमे भी रागाविष्ट प्रेमिका के प्रति दाम्पत्यप्रेम के वश हो कर दया करते तो वह रागयुक्त होती। आप राग-द्वेष मे आसक्त न होने से वीतराग और महाकरुणालु है। वीतराग स्थितप्रज्ञ पुरुष बाह्यचित्तवृत्ति की ऐसी रागात्मक पुकार को नही सुनते। ॥ ४ ॥

उससे बाद दूसरा उपालम्भ राजीमती का यह है कि आठ आठ भवो से जिस प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को आपने सीच-सीच कर बडा किया था और इस जन्म मे भी मेरे साथ वाग्दान होने एव मेरे साथ विवाह करने की स्वीकृति देने के बाद कई जन्मो से पुष्पित- फलित हुए इस प्रेममय अन्त करणरूपी कल्पतरु को आपको सीचना था, उसके बदले आपने समूल उखाड डाला और उसके बदले उदासीनता के प्रतीक वैराग्य का नशा पैदा करने वाले योगरूपी धतूरे को आप आरोपण करने लगे! बलिहारी है आपकी चतुराई की! आपकी अक्ल भला कैसे गुम हो गई? कौन ऐसा शूरवीर या जगत् का शूल (काटा) गुरु आपको मिल गया, जिसने इस प्रकार की अक्लमदी आपको दिखाई है? ऐसी चतुराई की अक्ल देने वाला कौन जगत् के सूर्यसमान गुरु मिल गया?

राजीमती एक व्यवहारचतुर स्त्री की तरह बात कर रही है, वह वक्रोक्ति की भाषा मे साफ कह रही है, जैसे एक मोहप्रेरित नारी कहती है! कल्पवृक्ष समस्त इच्छाओ को पूर्ण करने वाला होता है। प्रेम को कल्पवृक्ष की उपमा इसलिए दी है कि उससे सभी सासारिक मनोकामनाएँ (पुत्र, धन, परिवार, स्त्री आदि) पूर्ण होती हैं, और नेमिनाथ के मुक्ति-सुन्दरी के प्रति प्रेम को धतूरा बोने की उपमा दी है। उसका कारण यह है कि मुक्तिसुन्दरी से प्रेम करने पर वह न तो सन्तानसुख दे सकती है, न और कोई सासारिक कामना ही उससे पूरी हो सकती है। उलटे, वह तो वैराग्य का नशा भले ही चढा दे, सो नेमिनाथस्वामी को चढा ही दिया है। उसी नशे मे वे अपनी अष्टजन्मपरिचिता जानी मानी प्रेमदीवानी राजीमती को प्रेम को छोड रहे हैं, प्रेमकल्पतरु को उखाड रहे हैं।

तत्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो दुनियादारी का प्रेम मोहगर्भित तथा संसारवृद्धि करने वाला होने से धतूरे के समान अवश्य हो सकता है, योग-धारण करके मुक्ति के प्रति प्रेम धतूरा नही, कल्पवृक्षसम है, वहाँ किसी प्रकार का रागादि नही होता। आप सचमुच वीतराग परमात्मा है, और मुक्तिप्रेम तो रागादिरहित कल्पतरुवत् होता है, जिसके फल ज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप हैं।

इसके अनन्तर फिर राजीमती सासारिक प्रेमिका (पत्नी) की तरह मानो नेमिनाथ के प्रति उसको सेविका के नाते कहने का अधिकार है, इस दृष्टि से ताने मारती है—'हे नेमिकुमार! आप मुझे छोड कर चले जायेंगे, इसमे मेरा तो कुछ भी विगडने वाला नही, क्योकि मैं तो आपके प्रति पूर्ण अनुरक्ता हूँ। आप ही मेरे प्रेम को ठुकरा रहे हैं। क्योकि आपने मेरे साथ पाणिग्रहण करने की स्वीकृति दे कर गर्भित प्रतिज्ञा भी कर ली, उसी कारण यादव लोगो की बरात साथ मे ले कर रथारूढ हो कर आप मेरे साथ विवाह करने के लिए (मुझे लेने के लिए) तोरण तक पधारे थे। लगभग तोरण के पास आ कर आप रथ को मोड कर वापिस लौट गए हैं, इसमे मेरा कोई दोष नही था, और न है। इसलिए मुझे किसी प्रकार का लाछन नही लगेगा। लेकिन आप तो राजकुमार हैं, जब आप राजा-महाराजाओ की सभा मे बैठेंगे और लोग आपसे स्पष्टीकरण मागेगे कि 'आपने राजीमती को किस कारण छोड दी? तब आप क्या जवाब देंगे? 'आपको उस समय शर्मिंदा हो कर नीचा मुह करना पडेगा कि क्या राजकुमारी राजीमती कलाहीन थी? उसके रूप-लावण्य मे कोई कमी थी?' क्या कोई दोष या ऐब था? क्या उसके हृदय म आपके प्रति प्रेम नही था? जिसके कारण सुसज्जित विवाहमडप के पास से ही वापिस लौट आए और उस कन्या का त्याग कर दिया? उस समय आपको निरुत्तर और सबके सामने लज्जित होना पडेगा! आपकी इज्जत क्या रहेगी उस समय? और जब आपको स्वय ही अपने प्रेम-विच्छेद की याद आएगी, तब आपको अपने इस लज्जाजनक कृत्य से अपने प्रति ग्लानि नहीं आएगी? क्या अपने कृत्य के प्रति तिरस्कार नही पदा होगा? एक और दृष्टिकोण है इसमे कि 'आप जरा विचार तो कीजिए कि जब आप राजसभा मे बैठेंगे तो आप जैसो को पत्नीविहीन देख कर लोग मजाक उडाएंगे बिना पत्नी का व्यक्ति वाडा कहलाता है। वाडे व्यक्ति की न परिवार मे कोई इज्जत होती है, न सभ्य समाज मे। अत मैं कहती हूँ कि पत्नी से रहित आपकी राजसभा मे

कितनी आबरू बढेगी ? सचमुच आपकी आबरू चली जाएगी। इस पर आप ठडे दिल से विचार करिए।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह वहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अशुद्ध चेतना) का मोहक ताना है। आध्यात्मिक वीतरागपुरुष तो आत्मसमाधिस्थ होने के लिए बाल ब्रह्मचारी के रूप मे तीनो लोको मे व्याप्त हो जायगा। ॥६॥

फिर उलाहनेभरे स्वर मे वह पुकार उठती है—इस दुनिया मे सभी मनुष्य प्रेम करते है, इस प्रेम मे जुडने वाले तो सभी होते हैं, परन्तु एक बार प्रेम करने के बाद उसे जिन्दगीभर निभाने वाले विरले ही कोई होते हैं। ऐसे मनुष्यो की सख्या बहुत ही नगण्य है। जो प्रेमपात्र के साथ प्रेम सम्बन्ध जोड कर आजीवन उसे निभाते हैं। क्योकि प्रेम दोनो ओर से पलता है, एकतरफी प्रेम टिकता नही, उससे प्रेमतरु शीघ्र ही सूख जाता है। अधिकाश लोग तो प्रेम का तार तोडते देर नही लगाते। आप भी उन अधिकाश सामान्यजनो की कोटि मे हैं। आपने जिस प्रेमतरु को आठ-आठ जन्मो तक सींचा, इस जन्म मे भी वाग्दान होने के बाद प्रेम की दिशा मे प्रयाण तो किया था, मगर अचानक ही सनक मे आ कर आपने प्रेमतरु को नष्टभ्रष्ट कर डाला। आपने प्रेम जैसी महत्वपूर्ण वस्तु को बालक का-सा खेल समझ कर तोड डाला ! अत जो मनुष्य प्रेम बाँधने के बाद अकारण ही इस प्रकार प्रेम-भग कर डालता है, उसे क्या कहा जाय ? उसके साथ जबर्दस्ती तो की ही नही जा सकती, न इस काम मे जबर्दस्ती चल ही सकती है। क्योकि प्रेम आन्तरिक कारण है, वही प्रेमपात्रो को जोडता है। इसलिए आपके द्वारा किये गए प्रेमभग के खिलाफ न तो मुकद्दमा किया जा सकता है, न कोई जोर अजमाया जा सकता है। यह तो राजी-राजी का सौदा है। पर आपके खिलाफ कोई जोर नही चल सकता। हाँ, इतनी बात जरूर कहूँगी कि प्रेम बाँध कर सहसा अकारण तोडने वाले की जगत् मे कितनी कीमत होती है ? इस पर जरूर विचार करें। मेरी ओर से आपके प्रति कोई विरुद्ध प्रचार मानहानि करने का नही होगा, मेरे हृदय मे तो वही प्रेम आपके प्रति रहेगा। इसके बावजूद भी आप मेरे प्रेम को नही पहिचान कर उसे ठुकरा देंगे तो मेरा कोई वस नही चल सकता। आप स्वय समर्थ हैं, मैं तो केवल प्रार्थना के शब्दो मे ही निवेदन कर सकती हूँ।

आध्यात्मिक दृष्टि से सोचा जाय तो मोहप्रेरित चित्तवृत्ति की यह उडान है। नेमिनाथस्वामी ने सिर्फ उदय मे आए हुए कर्मों को खपाने के लिए ही राजीमती के साथ पिछले आठ भवो मे प्रीति जोड रखी थी। परन्तु इस भव मे जव वे कम नष्ट हो गए और प्रभु वीतराग वन गए, तव राजीमतीरूपी चित्तवृत्ति के साथ रागप्रेरित प्रीति कैसे कर सकते हैं? यही कारण है कि वे मुक्तिस्त्री के साथ वीतरागप्रेरित प्रेम वाध कर उसे सादि-अनन्त भग की दृष्टि से निभाने को तैयार हुए हैं। वास्तव मे रागप्रेरित प्रेमी या प्रेम निभाने वाले तो ससार मे वहुत होते हैं, लेकिन वीतरागप्रेरित आत्मस्वभाव मे अखण्ड लगन को निभाने वाले नेमिनाथप्रभु सरीखे जगत् मे विरले ही होते हैं। ॥७॥

अव जरा और कठोर वन कर राजीमती अपने प्रेम का व्यग्यवाण छोडती है—'यदि आपको प्रीति करके इसी तरह मुझे छोड देना था, यदि आपके मन की गहराई मे इसी प्रकार का दगा था या विचार था कि यह विवाह मुझे नही करना है, तो मुझे आपको पहले से ही बता देना चाहिए था, ताकि मैं ऐसा जान कर आपके साथ प्रेमसम्वन्ध वाधती ही नही। न आपको कुछ शिकायत रहती, न मुझे आपसे कोई शिकायत होती। किन्तु आपने मेरे साथ धोखा ही किया—आप सुसज्जित विवाह-मण्डप के निकट तक वरात ले कर पधारे थे, इससे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता था कि आप मेरे साथ विवाह करने पधारे हैं, किन्तु अचानक एक ही झटके मे आप विना कुछ कहे-सुने प्रेम-सम्वन्ध को तोड कर चले गए, यह व्यवहार मे कन्यापक्ष के लिए कितना नुकसानदेह होता है? उस कन्या की हालत कितनी नाजुक हो जाती है? उस पर कितनी आफत उतर आती है? इस पर जरा गौर करके विचार तो करिए! इस प्रकार तोरण तक आया हुआ दूल्हा विना विवाह किये वापिस लौट जाय, उसमे कन्यापक्ष के प्रति आम जनता के दिलो मे व्यर्थ की कितनी ही शका-कुशकाएँ पैदा हो जाती है कि शायद वह विषकन्या हो, या कन्या पक्ष के लोगो ने वरात का सम्मान न किया हो, दहेज पर्याप्त न मिलने की सम्भावना हो। और एक निर्दोष कन्या को इस प्रकार परित्यक्ता की सज्ञा मिल जाने से शायद वह आत्महत्या तक भी कर वैठे, धैर्य खो कर पगली हो जाय, यह हानि क्या कम है? आप मुझ-सी निर्दोष कन्या की दुर्दशा पर तो विचारिए। एक वार प्रेम जुड जाने के वाद उसे तोड डालने से दूसरा

प्रेमीपात्र जो हो नही सकता। इस नुकसान की तो कोई कल्पना ही नही की जा सकती।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो नेमिनाथस्वामी इस जन्म मे राग-प्रेरित प्रेम करने मे सभल गए और राजीमती को भी मानो सावधान करना चाहते हो, इसलिए रागजनित प्रेमसम्बन्ध को तोड डाला। ताकि राजीमती के दिल से यह भ्रम निकल जाय कि 'नेमिनाथ भी सासारिक प्रेम करने वाले हैं।' और दिलदिमाग मे यह बात भी जम जाय कि मेरा उक्त भ्रम नष्ट हो गया और मैं आपके 'विश्ववात्सल्य' को समझ सकी हूँ। दुनियादारी के प्यार से तो ससारपरिभ्रमण का दु.ख सह कर मैंने अपना कितना नुकसान किया है। लेकिन नेमिनाथस्वामी द्वारा राजीमती का परित्याग करने से उसे फायदा यह होने वाला है, कि उसके अन्तश्चक्षु खुल जाते हैं। ॥८॥

फिर भी अभी मोह का पर्दा पूरी तौर से हटा नही है, इसलिए हताश राजीमती को जब तीर्थंकरो की परम्परा का पता चला कि स्वामी नेमिनाथ मेरी बात कुछ भी सुने बिना सीधे घर पर जाएगे और परोपकारबुद्धि से पूरे एक वर्ष तक लगातार प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान देंगे, तब वह अतीव नम्र हो कर मधुर ताना देती हैं—"नाथ ! आप जब एक वर्ष तक उदारतापूर्वक दान देंगे तो उससे सभी अर्थीजन यथेष्ट वाछित वस्तु प्राप्त कर लेंगे, खासतौर से आपके सभी सेवक तो अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ पा लेंगे। अत: वे सभी भाग्यशाली होगे, लेकिन अभागी रह गई एकमात्र आपकी यह सेविका, जिसने आठ-आठ जन्मो मे आपकी चरणसेवा की है, और इस जन्म मे करने को तैयार है। इस सेविका को अपना मनोवाछित प्रीतिदान आपकी ओर से नही मिलेगा, मुझे प्रीतिदान न मिलने का असन्तोष रहेगा ही और जगत् मे आपकी कीर्ति और दानवीर के रूप मे जो प्रसिद्धि है, उसमे आच आएगी कि और सब याचको को तो मनोवाछित पदार्थ दे दिया, लेकिन अपनी सेविका को यथेच्छ दान नही दिया। इसमे आपकी उदारता की कमी प्रतीत होगी। खैर, अब आपको ज्यादा क्या कहना है, आप यह भी कह सकेंगे कि इसमे मेरा क्या दोष है, लेने वाले के भाग्य (अन्तराय कर्म) का ही दोष है, मैं क्या करूँ ? इसलिए मैं अब आपको दोष न दे कर अपने कर्मों को ही दोष देती हूँ। मैं ही भाग्यहीन हूँ, कि मुझे मनोवाछित दान नही मिल

रहा है। परन्तु प्राणेश ! आप तो अपनी ओर से उदारता बताएँ, निराश न करें, इस सेविका को।

यहाँ राजीमती नेमिनाथ स्वामी पर दोषारोपण न करके पतिव्रतास्त्री की तरह स्वय अपने कर्मों का ही दोष मानती है। इससे कर्मसिद्धान्त का तत्त्वज्ञान राजीमती को हृदयगम हुआ परिलक्षित होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो आत्मा की अशुद्ध चेतना इस प्रकार से अपनी ओर खीचने का प्रयत्न करती ही है। राजीमती की आध्यात्मिक भूमिका की दृष्टि से नेमिनाथ के द्वारा विनति न स्वीकारने से उसे लाभ ही हुआ है। वार्षिक दान के समय भले ही भ० नेमिनाथ से उसकी इच्छा सन्तुष्ट न हुई हो, लेकिन परोक्षरूप से मोक्ष मे ले जाने वाले आत्मिक धन का दान राजीमती को अवश्य प्राप्त हो गया। इसीलिए आगे चल कर राजीमती के अन्तर से आशीर्वाद निकला—"नाथ ! आपकी सेवा का इतना महान् लाभ हो तो मैं आपकी सेविका होने मे अपने को धन्य मानती हूँ। सच्चे दानेश्वरी आप ही हैं, धन्य हो, आप सरीखे महादानी को !"

अब सबसे अन्तिम दाव और फैंकती है—'हे नेमिकुमार, नाथ ! आप की बरात गाजे-बाजे के साथ मेरे पिता के शहर की सीमा मे आ रही थी, तभी आपको देखने के लिए भेजी हुई मेरी सखी ने आपको देख कर आने के बाद मुझे कहा—"सखि ! नेमिकुमार तो रग से काले हैं। (उपलक्षण से कहूँ तो) वे कुलक्षणी भी मालूम होते हैं। उनसे सावधान रहना।" मैंने अपनी सखी को डाटते हुए बचाव करने की दृष्टि से कहा—"भले ही वे काले हो, इससे क्या ? काली चीजें बहुत गुणवाली भी होती हैं। तू भूल रही है। आपका सारा परिवार भी काला है। कृष्ण काले हैं, आप के रिश्तेदार भी काले है। किन्तु उनके आन्तरिक गुणो को देखते हुए वे उज्ज्वल हैं, सफेद हैं।" उस समय मेरी सखी ने कहा—"सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार तो ऊपर से काले दिखाई देने वाले मनुष्य प्राय अन्दर से भी काले सिद्ध हो सकते हैं।" उस समय तो मैं चुप हो गई। फिर भी आपके गुणो का स्मरण मुझे आपकी ओर खींच रहा था। इसलिए मैंने उसके कहने की ओर कोई ध्यान नही दिया। परन्तु कुछ ही समय बाद जब मुझे पता लगा कि नेमिकुमार तो तोरण के पास आ कर अपने रथ को वापिस लौटा ले गए हैं। मेरे किसी दोष के बिना आपने मेरे साथ प्रीति को तोड डाली, तब मुझे सखी का वह कथन याद आया।

मैं सोचने लगी कि इस समय के आपके लक्षणो को देखते हुए तथा आप मेरे प्रेम का जवाब नही देते, इसलिए मेरी सखी की जो धारणा थी, वह सच्ची साबित हुई। भले ही वह सामुद्रिकशास्त्र नही जानती थी, लेकिन उसकी शका पर से यह साबित हो गया कि आप जैसे ऊपर से काले हैं, वैसे लक्षणो से भी काले है। क्योकि काले आदमियो के काले काम होते हैं। आप स्वयं मेरे कथन के कारण पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे तो आप स्वयमेव मेरी सखी के कथन की सच्चाई को माने विना न रहेगे।"

वास्तव मे अध्यात्मदृष्टि से इस पर सोचा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि राजीमती की सखी झूठी थी, वह स्वय सच्ची थी। क्योकि वे तो १००८ उत्तम लक्षणो से सुशोभित, विश्ववन्द्य, जगत्पूज्य तीर्थंकर के उत्तम गुणो से युक्त हैं। राजीमती अपने आपको तीर्थंकर नेमिनाथ की आध्यात्मिक पथ की सहचरी होने के नाते धन्य मानती है।

अब अगली दो गाथाओ मे राजीमती व्यग्यात्मक भाषा मे नेमिनाथ के जीवन मे परस्पर विरोधाभास स्पष्ट प्रकट करती हैं—

रागीशु रागी सहु रे, वैरागी श्यो राग? मन०।
राग विना किम दाखवो रे मुगतिसुन्दरी माग; म० ॥११॥
एक गुह्य घटतु नथी रे, सघलो जाणे लोग, म०।
अनेकान्तिक भोगवो रे, ब्रह्मचारी गतरोग, म० ॥१२॥

अर्थ

राग वाले के साथ तो सभी रागी बन जाते हैं, मगर जो मनुष्य वैरागी हो, वह क्यों किसी के साथ राग करेगा? (आप अपने आपको वैरागी मानते हो;) परन्तु अगर राग नहीं है, तो आप (अपने भक्तो को) मुक्तिसुन्दरी (को पाने) का मार्ग कैसे बताते हो? दूसरो को मार्ग बता कर तो आप स्वयं उसके प्रति राग रखते मालूम होते है।"॥११॥ हे नाथ! आपकी एक गुप्त बात सगति नहीं लगती। उसे सारी दुनिया जानती है। वह यह कि आप अनेकान्त-बुद्धि-रूपी नारी का उपभोग करते हैं, जबकि आप रोगरहित बाल-ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

भाष्य

राजीमती द्वारा श्रीनेमिनाथ के जीवन मे विरोधाभास का करारा व्यंग्य

इन दोनो गाथाओ मे राजीमती ने श्रीनेमिनाथजी के प्रति अनहोना आक्षेप लगा कर उनके साथ उपहासात्मक व्यग्य किया है—'प्राणेश्वर ! कदाचित् आपके मन मे यह बात हो कि मैं (आप) तो वैरागी हू, जबकि राजीमती तो स्त्रीस्वभावशाली और रागी है। राग (प्रेम) वाले के साथ ससार मे सभी राग (प्रेम) करते हैं, परन्तु वैरागी के साथ प्रेम (राग) कैसे सभव हो सकता है ? अथवा रागी के साथ वैरागी का प्रेम कैसे सम्भव है ?'' यो कह कर आप अपने को वैरागी ठहरा कर मेरे साथ प्रेम (राग) करने के मार्ग से छिटक रहे हो और अपने साथ प्रेम (राग) करने से रोक रहे हो तो आपकी बात नही मानी जा सकती; क्योकि अगर आप सच्चे माने मे वैरागी हो तो आप अपने भक्तो पर राग (प्रेम) क्यो रखते हैं ? इसी कारण तो उन्हे आप मुक्तिपथ का उपदेश देते हैं। मुक्तिसुन्दरी के पास जाने का मार्ग बताते है। इतना ही नही, आप मेरे साथ का राग (प्रेम) छोड कर मुक्तिरूपी शिवसुन्दरी के प्रति प्रीति (राग) रखते ही हैं, इसलिए आप भी रागी है। अगर आपको मुक्तिसुन्दरी से प्रेम (राग) करना हो तो मेरे साथ भी करिए। मैंने क्या गुनाह किया है ? बल्कि मेरे साथ तो आपका आठ जन्मो तक लगातार राग (प्रेम) रहा है ! अतः जगत् के न्यायानुसार पहले आप मेरे साथ विवाह करके फिर मुक्तिसुन्दरी के साथ प्रीति जोडिए। क्योकि मैं आपकी ही हूँ, आपके साथ मेरा पूर्ण अनुराग है।

अध्यात्मिक दृष्टि से इस गाथा का इससे बिलकुल उलटा अर्थ घटित होता है। राजीमती (बाह्यचित्तवृत्ति) सासारिक राग वाली है और नेमिनाथप्रभु सासारिक रागरहित है। इसलिए प्रभु के और राजनीती के बीच अब दुनियादारी का प्रेम जम नही सकता। दुनिया की दृष्टि से मुक्ति के रागी है, इसलिए दुनिया से विरक्त (वैरागी) हैं। इसीलिए राजीमतीरूपी सासारिक स्त्री के प्रति विराग और मुक्ति के प्रति राग, यह परमात्मा की वीतरागता सिद्ध करता है।

फिर राजीमती श्रीनेमिनाथ को उनके जीवन का एक और विरोधाभास बताती है—'देखिये, राजकुमार ! आपके प्रत्येक कार्य को सब ज्ञानी लोग

जानते हैं। आपका एक भी कार्य गुप्त नही, जिसे लोग न जानते हो। फिर भी एक बात गुप्त है, वह यह कि आप अनेकान्तदृष्टि (बुद्धिरूपी) स्त्री का सेवन (भोग) प्रतिक्षण करते हैं, फिर भी आप बालब्रह्मचारी कहलाते हैं, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। फिर ताज्जुब यह है कि स्याद्वादबुद्धि-स्त्री के भोगी होते भी आपको कोई रोग नही लगा। अन्यथा 'भोगे रोगभयम्' इस नीतिवाक्य के अनुसार आपको रोग होना चाहिए। अथवा अनेकान्तिक न्यायशास्त्रप्रसिद्ध व्यभिचारी दोष का पर्यायवाची है। इसलिए आप ब्रह्मचारी हुए भी व्यभिचार (हेत्वाभास) दोष का सेवन (भोग) करते हैं। इस प्रकार आपके जीवन मे परस्पर विरोधाभास है। हेत्वाभास के ५ भेद हेतु के ५ दोष के रूप मे माने जाते है—असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, व्यभिचार=अनेकान्तिक और बाध। यहाँ ५ मे से चौथा दोष है।

परन्तु दूसरी तरह से अर्थ करने पर यह विरोधाभास दूर हो जाता है जैसे—अनेकान्तिक का अर्थ जैसे अनेकान्तमतिस्त्री किया है, वैसे अनेकान्तवाद का विश्वप्रसिद्ध रूप मे प्रतिपादन करने वाले है, इस अर्थ के अनुसार अनेकान्त मे अनेकान्त=व्यभिचार नामक दोष नही है। इस प्रकार अनेकान्तिक का अर्थ जब अनेकान्तवादी करते हैं तो वह अनेकान्तिक (व्यभिचारी) अर्थ मे हेत्वाभास नही हो सकता। इसलिए भगवान् के बालब्रह्मचारित्व और रोगरहितत्व मे कोई दोष घटित नही होता।

अब राजीमती श्रीनेमिनाथस्वामी को आकृष्ट करने और अपने बनाने मे जब सब तरह से निराश हो गई तो अन्तिम दाव और फेंकती है—

जिण जोणी तुमने जोऊं रे, तिण जोणी जुओ राज; मन०।
एक वार मुझ ने जुओ रे, तो सीझे मुझ काज; मन०॥१३।

अर्थ

हे नाथ! जिस दृष्टि से मैं आपको देखती हूँ, उसी दृष्टि से, हे राजकुमार! आप मुझे देखिए। सिर्फ एक बार ही आप मुझे देख लें तो मेरे सर्व कार्य सिद्ध हो जांय।

भाष्य

राजीमती का अन्तिम दाव : देखने की प्रार्थना

राजीमती अभी मोहबुद्धि मे जकडी हुई है, और वह अपने स्वामी श्रीनेमिनाथ को अपनी ओर खीचना चाहती है। सारी आशाएँ निष्फल हो जाने, सारे प्रयत्नो पर पानी फिर जाने के बाद वह अपना अन्तिम दाव फैंकती है—हे नेमिराज ! मुझे लगता है कि आपने मुझे पहले कभी देखी नही है। इसी कारण मेरे और आपके बीच मे दृष्टिभेद की खाई पड गई है। अत: मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि एक बार आप मुझे उसी देखने की पद्धति से जी भरकर देख लें, जिस पद्धति से मैं आपको देखती हू। मेरी आपके प्रति प्रेमभरी (रागयुक्त=सराग) दृष्टि है, उसी रागदृष्टि से आप मुझे एक बार देख लें तो मेरा विश्वास है कि आपको सतोष होगा, आपका दिल बदल जायगा, मेरे प्रति जो पूर्वाग्रह आपके मन मे है, वह समाप्त हो जायगा। इसलिए मेरी और प्रार्थनाएँ आपने ठुकरा दी तो कोई बात नही, अब इस अन्तिम छोटी-सी प्रार्थना को स्वीकार कीजिए और एक बार-सिर्फ एक ही बार मुझे अपनी नजर से जी-भर कर देख लीजिए। मैं निहाल हो जाऊ गी। इतने से ही मेरे समस्त मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। मेरे रागभरे हृदय मे अभी तक जो तडफन हैं, वह आपके द्वारा देखने भर से शान्त हो जायगी।" राजीमती को अपने पर इतना भरोसा है कि अगर नेमिकुमार एक बार मुझे जी-भर कर देख लेंगे, तो फिर मुझ में उनको बाधने की कला है, फिर वे कही छटक नही सकेंगे।' परन्तु नेमिनाथ स्वामी इस बात को भलीभांति समझते हैं कि एक बार राजीमती पर रागदृष्टि से नजर करने का नतीजा क्या आएगा ? इसलिए वे ऐसी उलझन मे स्वय किसी भी मूल्य पर पडते नही।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो एक बार नेमिनाथ स्वामी अगर राजीमती के कहे अनुसार रागदृष्टि से उसे देख लें तो उनकी वीतरागता ही समाप्त हो जाय ! इसलिए आध्यात्मिक साधक इस प्रकार की मोहदशाप्रेरित बाह्यचित्तवृत्ति की प्रार्थना कदापि स्वीकार नही कर सकता। राजीमती भी इस बात को समझ जाती है, फिर भी वह इस बहाने से श्रीनेमिनाथ की वीतराग की भावना की कसौटी कर लेती है, जिस पर वे पूरे खरे उतरते हैं।

भाष्य

निष्फलता के बाद राजीमती का मथन

इतना सब कुछ करने के बावजूद भी जब राजीमती को सफलता नही मिलती है, तो उसके मन मे अन्तर्मथन होता है कि स्वामी नेमिनाथ मेरी भावना को जरूर समझते हैं, फिर भी वे मेरे मन का समाधान क्यो नही करते? कोई न कोई कारण अवश्य है, जिसे मैं समझ नही पा रही हूं। मैं पतिव्रता स्त्री अपने आपको मानती हूँ, तो पति जिस रास्ते से जा रहे हैं, उस रास्ते मे मुझे बाधक नही बनना चाहिए, प्रत्युत उनके पदचिन्हो पर चल कर मुझे उनके काम मे सहयोग देना चाहिए। अत. वह मोहदशा हटा कर तत्त्वदृष्टि से विचार करके अपने उद्गार प्रगट करती है—

मोहदशा धरी भावना रे चित्त लहे तत्त्वविचार; मन०।
वीतरागता आदरी रे, प्राणनाथ निरधार; मन०॥१४॥
सेवक पण ते आदरे, तो रहे सेवक-माम[1]; मन०।
आशय साथे चालिए रे, एहीज रुडु काम; मन० ॥१५॥
त्रिविध योग धरी आदर्यो रे, नेमिनाथ भरतार; मन० ।
धारण-पोषण-तारणो रे, नवरस मुक्ताहार; मन० ॥१६॥

अर्थ

मोहग्रस्त दशा धारण करके मैंने अब तक वैसी स्नेहराग की भावना (विचारणा) ही की। परन्तु अब तत्वज्ञान का विचार आया है कि स्वामीनाथ ने वीतरागता (रागद्वेषरहित अवस्था) अपना ली है, (इसलिए) प्राणनाथ के जैसी अवस्था (वीतरागता) धारण करना निश्चय ही आवश्यक है ॥१४॥

आपका जो सेवक (मैं) हो, वह भी उसे (स्वामी की तरह वीतरागता) अपनाए, तभी सेवक की मानमर्यादा (इज्जत) रह सकती है। अत जिनकी सेवा करनी है, उनके आशय (हृदयगत भावना) के साथ ही चलना चाहिए। सेवक (मुझ सेविका) के लिए यही अच्छा काम है ॥१५॥

अत. राजीमती ने भी त्रिविध योग (मन-वचन-काया के योगो से योग= साधुत्व अथवा इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग या योगावचकयोग,

---

१ 'माम' के बदले कही-कही 'मान' शब्द भी है।

क्रियावञ्चकयोग, फलावञ्चकयोग) को धारण करके नेमिनाथ (वीतराग परमात्मा या शुद्ध आत्मदेव) को सच्चे माने मे पति (स्वामी) के रूप मे स्वीकार कर लिया। मन में यह निश्चय कर लिया कि ये ही मेरे धारण (आत्मगुणों को टिकाए रखने) पोषण (आत्मगुणों को पुष्ट करने) तथा तारण (संसारसमुद्र से आत्मा को तारने (वाले हैं)। ये ही मेरे नवरसरूप अथवा नवसेरा मौक्तिक हार-सम हैं। यो राजीमती ने मान लिया।

भाष्य

राजमती का मोहदशात्याग

इससे पूर्व महासती राजमती की इतनी अभ्यर्थना के वाद भी जव श्रीनेमिनाथ प्रभु वापिस न लौटे, तब राजीमती को वास्तविकता का भान हो जाता है। अव तक वह रथ वापिस लौटाने की वात कर रही थी, उसके वदले अव भावना करती है। उसके अन्तर मे परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की ओर से अन्त स्फुरणा होती है—"राजीमती! मोहनीयकर्मवश पराधीन वन कर तू यह क्या कर रही है? किसको उपालम्भ दे रही है, ताने मार रही है, व्यग कस रही है? प्रभु नेमीश्वर तो पूर्ण वैराग्यवान वन चुके हैं। उनका निश्चय अटल है। वे वीतरागता को अपना चुके हैं। तेरे शब्द, तेरा मोहक वाह्य भौतिक रूप-सौन्दर्य और तेरे मोहभरे वाक्यवाण उन पर अव कोई असर नहीं कर सकते। वे अव सर्वात्मभूत वन गए हैं। ये तेरे-से या तेरे सरीखे न वन सके, इसके पीछे यही रहस्य है। अव तू यदि उनकी सच्ची सेविका—प्रेमिका है तो तुझे उनके जैसी वनना पडेगा। तेरे आठ जन्मो के प्रेम की अव इस जन्म मे सच्ची कसौटी प्रभु कर रहे हैं। अत तू अपने प्राणनाथ भगवान् नेमिनाथ की तरह ही वीतरागभाव को धारण कर।" राजीमती के हृदय मे तीव्र मन्थन हो चुका और उसने मोहदशा छोड दी, नेमिनाथ की वीतरागता को वह आरपार देखती है। वह एकत्वभावना पर चढ कर सोचती है—'अव तक तो मैं मोहदशा धारण करके सोचती थी, परन्तु अव मेरा मन असली वस्तु-स्थिति को जान सका है कि 'प्राणनाथ! आपने दृढतापूर्वक वीतरागता अपना ली है। पहले आपकी सव वातें मुझे उलटी लगती थी, लेकिन अव सारी वाते सगत जान पडती हैं। पहले मैं मोह के कारण सांसारिक दृष्टि से आपके जीवन की घटनाओ का तालमेल विठाती थी, इसका कारण सव विपरीत

प्रतीत होता था, लेकिन अब सभी बातें भलीभाँति दिमाग मे जम गई हैं। मेरे चित्त मे अब आपका तत्त्वविचार जाग्रत हो चुका है। आप अपनी भूमिका मे जो कर रहे हैं, वह बिलकुल ठीक है।

इस प्रकार पक्का निश्चय कर लिया कि प्राणनाथ ने जब वीतरागता का मार्ग अपना लिया, तो मैं उनकी पतिव्रता स्त्री तभी कहला सकती हूं, जब उनके मार्ग का अनुसरण करू। प्राणनाथ ने तो वीतराग द्वारा अपनाने योग्य मार्ग ही अपनाया है। मुझे भी उनके मार्ग पर ही चलना चाहिए।" इस प्रकार वह नेमिनाथ स्वामी के वीतरागता के मार्ग को समझ कर अपनाती है। स्वय उस रास्ते पर चलने का निश्चय करती है। वह नेमिनाथ को छोड़ कर दूसरे के साथ शादी करने का विचार नही करती। वह यो नही सोचती कि मेरी तो केवल सगाई ही हुई है, अत नेमिनाथ नही चाहते तो दूसरा वर पसद कर लूं। वह अपने आपको वाग्दत्ता मानती है और नेमिनाथ स्वामी द्वारा गृहीत मार्ग को ही अपने लिए ठीक समझ कर अपनाती है। इस निर्णय में राजीमती की सहज सरलता और कृतनिश्चयता है। राजकुमारी होते हुए भी भौतिक विवाह के बदले नेमिनाथ के आत्मिक विचारो को अपना कर सर्वत्याग के मार्ग पर जाने का निश्चय कर चुकी, यह उसके निर्णय की भव्यता है।

ज्यो-ज्यो राजीमती आत्मा की आवाज सुनती गई, त्यो-त्यो वह एकत्व-भावना मे तल्लीन हो कर गहरी उतरती गई—'यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जाएगा, कोई किसी के साथ नही जाता। भगवान् ने जो मार्ग लिया है, वह वीतराग के लिए उचित व शोभास्पद है। वही मेरे लिए अनुकरणीय है। क्योकि मैं प्रभु की सेविका—अनुचरी हू। मेरे प्राणेश्वर श्रीनेमिनाथ की प्रेमिका हूँ। आठ-आठ जन्मो का हम दोनो का पुराना प्रेम है। परन्तु मेरे और उनके दर्जे मे जो अन्तर है, उस पर मैंने विचार नही किया। मेरे भौतिक मोहनीय भावो ने मुझे ऐसा सोचने भी नही दिया। सचमुच मोह का कितना जबर्दस्त कुप्रभाव है! सत्यस्वरूप को छिपा कर यह दुष्ट मोह असत्स्वरूप को ही समक्ष प्रस्तुत करता है। हाँ, मुझे याद आ गया, मैं तो इन प्राणनाथ की जन्म-जन्मान्तर से सेविका रही हूँ। स्वामी की इच्छा ही मेरी इच्छा रही है। पूर्वजन्मो मे भी मैं स्वामी की इच्छा के अधीन थी। और

फिर सेवक का धर्म भी यही है कि स्वामी की इच्छा मे ही अपनी इच्छा को मिला देना। सेवक को स्वामी की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। इसी से सेवक की प्रतिष्ठा बढती है। स्वामी के अभिप्राय के अनुसार चलना ही सेवक का सत्कर्तव्य है। मेरे स्वामी जब अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत और वीतरागभाव धारण कर चुके हैं, तब मुझे भी इनसे विरुद्ध नही जाना चाहिए। मुझे सच्चे माने मे इन्हे वररूप मे स्वीकार करना हो तो इनके भौतिक शरीर को नहीं, अपितु इनके वीतरागभाव— शुद्धात्मभाव का वरण करना चाहिए। आत्मा के साथ आत्मा का ऐक्य ही वास्तव मे लग्न है, विवाह है, पाणिग्रहण है और यही अब मेरे लिए सर्वोत्तम कार्य है। जब मैंने अपने आपको इनकी सेविका रूप मे निश्चित कर लिया है, तब स्वामी द्वारा स्वीकृत वीतरागता का स्वीकार करना ही मेरे लिए इष्ट कर्तव्य है। इसके सिवाय अब मेरे लिए अन्य कोई मार्ग ही नही है।

अब श्रीनेमिनाथ भगवान् को पति के रूप मे अपनाने के लिए राजीमती के मन-वचन-काया के (योग) शुद्धप्रणिधानपूर्वक, अथवा इच्छादि तीन योगो में श्रीनेमिनाथ प्रभु का सच्चे माने मे स्वामी के रूप मे आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया है। अर्थात् जैसे नेमिनाथप्रभु ने त्रिकरण-त्रियोग से साधुता एव मन-वचन-काया मे वीतरागता धारण की है, वैसे ही राजीमती ने भी त्रिकरण योग से या त्रियोग से साधुता एव वीतरागता का स्वीकार करके उन (नेमिनाथ प्रभु) की आराधना शुरू कर दी। राजीमती ने दृढ विश्वास कर लिया कि मेरे आराध्य (ध्येय) वीतरागदेव ही मेरे आत्मगुणो का धारण, पोषण करने एव आत्मा को ससारसागर से पार उतारने वाले है। मुझे भी इन्हीं गुणो को धारण करना चाहिए। अथवा ज्ञानदशा से प्रभु धारणकर्ता हैं, भक्तिदशा से पोषणकर्ता हैं तथा वैराग्यदशा से तारणकर्ता हैं।

जैसे मोतियो का हार हृदय पर धारण करने पर आनन्द और शोभा देता है,वैसे ही राजीमती ने नेमिनाथ भर्त्ता (पति) को तीन योगो से हृदय मे आदर-पूर्वक धारण कर लिया। उसने हृदय मे निश्चय कर लिया कि स्वामी के हाथ से ही दीक्षा प्राप्त करने से मेरा योगावचक योग सफल हुआ, स्वामी की आज्ञा-नुसार दीक्षा (साधुता) का यथार्थ पालन करने से मेरा क्रियावचकयोग सफल हुआ और स्वामी से पहले ही मोक्ष मे जाना सभव होने से मेरा फलावचक

योग भी सफल होगा। अथवा प्रभु नेमिनाथ नवरसरूपी मुक्ताहार के समान हैं। भगवान् के सान्निध्य से नौ ही रसों का अपूर्व संगम मिलता है, नौ रस ये हैं—शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। विरक्त एवं वीतराग के लिए ये नौ रस शान्तरस में परिणत हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि राजीमती ने सर्वविरत साधुधर्म का अंगीकार करके वीतराग परमात्मा नेमिनाथ को सांगोपांगरूप से सर्वतोभावेन हृदय में धारण कर लिया।

आत्मार्थी एवं मुमुक्षु की आत्मा के लिए भी बाह्यचित्तवृत्ति का त्याग करके अन्तर्मुखी बन कर परमात्मा वीतराग के पथ का अनुसरण करना और वीतरागता प्राप्त करना अभीष्ट है, यही मार्ग उपादेय है।

अब श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

[1]करुणारूपी प्रभु भज्यो रे, गण्यो न काज-अकाज, मन०।
कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन-पद-राज; मन० ॥१७॥

अर्थ

राजीमती प्रभु से अन्तिम प्रार्थना करते हुए कहती है—"करुणारूप (दयामय) प्रभु श्रीनेमिनाथ की मैंने भक्ति=आराधना (ध्यानपूर्वक) की है। मैंने ऐसा करने में कार्य (कर्तव्य) अकार्य (अकर्तव्य) का विचार नहीं किया। अतः दया करके मुझे आप आनन्द के समूह प्रभु का राज्य (मुक्तिधाम) दीजिए।

भाष्य

राजीमती (शुद्ध आत्मा) की प्रभु से अन्तिम प्रार्थना

महासती राजीमती शुद्धभाव में आ कर अन्तरात्मा के बोध के कारण परमात्मा श्री नेमिनाथ से प्रार्थना करती हुई कहती हैं—"मेरे आत्मज्ञान के प्रबोधक परमात्मन्! मैंने अब आपको पूर्णरूप से परख लिया है। आप करुणा के सागर हैं, क्योंकि आपने लोकव्यवहार और लोगों की जरा भी परवाह नहीं की, और अन्तःकरण से मूक पशुओं पर दया करके तत्काल संसारमात्र

---

१. किसी किसी प्रति में 'करुणारूपी' के बदले 'कारणरूपी' शब्द है, वहाँ अर्थ होता है, मैंने प्रबल निमित्तकारणरूप परमात्मा का सेवन किया है।

का त्याग कर दिया, इसी घटना को ले कर आप मेरे प्रबल निमित्त कारण बने, मेरे उपादान को शुद्ध बनाने मे, उसे जगाने मे आप ही प्रबल कारण बने है। मुझे शुद्ध-आत्मस्वरूप को प्राप्त कराने मे आप निमित्तरूप बने। जब सत्यस्वरूप का दाता वास्तविक निमित्त बन जाता है, तब उसकी हृदय से भक्ति-सेवा करनी चाहिए। इसलिए मैं कार्य-अकर्म या सफलता-निष्फलता का विचार किये बिना ही पूरी शक्ति लगा कर आपको प्रबलनिमित्तरूप मान कर आपकी सेवा करने मे जुट गई हूँ। आपके चरणो की सेवा कर रही हूँ। अत हे करुणासागर! अब आप मुझे सच्चिदानन्दघनरूप मोक्षपद का साम्राज्य दीजिए।

ध्याता राजीमती अपने उपादान को शुद्ध और सर्वोच्च पदारूढ करने के लिए प्रबलनिमित्तरूप परमात्मा (नेमिनाथ प्रभु) को ध्येय मान कर एकाग्रतापूर्वक उन्ही के ध्यान मे तल्लीन हो गई। एकाग्र ध्यान के परिणामस्वरूप उसने प्रभु से पहले मोक्षगमन किया।

इसी तरह मुमुक्षु ध्याता भी ध्येयनिष्ठ बने

महात्मा आनन्दघनजी कहते है कि जिस तरह सती राजमती ने मोहभाव से एकदम पलटा खा कर वीतराग परमात्मा के मार्ग का अनुसरण किया, कामभावना से देखने वाली राजीमती आत्मदृष्टि मे स्थिर होकर भव्यातिभव्य आत्मा के रूप मे अमर हो गई। भगवान् नेमिनाथ का एकनिष्ठापूर्वक ध्यान करते-करते वह ध्येयरूप=आत्मरूप तदाकार बन गई। जैसे राजीमती मे एक स्वामिनिष्ठा और वाग्दत्ता का स्वत्व था, और उसी के फलस्वरूप वह नेमिनाथ प्रभु से ५४ दिन पहले मोक्षपद को प्राप्त कर चुकी। इसी तरह मैं (मुमुक्षु साधक) भी दयानिधि नेमिनाथ प्रभु का एकनिष्ठा या एकस्वामिनिष्ठा से ध्यान करता हूँ, उनके मार्ग का अनुसरण करता हू और राजीमती की तरह कार्य-अकार्य की परवाह किये बिना मैं भी उनका सेवन करता हू। इसलिए मुझे और सब साधको को भी राजीमती की तरह आनन्द के समूहरूप मोक्षपद का राज्य प्रदान करें।

साराश

इस समग्र स्तुति मे राजीमती के जीवन में परमात्मप्रीति के तीन मोड आते है, पहले मोड मे वह सासारिक मोहदशा से प्रेरित हो कर घर पर

पधारने और रथ को वापिस मोडने के लिए विभिन्न वक्रोक्तियो, युक्तियो, प्रयुक्तियों, हेतुओ, व्यंग्यो, आदि का प्रयोग करती है, वैरागी नेमिनाथ को अपनी ओर खींचने के लिए। परन्तु उसमे सफलता नही मिलती है तो वह सीधे उनकी वीतरागता और ब्रह्मचर्य पर आक्षेप करती है, लेकिन नेमिनाथ की अपने ध्येय मे अटलदशा (आत्मनिष्ठा) देख कर वह हताश हो कर आत्म-मन्थन करती है, जिसके फलस्वरूप उसके मोह का पर्दा दूर हो जाता है, वह नेमिनाथप्रभु के वीतरागता एव साधना के मार्ग का अनुसरण करती है और एकनिष्ठ ध्यान से ध्येयाकार हो जाती है। अन्त मे ध्याता के लिए राजीमती की तरह एक स्वामित्वनिष्ठा से ध्येय का ध्यान करना आवश्यक बताया है, जिसका सकेत श्रीआनन्दघनजी ने अन्तिम गाथा मे किया है। इस सम्पूर्ण स्तुति का उद्देश्य और सार है—सच्ची एकनिष्ठा, ध्येय के प्रति ध्याता की एकाग्रता।

२३ : श्रीपार्श्वनाथ-जिन-स्तवन—

आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना

(तर्ज—राग सारंग, रसियानी देशी)

ध्रुवपदरामी हो स्वामी माहरा, निकामी गुणराय, सुज्ञानी।
निजगुणकामी हो पामी तु धणी, ध्रुव आरामी हो थाय, सुज्ञानी ॥१॥

अर्थ

हे पार्श्वनाथ भागवन्! आप हमारे स्वामी हैं। आप ध्रुव (अचल) पद (आत्मपद या मोक्षस्थान) मे सतत रमण करने वाले हैं। आप निष्काम (कामना या काम से रहित) हैं, गुणों (शुद्ध आत्मा के दर्शन, ज्ञान, वीर्य=शक्ति और सुख आदि अनन्त गुणो) से विराजित=सुशोभित हैं। या गुणो के राजा हैं। आप निज (आत्मा के) गुणो=ज्ञानादि गुणो के ही इच्छुक हैं या ज्ञानादि गुणो से कमनीय हैं। अथवा मैं निजगुणकामी आप जैसे को स्वामी (पति =अन्तर्यामी) बनाने वाले या आपको पा कर सुज्ञानी=भव्यजीव आपके समान ध्रुवपद (अचल स्थान) पाते हैं अथवा अचल पद मे आरामी=(आराम करते) हैं अथवा आत्मा के अनन्त गुणों में रमण करने वाले बनते हैं।

भाष्य

सर्वोच्च आत्मिक गुणो के पुंज परमात्मा

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी आत्मा के सर्वोत्तम गुणो को परमात्मा मे बता कर परमात्मा के उपासक को आत्मा के सर्वोच्च गुणो की आराधना के लिए प्रेरित कर रहे हैं। परमात्मा का नाम पार्श्वनाथ है। पार्श्वमणि, एक प्रकार का स्पर्शमणि होता है। जिसके साथ लोहे का स्पर्श होते ही वह सोना बन जाता है। इसी प्रकार शुद्ध और सर्वोच्च आत्मगुणो का परमात्मा से स्पर्श होते ही वह व्यक्ति भी परमात्मा बन जाता है। आत्मगुण शुद्ध होने चाहिए, अन्यथा अगर वे पूर्ण विकसित न हो, उन गुणो मे कुछ दोषो का पुट हो तो मलिनता के कारण परमात्मारूपी पारस से उन मलिनतायुक्त आत्मगुणो का स्पर्श होने पर भी वह व्यक्ति शुद्ध स्वर्णसम परमात्मा नही बन सकेगा।

इन्ही सब कारणकलापो को ले कर वीतराग-परमात्मा बनने के लिए शुद्ध आत्मगुणो का अपने मे विकास करके प्रभु पार्श्वनाथरूपी पारसमणि के साथ स्पर्श कराना होगा।

परमात्मा किन-किन सर्वोच्च आत्मगुणो से ओतप्रोत हैं? इसे क्रमशः बताते हैं। सर्वप्रथम उनके लिए कहा गया है--**ध्रुवपदरामी**--यानी वीतराग पार्श्वपरमात्मा ध्रुवपद यानी निश्चल आत्मपद अथा शैलेशीकरणरूप आत्मा की सर्वथा निश्चलस्थिति प्राप्त होने के बाद मोक्षपद मे आप सतत रमण करने वाले हैं। **स्वामी माहरा**--आप मेरे स्वामी हैं। जब कोई प्रभु को अपना स्वामी बनाता है, तब स्वाभाविक ही वह सेवक बन गया। सेवक को अपने सेव्य (स्वामी) की सेवा मे तैनात रहना चाहिए। इससे काव्यरचयिता ने अपनी नम्रता भी आत्मगुणो की सेवा मे सतत जागृत रहने की बात से सूचित कर दी है। जो आत्म गुणो को प्रगट करना चाहते हैं, वे आपको अपना स्वामी बना कर मोक्षरूप शाश्वतस्थान मे आराम (शान्ति) पाने वाले बन जाते हैं। आप निःकामी हैं। आपको किसी वस्तु या प्राणी से किसी प्रकार की कामना नही है। फिर भी आपका सम्पर्क भव्यजीवो एव आत्मार्थियो को अपने समान बना देता है। आप ज्ञानादि अचिन्त्य अनेक गुणो के राजा है। गुणो का राजा वही हो सकता है, जो उन गुणो पर अपना आधिपत्य रखता हो। आपका आधिपत्य ज्ञानादिगुणो पर है। इसलिए कहा गया—'**गुणराय**'

परमात्मा की आराधना : गुणो की आराधना से

प्रश्न होता है, उपर्युक्त पक्तियों मे परमात्मा के सर्वोच्च गुणो का वर्णन किया गया, उससे क्या लाभ? कोरा गुणगान करने मे अपना समय और शक्ति क्यो लगाई जाय? इसी के उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी ने कहा है—"**निज-गुणकामी हो, पामी तु धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानि।**" अर्थात् जो साधक अपने गुणो का विकास करने के इच्छुक हैं। वे आप जैसे गुणो के सर्वोच्च शिखर को पा कर या आप सरीखे गुणरूपी पारसमणि (धनी) का स्पर्श पा कर शाश्वतरूप से आत्मा मे रमण करने वाले या शाश्वतशान्ति के उपभोक्ता बन जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि पार्श्वनाथस्वामी जैसे सर्वोच्च गुणसम्पन्न वीतराग को तो अपने गुणगान या अपनी प्रशसा से कोई मतलब नही

है, वे तो परमसमभावी है, परन्तु जो साधक आदर्श गुणी बनना चाहता है, उसके लिए सर्वोच्च गुणो का आदर्श (Model) सामने होना चाहिए। ताकि आदर्श को देख कर स्वय भी अपने जीवन को आत्मगुणो से सजा सके, अथवा आप जैसे गुणरूपी पारसमणि के धनी का स्पर्श करके या आपका ध्यान, जप, गुणगान आदि करके अपने जीवन को गुणरूपी स्वर्ण से जटित कर सके। अगर साधक आपके गुणो का क्रमश स्मरण करता है, उन गुणो को प्राप्त करने का उपाय, उन गुणो की प्राप्ति के मार्ग में आने वाले विघ्न, उन गुणो की स्थिरता का मापदण्ड आदि पर सतत तलस्पर्शी चिंतन करता है और तदनुसार अपने जीवन को ढालता है तो नि सन्देह एक दिन वह भी आत्मगुणो के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। साधक को परमात्मा मे निहित सर्वोच्च गुणो पर इस प्रकार चिन्तन-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, जप, गुणगान आदि करने से जब वे सर्वोच्च हस्तगत हो जाते हैं तो उसके बार-बार ससार मे जन्म-मरण का दु ख, साथ ही गुणो के अधूरे विकास के कारण राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रबल दुर्गुणो का सामना करने मे हार खानी पड़ती थी, हर बार उनका गुलाम बनना पड़ता था, अपनी दुर्बलताओ के कारण उन दुर्गुणो का शिकार बन जाता था, किन्तु उन सर्वोच्च गुणो पर आधिपत्य प्राप्त हो जाने पर ये सब दु ख, द्वन्द्व, व्यथाएँ, बाधाएँ और पीड़ाएँ काफूर हो जाती हैं, साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, गुणो में परमात्मा के समान बन जाता है तो परमात्मा के साथ वह निकटता स्थापित कर लेता है, जो उनका स्थान है, वही शाश्वत शान्ति का धाम उसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिए योगीश्री के अन्तर से स्वर फूट पड़ा—'**निजगुणकामी हो, पामी तुं धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानी।**' वह ध्रुव-आरामी बन जाता है, सदा के लिए जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक, शारीरिक-मानसिक सताप आदि सभी झझटो से वह बच जाता है, सदा के लिए आराम पा जाता है, अपनी आत्मा मे ही रमण का अनन्त ध्रुव आनन्द उसे मिल जाता है। यह कितना बड़ा लाभ है, वीतराग पार्श्वनाथ के गुणानुवाद से सर्वोच्च गुणो की उपलब्धि का। श्री आनन्दघनजी ने इसी उद्देश्य से पार्श्वनाथ-जिनस्तुति मे इन सूत्रो को ग्रथित किया है।

अगली गाथाओ मे परमात्मा मे सबमे मुख्य गुण—जिसे गुणशिरोमणि या गुण पारसमणि कहा जा सकता है, जिसके स्पर्श से सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त हो सकती है, उस ज्ञानगुण के विषय मे कहते हैं—

सर्वव्यापी कहे सर्वजाणगपणे, परपरिणमनस्वरूप, सुज्ञानी !
पररूपे करी तत्त्वपणु नहीं, स्वसत्ताचिद्‌रूप, सुज्ञानी ! । ध्रु०॥२॥

अर्थ

हे स्वामी ! आपको (परमात्मा के दूसरे दर्शन या धर्म वालो की ईश्वरीय मान्यता की तरह) लोग सर्वव्यापी (सर्वपदार्थो मे सर्वत्र व्यापक) कहें तो समस्त चराचर के ज्ञाता के रूप मे आप सर्वव्यापी हैं, लेकिन सर्वपदार्थों मे व्याप्त मानें तो आप परपरिणमन रूप हो जायेंगे। अगर आप (शुद्ध चेतन) परपदार्थरूप बन जायेंगे तो आपका वस्तुतत्त्वरूप (चेतनत्व) नहीं रहेगा। अत. तत्वत आप सर्वव्यापी नहीं हैं क्योकि आपकी सत्ता चित्स्वरूप है।

भाष्य

परमात्मा की सर्वव्यापकता क्या, किस गुण से, और कैसे ?

पूर्वगाथा मे प्रभु के सर्वोच्च गुण और उनकी आराधना का परम लाभ बताया गया था, अब इस गाथा मे पारसमणिरूप ज्ञानगुण और उसके कारण उनकी सर्वव्यापकता के सम्बन्ध मे गम्भीर चर्चा की गई है। सर्वप्रथम हम ज्ञानगुण के महत्त्व के सम्बन्ध मे समझ लें। दूसरे द्रव्यो से आत्मा को अलग करना हो तो ज्ञानगुण को ही लेना पडेगा, ज्ञान ही एक ऐसा गुण है, जो आत्मा को अन्य द्रव्यो से पृथक् करता है। ज्ञान-गुण प्रत्येक ज्ञेयपदार्थ के साथ जुड कर प्रत्येक ज्ञेय को जानता है, ज्ञात हुए को दूसरो को ज्ञात करा कर उन्हे भी सर्वज्ञाता बना डालता है। अगर आत्मा मे ज्ञानगुण न होता तो जगत् मे कौन-कौन-से द्रव्य हैं ? कौन-कौन से तत्त्व है ? कौन-से पदार्थ है ? उनका क्या-क्या स्वरूप है ? यह किस तरह से है ? कैसे है ? कौन स्वगुण है, कौन परगुण है ? स्वभाव क्या है, परभाव क्या है ? आत्मा मे कितनी शक्तियाँ हैं ? कौन-कौन से गुण है ? उनके विकास में साधक-बाधक कौन-से तत्त्व हैं ? हमारी आत्मिक शक्तियो को कौन-कौन-से पदार्थ कैसे-कैसे रोकते हैं ? उस रुकावट को कैसे दूर किया जा सकता है ? इन सबका ज्ञान—यथार्थ बोध

कैसे होता ? पदार्थों का यथावस्थित स्वरूप ज्ञान के विना कैसे जाना जाता ? इसलिए ज्ञान को आत्मा का सर्वोपरि गुण माना जाता है। परमात्मा मे ज्ञान-गुण सर्वोच्चरूप से विकसित होता है, समस्त ज्ञेयपदार्थ उनके ज्ञान मे झलकते हैं, प्रतिविम्बित होते हैं। परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के इसी ज्ञानगुण को ले कर एक चर्चा प्रस्तुत की गई है—'सर्वव्यापी कहे'

प्रभो ! आपको लोग सर्वव्यापी कहते हैं, जैसे कई धर्मों और दर्शनो वाले लोग ईश्वर को सर्वव्यापी=सर्वपदार्थ मे व्याप्त कहते हैं, निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भी सर्वव्यापक है। यहाँ यह सवाल खडा होता है कि परमात्मा को सर्वव्यापी अन्यदर्शनी लोगो की मान्यता की तरह ही माना जायगा, या और किसी रूप मे ? जहाँ तक जैनदर्शन का सवाल है, श्रीआनन्दघनजी ने वस्तु-स्वरूप पर गहराई से सोच कर यहाँ उत्तर दिया है—'सर्वव्यापी कहे सर्वजाण-गपणे' अर्थात् परमात्मा को सर्वव्यापी कहा जाय तो कथञ्चित् सत्य माना जा सकता है। परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का ज्ञान सकल चराचरपदार्थ और गुणपर्याय को जानता है, इस सर्वज्ञानता की अपेक्षा परमात्मा या आत्मा सर्वव्यापक विभु है। क्योंकि जब ज्ञान सबको जानेगा सो सब ज्ञेयो का स्पर्श या प्रतिविम्ब उस पर पडेगा ही। सबको जो जानता है, वह सर्वव्यापी है। परन्तु यदि सर्वव्यापक का अर्थ यह किया जाय कि परमात्मा सर्वत्र सब पदार्थों मे व्याप्त होते हैं, तब तो परमात्मा या आत्मा परद्रव्य मे परिणमन-रूप या रमणकर्ता बन जाएगा, जो उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिए परमात्मा या आत्मा सर्वपदार्थव्यापी नही हो सकता।

एक प्रश्न और खडा होता है—सर्वज्ञानता के कारण जब परमात्मा सर्व-व्यापक विभु है, तब वे ज्ञानगुण से जिसे-जिसे जानेंगे, उस-उस ज्ञेय के रूप मे ज्ञान और आत्मा परिणित हो जायेंगे, उस पदार्थ को वे (शुद्ध आत्मा) पूर्ण-तया जान सकेंगे। जरा भी जानना शेष रह जायगा तो उनकी सर्वज्ञानता मे कमी रह जायगी। क्योंकि वह पदार्थ, सम्पूर्णरूप से उनके ज्ञान मे प्रति-विम्बित हो जाता है, अथवा ज्ञान उस रूप मे (तदाकार) सम्पूर्ण बन जाता है, तभी वे उसे पूरी तरह से जान सकते हैं। कोई भी गुण-स्वभाव अपने आप मे पूर्ण होता है, अपूर्ण तो सम्भव ही नही है। रुपया अपने आप मे पूर्ण है, पैसा अपने रूप मे पूर्ण है। अत शुद्ध (परमात्मा) की सर्वज्ञानता समस्त ज्ञेयो मे तद्रूप

परिणमन होने पर ही पूर्णता के शिखर पर पहुँची कही जाएगी।" इसीलिए कहा गया—'परपरिणमनस्वरूप' इसका समाधान यह है कि यह सच है कि 'आत्मा कथंचित् परिणामी है', परन्तु यह अनन्त ज्ञानमय होते हुए भी पर-परिणति से अबाधित है। आत्मा का आत्मत्व जिस तत्व के रूप मे है, वह पर-परिणतिरूप मे नही दिखता। अगर परमात्मा के ज्ञान को पूरी तौर से ज्ञेयाकार होना माना जायगा तो फिर ज्ञानगुण का आश्रयभूत आत्मा—द्रव्य भी ज्ञेयरूप बन जायगा। ऐसा होने पर सर्वज्ञ आत्मा अन्य-सर्वपदार्थरूप हो जायगा, और परमात्मा इस तरह का सर्वव्यापक (विभु) माना जाए तो उसे परपदार्थ के रूप मे परिणत होना पडेगा। इस प्रकार परत्व प्राप्त हो जाने पर उस आत्मपदार्थ का अपना जो स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वरूप है, वह रह न सकेगा, क्योंकि परद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावरूपता उसमे आ जाय तब तो स्वतत्वता या स्वस्वरूपना उसमे रहती ही नही। जगत् मे प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से स्वस्वरूप मे है, और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से परपदार्थ रूप है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे परिणत होता रहता है। और पररूप (परत्व) से पर के द्रव्यादि मे रहित होता है, यही उसकी सत्ता है यही उसका स्वरूप है, उसी रूप मे वह यथार्थ पदार्थ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का स्वभाव परद्रव्य मे रमण करने का नही है, तथैव दूसरे पदार्थ भी आत्मा (परमात्मा) के स्वरूप मे नही होते। अत शुद्ध आत्मा (परमात्मा) को सर्वव्यापक के नाम पर यदि परपदार्थरूप मे बनना मान लिया जाय तो वह परपदार्थ जैसा बन कर उसी मे रमण करने लगेगा। फिर आत्मा (परमात्मा) का अपना स्वातन्त्र्य कहाँ रहा? फिर आत्मा को स्वतन्त्र, स्वात्मसुखभोक्ता कैसे कहा जा सकेगा? जब वह पररूप (दूसरे पदार्थ के रूप) मे बन जाता है, तो उसका अपनापन (स्वत्व या आत्मत्व) नही रहता। इसी-लिए कहा है—'पररूपे करी तत्वपणु नहीं' अर्थात् किसी एक आत्मद्रव्य का सचेतन दूसरे आत्माओ के रूप मे या अचेतनद्रव्य पुद्गलादि के रूप मे परिण-मन होने पर अपना आत्मत्व नही रहता। आत्मा के पररूप बन जाने पर उसका आत्मत्व (स्वस्वरूपत्व) नही रहता। तथा परपदार्थ के नाश के साथ ही उसका भी नाश मानना पडेगा। आत्मा की सत्ता=स्वस्वरूप मे अस्तित्व चिद्रूप-ज्ञान (चेतना) रूप है। उसके पररूप होने पर वह अचेतनामय अज्ञानमय बन जाएगा।

फिर यह नही कहा जा सकेगा—"आत्मा का स्वरूप चिद्रूप=चेतनारूप है। यही बात इस गाथा मे कही गई है—'स्वसत्ताचिद्रूप'। अगर आत्मा पर मे परिणत होने लगे तो वह अभव्य और अस्थिरस्वभावी हो जायगा। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से आत्मा सर्वव्यापी है, परन्तु पर्यायार्थिक नय से वह सर्वव्यापी नही है। परमात्मा को परपदार्थ मे परिणमन करने के अर्थ मे सर्वव्यापी नही अपितु सर्वज्ञानत्व के अर्थ मे सर्वव्यापी समझना चाहिए, क्योकि आत्मा की सत्ता-स्वरूपास्तित्व समस्त पदार्थों को जानने की है, तद्रूपपरिणमन करने की नही, क्योकि उसका स्वभाव ज्ञानमय है।

अगली ४ गाथाओ मे क्रमश. द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से आत्मा का परत्व बताया गया है—

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जलभाजन रवि जेम, सुज्ञानी !
द्रव्य एकत्वपणे गुण-एकता, निजपद रमतां खेम; सुज्ञानी ! ध्रु०३॥

अर्थ

ज्ञेय अनेक होने पर ज्ञान भी अनेकत्व को प्राप्त करता है। जैसे जल से भरे अनेक बर्तनो मे एक सूर्य होते हुए भी अनेक सूर्य दिखाई देते हैं। सूर्य की तरह आत्मद्रव्य एक होते हुए भी गुणो का भी एकत्व होता है। मुक्त (सिद्ध) परमात्मा तो अपने अनेकगुणात्मक पदस्थान मे आनन्दपूर्वक रमण करते हैं।

भाष्य

द्रव्य से आत्मा का ज्ञानगुण एव ज्ञेय

इस गाथा मे परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के मुख्य गुण-ज्ञान के सम्बन्ध मे द्रव्य से विचारणा की गई है कि जानने की चीजें (ज्ञेय) अनेक होने पर ज्ञान भी अनेक हो जाते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे सूर्य एक ही होता है, परन्तु पानी से लबालब भरे हुए अनेक बर्तनो मे प्रत्येक मे उस सूर्य का प्रतिबिम्ब पडने से पृथक्-पृथक् अनेक सूर्य दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होते हुए भी अनेक ज्ञेयो मे पृथक्-पृथक ज्ञेयाकार मे परिणत हो जाने पर (वे ज्ञेय) जैसे अनेक हैं, वैसे ज्ञान भी अनेक हो जाता है।

वास्तव में यह बात पर्यायदृष्टि से यथार्थ है कि ज्ञेय अनेक हैं तो ज्ञान भी अनेक है, यानी अलग-अलग आविर्भाव की दृष्टि से उन ज्ञेयो का ज्ञान

(जानकारी) भी अनेक प्रकार का होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी विशेषता के अनुसार पर्याय की अपेक्षा से अलग-अलग प्रकार की मालूम होती है। प्रत्येक वस्तु मे उसकी अपनी विशेषता तो होती ही है। पर्यायान्तरगत व्यक्तित्व भी प्रत्येक वस्तु मे जरूर होता है। इसलिए पर्यायदृष्टि से ज्ञान अनन्त कहा गया है। जैसे वस्तुएँ अनन्त हैं तो उनके पर्याय भी अनन्त हैं। वे पर्याय अलग-अलग नजर भी आते हैं।

दूसरी ओर आत्मद्रव्य एक है, इसलिए उसका अपना ज्ञानगुण भी एक ही होना चाहिए। द्रव्य गुण का घर=आश्रयस्थान है। इस दृष्टि से गुण को अपने घर मे ही रमण करने मे क्षेमकुशल है, पर-घर जाने से क्षेमकुशलता नही रहती। ज्ञान अनेक होने से एक आत्मा के भी अनेक हो जाने की आपत्ति आती है। अत एकद्रव्यरूप अपने घर मे एक ज्ञान की ही स्वरूपरमणता मानी जाय, तभी क्षेमकुशलता रह सकती हैं और उसका अपना स्वरूप भी पूरा सुरक्षित रह सकता है। अन्यथा एक आत्मा अनेकरूप हो जाने से वह अपने एकत्वरूप-स्वरूप मे क्षेमकुशल नही रह सकती। फिर बहुत से ज्ञेय तो परपदार्थ हैं, उनके साथ ज्ञानगुण द्वारा आत्मा जब पराये घर रमण करने जायगा तो ज्ञेयो की तरह ज्ञान और आत्मा को भी अनेकत्व प्राप्त करना पडेगा, जो उनके लिए मार है, अपमान है, स्वरूपच्युति है।

प्रश्न होता है—ज्ञान का स्वरूप एकत्व ही है, तब द्रव्य का ज्ञानत्व उसमे कैसे घटित होगा, क्योकि वह सब तक पहुँच न सकेगा ? इसलिए अनन्तज्ञेय से अनन्तज्ञानरूप ज्ञानमय एक आत्मा अनन्त आत्मस्वरूप हो जाना है। गुण सहभावी होता है, पर्याय क्रमभावी होता है। सहभावी गुण, (धर्म) की अपेक्षा से तीर्थंकर या सिद्ध अपने-अपने आत्मिक गुणो मे निजपद मे आनन्दपूर्वक रमण करते हैं। इस प्रकार यहाँ द्रव्य का स्थायित्व और पर्याय मे परिवर्तन बताया।

परक्षेत्रगत ज्ञेयने जाणवे, परक्षेत्रे थयु ज्ञान, सुज्ञानी !
अस्तिपणुं निजक्षेत्रे तुमे कह्यो निर्मलता गुण मान, सुज्ञानी ! ॥४॥

अर्थ

पर (अन्य) के क्षेत्र में रहे हुए जानने योग्य (ज्ञेय) पदार्थ को जानने से ज्ञान परक्षेत्री हुआ। आपने ही कहा था—ज्ञान का निजक्षेत्र मे ही अस्तित्व है, यानी ज्ञान तो स्वक्षेत्र में रहने वाले आत्मा को ही होता है।

निर्मलता का अभिमान यानी शुद्धस्वस्वरूप की स्वतंत्रता या स्वस्वरूप की पूर्णता का अभिमान स्वक्षेत्र में ही हो सकता है।

भाष्य

क्षेत्र से ज्ञानगुण एव ज्ञेय पर विचार

इस गाथा मे ज्ञान के दो प्रकार किये गए हैं—स्वक्षेत्रीय और परक्षेत्रीय। अपनी (ज्ञान की) अवगाहना से अन्य क्षेत्र मे रहे हुए जीव या अजीव द्रव्य का ज्ञान हो, उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहा जाता है। ज्ञेयपदार्थ अपनी अवगाहना मे न हो तो उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहते हैं। परन्तु गुण और गुणी का अभेद है, इस कारण ज्ञान तो अपने अनन्त आत्मप्रदेश मे रहा हुआ है। यहाँ शका उठाई गई है कि दूसरे क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयो को (ज्ञेयरूप परक्षेत्र को) जानने से ज्ञान भी परक्षेत्र मे हुआ कहना चाहिए। ज्ञान दूसरे के क्षेत्र मे हो उसके लिए आपने कहा था—अपने क्षेत्र मे ही अस्तित्त्व है। परक्षेत्र मे स्वत्व नही है, अपितु परत्व है। क्योंकि अनन्त परक्षेत्रगत ज्ञेय रूपज्ञान, अनन्त हो जाने से एक आत्मा भी अनन्तज्ञानरूप होने से आत्मा स्वय अनन्तरूप बन जाती है। ऐसी हालत में आत्मा अपना एकक्षेत्ररूप एकत्व कैसे रख सकती है? इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते है—'निर्मलता अभिमान' गुण और गुणी के अभेद के कारण आत्मा का निर्मल ज्ञानगुण अपने अनन्त आत्मप्रदेश मे रहा हुआ है। अपने क्षेत्र मे ही ज्ञान का अस्तित्व बताया गया है। ज्ञान का स्वभाव निर्मलता है, इस कारण शीशे के समान निर्मल ज्ञानदर्पण मे ज्ञेयपदार्थ दिखाई देता है, पर उसमेज्ञान के क्षेत्र मे, ज्ञेय जाता नही और न ज्ञान ज्ञेय मे आता है। इसमे गुण-गुणी मे अभेद होने से सहभावी ज्ञायकधर्म एक ही और साथ रहता है, वह ध्रुव है, निर्मल है। ज्ञान की निर्मलता के कारण ज्ञेयपदार्थ ज्ञान के पास आता नही, तथापि वह परक्षेत्रीय ज्ञान भी निजक्षेत्रीय-सा स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञेय विनाशे हो, ज्ञान विनश्वरू, कालप्रमाणे थाय ।सु०॥
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पररीते न जाय, सुज्ञानी ॥५॥

अर्थ

ज्ञेय पदार्थ नष्ट होने से ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि काल के अनुसार ऐसा (किसी न किसी समय नाश) होता हीहै। स्वकाल (अपने आत्मा

के अनंतपर्यायी काल) को ले कर आत्मा की सत्ता=स्वत्व कभी परानुयायी नहीं होती। आत्मा का स्वकाल अपनी सत्ता को ले कर होता है।

भाष्य

काल से आत्मा का ज्ञान एव ज्ञेय

आत्मा का परपरिणमनरूप मे सर्वव्यापित्व मानने पर दूसरे दोष भी आते हैं, उनमे से कालगत दोष भी है। अतः ज्ञेय का नाश होने पर ज्ञान का भी नाश होता है, यानी ज्ञान नाशवान हुआ। समय-समय पर परिवर्तनशील काल की तरह ज्ञेयपदार्थ भी परिवर्तित होते रहते है, उनके भी उत्पत्ति-विनाश होते रहते है और इस कारण ज्ञान नाशवान सिद्ध होता है। ऐसा होगा तो प्रारम्भ मे परमात्मा को हमने 'ध्रुवपदरामी' कहा था, वह घटित नही होगा, क्योकि गुण-गुणी का अभेद है। ऐसा विचित्र परिणाम आए, तब तो जानने वाले ज्ञाता—आत्मा का भी नाश होने की सम्भावना है। ज्ञानी ज्ञान का नाश होने से उसके ज्ञाता आत्मा का भी नाश हो जायगा। इस प्रकार आत्मा भी क्षणिक सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा होता नही।

इसका समाधान करते हुए गाथा के उत्तरार्ध मे कहा है— '**स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पररीते न जाय**' अर्थात्—पदार्थ की स्वसत्ता अपने काल की अपेक्षा से सदा-सर्वदा होती है। यानी वह स्वकाल की सत्ता दूसरे काल के रूप मे नही जाती, स्वय भी दूसरे रूप मे नही जाती। यदि पर का काल स्व का काल बन जाय तो फिर स्व और पर मे कोई भेद ही नही रहेगा। इसलिए अपनी सत्ता अपने-अपने काल की अपेक्षा से है। यदि ऐसा नही माना जाएगा, तो घटादि अनित्य ज्ञेयपदार्थों का नाश होते ही ज्ञान भी नष्ट हो जायगा। इस तरह ज्ञान और ज्ञान का आश्रयभूत आत्मा भी नाशवान सिद्ध होता है। इसलिए यह माना गया कि स्वकाल मे आत्मा का अनादि-अनन्तत्व होने से स्वसत्ता से चैतन्य ज्ञानगुण का रूपान्तर होता है। वास्तव मे ज्ञेय का सर्वथा नाश नही होता है, केवल पर्याय-परिवर्तन होता है, उस समय उसका ज्ञान भी बदल जाता है, सर्वथा नष्ट नही होता। मतलब यह है—ज्ञेयपदार्थ के पूर्व-पर्याय का नाश हो कर वह अपरपर्याय धारण करता है, तब पूर्वपर्याय का ज्ञान भी परपर्यायरूप बन जाता है। इस दृष्टि से आत्मा का और आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नही होता। काल की अपेक्षा से ज्ञेय की अतीत और

अनागतपर्याय पलट जाती है, तव अतीतपर्याय वर्तमान पर्याय को धारण करती है। इन सर्वपर्यायो का भासनधर्म ज्ञान मे है। सिर्फ यह भासनधर्म दूसरे रूप मे परिणत होता है। इससे ऐसा आभास होता है कि ज्ञान मे विनाशी धर्म हैं। यद्यपि वह स्वकाल की अपेक्षा से अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणमन को देखते हुए ज्ञान उत्पादव्ययरूप है तथापि उसका धर्म (ध्रुवत्व) स्वसत्ता है, वह कदापि परसत्तारूप नही होता। इस तरह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वकाल से स्वसत्ता मे सदा अखण्ड पदार्थ है। स्वकाल ही स्वरूप है, परकाल परस्वरूप है। इसलिए स्वस्वरूपी पदार्थ पररूप बन नही सकता।

परभावे करी परता पामतां स्वसत्ता थिर ठाण, सु०।
आतमचतुष्कमयी परमां नहिं, तो किम सहुनो रे जाण ॥सु०॥ध्रु०॥६॥

अर्थ

परपदार्थो का ज्ञान करने वाला आत्मा अपने सिवाय (पर) पदार्थों के भावो (पर्यायों) की अपेक्षा से परतत्व (परपदार्थ) को प्राप्त होने से स्व-आत्मा अपनी सत्ता (अस्तित्व) से कैसे स्थिर रह सकता है ? आत्मचतुष्क (अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतचारित्र और अनतवीर्य, ये आत्मा के चार गुण) परमे= परपदार्थ में नहीं होते, तो यह (पर मे मिला हुआ) किस प्रकार सकल पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) हो सकेगा ?

भाष्य

भाव से आत्मा का परत्व . ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा से

पूर्वगाथाओ मे द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से आत्मा के ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया था, अव इस गाथा में भाव से ज्ञान-ज्ञेय का विचार किया गया है। प्रतिवादी शका प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा जव पर पदार्थों का ज्ञान करता है, यानी वह अपने से भिन्न परमाणु, आकाश आदि का ज्ञान करता है तो उन परपदार्थों के भावो-पर्यायो का ज्ञान भी वह करता ही है, तव ज्ञान पर्यायभावमय हो जाता है, ऐसा होने से वह परत्व को प्राप्त हो जाय, यह स्वाभाविक है। इसी का समाधान करते हुए कहा है—**'स्वसत्ता थिर ठाण'** अर्थात् परवस्तु ज्ञेयादि को जानने से परवस्तु को प्राप्त करने पर भी आत्मा की अपनी जानने की सत्ता स्वस्थान मे ही स्थिर समझनी चाहिए।

यहाँ ईश्वर (आत्मा) को सर्वव्यापी मानने वाले वादी फिर शका उठाते हैं कि क्या आत्मा परपदार्थत्व (परस्वरूप) को प्राप्त होता है ? उत्तर मे कहते हैं—नही, आत्मा के अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे पदार्थ मे सभव नही हो सकते और न दूसरे आत्मा मे सभव हो सकते हैं। इसलिए आत्मा परपदार्थ को प्राप्त नही होता। परन्तु आत्मा का जो निर्मल ज्ञान है, वह ज्ञेय के आकार मे परिणमन हो जाता है। किन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार परिणत (ऐसा परभावप्राप्त) होने पर भी आत्मा दर्पण की तरह अपनी आत्मसत्ता मे स्थिर रहता है।

यहाँ फिर यह शका होती है—यदि आत्मा परपदार्थ मे परिणमन नही पाता, स्वय अपनी आत्मा मे ही स्थिर रहता है और अन्य पदार्थों मे आत्मा के गुणचतुष्टय नही है, तब आत्मा अन्य सब पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार की शका 'वीसवीसी' ग्रन्थ मे उठाई गई है कि [1] "जीव यदि सर्वव्यापक नही है तो उसका जो धर्म-ज्ञान है, वह आत्मा से बाहर कैसे हो सकता है ? और धर्मास्तिकायादि से रहित' अलोक मे वह (ज्ञान और ज्ञानात्मा) कैसे जा सकता है ? "मतलब यह है कि किसी भी एक सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान लोकगत अनन्तपदार्थ, अनन्तद्रव्य व उनके अनन्तक्षेत्रो, अनन्तकालो और अनन्तभावो को तथा अनन्तपर्यायमय अनन्त-अलोकाकाशगत को भी जानता है, तो किसी एक नियत स्थल मे स्थित एक ही आत्मा का ज्ञानगुण उस आत्मा के बाहर तथा लोक के बाहर (जहाँ धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय नही हैं।) अलोकाकाश मे कैसे जा सकता है ? कैसे गति कर सकता है ?

पूर्वोक्त शका का समाधान अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी करते है—

अगुरुलघ निजगुणने देखतां द्रव्य सकल देखत। सु० ॥
साधारणगुणनी साधर्म्यता, दर्पणजलदृष्टान्त; सु० ॥ध्रु० ॥७॥

अर्थ

आत्मा के अगुरुलघु (षड्गुणहानिवृद्धिरूप) गुण को देखते हुए वह समस्त द्रव्यो (पदार्थों) को देखता है। इस अगुरुलघु नामक साधारण एक

---

१ 'जीवो य ण सव्वगओ तो तद्धमो कह भवइ बाही ?
कह वाऽलोए धम्माइविरहिए गच्छइ अणते ? ॥१८॥१८॥

समान) गुण की द्रव्य-पदार्थमात्मा साधर्म्यता=समानधर्मित्व है, इस कारण एक पदार्थ दूसरे पदार्थ मे मिल नहीं जाता, जिस तरह दर्पण या जल मे सामने जलती हुई अग्नि की ज्वाला का प्रतिबिम्ब हूबहू पड़ता है, लेकिन दर्पण और जल में वह ज्वाला, घुस नहीं सकती, न ज्वाला मे ये दोनो घुस सकते हैं। दर्पण, जल तथा ज्वाला तीनों मे से कोई अपना धर्म (स्वभाव) नहीं छोडता। न ज्वाला से दर्पण व जल गर्म होते हैं और न जल से आग ठंडी होती है। इस दर्पण-जल के दृष्टान्त से एक दूसरे के पदार्थत्व में एक दूसरे पदार्थ परिणत नहीं होते।

भाष्य

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में न मिलने का कारण अगुरुलघुगुण

पूर्वगाथा मे जो शका उठाई गई थी, उसका समाधान इस गाथा मे दिया गया है कि अगुरुलघु नाम का एक गुण ऐसा है, जिसके कारण आत्मा हवा से उड जाय, ऐसा हलका भी नहीं होता और न ही वह पहाड जैसा भारी होता है। जैसे शीशे मे वस्तु घुसती नही, फिर भी हूबहू दिखाई देती है, अथवा जल मे वस्तु प्रविष्ट होती नहीं, फिर भी उसका पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब पडता है, इसी प्रकार अगुरुलघुपन के कारण आत्मा ज्ञेयवस्तु मे प्रविष्ट हुए विना समस्त वस्तुओ को हूबहू देख लेता है। अगुरुलघुनामकर्म के उदय से आत्मा वस्तु मे प्रवेश नहीं करता, तथापि उसमे उसका प्रतिबिम्ब पडता है, इसलिए परवस्तु का नाश होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नही होता। जिस प्रकार दर्पण मे और पानी मे प्रतिबिम्ब या छाया को झेलने की योग्यता (शक्ति) रूप समानता है,उसी प्रकार षड्गुणहानि-वृद्धिरूप अपने अगुरुलघुपर्याय गुण को जैसे आत्मा अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान सकता है, वैसे ही यह सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य मे एक सरीखा होने से आत्मा अपने से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों को जान-देख सकता है।

आत्मा की सर्वज्ञता के बारे मे विशेष स्पष्टीकरण

उपर्युक्त उत्तर बहुत ही सक्षिप्त है। इसलिए यहाँ हम ब्योरेवार इस बात को बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि 'एक आत्मा का ज्ञान दूसरे सर्वपदार्थों को कैसे जान सकता है?—

(१) आत्मा अपने सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावो को अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान-देख सकता है। इसमे कोई शका नही है, क्योकि स्वय तो स्वय को जानता ही है (आत्मा का अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर ही है। (२) परन्तु आत्मा मे जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हैं, वैसे ही दूसरे पदार्थो के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नही हैं, यह भी मानना पडेगा। अर्थात किसी एक प्रस्तुत आत्मा के सिवाय जगत् मे जितने जड-चेतन अन्य पदार्थ हैं, उनके जो द्रव्यादि चारो हैं, उन सबका नास्तित्व (अभाव) भी आत्मा मे विद्यमान है। तभी वह आत्मा दूसरे पदार्थो से अलग होता है। (३) अगर ऐसा न हो तो वह आत्मा और दूसरे पदार्थ एकाकार हो जाय, सारा जगत् एकरूप ही प्रतीत हो, कोई भी पदार्थ अलग-अलग प्रतिभासित ही न हो। किन्तु पदार्थ अलग-अलग होते हैं, उसका कारण है—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अस्तित्व के कारण उस-उस द्रव्यादिरूप है, साथ ही दूसरे पदार्थों के द्रव्यादि चारो उसमे नही है, उन सबका नास्तित्व उसमे है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ के पृथक्-पृथक् होने की प्रतीति हो हो जाती है। (४) जैसे स्वद्रव्य मे पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नही है, वैसे ही स्वद्रव्य के अपने एक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव मे दूसरे प्रकार के द्रव्यादिचारो नही हैं, उनका उसमे अभाव होता है। उदाहरणार्थ—एक आत्मा नारकभाव मे था, तब उसमे जो द्रव्यादि चारो उस समय वर्तमानरूप मे थे, वे उस आत्मा के मानवभव मे आज वर्तमानरूप मे नही हैं, अपितु भूतकालीन पर्यायरूप हैं। वर्तमानरूप मे उन पर्यायो का अभाव है। उसी प्रकार वर्तमान पर्याय उस समय इस आत्मा मे भविष्य के पर्यायरूप मे थे, पर वर्तमानरूप मे नही थे। अर्थात एक ही पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल भावो मे भी परस्पर स्वद्रव्यादि का अस्तित्व और परद्रव्यादि का नास्तित्व होता है। (५) किसी ज्ञानादि एक गुण के स्वपर्याय दूसरे सुखादिगुणो की अपेक्षा से परपर्याय हैं। तथा एक-एक गुण के अनन्त-अनन्त पर्याय होते हैं, इस दृष्टि से एक ही आत्मा मे एक-एक गुण के प्रत्येक पर्याय मे स्वपर्यायो का अस्तित्व और पर-पर्यायो का नास्तित्व होता है। (६) यो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनो ही पर्यायो का अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ मे होता है। (७) इसलिए जो आत्मा अपने पर्यायो का अस्तित्व जानता है, उसी प्रकार वह अपने मे रहे हुए परपर्यायो के नास्तित्व के अस्तित्व को भी जानता है। अर्थात वह यह भी जानता है कि

अपने मे कौन-कौन से पदार्थ और उनके पर्याय नही हैं। उन सभी पदार्थों को और उनके पर्यायो को उस आत्मा को जानने पडते हैं। यो जानने पर ही वह अपने को पूर्णतया जान सकता है। अन्यथा, वह अपने को भी पूरी तौर से नही जान सकता। इसीलिए आचारागसूत्र मे कहा है— जे एगं जाणइ, से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ। इस प्रकार स्व और परपर्यायो-भावो की षड्गुण तथा भाग की हानि और वृद्धि जैसी अपने में ही है, वैसी ही दूसरे द्रव्यो मे है। इस तरह की सदृशता के कारण जो अपने को पूर्णतया जानता है, वह समस्त द्रव्य को भलीभाँति जान सकता है। इसीलिए कहा है— सकल द्रव्य देखंत' केवलज्ञान की सम्पूर्ण ज्ञान करने की शक्ति इतनी अधिक होती है कि उससे तीनो ही काल के सर्वपदार्थों का एक समय मे सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसा न हो तो विश्वस्थिति ही अव्यवस्थित हो जाय। सामान्य मनुष्य के ज्ञान की अपेक्षा एक विद्वान् का ज्ञान कितना गुना अधिक होता है? वह सम्भव है, तो सर्वज्ञ का ज्ञान उससे कई गुना अधिक हो, इसमे सन्देह ही क्या? विश्व के व्यापक तत्त्वज्ञो को इसमे कोई सन्देह ही नही होता।

श्री पारस जिन पारसरससमो, पण इहां पारस नाहिं, सुज्ञानी।
पूरण रसियो हो निजगुणपरसमां, 'आनन्दघन' मुझ मांहि, सु० ।ध्रु० ७।

अर्थ

श्री (केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी) सहित पारसजिन (रागद्वेषविजेता पार्श्वनाथ परमात्मा) पारसमणि के रस के समान हैं, परन्तु यहाँ मेरे पारस रस नहीं है। सम्पूर्ण (रसपूर्ण) रसिक अपने गणो के प्रतिसमय स्पर्श से आनन्द के घन-समान पारसमणि से भी बढ़कर 'आत्मा' मुझ में है।

---

१ कही कही 'परसमा' के वदले परसन्नो' शब्द है, जिसका अर्थ है, आत्म गुणो मे प्रसन्न।

भाष्य

पार्श्वनाथ के समान पारसमणि क्या और कैसे ?

पारसमणि मे यह गुण होता है कि उसके साथ लोह का स्पर्श होते ही वह लोहा मोना बन जाता है। इसी प्रकार श्री पार्श्वनाथ प्रभु भी उसके समान पारस होने से वे भी अपमे सम्पर्क मे आने वाले अन्य जीवो को अपने जैसा बना देते हैं। फिर भी पारसनाथ प्रभु पारममणि नही हैं, क्योकि पारसमणि तो जड, पत्थर है अथवा वह पारमरस मेरे मे नही है। मेरे मे अभी तक पा (पाव) रस=चौथाई रस भी नही है, तब मैं कैसे ध्रुवपद मे रमण करने वाले पार्श्वनाथ परमात्मा की बराबरी कर सकता हूं। क्योकि पार्श्वनाथ परमात्मा वीतराग बने है, अपने आत्मस्वरूप मे उनका प्रतिक्षण स्पर्श होने से अथवा अपने गुणो मे सम्पूर्ण प्रसन्न होने से वे अपने गुणो मे सम्पूर्ण रूप से रसपूर्ण बने हैं, आनन्दघनरूप हैं उसी प्रकार का आनन्दघन=आनन्दसमूहमय, पूर्ण रसिक आत्मा अपने निजगुणो के स्पर्श (गुणो से प्रसन्न) होने से मेरे अन्दर भी विराजमान है। उस आत्मा को केवल प्रगट करने की जरूरत है और वह प्रगट हो सकता है—शुद्ध आत्मगुणरूपी पारसमणि के रस का प्रतिक्षण सस्पर्श होने से।

श्री आनन्दघनजी इस स्तुति का उपसहार करते हैं—प्रभो! मैं (अन्तरात्मा=मुमुक्षु) आत्म— (पारम) रस का सदैव स्पर्श करके आप (परमात्मा) के साथ एकरूप होना चाहता हूं। जो जड पारसमणि है, वह निजगुण-प्रसन्न, पूर्ण रसिक, एवं आनन्दघन नही है, फिर भी अपने स्पर्श से दूसरे मे परिवर्तन कर सकता है, तो पूर्णरसिक, स्वगुणप्रसन्न, आनन्दघन श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा अपने स्पर्श से दूसरे का क्या नही कर सकते? मैं आपकी स्तुति, भक्ति, सेवा या स्मरण इसलिए करता हूं कि आप मे जैसा आनन्दसमूह है, वैसा ही मेरे मे हैं, जिस आत्मगुण के सतत स्पर्श से आपने पूर्ण परमात्मरूप आनन्द (परमानन्द) घन प्राप्त किया है, आप पूर्ण ज्ञानचेतनामम हैं, मैं अल्पज्ञानचेतनामय (लोहवत्) हूं आपके स्पर्श जैसा ही मेरा आत्मस्पर्श हो तो मेरे अन्दर रहे हुए आनन्दसमूह को प्रगट करके मैं भी आपके सारीखा ही बनूं। बस, यही मेरी तमन्ना है। मुझ मे तिरोभूत रस आत्मगुणस्पर्श से पूर्ण आविर्भूत हो, यही भावना है।

सारांश

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने सर्वोच्च आत्मिक गुणो के पुज एव आत्मा के ज्ञानगुण की पूर्णता को प्राप्त श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा के गुणो के माध्यम से आत्मा के सर्वोच्च गुणो की आराधना कैसे हो सकती है ? परमात्मा (शुद्ध आत्मा) किस गुण से सर्वव्यापक, द्रव्यक्षेत्रकाल-भाव की अपेक्षा से कहा जा सकता है, वह अन्यदर्शनीय मत की तरह सर्वद्रव्यव्यापी क्यो नही है, इसकी विशद चर्चा की है। फिर शुद्ध आत्मा (परमात्मा) की सर्वज्ञता अकाट्य युक्ति द्वारा सिद्ध की है। अन्त मे, पार्श्वनाथप्रभु की पारसमणि के पूर्णरस से तुलना करके आनन्दघनजी ने अपनी आत्मा मे भी प्रतिक्षण आत्मगुणस्पर्श से वैसी शक्ति वाले पारस की कल्पना की है। और पार्श्वनाथ के समान पारस बनने की कामना की है।

२४ : श्री महावीर-जिन-स्तुति—

परमात्मा से पूर्णवीरता की प्रार्थना

(तर्ज—धनाश्री)

वीरजिनेश्वर चरणे लागु वीरपणु ते मागु रे ।
मिथ्यामोह-तिमिर-भय भाग्यु, जीत नगारू वाग्यु रे ॥वीर० १॥

अर्थ

इस अवसर्पिणी काल के चौवीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (परमात्मा) के चरण (सामायिक आदि चारित्र) का स्पर्श करके नमस्कार करता हूँ अथवा अपना अन्त.करण चारित्र में लगाता हूँ और उनके द्वारा बताई हुई या उनके जैसी वीरता मांगता हूँ, जिस वीरत्व के प्रभाव से प्रभु का मिथ्यात्व-मोहनीय एव अज्ञानरूपी अन्धकार से उत्पन्न होने वाला एवं आत्मा को विह्वल बनाने वाला भय भाग गया था और केवलज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होने से विजय का डका (नगारा) बज उठा था।

भाष्य

वीरता की प्रार्थना . किससे, क्यो और कैसी ?

पूर्वस्तुति मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परत्व का त्याग करके परमात्मा से आत्मा के सर्वोच्च गुण—शुद्धज्ञान का पारमरत्न प्राप्त करने की उत्कण्ठा प्रकट की थी। परन्तु आत्मा के अनुजीवी स्वगुणो या स्वशक्तियो को प्राप्त करने के लिए जब तक आत्मा मे वीरता प्रकट न हो जाय अथवा आत्मा आत्मशक्ति या आत्मवीर्य से परिपूर्ण न हो जाय, तब तक स्वगुण या स्वशक्ति का प्रकटीकरण नही हो सकता। अतएव इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा से वीरता की याचना की है।

इस सन्दर्भ मे सर्वप्रथम सवाल यह होता है कि आम आदमी वीरता की मांग किसी वहादुर से या किसी साहसी पुरुष से करता है, अथवा जो शस्त्र-अस्त्र चलाने मे निपुण हो अथवा युद्ध करने मे फुर्तीला बांका वीर हो,

उससे वीरता सिखाने की प्रार्थना करता है, परन्तु यहाँ जिनसे योगीश्री वीरता की याचना या प्रार्थना कर रहे है, वे तो वीतराग है, उनके न तो कोई शत्रु है, न उन्हें शस्त्र-अस्त्र से किसी से लडना है, न वे किसी प्रकार का युद्धकौशल दिखाते हैं और न ही ये बातें (शस्त्रास्त्र-सचालन आदि) किसी को सिखाते हैं, उनका मार्ग ही इन सबको छोडने और छुडाने का है, वे तो हथियारो को छुडा कर निहत्था बनाते हैं, हिंसाजनक युद्ध, शस्त्रास्त्रसचालन, शत्रुता, मारकाट करने मे बहादुरी आदि सबका स्वय त्याग कर बैठे हैं और दूसरो से त्याग कराते हैं, तब फिर ऐसे महात्यागियो और जगत् से सर्वथा उदासीन, निरपेक्ष वीतराग से वीरता की माग करना क्या उचित है, क्या युक्तिसगत है ? इसके उत्तर के लिए हमे वीरता की यथार्थ परिभाषा और इसके वास्तविक अधिकारी को समझना होगा। क्योकि वीरता की याचना उसीसे करना न्यायोचित है, जो सच्चे माने मे वीर हो, जिसने अपने जीवन मे पूर्णवीरता प्राप्त की हो, जो युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर से भी ऊपर उठ कर अध्यात्मवीर बन कर आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष-मोह आदि रिपुओ या कर्मशत्रुओ के साथ वीरतापूर्वक जूझ कर पूर्ण केवलदर्शन एव अनन्तवीर्य प्राप्त कर चुके हो, जो वीरता के मार्ग मे गया है, पूर्णवीरत्व की मजिल पर पहुँच चुका है, उसीसे ही वीरता की याचना करना उचित है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भ० महावीर स्वय आदि से ले कर अन्त तक वीरता के आग्नेयपथ से गुजरे हैं उन्हे वीरता प्राप्त करने के कारण, साधन, वीरता के मार्ग मे आने वाली विघ्न-बाधाओ, उपसर्गो और परिषहो का परिपक्व अनुभव है, इसलिए उनसे इस प्रकार की वीरता की प्रार्थना करना कोई अनुचित नही है। और वास्तव मे देखा जाय तो ऐसे अध्यात्मवीरो से ही वीरता की तालीम ली जा सकती है।

जो व्यक्ति सग्राम में बडे-बडे सुभटो से साहसपूर्वक जूझते हैं, जो प्राणो की बाजी लगा कर युद्ध मे अपने को झोंक देते हैं, जिनके पास हजारो-लाखो योद्धाओ की की सेना है, प्रचुर शस्त्र-अस्त्र हैं, जिनका शरीरबल बहुत ही चढा-बढा है, जो इन्द्रिय-विषयो के गुलाम हो जाते हैं, काम और कामिनी के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते हैं, कषायो और मोह के सामने भीगी बिल्ली बन जाते हैं, मन की वासना-तरगो के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, इच्छाओ के

समक्ष दास बन जाते हैं, वे युद्धवीर हो, चाहे दानवीर, सच्चे माने मे वीर नही है। वे आध्यात्मिक दृष्टि से कायर है, आत्मबलहीन हैं, क्लीव है।

अब प्रश्न यह उठता है कि श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से वीरता की ही माँग क्यो की? और कोई चीज माँग लेते? प्रभु तो औढरदानी हैं, उनसे धन-सम्पत्ति, सन्तान, घर, स्त्री, वैभव, हथियार, यश, मुकद्दमे मे जीत आदि मे से किसी चीज की याचना क्यो नही की? इसका उत्तर यह है कि दीर्घदर्शी, सयमी, और आत्मार्थी व्यक्ति इन शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ की माँग नही करता, वह यह सोचता है कि पैसा, स्त्रीपुत्र, घर आदि चीजे तो इसी जन्म मे काम आती हैं, फिर वीतरागप्रभु से तो वही चीज माँगी जाती है, जो प्रकारान्तर से प्राप्त न हो सकती हो। अथवा जिस महानुभाव से जो चीज माँगना उचित न हो, उसे उनसे माँगना भी व्यर्थ है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे सूचित किया है—'वीरपणु ते मागु रे। वीर प्रभो! आप महावीर हैं, आपने जिस तरीके से महावीरत्व प्राप्त किया है, वही महावीरत्व मैं आपसे चाहता हू। मै भौतिक वीरता या बाह्य शूरवीरता नही चाहता, जो एक जन्म तक ही सीमित हो, या जिससे आत्मिक शत्रुओ के सामने दुम दबा कर भाग जाऊँ; बल्कि ऐसी शूरवीरता चाहता हूँ, जो जन्म-जन्मान्तर से मुझे धोखे मे डालने वाले, मेरे दिमाग मे भ्रान्ति पैदा करने वाले और मेरी अनन्तशक्ति को राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि दुर्गुणो मे लगा कर छिन्न-भिन्न करने वाले हैं, उनसे निपट सकू, उनसे जूझ सकू और उन्हे खदेड सकूँ। मैं आपसे वैसी वीरता इसलिए चाहता हू कि अगर मुझमे वह आध्यात्मिक वीरता, विविध आत्मशक्ति-सम्पन्नता, या वीर्याचारपरायणता होगी तो मैं आत्म-विकास के लिए जो कुछ करना चाहता हूँ, स्वरूपरमणता मे अखण्ड टिके रहने के लिए जिस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहता हूँ तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भरसक साधना करके एक दिन अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्त-अव्याबाधसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कर सकूँगा। इसीलिए मैं आपसे और किसी भी सासारिक वस्तु की याचना न करके सिर्फ आध्यात्मिकवीरता की याचना करता हूँ, इस वीरता के प्राप्त करने से क्या होगा? इस शका के समाधानार्थ स्वय श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'मिथ्या मोह मोह-तिमिर-भय भाग्यु, जीत नगारूँ वाग्यु रे।' इसका भावार्थ यह है कि प्रभो! महावीर! जिस प्रकार आपके द्वारा महावीरता प्राप्त होते ही

मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार आदि आपकी आत्मा के प्रबल शत्रुओ का भय नष्ट हो गया, अथवा मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार और भय ये चारो प्रबल शत्रु भाग गए, आपने अरिहन्तपद को चरितार्थ कर लिया, और जब ये शत्रु रणक्षेत्र छोड कर भाग खडे हुए तो वीरता के परिणामस्वरूप आपकी जीत का नगाडा बज उठा, लोग आपको रागद्वेपविजेता कह उठे, सर्वत्र आपकी विजयदुन्दुभि बज उठी, लोग जय-जयकार करने लगे, उसी प्रकार मैं भी आपके पावन चरणकमलो मे नमस्कार करके उसी आत्मिक वीर्य से परिपूर्ण वीरता की याचना करता हूँ। समस्त कर्मों और उनसे उत्पन्न हुए कषायो आदि समस्त विभावो का नाश होता है तब आत्मा पूर्णरूप से खिल उठता है और आत्मा का वीर्य भी सम्पूर्णत खिल उठता है। इस प्रकार की सर्वोच्च विजय होने से जीत का नगाडा बज उठता है। सचमुच एक वीरता की याचना करने से उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आत्मिक शत्रुओ का भयनिवारण, कर्मशत्रुओ पर विजय का डका, अरिहन्तपद, साहस, मनोबल, धैर्य, गाम्भीर्य, आदि समस्त अनिवार्य वस्तुएँ आ जाती हैं। जैसे एक अन्धे ने देव से वरदान मांगा था कि मेरी पौत्रवधू को मैं सातवी मजिल पर सोने के घडे मे छाछ विलोते देखूँ, इस वरदान की याचना मे दीर्घ आयुष्य, अन्धत्व-निवारण, सात मजला मकान, सोना, पुत्र, पौत्र, पौत्रवधू, गाय आदि बहुत-सी वस्तुएँ आ गई, वैसे ही योगीश्री ने महावीरप्रभु से वीरता माग कर उपर्युक्त सब अध्यात्मयोग्य वस्तुएँ मांग ली हैं।

वीरत्व से यहाँ तात्पर्य है—आत्मवीर्य से। नामवीरत्व, स्थापनावीरत्व, द्रव्यवीरत्व, को छोड कर यहाँ भगवान् से भाववीरत्व को प्राप्त करने का लक्ष्य है।

अगली गाथाओ मे उसी आत्मवीर्य (आध्यात्मिक वीरता के प्राप्त करने का क्रम बताते हैं—

छउमत्थ वीरज (वीर्य) लेश्या-सगे, अभिसंधिज मति अंगेरे।
सूक्ष्मस्थूल-क्रिया ने रगे, योगी थयो उमगे रे॥ वीर० ॥२॥

अर्थ

छद्मस्थ (मन्दकषाययुक्त) वीर्य (पण्डितवीर्य) के साथ शुभलेश्या (उत्तम परिणामवाली धर्म-शुक्ललेश्या) के सग (सगति) से अभिसन्धिज (आत्मा

का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने की अभिलाषा) स्वयबुद्धता=स्वयप्रज्ञारूप मति से स्वयबोध के अग=प्रभाव से सूक्ष्म (आत्मा मे रमण करने की सूक्ष्म) क्रिया, तथा स्थूल (आत्मा की पूर्ण तथा शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के हेतुरूप चारित्र, अहिंसा पंचमहाव्रतादि या ज्ञानादि पचाचार-पालन की अवश्य आचरणीय) क्रिया के रंग (अभिलाषा) से परम उत्साह (उमग) पूर्वक योगी (द्रव्य-भाव से साधु) बना है।

भाष्य

छद्मस्थवीर्य : सूक्ष्मस्थूलक्रिया का उत्साह

इस गाथा मे वीर्य के क्रमिक विकास का लक्षण बताया गया है। सर्वप्रथम वीर्य क्या है? उसका क्रमशः विकास कैसे होता है? इस बात को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। यद्यपि पिछली गाथा मे आत्मिक-वीरता की व्याख्या की गई थी। परन्तु आत्मिक वीरता मे भी वीर्य मुख्य वस्तु है। उसके बिना वीर और वीरता सभव नही होती, क्योकि वीर्यवान् हो, वही वीर कहलाता है और जो वीर्य से परिपूर्ण हो, वह वीरता कहलाती है।

१. रस, २ रक्त, ३ मास, ४. मेद (चर्बी) ५ हड्डी, ६ मगज और ७ वीर्य ये सप्त धातु हैं। ओजस् को कोई-कोई धातु कहते हैं, वह भी वीर्य के परिपाक के रूप मे है। इन सात धातुओ मे से वीर्य अन्तिम धातु है। आहार पचने लगता है, तब उसमे से रसभाग और मलभाग अलग-अलग हो जाते हैं। मलभाग मलद्वार द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है, किन्तु रसभाग मे रस से सर्वप्रथम रक्त बनता है, फिर उसमे से मांस, चर्बी और हड्डियाँ बनती हैं, अमुक हड्डियो मे मगज (दिमाग) भर जाता है, उसमे से वीर्य बन कर वीर्याशय मे चला जाता है। फिर वह शरीर मे फैल जाता है, उससे शरीर में एक प्रकार की चमक-तेजस्विता या लावण्य, स्फूर्ति, सौन्दर्य और उत्साह आदि प्रतीत होने लगते हैं, इसे ही 'ओजस्' कहते हैं। निरोगी (स्वस्थ) मानवशरीर मे ओजस् चमकता है। सामान्यजनता की समझ ऐसी है कि उपर्युक्त ७ धातुओ मे से सातवी धातु, जो वीर्य है, उसी के कारण वीरता, पराक्रम और शौर्य प्रकट होता है, परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सचाई यह है कि शरीर का सब प्रकार का सचालक आत्मा शरीर मे व्याप्त रहता है, उसका एक गुण वीर्य है। इस वीर्यगुण के कारण ही शरीर मे धातुओ का क्रमिक निर्माण ऐसा होता है कि शरीर मे वह

सातवें धातु के रूप मे प्रतीत होता है। शरीरस्थ वीर्य पुद्गलवर्गणा से बना हुआ होता है। परन्तु उसके निर्माण मे आत्मा का वीर्यगुण जितना प्रकट होता है, उतना ही, उतने बल वाला ही पौद्गलिक वीर्य प्रगट हो सकता है। यही कारण है कि शरीर छोटा होते हुए भी हाथी की अपेक्षा सिंह मे वीर्य (शक्ति-शालिता) अधिक होता है। वीर्य (शक्ति, बल, स्थाम, पराक्रम, शौर्य, उत्साह आदिरूप) मूल मे आत्मा की वस्तु है, यह बात जैनदर्शन बहुत ही स्पष्टता-पूर्वक समझाता है। जैनदर्शन का कथन है कि छोटे-बडे कोई भी जन्तु, कीट, पशु, पक्षी, मानव या देव वगैरह मन, वचन और शरीर से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल हलचल, स्पन्दन या प्रवृत्ति करते हैं, उन सबमे आत्मा का वीर्य ही काम आता है। उस वीर्य के बिना जड मन-वचन-काय कुछ भी नहीं कर सकते।

आत्मा मे वीर्यशक्ति के दो भाग है। केवलज्ञानी प्रभु की ज्ञानशक्ति से भी उसके दो भाग न हो सकें, ऐसा एक भाग लें। उसका नाम वीर्य का एक अविभाग कहलाता है। ऐसे अनन्त वीर्य-अविभाग प्रत्येक आत्मा मे होते हैं। परन्तु प्रत्येक आत्मा के सारे के सारे वीर्यांश-विभाग खुले नही होते। अपितु न्यूनाधिक अशो मे खुले रहते हैं। बाकी के कर्म से ढके हुए (आवृत) रहते हैं। कम से कम खुली वीर्यशक्ति वाले जीवो से ले कर ठेठ सारी की सारी पूर्णवीर्यशक्ति खुली हो, वहाँ तक के भी जीव (आत्मा) मिल सकते हैं। यह न्यूनाधिक वीर्य शक्तियो की एक तालिका दी गई है। किस जीव मे कितने हद तक का आत्मिक वीर्य खुला होता है, इसका भी अल्पत्व-बहुत्व बताया गया है। आत्मा मे जो स्फुरणा हुआ करती है, वह कर्म के सम्बन्ध के कारण होती है। जब तक आत्मा का वीर्य स्थिर नही होता, तब तक प्रकम्पित रहता है। ज्यो ज्यो कर्म कम होते जाते हैं, त्यों-त्यो वीर्य मे स्थिरता आती जाती है। अन्त मे, शैलेशीकरण के समय आत्मा मेरुपर्वत (शैलेश) की तरह स्थिर हो जाता है। मेरु का तो दृष्टान्त है; परन्तु मेरु की अपेक्षा भी आत्मा अधिक दृढ, स्थिर, निष्कम्प बन जाता है। तथा तुरन्त एक ही समय मे मोक्षस्थान मे पहुँच जाता है।[1] योगीश्री ने सक्षेप मे मुद्दो सहित वीर्य के सम्बन्ध मे बहुत-सी बातें समझा दी हैं।

---

१ जैनशास्त्रो में तथा कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ वगैरह ग्रन्थो मे इसका विस्तृत वर्णन है। उसका गहराई से अध्ययन करने से जैनदर्शनसम्मत आत्मिक वीर्य का स्वरूप समझा जा सकता है।

वीर्य के दो प्रकार हैं—छद्मस्थवीर्य और मुक्तवीर्य। जब तक केवलज्ञान प्राप्त नही होता, तब तक जीव छद्मस्थ कहलाता है। छद्मस्थ से यहाँ तात्पर्य है—अज्ञान मे फँसा हुआ जीव। उसका वीर्य कर्मों के कारण ढका रहता है, पूरा पूरा खुला नही होता। लेश्या का अर्थ है—आत्मिक अध्यवसाय=कृष्णादिद्रव्यो के सहयोग से आत्मा मे उत्पन्न हुए अलग-अलग भाव=मनोव्यापार। मदकषाय हो, तभी शुभलेश्या–धर्मलेश्या आती है और शुभलेश्या के साथ (लेश्या से सग=)सम्बन्ध हो, वहाँ पण्डितवीर्य ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास हो, तब तक अभिसन्धिज योग कहलाता है। लेश्यायुक्त छद्मस्थ जीव की समझबूझ कर इरादतन कायादि योग से होने वाली आत्मा की सूक्ष्म-स्थूल प्रवृत्तियो के आनन्द (रग) मे आ कर उत्साहपूर्वक आत्मा योगी (मन-वचन काया के योगो वाला) हो जाता है, वह [1]अभिसधिज योग कहलाता है। और खास प्रकार के प्रयत्न=आत्मा मे होने वाले सहज स्फुरण-से शरीर मे जो प्रवृत्ति सहजरूप से चलती है। रक्त वगैरह धातुओ मे अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो—(कम्पन, स्फुरण—एक मे से दूसरे मे होने वाला रूपान्तर चलता रहता है) से आत्मा मे होने वाला स्फुरण—'अनभिसन्धिजयोग' कहलाता है।

इन दोनो को सरलता से समझते हैं—हम नीद लेते हैं, उस समय भी शरीर के प्रत्येक धातु मे कुछ न कुछ प्रवृत्ति चलती रहती है, उस समय आत्मप्रदेशो मे भी कर्मों के कारण-खौलते हुए पानी के बर्तन मे जैसे पानी उछलता रहता है, वैसे सतत प्रवृत्ति चालू रहती है, उसे अनभिसधियोग कहते हैं। तथा जब हम चलते हैं या हाथ से कुछ उठाते हैं, तब कुछ अलग ही किस्म की ताकत लगानी पडती है, उस समय शरीर तथा आत्मा मे—मन-वचन-काया मे—प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति चलती है, उस समय मन-वचन-काया मे जो योग उत्पन्न होता है, उसका नाम अभिसधिज योग है।

---

१ वीरियऽन्तराय-देसक्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी।
अभिसधिजमियर वा तत्तावीरिय सलेसस्स ॥३॥ कर्मप्रकृति
वीर्यान्तराय कर्म के देश से या सर्व से क्षय होने से प्राणियो को जो लब्धि उत्पन्न होती है, उसके कारण छद्मस्थ=लेश्यावाले सर्वजीवो को जो वीर्य होता है, वह अभिसधिज (या अनभिसधिज) वीर्य कहलाता है, (बाकी के केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का वीर्य क्षायिकवीर्य कहलाता है)

निष्कर्ष यह हुआ कि पण्डितवीर्य (ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास) होता है, तभी अभिसंधिज (प्रयत्नपूर्वक कर्म ग्रहण करने योग्य) मति (स्वयप्रज्ञता या स्वयबुद्धता—शुद्धमति) प्राप्त होती है और उस शुभमति के संग से संसार के कारण-कार्य का त्याग होता है, और साधु बनने के बाद भी ५ महाव्रतादि की स्थूलक्रिया और निज आत्मा को निज आत्मा मे स्थिर करने का—आत्मरमण करने की सूक्ष्मक्रिया का रंग (भाव) उत्पन्न होता है।

यह सब देख कर श्रीवीरप्रभु को स्थूल और सूक्ष्म क्रिया करने का ऐसा मौका मिल गया कि संसार से विरक्ति हो गई और अत्यन्त उत्साह से वे संसार-त्यागी योगी हो गए। यानी छद्मस्थवीर्य और लेश्या के कारण कर्म ग्रहण होता है, यह सब देख कर वीरपरमात्मा अतीव उमंग से योगी हो गए।

असंख्यप्रदेशे वीर्य असंखो योग असंखित कंखे रे।
पुद्गलगण तेणे लेशु विशेषे यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ वी० ३॥

अर्थ

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश में क्षयोपशमिक असंख्य-असंख्य आत्मवीर्य के अविभाग=अंश होते हैं और उनको ले कर आत्मा उनके समूहरूप असंख्य मन-वचन-काया के योगो=योगस्थानो को चाहता है, समर्थ बनता है और उससे पुद्गलों के समूह से (कारण से) उसकी मदद (योग) से ग्रहण अथवा पुद्गलसमूह तथा लेश्या अनेक प्रकार की होने के कारण विशेषरूप से लेश्याओ के परिणामबल से वृद्धि प्राप्त हो जाती है, ऐसा जान लेना चाहिए।

भाष्य

आत्मा मे वीर्य का स्थान

प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं। उनमे से प्रत्येक प्रदेश मे असंख्य वीर्य के अविभाग अंश होते हैं। वह वीर्य प्राय. क्षायोपशमिक वीर्य होता है।

श्रीआनन्दघनजी इस विचार पर एकदम ठिठक गए, उन्होंने आत्मा की वीरता पर मनन-चिन्तन किया तो उन्हें याद आया कि अपनी आत्मा मे कितनी

---

१. किसी किसी प्रति मे 'लेशुं विशेषे' के बदले 'ले सुविशेषे' है, अर्थ होता है—"पुद्गल समूह उसकी मदद से लेता है—ग्रहण करता है।"

वीर्यशक्ति है, वह कहां-कहां है ? मैंने प्रभु से वीरता मांगी, यह उचित तो नही लगता। जब अपने पास असख्य आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक आत्मप्रदेश मे असख्य अविभाग वीर्यांश (आत्मबल) होते हैं। यह बल (वीर्यांश) जब बहिर्मुखी बन कर कंपन करता है, तब मनोयोग के लायक मनोवर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण करता है और उनसे मनोयोग बनता है। इसी प्रकार वचनयोग के लायक भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करने से वाणीयोग बनता है और इसी तरह काययोग के लायक कायावर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण करने से काययोग बनता है। इन योगो के सामर्थ्य से लेश्या का परिणाम बनता है, और लेश्या की परिणाम शक्ति से वृद्धि प्राप्त होती है। यहाँ आत्मवीर्य की मुख्यता है। आत्मा इन सब शक्तियो तथा मुख्यतः वीर्यशक्ति का पावरहाउस है। अतः जो वीरता मैंने भगवान् से मागी थी, वह तो मेरे अपने अन्दर है। इसके बाद उन्हे यह खयाल आया कि शरीर मेरा अपना ही पुद्गलसमूह है, जो लेश्याविशेष के द्वारा आत्मिक अध्यवसाय के योग से अपनी वृद्धि के अनुसार उसे ग्रहण करता है। मनुष्यगति मे तो आत्मिक अध्यवसायरूप लेश्या का जोर है, योगो का भी जोर है अत. शुभ उत्तम लेश्या के माध्यम से अगर छद्मस्थवीर्य भी अपने मे बढाए तो बहुत है। फिर यह दृढ आत्मविश्वास भी हो गया कि जिस वीरता को माँग तू भगवान् से कर रहा है, वह तो अपने मे भरा है, सिर्फ उसे क्रमश प्रगट करने की जरूरत है। प्रभु से उस वीरता को मांगने की जरूरत नही थी। वह तो चाहे जिस गति मे जीव जाए, अपने अन्दर ही पडी है। जो वस्तु अपने अन्दर पडी है, उसे बाहर से मांगने की जरूरत नही है। वीर-प्रभु ने भी किसी दूसरे से नही मागी, स्वय पर आत्मविश्वास रख कर वे अपने बलबूते पर टिके रहे, मुसीबतो का सामना किया, इसलिए वीरता के मार्ग मे आने वाले विघ्नो का जाल तोड सके।

अगली गाथा मे वीर्य (वीरता) के स्थायित्व की बात श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

उत्कृष्टे वीरज[1] ने वेसे, योगक्रिया नवि पेसे रे।
योगतणी ध्रुवताने लेशे, आतमशक्ति न खेसे रे॥ वीर०॥४॥

---

१. कही कही 'वीरज ने वेसे' की जगह 'वीर्य निवेशे' भी पाठ है।

अर्थ

उत्कृष्ट (सर्वोच्च) वीर्य (आत्मशक्ति) के वश=प्रभाव से या आधार से अथवा आत्म वीर्य के उत्कष्ट निदेश (विकास) होने पर, मन-वचन-काया के योगो की क्रिया अथवा पुद्गलो को समय-समय पर ग्रहण करने वाली योगो की चपलतावश शुभाशुभ अध्यवसायजनित क्रिया (आत्मा मे) प्रविष्ट नहीं होती। इस प्रकार योगों की निश्चलता (स्थिरता) के कारण (लश्यारूप पुद्गल नष्ट हो जाने से) आत्मशक्ति (आत्मा की अनन्तशक्ति) जरा भी डिग नहीं सकती अथवा डिगा नहीं सकती।

भाष्य

वीर्य की उत्कृष्टता योगो की स्थिरता

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने अपने मे आत्मवीर्य (वीरता) प्रगट करने और क्रमश सर्वोच्चसीमा तक विकसित करने की बात आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त की है। वे कहते हैं— आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे अनन्तवीर्य (आत्मशक्ति) है। जब आत्मा अपने उत्कृष्ट आत्मवीर्य को सर्वोच्चसीमा तक (प्रयोग करके) विकसित कर लेता है, यानी जब आत्मा मे उत्कृष्ट वीर्य (वीरत्व) खिल उठता है, तब मन-वचन-काया के योगो की प्रवृत्ति उसमे प्रविष्ट नही हो सकती, अर्थात् उच्च-गुणस्थानक प्राप्त हो जाता है, तब तीनो योग मन्द पड जाते हैं और अन्त मे स्थिर हो जाते हैं, आत्मा मे वीर्य (वीरता=शक्ति) बहुत बढता जाता है, विकसित होता जाता है, अनावृत हो कर सर्वोच्चसीमा तक पहुँच जाता है। इस प्रकार योगो की स्थिरता हो जाने पर कर्मपुद्गलो को ग्रहण करने के रूप मे तमाम क्रिया बद हो जाती है, लेश्या भी नष्ट हो जाती है। उत्कष्ट आत्म-वीर्य से आत्मा अयोगी, अक्रिय और अलेशी बन जाती है। आत्मवीर्य स्वतत्र बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्कष्ट वीर्य पर योग अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। योगो की स्थिरता के साथ आत्मा भी उत्कृष्ट रूप से स्थिर होता जाता है। ऐसी दशा मे त्रियोगो के पुद्गल आत्मा पर कुछ भी असर नही कर सकते। पुद्गलो का ग्रहण करना भी बद हो जाता है और योगत्रय छूट जाते हैं, तब आत्मा भी उनसे कोई प्रवृत्ति करा नही सकता। अर्थात् उनकी मदद मे नये कर्म या अन्य कर्मवर्गणाएँ ले या लिवा नही सकता। पुद्गल और आत्मा दोनो अलग-अलग द्रव्य के रूप मे अलग-अलग और स्वतन्त्र हो जाते हैं। दोनो का कोई सम्बन्ध नही रहता, दोनो एक दूसरे

का कुछ भी भला या बुरा नही कर सकते। योगो की ध्रुवता (स्थिरता या निरोध) का लक्षण यह है कि वह जब पराकाष्ठा पर होता है, तब मन चाहे जो काम करे, वचन चाहे जो बोले, काया भी यथेच्छ काम करे, किसी प्रकार का कर्मबन्धन नही कराते, न होना है, सर्वक्रियाएँ रुक जाती हैं। जैसे आठ रूचकप्रदेशो को कर्म लगते नही, वैसे ही आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करता है, उस समय उक्त त्रियोग किसी प्रकार का कर्मबन्ध नही करते। यह उत्कृष्ट वीय का ही परिणाम है कि आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य-स्फोट करता है, तब किसी प्रकार का कर्मबन्धन नही होता। आत्मशक्ति जरा भी घटती नही। निष्कर्ष यह है कि पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए आत्मा को उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करना चाहिए, ताकि योगो की स्थिरता हो जाय और आत्मा कर्मबन्धन से रहित हो कर अपने में आत्मवीर्य को स्वतन्त्र और स्वाभाविक होने मे अनन्त आत्मसुख का उपभोग कर सके। श्रीआनन्दघनजी उपर्युक्त विवरण द्वारा वीतरागप्रभु से अपनी हार्दिक प्रार्थना ध्वनित कर देते है कि "प्रभो! ऐसा उत्कृष्ट वीरत्व (आत्मवीर्य) मुझ मे प्रगट हो, मैं अपने उत्कृष्ट वीर्य का उपयोग कर सकू, ऐसी स्फुरणा या प्रेरणा अथवा अन्त शक्ति दीजिए।"

कामवीर्य-वशे जेम भोगी, तेम आतम थयो भोगी रे।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ॥वीर० ५॥

अर्थ

जिस प्रकार इन्द्रिय विषयासक्त कामभोग करने वाला भोगी कामवीर्य=कामभोग स्पर्शेन्द्रियसुखभोग मे उपयोगी शारीरिक वीर्य (शुक्रनाम के धातु से प्राप्त शारीरिक शक्ति) के वश हो जाता है, आत्मा मैथुनसुख भोगने में उत्कटता से तत्पर हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा (अपना आत्मगुण) भी उतनी ही वीरता के साथ (आत्मा की अनन्तशक्तिपूर्वक) आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टारूप गुण अथवा उपयोग में जुट कर पूरे आत्मबल के साथ अपने शुद्ध स्वभाव का भोगी बन जाता है; वही आत्मा मन वचन-काया के योगों से रहित (अयोगी), शुद्ध आत्मस्वरूपी होता है।

भाष्य

कामवीर्य की तरह आत्मवीर्य का जबर्दस्त प्रयोगी ही अयोगी होता है

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के उदय मे बालवीर्य वाले इन्द्रियासक्त विषय-सुखलोलुप कामी स्त्री-पुरुषो को कामोत्तेजना होती है। जैसे खाने-पीने के शौकीन स्वादलोलुप चटोरे लोग पथ्यकुपथ्य का विचार किये बिना चाहे जैसी चटपटी, गरिष्ठ, मसालेदार, तामसी या मिष्टान्न पर हाथ साफ करने को टूट पडते हैं, वैसे ही काम (मैथुन) जन्य सुख में लुब्ध लोग किसी प्रकार का आगा-पीछा विचार किये बिना कामभोग मे उपयोगी शारीरिक वीर्य (बलवीर्य) के कारण कामभोगो (मैथुन) के सेवन मे शीघ्र प्रवृत्त हो जाते हैं। वास्तव मे कामवीर्य एक प्रकार का शारीरिक वीर्य है और उसका उपयोग बालवीर्य की तरह होता है। बालवीर्य से कामभोगो की उत्तेजना होती है, जबकि पुष्टवीर्य-शक्ति उत्तेजना वाली नही होती, अपितु बल, वीर्य और मेधाशक्ति को बढाती है।

कहने का तात्पर्य यह है, कि जैसे बालवीर्य वाला कामभोग की तीव्रता के कारण अपने कामवीर्य के प्रभाव से इन्द्रियविषयासक्तिवश कामभोगो मे जोरशोर से प्रवृत्त होता है, वैसे ही पण्डितवीर्य (आत्मवीर्य=आत्मशक्ति) के प्रभाव से आत्मा जब शुद्धात्मभाव या आत्मगुण अथवा आत्मा के उपयोग मे शूरवीरता रख कर प्रवृत्त होता है, यानी त्रियोगरूप वीर्य के कारण अथवा उनमे प्रवर्तमान आत्मवीर्य के कारण जो वीरतापूर्वक अतीव तीव्रता से आत्मस्वभाव मे—आत्मा के उपयोग मे प्रवृत्त हो जाता है, वह आत्मगुण का या आत्मा का भोगी बनता है। और आत्मगुण को भोगने से यानी आत्मा मे रमण करने से आत्मा मे वीरता आती है, आत्मवीरत्व के गुण से आत्मा के गुणो (ज्ञान-दर्शन या ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्व) का उपयोगी हो जाता है। और आत्मगुण में सतत वीरतापूवक (तीव्रतापूर्वक) उपयोग से आत्मा अयोगी (मन-वचन काया के योग=व्यापार से रहित) हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा अगर शूरवीरता रख कर अपने (आत्मा के) मूलगुणो मे ही उपयोगवान् बने तो वह अयोगी बन सकता है।

विरोधाभास का स्पष्टीकरण

इस गाथा में कुछ शब्द विरोधाभास पैदा करने वाले हैं, उनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। आत्मा उपयोगी (ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे उपयोगवान्)

हो, वह योगी तो हो सकता है, मगर अ-योगी कैसे ? इस विरोध का समाधान यह है कि यहाँ अ-योगी का अर्थ अध्यात्मयोग से रहित नही, अपितु मन-वचन-काया के योग से रहित है। दूसरा प्रश्न है—अयोगी होने से पहले योगी था, वह भोगी कैसे हो सकता है ? इस विरोधाभास का समाधान यह है कि यहाँ योगी अध्यात्म-योगसम्पन्न के अर्थ मे नही, अपितु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण है। इस प्रकार का योगी होने से कर्म बाध कर—सासारिक भाव प्राप्त करने से आत्मा को अपने किये हुए समस्त कर्म भोगने पडते हैं। इस कारण उसे भोक्ता=भोगी कहते हैं, अथवा यहाँ आत्मभाव मे रमण करने वाला होने से साधक को आत्म-भोगी कहा गया है।

क्या सब वीर्य एक समान नहीं हैं ?

पहले भी हम कह आए है कि शरीरज धातुनिष्पन्न वीर्य और आत्म वीर्य दोनो मे रात-दिन का अन्तर है। फिर भी कई लोगो की शका यह है कि मशीनो आदि मे या कई वस्तुओ मे बहुत शक्ति होती है, उसे क्या कहेगे ? यह स्पष्ट है कि यह आत्मा का वीर्य तो है नहीं ? पौद्गलिक वीर्य है। अमुक-अमुक वस्तुओ के सयोग से अमुक प्रकार की शक्ति यन्त्र आदि मे पैदा हो जाती है, पर यह सब सयोगज है और परप्रेरित है। वे पदार्थ चेतन की तरह स्वतः उस वीर्य को प्रगट नही कर सकते। दूसरा कोई चेतन उनको परस्पर जोडता है, या सयोग करता है, तब जा कर उनमे विद्युत् आदि की शक्ति पैदा होती है। दूसरी शका यह है कि शरीरान्त हो जाने के बाद एक गति से दूसरी गति मे, एक योनि से दूसरी योनि मे जीव को कौन ले जाता है, क्योकि शरीर और शरीर से सम्बन्धित शक्ति तो शरीर के खत्म होते ही खत्म हो जाती है। आत्मा की शक्ति निखालिस तो है नही, तब कौन-सी शक्ति है ? वह आत्मा की ही विकृत शक्ति है।

इसका समाधान करने के लिए हम वीर्य के तीन प्रकार अकित कर रहे हैं, ताकि इन सब शकाओ का यथार्थ समाधान हो जाय।

१ शारीरिकवीर्य—मैथुनसुख (वैषयिकसुख) भोगने मे जो उपयोगी है, और जो सप्तम-धातु (शुक्र) रूप माना जाता है, जिसके कारण प्राणी काम-वासना से उत्तेजित हो कर मैथुनसुख भोगता है, भोगी बनता है।

२ सासारिक वीर्य—मन-वचन-काया के योगो के मारफत भोगा जाने वाला आत्मा का बल-जिसके कारण कर्म बध जाने से आत्मा को सासारिक अवस्था भोगनी पडती है, अनादिकाल से—मोक्षगमन न हो, वहाँ तक देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच, स्त्री, पुरुप और नपु सक वगैरह का रूप प्राप्त करना पडता है और विविधरूप से ससार-परिभ्रमण करना पड़ता है ससार भोगना पडता है, इस दृष्टि से आत्मा भोगी बनता है।

३. शैलेशीवीर्य या क्षायिकवीर्य—जो रत्नत्रयी की आराधना से, योगो की चपलता कम होने से, वीर्यान्तरायकर्म के सर्वथा क्षय होने से, मेरुपर्वत या सारे विश्व को हिला देने सरीखे क्षायिकभाव से अक्षय आत्मिक वीर्य प्रगट होना है, जिसके कारण आत्मा शैलेश=मेरुपर्वत जैसा स्थिर और सुदृढ हो जाता है, मन-वचन-काया के योगो से रहित अयोगी एव स्थिर हो कर वीर्यवान बन जाता है।

इन तीनो मे से पहला वीर्य कामभोगी बनाता है, दूसरा ससार का भोगी बनाता है और तीसरा आत्मा को अयोगी बना कर मुक्त और सदा स्थिर अनन्त वीर्यवान बनाता है।

'वीरपणु ते आतम-ठाणे, जाण्यु तुमची वाणे रे।
ध्यान-विन्नाणे, शक्ति प्रमाणे, निजध्रुवपद पहिचाणे रे॥ वीर०॥६॥

अर्थ

वीरत्व, जिसे मैं आपसे मांगता था, उसका स्थान (निवास) तो मेरी आत्मा मे ही है, यह हकीकत मैंने आपकी वाणी से ही जानी है। इसका आधार तो मेरे (आत्मा के) ध्यान, विज्ञान अथवा ध्यान के शास्त्रीय ज्ञान और शक्ति की अभिव्यक्ति (वीर्योल्लास) पर निर्भर है। और इसी प्रकार आत्मा अपने वीर्य की स्थिरता, ध्रुवता, वीर्यबल, आत्मशक्ति अथवा अपने ध्रुवपद (मोक्षस्थान) को पहिचान लेता है।

भाष्य

वीरता का मूल स्थान : अपनी आत्मा ही

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने बताया कि 'वीरतापूर्वक आत्मा स्व-स्व-भाव या आत्मगुण में उपयोगी बनी रहे तो एक दिन आयोगी बन

जाता है, इस पर मे शका हुई कि वह 'वीरता' है कहाँ ? क्या वह किमी दूसरे के पाम है ? अथवा वह इन वाह्य भौतिक पदार्थों मे है ? इसी के समाधानार्थ यह गाथा प्रस्तुत की गई है—'वीरपणु ते आतम-ठाणे' अर्थात् वह वीरता, जिसकी याचना मैं वीरप्रभु से कर रहा था, वह मेरी आत्मा मे ही है। वीरत्व के प्रेरक (प्रयोजक) वीर्य का यथार्थ मूल स्थान, मूलभूत अधिष्ठान या आधार (Power house) तो आत्मा ही है।

प्रश्न होता है कि यह वात कैसे और किससे जानी कि आत्मा ही वीरता का उद्गमस्थान है, मूलस्रोत है या अधिष्ठान है ? इसके उत्तर मे वे कहते है—'जाण्यु तुमची वाण रे।' यह वात मैंने आप (वीतराग परमात्मा) के सिवाय अन्य किसी से नही जानी। आपकी रागद्वेषरहित नि स्वार्थ, निष्पक्ष वाणी (आगमोक्त वचनो तथा गुरु-उपदेश) से जानी है। भावार्थ यह है कि दूमरे दर्शन या धम सम्प्रदाय के प्रवर्तको मे से किमी ने कहा—"वीरता की प्राप्ति मेरे देने से ही हो सकती है या ईश्वर की कृपा होगी, तभी वह देगा।' परन्तु आपकी वाणी से यह वात स्पष्ट हो गई कि वीरत्व कोई मागने की या किमी को देने-लेने की चीज नही है, वह तो अपने ही अन्दर है, उसका अधिष्ठान तो आत्मा ही है। इस पर से मुझे यह भी निश्चित हो गया कि वीर्य शरीर की नही, आत्मा की वस्तु है। और आत्मा मे वीर्य की स्थिरता भी आप ही ने जगत् को नवीन ढग से समझाई है।

वीरत्व की स्थिरता की पहिचान

इमी सन्दर्भ मे एक और प्रश्न उठता है कि वीरत्व की स्थिरता की पहिचान क्या है, किसी आत्मा मे वीरत्व कैसे स्थिर हो सकता है ? यह भी कैसे जाना जा सकता है कि किस आत्मा मे कितना वीर्य स्थिर हुआ है ? इसी के उत्तर मे इस गाथा का उत्तरार्द्ध है— "ध्यान- विन्नाणे, शक्ति-प्रमाणे, निज-ध्रुवपद पहिचाणे रे।' अर्थात् शास्त्रीय धर्म-शुक्लध्यान के विज्ञान का आधार ले कर अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा ज्यो-ज्यो ध्यान मे आगे बढता है, त्यो-त्यो अपनी आत्मा मे वीर्य की कितनी स्थिरता, कितना सामर्थ्य, कितनी ध्रुवता प्राप्त हुई है, यह अपने ध्यान के ज्ञान से जीव पहिचान सकता है, क्योकि वीर्य की स्थिरता और ध्यान ये दोनो लगभग एकार्थक

शब्द हैं। वास्तव मे ध्यान आत्मवीर्य की स्थिरता- एकाग्रता का नाम ही है। ध्यान केवल शरीर या मन की एकाग्रता ही नही, मुख्यतया आत्मा की स्थिरता है। शरीर, मन और पवन (श्वासोच्छ्वास) की स्थिरता को उपचार से ध्यान कहा जाता है, पर वास्तव मे ऐसा है नही। इसीलिए कहा गया है कि ध्यान (एकाग्रता) और विज्ञान से अपनी आत्मा मे निहित वीरत्व या वीर्य की स्थिरता को व्यक्ति पहचान सकता है। ध्यान और विज्ञान की शक्ति पर से ही आत्मस्थिरता=आत्मशक्ति के सामर्थ्य को जाना-परखा जा सकता है।

कई टीकाकार 'ध्रुवपद' का अर्थ 'आत्मा का निश्चल स्थान' करते हैं, ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर सगति इस प्रकार होगी—धर्मध्यान-शुक्लध्यान से, विज्ञान=विशिष्ट श्रुतज्ञानपूर्वक विवेक से एव शक्तिप्रमाण यानी सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रबल के अनुपात मे अपनी आत्मा के ध्रुवपद (स्थिरपद) को व्यक्ति पहचान सकता है।

अन्तिम गाथा मे अपनी शक्ति (वीरता) को प्रगट करने का उल्लेख श्री आनन्दघनजी करते हैं—

आलम्बन साधन जे त्यागे, परपरिणति ने भागे रे।
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे ॥वीर०७॥

अर्थ

धर्मध्यानादि आलम्बनो, मन-वचन-काया के त्रियोगरूप साधनो या धर्मोपकरणादि साधनो का पूर्णवीरता प्राप्त करने वाले जो महात्मा त्याग कर देते हैं, आत्मा से भिन्न—अनात्म=पौद्गलिक भावो पर परिणति, अथवा पररूप=वैभाविक भाव मे परिणति जब भग=नष्ट हो जाती है; अथवा साध्य प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक साधक अनेक अवलम्बनों (सामायिक-प्रतिक्रमणादि तपजपादि) तथा अनेक साधनों (साधुवेश, धर्मोपकरण, भिक्षाचर्यादि एव) परभावों में परिणति को अपनाता है, मगर ये सब आत्मबाह्य, परभाव, परावलम्बन, परसाधन, एवं परपरिणति आदि आखिरकार परवस्तु हैं, त्याज्य हैं, अतः इन्हे जो साधक छोड़ देता है, दूर कर देता है, वह अक्षय(अविनाशी) दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान

(केवलज्ञान). वैराग्य (क्षपक यथाख्यातचारित्र) होने पर वीतराग से आनन्दघन रूप प्रभु (परम समर्थ) बन कर जागृत रहता है, शैलेशी अवस्थारूप चारित्रमय रूप से सदा जागृत रहता है। उसकी ज्ञानज्योति जगमगाती रहती है।

भाष्य

पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए परवस्तु का त्याग अनिवार्य

साधक को जब तक साध्य प्राप्त नही हो जाता, तब तक वह अनेक आलम्बनो और साधनो को अपनाता है, अनेक परभावो और परपरिणतियो को भी अगीकार करता है, कई सहायको से सहायता लेता है, परन्तु ये सब चीजें, या आत्मा से अतिरिक्त जो भी साधन, आलम्बन या परिणति आदि है, वे सब मनुष्य मे परावलम्बिता बढाने वाले है, जितना-जितना दूसरो का सहारा, सहयोग, सहायता या साधन मनुष्य लेता है, उतना ही उतना वह अधिकाधिक दुर्बल होता जाता है, ज्ञान के मामले मे देखो, चाहे दर्शन के मामले मे अथवा चारित्र के मामले मे देखो, सर्वत्र पराश्रितता साधक के जीवन को मन-वचन-काया मे दुर्बल मन और बल से पराधीन, परमुखापेक्षी और परभाग्योपजीवी बना देता है। वीरता, शौर्य, पराक्रम, साहस, धैर्य और आत्मशक्ति को बढाने वाले के मार्ग मे तो ये सब बहुत ही अधिक बाधक वस्तुएँ हैं। फिर तो मनुष्य ज्यो-ज्यो धन, सम्पत्ति, वस्त्र, उपकरण, भोजन, पेय, अथवा अन्य जो भी मनोज्ञ, इष्ट और मनोहर पदार्थ देखता है, त्यो-त्यो उसके मन मे उसके पाने की लालसा जागती है, वह नही मिल जाता है, तब तक बेचैनी रहती है, मिल जाने पर कोई छीन लेता है या चुरा लेता है तो कष्ट होता है, वियोग होने पर दुःख होता है, इस प्रकार बहुत ही समय, शक्ति, दिमाग, आदि इसमे (परवस्तुओ के पीछे) खर्च होता है। इसीलिए जिनेन्द्र भगवान् दूसरे की सहायता, सेवा और सहयोग की आकाक्षा या अपेक्षा नही रखते, वे अपने ही बलबूते पर साधना के आग्नेयपथ पर चलते हैं, जो भी कठिनाइयाँ आती हैं, उनमे जूझते हुए चलते हैं। सघर्ष से उनमे शक्ति प्रगट होती है। इसीलिए कहा है—[1]

---

१ 'स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्।"

'जिनेन्द्र अपने आत्मवीर्य (आत्मबल) के आधार पर ही परम (वीतराग) पद को प्राप्त करते हैं। भ महावीर ने भी बताया है कि "सभोग (माधर्मी साधु के साथ महयोग व्यवहार) के प्रत्याख्यान से आत्मा आलम्बनो की अपेक्षा खत्म कर देता है, निरावलम्बी साधक के योग आत्मस्थित हो जाते हैं, वह स्वलाभ मे सन्तुष्ट रहता है, दूसरे से लाभ को पाने की अपेक्षा नही रखता, न ताकता है, न लालसा रखता है, न किसी से याचना करता है, न अभिलाषा रखता है। ऐसा करने पर वह सुखशय्या को प्राप्त करके निश्चिन्तता से विचरण करता है।"[1]

इसी प्रकार भ० महावीर ने कहा है—[2]"उपधि (धर्मोपकरण) के प्रत्याख्यान (त्याग) कर देने से जीव अपरिग्रहभाव प्राप्त करता है निरुपधिक और निष्कांक्ष हो कर वह उपधि के बिना मन मे क्लेश (बेचैनी) नही पाता।" "सहायक का[3] त्याग (प्रत्याख्यान) कर देने पर जीव एकीभाव को प्राप्त करता है, एकीभावभूत जीव एकत्व का चिन्तन करता हुआ अल्पभाषी, थोडी झंझटो वाला, अल्पकलह, अल्पकषाय, अल्पअहंकारी, संयमबहुल, सवरबहुल एव समाहित हो जाता है।" इसी तरह आहार, कषाय, योग, शरीर, अशन आदि के प्रत्याख्यान (त्याग) के सम्बन्ध मे भी भगवान् महावीर का बहुत ही सुन्दर

---

१ 'सभोगपच्चक्खाणेण भते! जीवे कि जणयइ ? सभोगपच्चक्खाणेण जीवे आलबणाइ खवेइ। निरालबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवति। सएण लाभेण सतुस्सइ परलाभ नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभ अणस्साएमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताणं विहरइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९ सू ३३

२ उवहिपच्चक्खाणेण जीवे अपलिमथं जणयइ। निरुवहिएण जीवे निक्कंखी उवहिमतरेण य न सकिलिस्सिज्जई। ३७॥

३. सहायपच्चक्खाणेण जीवे एगीभाव जाणयइ। एगीभावभूए य ण जीवे एगत्तं भावेमाणे—अप्पसद्दे अप्पझझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमतुमे, सजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ॥३९॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, सू० ३७,३९

मार्गदर्शन है। इन सबके प्रकाश मे जब हम श्रीआनन्दघनजी द्वारा निर्दिष्ट आलम्बन, साधन, परपरिणति आदि आत्मा से भिन्न परवस्तु के त्याग पर विचार करते हैं तो बात सोलहो आने सही मालूम होती है।

वास्तव मे साधक जितने ही अधिक साधनो, आलम्बनो, सहायको, धर्मोपकरणो या आहारादि परवस्तुओ या परभावो को अधिक अपनाता है, उतनी ही अधिक परिग्रहवृत्ति बढती है, राग-द्वेष, अहकार, लोभ, इच्छाएँ आदि बढती जाता है और मनुष्य अशान्त, बेचैन, सक्लिष्ट, अस्वस्थ और असतुष्ट रहता है। उसकी भौतिक और आत्मिक दोनो प्रकार की वीर्य शक्ति का ह्रास हो जाता हैं, जो उसके तन, मन और आत्मा पर परिलक्षित हो जाता है। इसलिए पूर्ण आत्मवीरता के अभिलाषी साधक को परभावो एव परवस्तुओ से जितना नाता तोड सके, तोडना चाहिए, तभी उसमे वीरता जागृत और स्थिर होगी।

सारांश

भ० महावीर परमात्मा की इस स्तुति मे वीरप्रभु से आध्यात्मिक वीरता की माग की गई है, परन्तु आगे चल कर श्रीआनन्दघनजी ने वीर्य की आत्म-प्रदेशो मे व्यापकता, वीर्य की स्थिरता, वीरतापूर्वक आत्मोपयोग का फल, वीरता का मूल अधिष्ठान, वीरता की अभिव्यक्ति मे विघ्नकारक आलम्बनादि का त्याग आदि की सागोपाग और अभिनव विचारधारा जैनदर्शन के परि-प्रेक्ष्य मे प्रस्तुत की है। मतलब यह है कि शारीरिक वीर्य की अपेक्षा आत्मिक वीर्य का महत्व कई गुना अधिक है। ससार के दूसरे दर्शन जहाँ सप्तधातुओ मे से अन्तिम धातु वीर्य को ही सर्वस्व मानते हैं, वहाँ वीतरागदर्शन आत्मिक वीर्य को महत्व देता है, शारीरिक बल, उत्साह, साहस आदि सबका आधार आत्मवीर्य है। यद्यपि शरीर, मन, बुद्धि, वीर्य (शुक्र) आदि जरूर मदद करते हैं, लेकिन इन सबका प्रेरणास्रोत केन्द्र तो आत्मा ही है। बहुत-से लोग शरीर से दुर्बल होते हुए भी बडे-बडे साहसपूर्ण काम कर बैठते हैं, जबकि शरीर से सशक्त हृष्टपुष्ट लोग साहस के काम करने से डरते हैं, हिम्मत हार जाते हैं, इसमे मूल कारण आत्मवीरता की कमी है, इसी चीज की परमात्मा से श्रीआनन्दघनजी ने याचना की है।

मेरा अभिमत

जिन-शासन मे श्वेतांबर सप्रदाय के महात्माओ मे योगी श्रीआनन्दघनजी का एक विशिष्ट स्थान है। कवितारूप मे उनका चतुर्विशतिस्तव बहुत प्रसिद्ध और ज्ञान-प्रधान होने से विद्वज्जनो मे सम्मान्य है।

अनेक मुनियो ने इस पर व्याख्याएँ भी लिखी हैं। श्रावको को भी भक्ति-रस उपलब्ध हुआ है। बडे-बडे पहुँचे हुए सभ्रात पडित भी आपकी स्तुति से बोध प्राप्त करते हैं। तपस्वी मुनिश्रीमगनमुनिजी म सा की प्रेरणा से प रत्न मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म. सा ने परिश्रमपूर्वक हिन्दी भाषा मे साधारण जनता के लिए उपयोगी, उत्तम विस्तृत भाष्य लिखा है। प मुनिश्री का यह प्रयत्न स्तुत्य है। इस नवीन भाष्य को पढ कर भव्य आत्माएँ सम्यग्दर्शन की ओर बढेगी तो भाष्यप्रेरक तपस्वी श्रीमगनमुनिजी एव भाष्यकार प० मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी का श्रम सफल होगा।

सूरजचन्द डाँगी (सत्यप्रेमी)
वडे मंदिर के पास
वडीसादडी (राज)

प्राकृत भारती अकादमी
क्रमांक . . .

पुस्तक प्राप्ति-स्थान (महाराष्ट्र में)
राजेन्द्रकुमार मोहनलाल मुथा
अर्बन कॉ ऑपरेटिव बेंक
गांधीरोड
अहमदनगर (महाराष्ट्र)